卐 धर्मध्यान प्रकाश 卐

संपादक :—

पं० विद्याकुमार सेठी न्यायतीर्थ काव्यतीर्थ

प्रधानाध्यापक :

卐 श्री दिगम्बर जैन विद्यालय 卐

कुचामन सिटी

प्रेरक —

श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज

(कुचामन चातुर्मास)

प्रकाशक -

श्री दिगम्बर जैन समाज

कुचामन सिटी (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति १०००) (मूल्य स्वाध्याय

कुचामन सिटी
चातुर्मास
वीर सं० २४९९

प्रथम संस्करण
१००० प्रति
वी. सं० २०२९

परम पूज्य प्रात स्मरणीय श्री १०८ आचार्य ज्ञानसागरजी
महाराज के दीक्षित शिष्य तपोनिधि चारित्र
र मणी श्री १०८ मुनि विवेकसागरजी
महाराज के संघ सहित चातुर्मास सानन्द
सम्पन्न होने के उपलक्ष मे स्मृति
स्वरूप दि० जैन समाज
कुचामन द्वारा प्रदत्त
द्रव्य से
प्रकाशित

मुद्रक :—
लालचन्द पांड्या
❀ श्री पदम जैन प्रिन्टिंग प्रेस ❀
कुचामन सिटी (राजस्थान)

परम पूज्य चारित्र विभूषण

श्री १०८ मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज

॥ श्री महावीराय नमः ॥

परम पूज्य चारित्र विभूषण उग्र तपस्वी श्री १०८ मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज का चतुर्थ चातुर्मास योग कुचामन सिटी में सं० २०२६

लेखक—श्री माणकचन्दजी पाटोदी

(उप मंत्री श्री दिगम्वर जैन विद्यालय कुचामन सिटी)

इस नगरी में श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज का प्रथम पदार्पण चैत्र कृष्ण २ सं० २०२८ के दिवस पर हुआ, नित्य प्रति गुरुवर द्वारा विद्या दान पर विशेष रूप से, उपदेशामृत पान यहाँ की करवाया गया, फलस्वरूप विद्यालय की स्थापना श्रीमान् सेठ साहब श्री नेमीचन्दजी पाँड्या के कर कमलों द्वारा शुभ मिती आषाढ शुक्ला २ सं० २०२६ के दिन की गई। स्थानीय समाज के कर्णधार श्रीमान् सेठ किशनलालजी सोहनलालजी पहाड़िया, घासीलालजी पाटोदी तथा माँगीलालजी गंगवाल खासकर बीड़ा उठाकर सत्प्रयत्नो द्वारा विद्यालय का ध्रुव फंड जो लगभग ५५ हजार के है उसे इकट्ठा करके इस विद्यालय की नींव चिरस्थाई की।

यह विद्यालय पहले ५० वर्ष तक श्रीमान् दानवीर सेठ चैनसुख गम्भीरमल द्वारा चलाया गया था, बाद में २० वर्ष तक बन्द रहा तथा सं. २०२६ में पुन: यहाँ की जैन समाज द्वारा चालू किया गया है। आशा है, यह विद्यालय १००८ श्री महावीर स्वामी की कृपा से सदा चलता रहेगा।

वर्त्तमान में यहाँ बहुत अनुभवी एवं कार्य कुशल चार अध्यापक है करीब ७००) रु मासिक खर्चा है, राजस्थान सरकार द्वारा पंचम कक्षा तक मान्यता प्राप्त है। शिक्षण कार्य को धार्मिक पद्धति से चलाने के लिये ही-सरकार से आर्थिक सहायता नही ली गई है।

पूज्य गुरुवर श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज का चातुर्मास क्षुल्लक १०५ श्री सम्भवसागरजी महाराज एवं अन्य त्यागीगण के साथ यहाँ पर इतना शाँतिपूर्ण तमाम समाज के द्वारा एकमत से आनन्द पूर्वक पूर्ण हुआ कि उसका वर्णन लिखने में नहीं आता।

चातुर्मास योग दि० जैन नागौरी नसियाँजी में स्थापन हुआ तथा समाप्ति समारोह भी इसी स्थान पर काती सुदी ८ से काती सुदी १५ तक श्री वृहत्सिद्धचक्र मंडल विधान समारोह द्वारा मनाया गया जिसमें तीन हजार करीब नारियल चढाये गये तथा मगसर वदी २ के रोज महाराज श्री का केशलोच तथा बृहत् रथयात्रा महोत्सव श्रीमान् सेठ मदन-चदजी नेमीचन्दजी पांड्या के चांदी के रजतरथ द्वारा मनाया गया, बाहर के काफी नरनारी एकत्रित हुये तथा सुबह शाम का प्रीतिभोज श्रीमान् सेठ कन्हैयालालजी ताराचन्दजी पहाड़िया द्वारा दिया गया। यह चातुर्मास योग इस नगरी में २५, ३० वर्षो के बाद होकर बड़े ही रोचक ढग से एकता पूर्वक व्यतीत हुवा, यह बात यहां के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो में लिखी जाने योग्य है।

महाराज श्री के उपदेशों से प्रेरित होकर स्थानीय श्री जैन वीर मण्डल के कार्य कर्त्ताओ ने सारी रात जाग कर, णमोकार मन्त्र का जो लय पूर्वक उच्चारण करके छोटे २ बच्चों को भी बहुत प्रोत्साहन दिया तथा अब भी दे रहे हैं इतना ही नही बल्कि इन्होने चातुर्मास मे तथा समाप्ति के समारोह पर पूर्ण सहयोग देकर जो उत्सव को सफल बनाया उसके लिये हम मण्डल के सदस्यों की प्रशंसा किये बिना नही रह सकते।

हमारे विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री प० विद्याकुमारजी ने इस शास्त्र के निर्माण मे महाराज श्री के साथ पूरा योग देकर तथा विद्यालय को पूर्ण प्रयत्नों द्वारा इस तरह सफल किया है जो हमे सदा याद रहेगा। पंडितजी साहब बड़े ही उत्साही, धार्मिक कार्य में रत, प्रयत्नशील पुरुष हैं। यहा की समाज व बच्चों को आपके द्वारा बहुत ही लाभ मिला है तथा आगे भी मिलता रहेगा, ऐसी हमें पूर्ण आशा है। आपके सहयोग से भी इस चातुर्मास की शोभा बहुत बढी है अधिक कहां तक लिखे, यह सब संयोग भी श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज के चातुर्मास के योग से ही हमे प्राप्त हुआ है हम श्री देवादिदेव श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करते है कि जिस उत्साह से हमारे प्रमाद को दूर कर और यह स्थाई कार्य किया है इसी प्रकार अन्य नगरों में भी धार्मिक बन्धुओं को सत्कार्य के लिये प्रेरित करते रहें।

श्रीमान् चतुरभुजजी अजमेरा पांचवा निवासी
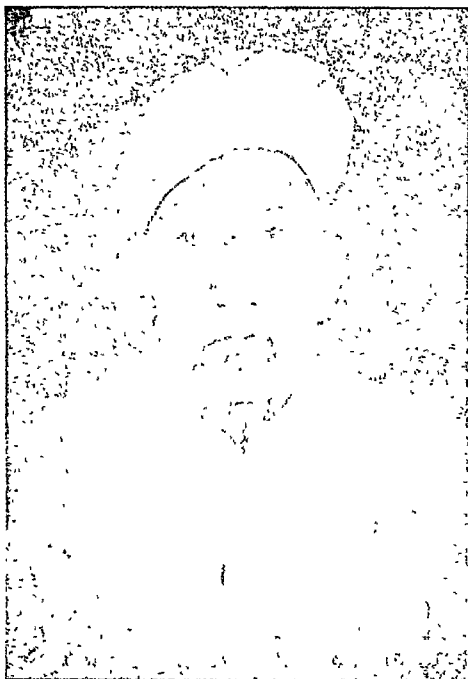
श्रीमान् सेठ चतरभुजजी गौरीलालजी अजमेरा पाचवा निवासी ने इस शास्त्र के प्रकाशन मे ७५१) रुपये प्रदान किये है, आप स्वयं व्रती है, मुनि भक्त है और धर्म के श्रद्धालु है, सरल परिणामी है महाराज के प्रवचन से प्रभावित होकर आपने यह सहायता प्रदान कर हमारे उत्साह को बढ़ाया है। धन्यवाद।

आद्य वक्तव्य

चारित्र में तथा तप में एक प्रकार की अद्भुत शक्ति होती है, अशुद्ध भोजन करने वाला आलसी एव प्रमादी होता है, शुद्ध भोजन करने वाला तपस्वी, पुरुषार्थी एवं साहसी होता है। यद्यपि पूज्य श्री १०८ विवेक सागरजी महाराज का लौकिक अध्ययन विशेष नही हुआ था फिर भी पहले की गृहस्थावस्था में ही मोक्षमार्ग के सन्मुख २० वर्ष की कठोर साधना ने इन्हे, इतना उत्साह प्रदान किया कि ये शीघ्र ही अपने पैरों पर खडे हो गये और वड़े उत्साह के साथ अपने कृति कर्म को कर रहे है। फुलेरा चातुर्मास से ही मेरा महाराज के साथ वहुत निकट रहने का काम पडा, मैंने इनमें कई विशेषताये देखी जिनके कारण मुझे इनसे प्रभावित होना ही पड़ा ये कडी से कडी आखडी लेते जरूर है किन्तु उसके न मिलने पर स्वय क्षुब्ध नही होते तथा श्रावकों की भी इस विषय में रंच मात्र भी आलोचना नही करते है और चौके सवधी चर्चा इनके द्वारा कुछ भी सुनने मे नही आती, आपके सान्निध्य की हृदय से अभिलाषा होने के कारण ही मुझे रेनवाल (किशनगढ़) के स्थान को छोडना पडा, और यहां कुचामन के विद्यालय सबधी कार्य को सभालना पडा, और वह मेरे जीवन में बहुत प्रगतिकारक ही रहा। प्रतिक्रमण के अर्थ करने गे मुझे बहुत ही सङ्कोच था, मैं अपने आपको हर तरह से असमर्थ समझ रहा था किन्तु गुरु की शक्ति और मेरी भक्ति के अनुसार मैंने उसे प्रारम्भ कर ही दिया, इस ग्रंथ के सपादन करने में मैंने दशभक्त्यादि का अर्थ श्रीमान् विद्वद्वर पं० लालारामजी साहव की कृति से तथा सहस्रनाम का अर्थ श्री आचार्यरत्न देशभूषणजी महाराज के निर्देशकता में प्रकाशित श्रीजिन स्तोत्र पूजादि संग्रह से लिया है। तथा समाधिमरण का स्वरूप स्वयं श्री १०८ श्री विवेक सागरजी महाराज ने सयमप्रकाश के आधार पर सक्षिप्त लिखवाकर भिजवाने की कृपा की है।

प्रतिक्रमण के मूल पाठ में कई पाठान्तर भी है उनके परिवर्तन को विद्वद्गोष्ठी के विचार एव निर्णय पर ही छोडकर केवल प्रसिद्ध धर्म ध्यान पुस्तक एवं क्रियाकलाप के आधार पर ही अर्थ करने का प्रयास किया है उसमें भी स्व० पं० पन्नालालजी सोनी तथा फलटन से प्रकाशित 'प्रतिक्रमण त्रयी' पुस्तक से वहुत ही अंश ज्यों के त्यों उद्धृत किये है बीच २ में श्री १०८

श्री विद्यानंदजी महाराज, श्री १०८ श्री अजितसागरजी महाराज एवं दिवंगत आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज से भी कई स्थलों पर समाधान लेना पड़ा है। इन उपरिलिखित विभूतियों के तो हम प्रत्यक्ष एवं परोक्ष मे आभारी है ही। आगामी काल में भी जो महानुभाव इस ग्रन्थ के संपादन में रही हुई त्रुटियों पर अपना अभिप्राय प्रकट करने की कृपा करेंगे तथा आगामी आवृत्ति में उसका संशोधन अवश्य करने का प्रयत्न करेंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेपतायें निम्न है :—

१. आचार्य, मुनिमहाराज, माताजी, ऐलक, क्षुल्लक आदि सभी त्यागीगण प्रात. तथा सायंकाल और चतुर्दशी आदि पर्व दिवसों में प्रतिक्रमण' का पाठ तो करते ही है किन्तु अर्थ के विना समझे केवल रूढि से पाठ करने में जितना लाभ होना चाहिये उतना नही होता। प्राणीमात्र के उद्धार का लक्ष्य तो होना ही चाहिये किन्तु संसार से उदासीन निस्पृह संयमियों के धर्मसाधन मे हमारे नश्वर धन का जितना भी उपयोग हो सके वही सार्थक है और यह व्रतियों की सेवा साता वेदनीय का प्रबल तम कारण भी है।

२. त्यागियों के लिये आवश्यक विधियां कई स्थानो पर बिखरी पड़ी हुई थी उनका इस ग्रन्थ में एकस्थान पर संग्रह भी कर दिया है गया।

३. बहुत से त्यागियों को संस्कृत एवं प्राकृत का विशेप अभ्यास नही होने के कारण शुद्ध छंद की गति का उच्चारण नही होता इसलिये हमने इस ग्रंथ के अन्दर आये हुये श्लोकों में यथासाध्य कामा आदि चिन्ह लगाने का भी प्रयत्न किया है।

४, इस ग्रथ मे प्रतिक्रमण के मूल शब्दों को मोटे अक्षरो में प्रकाशित कराया गया है तथा उसका विशदार्थ, मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों से लेकर अपनी बुद्धि के अनुसार लिखने का साहस किया है।

कुछ मुड़ा हुआ नवीन टाइप हमें पसन्द आया किन्तु उसमें कई अक्षरों की टूट हो गई है तथा प्रेस के अबोध कार्यकर्त्ताओं के प्रमाद के कारण नही चाहते हुये भी बहुत अशुद्धिया रहगई है इतना ही नही मेरे स्वयं के प्रमाद मे तथा अल्पज्ञता से भी प्रूफ संशोधन में तथा विषयके स्पष्ट करने में जो त्रुटियें रह गई है ज्ञानी जन उन्हे पढकर ठीक करेंगे तथा विलम्ब आदि के लिये भी मुझे क्षमा प्रदान करेंगे।

श्रीमान् नेमीचन्द्रजी पाटोदी कुचामन निवासी

श्रीमान् सेठ नेमीचन्द्रजी माराकचन्द्रजी पाटोदी नांवा निवासी हाल मुकाम कुचामन निवामी ने इस शास्त्र के प्रकाशन मे ७५१) रुपये प्रदान किये है, आप बहुत उत्साही एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं; आपने हमें इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे हर तरह का सहयोग प्रदान किया है यदि इनका सहयोग नही होता तो हमारा उत्साह करीब२ भंग हो गया था हम आपकी उन्नति चाहते है। धन्यवाद

कुचामन नगर के तथा बाहर के जिन महानुभावों ने पूज्य महाराज साहब की प्रेरणा से इसमें अर्थदान तथा अन्य प्रकार का सहयोग प्रदान किया है, हम उन सब के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करना आवश्यक समझते हैं।

विनीत :

. पं. विद्याकुमार सेठी

न्यायतीर्थ काव्यतीर्थ, प्रधानाध्यापक

श्री दिगबर जैन विद्यालय

कुचामन सिटी (राज०)

श्रीमान् वयोवृद्ध प० शिवमुखरायजी जैन शास्त्री ने ज्य महाराज के सत्संग से प्रभावित होकर तथा वर्त्तमान के दूषित वातावरण को दूर करने के लिये चाय का प्रचार हर तरह से रोका जाय और अन्य त्यागी गण भी इस ओर यथा संभव श्रावकों के ध्यान को आकृष्ट करने की कृपा करें तो यह एक त्याग की ओर सन्मुख एव आवश्यक सोपान रहेगा एतदर्थ इसको इसी ग्रंथ में प्रकाश नार्थ भेजा है यह भी पाठक वर्ग के द्वारा मननीय है अनुभवी विद्वा के अनुभव से हम लाभ उठावेंगे ऐसी आशा है।

–सम्पादक

परमपूज्य घोर तपस्वी चारित्र शिरोमणि १०८ मुनी श्री विवेकसागरजी महाराज का चाय व्यसन पर महत्वपूर्ण उपदेश

आज से २५०० वर्ष पूर्व मगधदेश की राजधानी राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर परमआराध्यदेव भगवान् महावीर स्वामी का समवशरण आया था। उस समय मगधाधिपति महाराज श्रेणिक (बिबसार) ने भगवान् से मुनिधर्म एवं श्रावकधर्म सुनने की जिज्ञासा प्रकट की और तत्काल ही दिव्यध्वनि खिरने लगी–

उल्लेखनीय है कि यहा श्रावको की दैनिक क्रियाओं मे से सप्तव्यसनो के ऊपर विचार किया जा रहा है।

व्यसन– जिस अनैतिक कार्य को पुनः पुन· सेवन किये विना चैन (आराम) नही पड़े ऐसे शौक का पड़ जाना व्यसन कहलाता है अथवा व्यसन नाम आपत्ति (बड़े कष्ट) का है। अतः जो बड़े दु ख को देवे, अति विकलता उत्पन्न करे. वह व्यसन है ऐसे व्यसन सात हैं– जुआ खेलना, मांस भक्षण करना, शिकार खेलना, चोरी करना मद्यपान करना, वेश्या सेवन करना एवं परस्त्री सेवन करना। ये व्यसन सेवन

करने मे बड़े मनोहारी किंपाक फल के समान दीखते हैं लेकिन इसका परिणाम बड़ा-भयकर अर्थात् नरक निगोद में ले जाने वाला है ।

इन व्यसनों को मोही प्राणी विना किसी विद्यालय मे अध्ययन किये हुये ही अपने आप बड़े शौक के साथ सेवन करते हैं । बहुत वर्षो से ये सातों व्यसन अबाधगति से बढे चले आ रहे है लेकिन आज इस भौतिक जमाने में एक नया ही चाय का व्यसन राजप्रसादों से लेकर गरीबों की पर्ण कुटी तक संक्रामक रोग की तरह बड़ी द्रुतगति से फैल गया है जिससे मानव मात्र के धार्मिक एव नैतिक आचरण को बडा धक्का लगा है और लोगो की आर्थिक परिस्थितिये बालू की भीत की तरह गिर गई हैं वे इस चरम सीमा पर पहुँच गई है कि महगाई के जमाने में हर वर्ग के हर प्राणी को कष्ट उठाने पड़ रहे हैं ।

पांडवो ने जुआ खेलकर विशाल साम्राज्य खो दिया, बकराजा मांस खाकर नरक गया, यादवों ने बिना समझे शराब पीली और स्वय जेल गये, चारुदत्त सेठ ने वेश्यासेवन करके विपुल सम्पत्ति खो दी । ठीक उसी प्रकार शिकार खेलकर ब्रह्मदत्त राजा झूठ बोलने से शिवभूति ब्राह्मण एवं परस्त्री लंपटता से रावण आदि ने इहलोक एवं परलोक बिगाड लिया । इस प्रकार जो मनुष्य सातों ही व्यसनो को सेवन करे तो तो उसके लिये यह संसार समुद्र गोते खाने के लिये ही पडा हुआ है ।

अभी तक भारतवासी यह समझ रहे थे कि इस सर्वांगनाशिनी,श्यामाचरणी [चाय]] की उत्पत्ति भारत मे ही हुई थी लेकिन अन्वेषण करने से पता चला कि सन १७८० ई० में चीन से कुछ पौधे ब्रिटिश शासन काल मे भारत आये और उनका सर्व प्रथम परीक्षण कलकत्ता में किया गया था । लुई कर्जन ने इसका [चायका] प्रचार एव प्रसार भारत मे बडी द्रुतगति से किया । तदनतर इसका आसाम आदि अन्य प्रान्तों मे भी इसका विस्तार होता चला गया और हर क्षेत्र मे इसने अपना प्रभाव फैला दिया । फलस्वरूप हर गृहस्थी के घर दो रुपया चार रुपया का प्रतिदिन व्यर्थ व्यय बढगया तथा फलवर्द्धक चीजो का जैसे दूध, दही, घी आदि का अभाव होता गया और रोगो के घेर लेने से डाक्टर व वैद्यो की जनता को शरण लेनी पड रही है ।

चाय का दुष्प्रभाव फेफड़ों हृदय और आंतो पर पड़ता है इससे मंदाग्नि हो जाती है । शरीर का पीला पड़ना, नीद का न आना तथा अन्य मस्तिष्क संबंधी रोगों का प्रकोप बढ जाता है । आज विश्व के समस्त वैज्ञानिकों ने यह बात स्पष्ट करदी है कि चाय में शरीर के लिये एक भी पोषकतत्व नही है और निरन्तर सेवन करने से मन और शरीर दोनों पर बुरा प्रभाव पडता है ।

—: चाय के दुर्गुणों पर अनेक मनीषियों के अभिमत :—

१. चाय, काफी, कोको मादक चीजें बडी हानिकर है, इनमे खून को बढ़ाने वाला एक भी तत्व नही है ये पाचन शक्ति को मंद करती है । – (महात्मा गाधी)

२. दो या तीन प्यालो चाय दिन मे तीन बार पीने से मांसपेशियों में खिचाव, स्नायु सम्बन्धी रोग कलेजा, कोष्टवृद्धि, श्वास, दुबलापन तथा अनिद्रारोगी होने की बड़ी सम्भावना है । – डा० सिलमैन थामसन– यू० के ।

श्रीमान् माणकचन्द्रजी वज पलाड़ा निवासी

श्रीमान् सेठ माणकचन्दजी चिरजीलालजी वज पलाडा निवासी हाल मुकाम कुचामन निवासी ने इस शास्त्र के प्रकाशन मे ७५१) रुपये प्रदान किए है। आप बहुत ही सरल परिणामी है, महाराज के थोडे से सकेत से तत्काल आपने हमको स्वीकृति प्रदान की। धन्यवाद

३. चाय स्वास्थ्य के लिये शराब से भी अधिक हानिकर है (डा० ओ.डी. नेह)
४. स्वास्थ्य के लिये चाय विष के समान है इससे तत्काल भूखमारी जाती है और इसका नियमित प्रयोग मंदाग्नि उत्पन्न करता है, । नाड़ी दुर्बलता, कब्ज, सिर में चक्कर आना एवं मूर्छा शुरू हो जाती है । (डा० ब्लाई)
५. चाय कैंसर रोग का मुख्य कारण है (एक जापानी प्रोफेसर)
६. चाय और कोफी हल्के जहर हैं इनका खतरा लोग समझ नही पा रहे हैं मैं इनके विरुद्ध लोगो को सचेत कर देना चाहता हूँ । (डा० एडलक जुस्ट)
७. चाय के लगातार पीने से स्वभाव मे चिड़चिड़ा पन आ जाता है । अनिद्रा एवं मानसिक चंचलता, स्नायु व कंपकंपी आदि रोग आ जाते हैं । (एक नाड़ी विशेषज्ञ)
८. चाय के सेवन के पश्चात् पेशाव मे यूरिक एसिड मात्रा दूनी हो जाती है ।एक प्याली कॉफी से एक प्याली पेशाव मे यूरि एसिड की मात्रा अधिक रहती है । (प्रो० मेन्डल)

चाय व्यसन के अनेक दुर्गुण हमारे वैज्ञानिको ने सिद्ध कर दिये है अगर मानव इसका सेवन करेगा तो वह हमेशा बीमार पड़ा रहेगा तथा वह देव पूजा गुरुउपासना स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदि धार्मिक कार्य नही कर सकेगा । यह चाय व्यसन बडा खराब है इसके सेवन करने वालों का धर्म, कर्म, सभी नष्ट हो जाता है । सभी छोटे बड़े गावों व शहरो मे होटल व रेस्टोरेट खुले हुये हैं उनमे प्रातः चार बजे से लेकर रात्रि के बारह बजे तक भीड़ लगी रहती है जिनमे चाय सेवन करने वालों को अनेक बीमार लोगों के जूठे बर्तनों में चाय पीनी पड़ती है और उसे पीकर बडी शान शौकत का अनुभव करते है जरा सोचिए कि ऐसे लोग कहां तक अपने स्वास्थ्य एवं धर्म की रक्षा कर सकते है ।

जैनाचार्यो ने अन्य अतिचारों (मद्यपान) में चाय को भी एक अतिचार कहा है क्योकि इसके पीने से उत्तेजना आती है । शराब का त्यागी मन, वचन, कार्य से मादक चीजो का तथा आचार, मुरब्बा जिनपर फूलन आती है एवं जो शास्त्रोक्त मर्यादा के बाहर है उनका कभी सेवन नही करता है ।

उपसंहार :—

परम पूज्य १०८ मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज ने चाय व्यसन को धार्मिक मर्यादा पर वज्राघात समझ कर ही इसे छोड़ने के लिए जगह २ अपने बिहार की पावन वेला पर जनता को प्रतिबोधित किया है । आप चाय नही पीने वाले श्रावक के हाथ से ही आहार लेते है । "धन्य है आपकी यह घोर तपस्या" ।

पूज्य श्री का वर्षायोग मारोठ (राजस्थान) में श्री वीर नि० सं. २४९९ सन् १९७३ ई० में सानन्द सम्पन्न हुआ है आपके अनेक ओजस्वी प्रवचन हुये हैं आपने चाय व्यसन छोडने का महत्वपूर्ण उपदेश दिया जिससे अनेक महानुभाव एवं महिलाओ ने चाय सेवन त्यागकर आत्म कल्याण किया है । आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि आत्महितैषी इस पर इस गम्भीर रूप से विचार करके स्वपर का कल्याण करेगे ।

चातुर्मास
मारोठ (राजस्थान)
वीर नि० सं० २५००

विनीत –
शिवसुखराय जैन "शास्त्री"
मारोठ (राजस्थान)

।। श्री वीतरागाय नमः ।।

निर्वाणोत्सव की मंगलमय पुनीत वेला में प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का सौभाग्य

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ।।१।।

मोक्षमार्ग के नेतृत्व, कर्म रूपी पर्वतो के भेतृत्व तथा समस्त तत्वो के ज्ञातृत्व सदृश अनुपम गुणों की प्राप्ति के लिये सामान्य रूप से मै उन गुणों के धारक सभी तीर्थङ्करों की तथा विशेष रूप से अंतिम तीर्थङ्कर श्री १००८ श्री महावीर भगवान् को नमस्कार करता हूं जिनका२५सौं वा निर्वाणोत्सव, भारत वर्ष की सभ्य समाज या सरकार ही नही वल्कि अन्य विदेशी सज्जन भी इस अनुपम देन से लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं यह शुभावसर न मालूम किस सातिशय पुण्य के प्रभाव से हमें मिल रहा है, इस महान् पर्व को हम केवल महावीर स्वामी के जय २ कार के नारे लगा कर ही समाप्त नही करदे वल्कि इन ढाई हजार वर्ष में जो हमने व्यवहार सम्यक्त्व के मूल आधार देव, शास्त्र और गुरु के प्रति बहुमान प्रकट करने में प्रमाद किया है या जानते बूझते हुये भी इस ओर उपेक्षा का भाव प्रकट कियाहै उस गंदगी को इस पुण्य वेला रूपी नदी के प्रवाह में वहा देवें और अपने व्यक्तिगत जीवन में भी कुछ क्रांति लाकर महावीर नही तो लघुवीर ही बनने का प्रयत्न करें। भावी संताने देवाधिदेव अर्हन्त देव बनने का प्रयत्न तो क्या करेंगी? जव कि वे जिन दर्शन तक करने में उत्साह प्रकट नही कर रही हैं; अठाईस मूल गुणो को धारण कर सिंह-वृत्ति का परिचय देने वाले गुरु का बाना धारण करना तो दूर रहा, श्रावक के मूल गुण स्वरूप रात्रि के अन्न के भोजन का भी त्याग करना, वर्दाश्त नहीं कर सकती। जिन-वाणी का गंभीर अध्ययन करके जैन सस्कृतिका, स्याद्वाद का, अनेकांत का, महत्व प्रकट करके अन्य लोगों की भी जैन धर्म की ओर रुचि जागृत करना तो स्वप्न की बात होगई, स्वयं रात्रि विद्यालयों के खोले जाने पर तथा हर तरह की सुविधायें दिये जाने पर भी, पांच दश मिनट के लिये अवकाश निकाल कर उधर की ओर झांकते ही नहीं वल्कि जो भोले बच्चे कुछ पढते भी हैं तो उनकी खिल्ली उडाकर धृष्टता का भी कार्य करते हैं ऐसी परिस्थिति तो हटाई ही जा सकती है, चाहिये तो यह कि बुद्धि के अधिक

तीव्रता के फल स्वरूप तथा विशेष अध्ययन की सामिग्री के प्राप्त हो जाने के कारण जैन खगोल एवं विज्ञान के उपेक्षित अंगों की पूर्त्ति करके जैन धर्म को विश्व धर्म बनाने का प्रयत्न करें, अधिक कहां तक लिखा जाय, भौतिक संस्कृति के दूषित परिणामों से घृणाकर आध्यात्मिक संस्कृति की ओर रुचि भी यदि हम करने लग जायं तो हमारे इस पर्व में करोडों रुपये खर्च करने का आनद आजावे और गई सो गई अब राख, रही को, आदर्श से अपनी भावी संतति की भी रक्षा कर लेवें।

देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र देव की कृपा से मेरी दीक्षा तथा प्रथम चातुर्मास नसीराबाद मे द्वितीय चातुर्मास, माधोराजपुरा में, तृतीय चातुर्मास फुलेरा में, पंचम चातुर्मास मारोठ नगर मे, तथा चतुर्थ चातुर्मास कुचामन नगर में हुआ यहां पर बहुत प्रसन्नता रही कारण कि यहां पर जो दि. जैन विद्यालय आर्थिक परिस्थिति की कठिनाई से २०.२२ वर्ष से बंद था, वह यहां की धार्मिक समाज के द्वारा फिर से चालू कर दिया गया।

पहले की अपेक्षा वर्त्तमान युग में जैन धर्म का बहुत उत्तम कार्य हो रहा है, इसे देखकर किसे प्रसन्नता नही होगी ? आज स्थान २ पर मुनियों का आवागमन हो रहा है; धर्म प्रभावना अच्छी हो रही है; यदि सभी त्यागी वर्ग, पाठशालादि खुलवाकर भगवान् की पूजादी करने वालोंकी ओर अधिक ध्यान देंगे तो गृहस्थ जीवन सब का सुखमय बन जायगा क्योकि संतति के धार्मिक विचारों के कारण गृहस्थ का जीवन अधिक निर्भर है। मुझे आचार्यो की तथा मुनियों की जन्म-जयन्ती के नित्यप्रति बढते हुये प्रचार पर भी बहुत विचार आता है कि संयमियों के द्वारा, असंयम अवस्था की जयन्ती मनाकर भी हम सिवाय व्यक्तिगत मान पोषण के और क्या लाभ उठावेगे? इस के स्थान पर चौवीसों तीर्थङ्करों के जन्म कल्याणक की तिथियों के उत्सव मनाने पर ध्यान दें तो अधिक पुण्य लाभ होगा। इसतरह ऐलक, क्षुल्लकादि के रेल, मोटर यात्रा को रोककर, पैदल विचरण पर विशेष ध्यान देकर आगम के विरोध सम्बन्धी दोष का रक्षण करने का भी उच्च त्यागीवर्ग कष्ट करेंगे ऐसी मुझे आशा है।

मेरे जीवन का यह सबसे बडा अनुभव है कि जैन समाज के ही नहीं बल्कि समस्त भारत के जीवन को नष्ट कर देने वाली चाय का घर२ में बहुत अधिक प्रचार होगया है। इससे लोगों का आचार, विचार, धर्म कर्म नष्ट प्राय हो गया है इस लिये त्यागीगण से मेरा नम्र अनुरोध है कि

वे भी इस पिशाचिनी चाय से लोगों का पिंड छुडाकर धर्म की रक्षा करने का कष्ट करें इससे गृहस्थों का साहस, व्रत, उपवासादि को धारण करने का अधिक ही होगा।

प्रस्तुत पुस्तक के छपाने की आवश्यकता तथा विशेपता के विपय में पूर्व लिखा ही जा चुका है अतः उसका पिष्ट-पेपण नही करके इतना ही लिखना, आवश्यक समझता हूं कि प्रतिक्रमण के पाठों मे जहां २ भी सामायिक दण्डकादि का उल्लेख है वहां पर पूरा पाठ पढना चाहिये, अतः हमने भी उस पाठ की सुविधा के लिये २. ३. स्थान पर उसे मुद्रित कराना आवश्यक समझा है,इसीतरह पाक्षिक पाठ में से "कोहेण वा...... आदि पाठ अन्य पुस्तकों में एक वार ही मुद्रित है उसे भी पांचो महाव्रतों के साथ तथा छठे रात्रि भोजन के त्याग के साथ पूरे पाठ को सुविधा पूर्वक पढ सके, एतदर्थ उसे भी सव पाठों के साथ ही मुद्रित कराया गया है।

अष्टमी की आवश्यक क्रियाओं के प्रचार पर भी पूर्व वतलाई गई विधि के अनुसार त्यागियों के द्वारा विशेष लक्ष्य किया जाना चाहिये।

जिन वन्धुओं ने तथा कुचामन दि० जैन समाज ने तथा वाहर के धर्मवन्धुओं ने आर्थिक सहायता दी है उन सवको मेरा आशीर्वाद है तथा ब्र. पं० विद्याकुमारजी सेठी को विशेष आशीर्वाद है कि जिन्होने तन, मन लगाकर पूर्ण परिश्रम से इस कार्य में सहयोग दिया है, इसी प्रकार अन्य वन्धुगण भी उत्साह पूर्वक धर्म कार्य में सहयोग देते रहे ताकि धर्म प्रभा-वना वढती रहे।

कु चा म न सि टी
दिनांक ११-१२-७३

मुनि विवेकसागर
मिति पोष कृष्णा २ संवत् २०३०
वीर निर्वाण संवत २५००

मुद्रक की ओर से :—

मुझे यह तो प्रकट करते हुये वहुत प्रसन्नता होती है कि कुचामन सरीखे छोटे नगर में जहा पर कई प्रकार की प्रकाशन सम्वन्धी सुविधायें नही है यहा से भी इतने बडे संस्कृत एवं प्राकृतपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन हो सका यह सव पूज्य श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज की चरण कृपा का ही फल है कि आपकी ओर से सदा प्रोत्साहन ही मिलता रहा और आपने हमारी सव त्रुटियो को सहन भी किया। समाज से भी मैं क्षमा चाहता हूँ कि विना चाहे भी मेरे प्रमाद मे इतना विलम्व हुआ वास्तव में तो यह मेरा पहला ही प्रयास था, अतः इसमें कई प्रकार की कमियां रह गई उन सव के लिये आप मुझे क्षमा प्रदान करेंगे।

लालचन्द पांड्या

श्रीमान् रामचन्द्रजी रारा मारोठ निवासी

श्रीमान् सेठ रामचन्द्रजी सोहनलालजी रारा मारोठ निवासी ने इस शास्त्र के प्रकाशन मे ७५१) रुपये प्रदान किये हैं आप बहुत ही उदार व्यक्ति हैं महाराज श्री के शास्त्र प्रवचन से प्रभावित होकर आपने उसी समय इसकी स्वीकृति देकर हमारे उत्साह को बढाया है। धन्यवाद

आवश्यक सूचना

कुचामन नगर मे स्थित श्री दि. जैन वीर मण्डल के सदस्य प्रत्येक धार्मिक कार्य में पूर्ण संलग्नता से कार्य करते रहतेहै। श्री १०८ श्री विवेक सागरजी महाराज के तप के प्रभाव से प्राय: सभी सदस्य प्रभावित हैं और जब कभी पूज्य मुनि महाराज की भावना होती है तभी णमोकार मत्र का अखंड पाठ वड़े उत्साह और उत्तरदायित्व के साथ करके बच्चे २ के हृदय में भक्ति पूर्वक पाठ करने की उमंग भर देते हैं धार्मिक नाटकों द्वारा जैन संस्कृति का प्रचार एव प्रसार करने में वीर मंडल ने अपूर्व कार्य करके दूर २ तक अपनी कीर्त्ति फैलायी है। पूज्य महाराज के सङ्केतानुसार उसी मंडल के मंत्री महोदय ने वहुत परिश्रम करके निम्न विवरण तैयार किया है, अन्य मंडल भी इसी प्रकार अपने २ स्थानों का विवरण लिखकर सामाजिक उन्नति में भी सहयोग देगे, ऐसी आशा है।

—सम्पादक

कुचामन नगर का संक्षिप्त विवरण

इस नगर में श्री दिगंवर जैन अजमेरी मंदिर तथा नशिया जी, श्री दिगंबर जैन नागौरी मदिर तथा नशियाजी, तेरापंथी दिगबर जैन मंदिर तथा श्री चैनसुख गभीरमल का निजी चैत्यालय है तथा श्री दिगंवर जैन विद्यालय की विशाल बिल्डिग है, श्री रिखवचन्दजी पहाड़िया का निजी चैत्यालय है तथा श्री किशनलालजी पहाड़िया का जैन भवन है साथ ही दि० जैन प्राथमिक विद्यालय के रूप में २ शिक्षा संस्थाये है श्री दि० जैन महावीर वाचनालय है। इसके अतिरिक्त

कुचामन नगर से सम्वन्ध रखने वाले सज्जनों का विवरण :—

जानकारी के लिये निम्न रूप से प्रस्तुत है :—

१. मौजूद परिवार (जो इस समय कुचामन में रहते हैं) १०६

२. जिनके यहां मकान है किन्तु रहते वाहर है। ५०

मौजुद १०६ परिवारों का विशेष	पुरुष	महिलाये	११ वर्ष से ऊपर [अविवाहित]	छोटे बच्चे ६ से १० तक	बच्चे जन्म से ५तक
विवरण :–	२२१	२३५	२०४	१५४	१७५
कुल संख्या ९८९					
इनमे से वाहर रहते है-	७३	३३	२९	२९	४१
मोजुदा संख्या	१४८	२०२	१७५	१२५	१३४
कुल संख्या ७८४					

स्वरूपकुमार पांड्या

मंत्री– श्री जैन वीर मंडल, कुचामन

विषय सूची [प्रथम खण्ड]

संघ सहित १०८ मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज का कुचामन वर्षायोग (चातुर्मास)

मध्य मे १०८ मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज केशलोच कर रहे है बाईं ओर १०५ श्री क्षुल्लक शम्भुसागरजी महाराज तथा दाईं ओर १०५ श्री क्षुल्लक उदयसागरजी महाराज हैं आगे श्री पं० ब्र० विद्याकुमारजी सेठी है तथा कुचामन जैन समाज के महानुभाव हैं।

* श्री वीतरागाय नम. *

धर्म ध्यान प्रकाश {प्रथम खंड}

卐 दशभक्त्यादि संग्रह 卐

आचार्यवर्य श्री पूज्यपाद आदि विरचित—

नमः श्री वर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

अर्थ—मै (विवेक सागर) वर्त्तमान युगके शासन नायक श्री १००८ श्री वर्धमान स्वामी को प्रत्येक कार्य की आदि मे स्मरण करना आवश्यक समझता हूं, जिन्होने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मो का नाश कर दिया है. तथा जिनका ज्ञान अलोकाकाश सहित तीनों लोकों को दर्पण के समान प्रकाशित करता है, उन वीर प्रभु को वारम्वार नमस्कार कर पूर्वाचार्यो की कृतियो का प्रकाशन की सद्भावना करता हूँ। वे देवाधिदेव महावीर स्वामी मुझे अपने समान ही बनने की शक्ति प्रदान करे।

१. ईर्यापथ भक्ति —

निःसंगोहं जिनानां, सदनमनुपमं, त्रिःपरीत्यैत्यभक्त्या,
स्थित्वा, गत्वा निषद्यो, च्चरण परिणतोऽन्तःशनैर्हस्तयुग्मम्।

भाले संस्थाप्य बुद्ध्या, मम दुरितहरं, कीर्तये शक्रवन्द्यं,
निंदादूरं सदाप्तं, क्षयरहितममुं, ज्ञानभानुं जिनेन्द्रम् ॥१॥

अर्थ—मै मन, वचन, कार्य से शुद्ध होकर श्रीजिनालय में जाता हूं। बड़ी भक्ति से तीन प्रदक्षिणा देता हूँ फिर खड़ा होकर थोड़ा आगे चलता हूं. फिर बैठकर धीरे २ कुछ स्तोत्र पढता हुआ हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखता हूं और समस्त पापो को दूर करने वाले, इन्द्रो के द्वारा पूज्य, समस्त दोषो से रहित, अविनश्वर और ज्ञान रूपी सूर्य ऐसे श्री अरहंतदेव भगवान् जिनेन्द्रदेव को, मै अपनी बुद्धि के अनुसार स्तुति करता हूं ॥१॥

श्रीमत्पवित्र, मकलंक,मनन्तकल्पं,
स्वायंभुवं, सकलमंगल, मादितीर्थम् ।
नित्योत्सवं, मणिमयं निलयं जिनानां,
त्रैलोक्यभूषण, महं, शरणं प्रपद्ये ॥२॥

अर्थ—जो जिनालय परम ऐश्वर्य सहित है, पवित्र है, कलंक रहित है, अनन्त काल से जिसकी रचना चली आ रही है, जो भगवान् जिनेन्द्रदेव के सम्बन्ध मे अत्यन्त पवित्र है, जिसमे सब प्रकार के मगल होते रहते है, जो भव्य जीवो को संसार से पार कर देने के लिये मुख्य तीर्थ है जिसमें सदा उत्सव होते रहते है, जो अनेक प्रकार के रत्नों से सुशोभित और तीनो लोको को सुशोभित करने वाला है। ऐसे जिनालय की शरण मे मैं जाता हूं ॥२॥

श्रीमत्परमगंभीर, स्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य, शासनंजिनशासनम् ॥३॥

अर्थ—जो अनेक अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मियो से भरपूर है और अत्यन्त गम्भीर स्याद्वाद ही जिसका सार्थक चिन्ह है ऐसा श्री त्रैलोक्यनाथ का शासन, श्री जैन शासन, चिरकाल तक जीवित रहो ॥३॥

श्रीसुखालोकनादेव; श्रीसुखालोकनं भवेत् ।
आलोकनविहीनस्य, तत्सुखावाप्तय: कुतः ॥४॥

अर्थ—आज श्री जिनेन्द्रदेव का मुख देखने मात्र से मुक्तिरूपी लक्ष्मी का मुख दिखाई देता है भला जो श्री जिनेन्द्रदेव के मुख का दर्शन नही करते उनको यह सुख कहां से मिल सकता है ? ॥४॥

अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य,
देव त्वदीय, चरणाम्बुजवीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोकतिलक, प्रतिभासते मे,
संसार वारिधिरयं, चुलुकप्रमाणम् ॥५॥

अर्थ—हे देव ! आज आपके चरण कमल देखने से मेरे दोनो ही नेत्र सफल हुए हैं । हे तीनो लोको के तिलक ! आज यह संसार रूपी समुद्र मुझे चुल्लूभर पानी के समान जान पड़ता है ॥५॥

अद्य मे क्षालितं गात्रं, नेत्रे च विमली कृते ।
स्नातोऽहं धर्मतीर्थेषु, जिनेन्द्र ! तव दर्शनात् ॥६॥

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव ! आज आपके दर्शन करने से मेरा शरीर पवित्र होगया है, मेरे दोनों नेत्र निर्मल होगये है और आज मैने धर्मरूपी तीर्थ मे स्नान कर लिया है ॥६॥

नमोनमः सत्वहितंकराय,
वीराय भव्याम्बुजभास्कराय ।
अनन्तलोकाय सुरार्चिताय ।
देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥७॥

अर्थ—जो भगवान् वर्द्धमान स्वामी समस्त प्राणियों का भला

करने वाले हैं भव्य रूपी कमलों को सूर्य के समान प्रफुल्लित करने वाले हैं, अनंत लोक अलोकको देखनेवाले हैं, देवोंके द्वारा पूज्य हैं, और देवोंके भी परमदेव हैं ऐसे अरहंत देव भगवान् महावीर स्वामीके लिये मैं बार बार नमस्कार करता हूँ ॥७॥

नमो जिनाय त्रिदशार्चिताय,
विनष्टदोषाय गुणार्णवाय ।
विमुक्तिमार्गप्रतिबोधनाय,
देवाधिदेवाय नमोजिनाय ॥८॥

अर्थ—जो भगवान् अरहंत देव इन्द्रोंके द्वारा पूज्य हैं, क्षुधा तृषा-आदि अठारह दोषोंसे रहित हैं अनंत गुणोंके समुद्र हैं, मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले हैं और देवाधिदेव श्रीजिनेन्द्रदेव हैं ऐसे अरहंत देव के लिए मैं वार वार नमस्कार करता हूं ॥८॥

देवाधिदेव ! परमेश्वर ! वीतराग,
सर्वज्ञतीर्थंकरसिद्धमहानुभाव ।
त्रैलोक्यनाथ, जिनपुंगव ! वर्द्धमान,
स्वामिन् गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ॥९॥

अर्थ—हे देवाधिदेव ! हे परमेश्वर ! हे वीतराग ! हे सर्वज्ञ ! हे तीर्थंकर ! हे सिद्ध ! हे महानुभाव ! हे तीनों लोकों के नाथ ! हे जिनेन्द्रदेव श्री वर्द्धमान स्वामिन् ! मैं आपके दोनों चरण कमलों की शरण प्राप्त होता हूं ॥९॥

जितमदहर्षद्वेषा, जितमोहपरीषहा, जितकषायाः ।
जितजन्ममरणरोगा, जितमात्सर्या, जयन्तु जिनाः ॥१०॥

अर्थ—मद, हर्ष द्वेष को जीतने वाले, मोह और परिषहों को जीतने

वाले, कषायों को जीतने वाले, जन्म मरण रोगों को जीतने वाले, और मत्सरता को जीतने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव सदा जयशील हो ।।१०।।

जयतुजिन ! वर्द्धमानरि,त्रभुवनहितधर्मचक्रनीरजवन्धुः ।
त्रिदशपतिमुकुटभासुर,चूडामणिरश्मिरंजितारुणचरणः ॥११॥

अर्थ—जो श्री वर्द्धमान स्वामी तीनो लोको का हित करने वाले धर्मचक्ररूपी कमलो के लिये सूर्य के समान है और जिनके अरुण (लाल रग के) चरण कमल इन्द्र के मुकुट मे देदीप्यमान चूडामणि रत्न की किरणो से और भी सुशोभित हो रहे है ऐसे श्रीभगवान् वर्द्धमान स्वामी सदा जयशील हो ।।११।।

जय जय जय, त्रैलोक्यकाण्ड,शोभि शिखामणे,
नुद नुद नुद, स्वान्तध्वान्तं, जगत्कमलार्क नः ।
नय नय नय, स्वामिन् ! शान्तिं, नितान्तमनन्तिमां,
नहि नहि नहि, त्राता लोकैक,मित्र ! भवत्पर ॥१२॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप तीनो लोकोमे अत्यन्त सुशोभित होने वाले शिखामणि के समान है । इसलिये आपकी जय हो, जय हो, जय हो! हे प्रभो! आप जगत्रूपी कमल का प्रकाशित करने के लिये सूर्य के समान है । इसलिये मेरे हृदय के मोहांधकार को दूर कीजिये, दूर कीजिये । हे स्वामिन्! कभी न नाश होने वाली अत्यन्त शान्ति दीजिये दीजिये दीजिये । हे भव्य जीवो के अद्वितीय मित्र ! आपके सिवाय मेरी रक्षा करने वाला ससार के दु.खो से बचाने वाला अन्य कोई नही है, नही है, नही है ।।११।।

चित्ते मुखे शिरसि पाणिपयोज युग्मे,
भक्तिं स्तुतिं विनतिमंजलिमञ्जसैव ।
चेक्रीयते चरिकरीति चरीकरीति,
यश्चर्करीति तव देव ! स एव धन्यः ॥१३॥

अर्थ—हे देव ! जो पुरुष अपने हृदय मे आपकी भक्ति करता है; आपकी स्तुति करता है; मस्तक मे आपको नमस्कार करता है और अपने दोनो हाथ रूपी कमलो से आपके लिए बार बार अजुलि करता है अर्थात् दोनो हाथ जोडता है। हे भगवान् वह पुरुष इस ससार मे अत्यन्त धन्य समझा जाता है ॥१३॥

जन्मोन्माज्यंम भजतु भवतः पादपद्मं न लभ्यं,
तच्चेत्स्वैरं चरतु नच दुर्देवतां सेवतां सः ।
अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधास्ते,
क्षुद्व्यावृत्त्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षुः ॥१४॥

अर्थ—हे भगवन् ! यदि किसी पुरुष को जन्म मरण दूर करने वाले आपके चरण कमल न प्राप्त हुए हो तो वह अपनी प्रवृत्ति इच्छानुसार करे तथापि उसे मिथ्या देवताओं का तो सेवन नही करना चाहिये । यदि इस ससार में सुलभ रीति से अन्न मिल जाय तो उसकी तो बात ही अलग है किन्तु यदि अन्न की प्राप्ति कठिन भी हो, दुर्लभ भी हो, ऐसा कौन भूखा मनुष्य है ? जो अपनी भूख मिटाने के लिये व्यर्थ ही विष का भक्षण करता हो ? अर्थात् कोई नही ॥१४॥

रूपं ते निरुपाधिसुन्दरमिदं पश्यन्सहस्रेक्षणः,
प्रेक्षाकौतुककारिकोत्र भगवन्,नोपैत्यवस्थान्तरम् ।
वाणीं गद्गदयन् वपुः पुलकयन् नेत्रद्वयं स्रावयन्,
मूर्द्धानं नमयन् करौ मुकुलयंश्चेतोपि निर्वापयन् ॥१५॥

अर्थ – हे भगवन् ! आपका यह रूप विना ही वस्त्र आभूषण आदि उपाधियो के अत्यन्त सुन्दर है, तथा देखने वालो को अत्यन्त कौतुक उत्पन्न करने वाला है। हे प्रभो ! इस संसार मे ऐसा कौन पुरुष है जो आपके ऐसे सुन्दर रूप को देख कर अपनी अवस्था को न बदल ले । अर्थात् आपके उस सुन्दर रूप को देख कर सब की अवस्था बदल जाती है। हजार नेत्रो को

धारण करने वाला इन्द्र भी आपके उस सुन्दर रूप को देख कर अपनी वाणी को गद् गद् बना लेता है। उसका शरीर प्रफुल्लित हो जाता है उसके दोनो नेत्रों से हर्ष के आसू बहने लगते है, वह अपने मस्तक को नवा लेता है दोनो हाथो को जोड़ लेता है और अपने हृदय मे अत्यन्त सन्तुष्ट हो जाता है ॥१५॥

त्रस्ताराातिरिति त्रिकालविदिति त्राता त्रिलोक्या इति।
श्रेयः सूतिरिति श्रियां निधिरिति श्रेष्ठः सुराणामिति ॥
प्राप्तोऽहं शरणं शरण्यमगतिस्त्वां तत्त्यजोपेक्षणं।
रक्ष क्षेमपदं प्रसीद जिन किं विज्ञापितैर्गोपितैः ॥१६॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले है; समस्त पदार्थो की त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पर्यायों को जानते है, तीनों लोको की रक्षा करने वाले है, अनेक कल्याणो को उत्पन्न करने वाले है अनन्त चतुष्टय के निधि है और देवो मे भी सर्व श्रेष्ठ हैं इसके सिवाय आप समस्त जीवो को शरण देने वाले है, और अत्यंत कल्याणमय पद को प्राप्त होने वाले है। हे प्रभो ! यही समझ कर और मुझे अपनी कोई दूसरी गति दिखाई न देने के कारण आपकी शरण मे आया हू इसलिये हे नाथ ! प्रसन्न हूजिये अपनी उपेक्षा का त्याग कीजिये और मेरी रक्षा कीजिये। मैंने जो यह प्रार्थना की है उसे गुप्त रखने से क्या लाभ होगा ॥१६॥

त्रिलोकराजेन्द्रकिरीटकोटि-।
प्रभाभिरालीढपदारविन्दम् ॥
निर्मूलमुन्मूलितकर्मवृक्षं-।
जिनेन्द्रचन्द्रं प्रणमामि भक्त्या ॥१७॥

अर्थ—तीनों लोको में उत्पन्न होने वाले अनेक राजा महाराजा और इन्द्रों के करोडों मुकुटों की प्रभा से जिनके चरण कमल सुशोभित

हो रहे हैं और जिन्होंने कर्मरूपी वृक्ष को जड़ से नष्ट कर डाला है ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव को मैं बड़ी भक्ति से नमस्कार करता हूं। अथवा भगवान् चन्द्रप्रभु जिनेन्द्रदेव को मैं बड़ी भक्ति से नमस्कार करता हूं ॥१७॥

करचरणतनुविघाता, दटतो विहितः प्रमादतः प्राणी।
ईर्यापथमिति भीत्या मुंचे तद्दोषहान्यर्थम् ॥१८॥

अर्थ चलते हुए मेरे हाथ पैर और शरीर के विघात से प्रमाद से जो कोई प्राणी मारा गया हो उसके दोष को नाश करने के लिये मैं ईर्यापथ का (चलने का) त्याग करता हूं ॥१८॥

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादा,
देकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा।
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे॥१६॥

अर्थ—हे भगवन्! ईर्यापथ शुद्धि मे चलते हुए मुझ से प्रमादवश यदि आज एकेन्द्रिय आदि जीव समूहो की बाधा हुई हो अथवा चार हाथ भूमि से अधिक दूर तक दृष्टि डाली हो तो वे मेरे सब पाप गुरु की भक्ति से मिथ्या हो।

गद्य—पडिक्कमामि भन्ते! इरियावहियाए विराहणाए अणागुत्ते, अइगमणे णिग्गमणे ठाणे गमणे चंकमणे पाणुग्गमणे विज्जुग्गमणे हरिदुग्गमणे उच्चारपस्सवणखेलसिंहाणयवियडिय पइट्ठावणियाए। जे जीवा एइंदिया वा, वेइंदिया वा, तेइंदिया वा, चउरिंदिया वा, पंचिंदिया वा, णोल्लिदा वा, पेल्लिदा वा, संघट्टिदा वा, संघादिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, किरिंच्छिदो वा, लेस्सिदा वा, छिंदिदा वा, भिंदिदा वा, ठाणदो वा, ठाणचंकमणदो वा, तस्स उत्तरगुणं तस्स पायच्छित्तकरणं तस्स विसोहिकरणं जाव अरहंताणं भयवन्ताणं णमोक्कार पज्जुवासं करेमि तावकायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

अर्थ—हे भगवन् ! मै प्रतिक्रमण करता हूं अर्थात् किये हुए दोषो का निराकरण करता हूं, मैने मन, वचन, काय की गुप्ति रहित होकर ईर्यापथ करते समय जो कुछ जीवों की विराधना की है उनके दोषों का मैं निराकरण करता हूं। मैने जो शीघ्र गमन किया हो, चलने की प्रथम क्रिया प्रारम्भकी हो, जहां कही ठहरने की क्रिया की हो, सामान्य गमन किया हो, पैर फैलाये हों, व सकुचित किये हो, श्वासोच्छ्वास लिया हो, अथवा दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय प्राणियों के ऊपर से अपने प्रमाद के कारण गमन किया हो, किसी बीज के ऊपर से गमन किया हो, हरितकाय के ऊपर से गमन किया हो, मैने जो मल निक्षेपण (टट्टी) किया हो, मूत्र (पेशाब) किया हो, थूका हो, कफ डाला हो, पीछी, कमंडलु, पुस्तक आदि उपकरण प्रमाद पूर्वक रक्खे हो, इन समस्त क्रियाओ के करने मे जो एकेन्द्रिय जीव वा दोइन्द्रिय जीव, वा तीनइन्द्रिय जीय, वा चारइन्द्रिय जीव, अयवा पंचेन्द्रिय जीव अपने २ स्थान पर जाते समय रोके गये हो, अपने स्थान से दूसरी जगह रक्खे गये हों, एक को दूसरे की रगड़ से पीड़ा पहुंचाई हो, व समस्त इकट्ठे कर एक जगह रख दिये हो, सतप्त कर दिये हो, चूर्ण रूप कर दिये हो अर्थात् कूट दिये हों, मूर्छित कर दिये हो, टुकडे टुकडे कर दिये हो, विदीर्ण कर दिये हों, अपने ही स्थान पर स्थित हो, अपने एक स्थान से दूसरे स्थान के लिये चल रहे हों ऐसे जीवों की मुझसे जो विरावना हुई हो, उसका प्रतिक्रमण करने के लिये तत्सम्वन्धी दोषो का निराकरण करने के लिये मै प्रवृत्त हुआ हूँ।

मैं जब तक भगवान् अरहन्तदेव को नमस्कार करता हूँ स्मरण व पूजा करता हूं तब तक अपने शरीर से ममत्व का त्याग करता हू अर्थात् कायोत्सर्ग करता हू। इस शरीर मे अनेक पाप कर्म होते है और अनेक दुष्ट चेष्टाये होती है इसीलिये मै इसका त्याग करता हूं। यह भगवान् अरहन्तदेव को किया हुआ नमस्कार वा किया हुआ उनका स्मरण, अत्यन्त उत्तम है; क्योंकि भगवान् अरहन्तदेव को नमस्कार करने से व उनका स्मरण करने से किये हुए समस्त दोप दूर हो जाते हैं अथवा उन जीवो की, की हुई विराधना का प्रायश्चित्त हो जाता है। प्रमाद से उत्पन्न होने

आने समस्त दोष दूर हो जाते है। तथा उन जीवो की विराधना से उत्पन्न होने वाले समस्त पाप नष्ट हो जाते है उन पापो की शुद्धि हो जाती है। ईर्यापथ मे होने वाले समस्त कर्मो का नाश हो जाता है।

गाथा—णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं ॥१॥

यहां पर णमोकार मंत्र का नौवार जप करना चाहिये।

ओ नम परमात्मने नमोऽनेकान्ताय शान्तये।

अर्थ—मैं परमात्मा के लिये नमस्कार करता हूं तथा अनेकात स्वरूप तत्वों का निरूपण करने वाले और अत्यन्त शांत वीतराग परमदेव के लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

गद्य—इच्छामि भंते आलोचेउं इरियावहियस्स पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिम चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण जुगंतर दिट्ठिणा भव्वेणदट्ठव्वा पमाद—दोसेण डव डवचरियाए पाणभूदजीवसत्ताणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कोरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

अर्थ—हे भगवन्! मैं आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। निंदा करना और गर्हा करना आलोचना कहलाती है। अपने आप किये हुए दोषो की निंदा करना मैंने जो ये दुष्ट कर्म किये है सो वहुत बुरा किया है इस प्रकार अपने हृदय में भावना रखना 'निंदा' कहलाती है तथा गुरु के समीप जाकर उन्ही दोषों की निंदा करना 'गर्हा' है ईर्यापथ गमन करते समय प्रमाद से जो दोष लगे हो, उनकी मैं निंदा, गर्हा रूप आलोचना करता हू।

किसी भी भव्य जीव को चलना हो पूर्वदिशा, उत्तरदिशा, पश्चिम-दिशा वा दक्षिणदिशा की ओर चलना हो अथवा इन दिशाओं के मध्य भाग मे विदिशाओ मे चलना हो तो उसे उचित है कि वह चार हाथ प्रमाण भूमिको देखता चले अर्थात् चार हाथ भूमि तक अपनी दृष्टि रक्खे और उसमे जो एकेंद्रिय आदि जीव हों उनको देखता चले उनका बचाव करता चले।

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीवों का अर्थात् विकलेंद्रिय जीवो को 'प्राणी' कहते है, वनस्पतिकायिक जीवो को 'भूत' कहते है। पचेन्द्रिय जीवों को 'जीव' कहते है और पृथ्वीकायिक, जलकायिक तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों को 'सत्व' कहते है सो ही लिखा है:—

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्राणाः भूतास्ते तरवः स्मृताः।
जीवाः पचेन्द्रियाः ज्ञेयाः, शेषाः सत्वाः प्रकीर्तिताः॥

अर्थ—दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय 'प्राणी' कहलाते है, वृक्ष सब 'भूत' कहलाते है, पचेंद्रिय 'जीव' कहलाते है और बाकी के सब 'सत्व' कहे जाते है। ऊपर की ओर मुंह उठाकर शीघ्रता के साथ इधर-उधर चलने को 'दवदवचरिया' कहते है। प्रमाद मे उत्पन्न हुए दोषों के कारण ऊपर की ओर मुंह उठा कर शीघ्रताके साथ इधर-उधर गमन किया हो और उसमें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय प्राणी, वनस्पति कायिकजीव, पंचेन्द्रिय जीव और पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक तथा वायुकायिक जीवो का घात किया हो, कराया हो, व करते हुए को भला माना हो और उन जीवो के घात व पीड़ा से जो पाप उत्पन्न हुए हों वे सब मिथ्या हों। कहीं कहीं पर दुक्कड़े के स्थान में दुक्कडं ऐसा भी पाठ है उसका भी यही अर्थ है।

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया, मायाविना लोभिना,
रागद्वेषमलीमसेन मनसा, दुष्कर्म यन्निर्मितम्।
त्रैलोक्याधिपते! जिनेन्द्र! भवतः श्री पादमूलेऽधुना,
निंदापूर्वमहं जहामि सततं निर्वर्तये कर्मणाम्॥

अर्थ—हे तीनों लोकों के स्वामी श्री जिनेन्द्रदेव! मैं अत्यन्त पापी हूं, दुष्ट हूँ, मंदबुद्धि हूँ, कपटी हूं, और लोभी हैं, ऐसे मेरे द्वारा रागद्वेष से अत्यन्त मलिन मनमें जो कुछ पाप उत्पन्न हुए हों उन सबकी निन्दा करता हुआ मैं इस समय आपके चरण कमलों के सामने, कर्मों को नाश करने के लिये उन सब पापों को सदा के लिये छोड़ता हूं।

—:*:—

जिनेन्द्रमुन्मूलित कर्मबन्धं, प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम् ।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं; क्रियाकलापं प्रगटं प्रवक्ष्ये ॥२॥

अर्थ—चार घातिया कर्म के बन्धन को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, सन्मार्गानुसार जिन्होने अपने स्वरूप को प्रकट किया है, अनंत ज्ञानादि गुणो को जो धारण करने वाले है, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार कर मैं क्रियाकलाप को प्रकट रूप से कह रहा हू ।

गद्य—अथार्हत्पूजारम्भक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्रीमत्सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

अर्थ—हे भगवन् ! श्री अरहत देव को पूजा करते समय, अपने समस्त कर्मों को क्षय करने के लिए पूर्वाचार्यो की कही हुई विधि के अनुसार भाव पूजा, वदना और स्तुति सहित, अन्तरग वहिरंग गुणरूपी लक्ष्मी से सुशोभित सिद्धभक्ति और कायोत्सर्ग करना हूं । सामायिक दडक —

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥

गद्य—चत्तारि मंगलं—अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं, चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णतो धम्मोलोगुत्तमा, चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणंपव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तंधम्मं सरणंपव्वज्जामि ।

अढाइज्जदीव दोसमुद्देसु, पण्णारसकम्मभूमिसु, जावअरहंताणं, भयवंताणं, आदियराणं तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं धम्मवरचाउरंग चक्कवट्टीणं, देवाहिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि किरियम्मं ।

करेमि भंते ! सामायियं, (देववंदनां) सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि, जावज्जीव तिविहेण-मणसा, वचसा, कायेण, ण करेमि, ण कारेमि, कीरंतंपि ण समणुमणामि, तस्स भंते ! अइचारं पच्चक्खामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं, भयवंताणं, पज्जुवासं करेमि. तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

गाथा—जीवियमरणे लाहा, लाहे संजोग विप्पजोगे य ।
बंधुरिसुहदुक्खादो, समदा सामायियं णाम ॥१॥

अर्थ—जीवित रहने मे मरने मे, लाभ में अलाभ मे, सयोग में वियोग मे, बंधुओं मे शत्रुओ मे, सुख मे तथा दुःख में सब मे जो समता धारण करता है, किसी मे रागद्वेष नहीं करता है, उसको सामयिक कहते हैं ।

चतुर्विंशतिस्तव—

गाथा—थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंत जिणे ।
णर पवरलोयमहिए; विहुयरयमले महप्पण्णे ॥ १ ॥
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे ।
अरहंते कित्तिस्से, चौवीसं चेव केवलिणो ॥ २ ॥
उसह मजियं च वन्दे, संभव मभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चन्दप्पहं वन्दे ॥ ३ ॥
सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च ।
विमल मणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वन्दामि ॥ ४ ॥
कुन्थुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥ ५ ॥
एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चौवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥
कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥

चंदहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपयासंता।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

॥ इति ईर्यापथशुद्धिः ॥

—:*:—

(२) सिद्धभक्ति

विशेष यह स्रग्धरा छंद है इसके प्रत्येक चरण में २१ अक्षर हैं उन्हें बोलते समय सात-सात अक्षरों पर विराम करना चाहिये।

सिद्धानुध्दूतकर्म, प्रकृतिसमुदयान्. साधितात्मस्वभावान्,
वंदे सिद्धिप्रसिध्यै. तदनुपमगुण, प्रग्रहाकृष्टितुष्टः।
सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः, प्रगुणगुणगुणो, च्छादिदोषापहारा,
योग्योपादानयुक्त्या, दृषद इह यथा, हेमभावोपलब्धिः ॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार भट्टी, धमनी आदि उपादान कारणों की युक्ति पूर्वक योजना करने से सुवर्णपाषाण में से किट्ट कालिमा आदि मैल सब निकल जाता है और शुद्ध सुवर्ण की प्राप्ति हो जाती है; उसी प्रकार यह संसारी आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों से अत्यन्त मलिन हो रहा है। इस आत्मा में ज्ञानादिक गुण सर्वोत्कृष्ट है जो कि अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं रहते। अथवा जिनसे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो ऐसे ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा में सर्वोत्कृष्ट गुण है। अथवा अनन्तज्ञान, अनंत दर्शन आदि सर्वोत्कृष्ट गुण है, ऐसे अनंतगुणों का समुदाय आत्मा में है। इस संसारी आत्मा के साथ जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि घातिया कर्म लगे हुए हैं, वे सब आत्मा के उन अनंतज्ञान वा अनंत-दर्शन रूप गुणों का घात करते हैं। इसीलिए उन समस्त कर्मों को दोष कहते हैं। उन समस्त घातिया, अघातिया कर्म रूपी दोषों का सर्वथा नाश व अभाव हो जाने से जो अनंत ज्ञानादि स्वरूप शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाती है उसको 'सिद्धि' कहते हैं। उस सिद्धि को जो प्राप्त हो चुके हैं, जिनको उस शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति हो गई है, उनको 'सिद्ध' कहते है। वे सिद्ध भगवान् कर्मों की प्रकृतियों के समुदाय से सर्वथा रहित होते हैं। संसार में बहुत से ऐसे

भी मनुष्य है जिनको अजनगुटिका सिद्ध हो जाती है। वे एक प्रकार का सिद्ध अजन बनाते है जिसको आंख में लगा लेने से वे किसी को दिखाई नही देते तथा उनको सब कुछ दिखता है। ऐसे मनुष्यों को 'अजनगुठिका-सिद्ध' कहते हैं। (यह एक प्रकार का तांत्रिक प्रयोग है, और यह मिथ्या-दृष्टि के भी सिद्ध हो सकता है) वे अजनगुटिकासिद्ध सिद्ध नही है किन्तु जिनके समस्त कर्म नष्ट हो जाते है उन्ही को सिद्ध कहते है। यही सूचित करने के लिए आचार्य ने सिद्धों का स्वरूप समस्त कर्मप्रकृतियो से रहित बतलाया है। इसके सिवाय जिन्होंने अनतज्ञानदर्शनस्वरूप अपने आत्मा का निज स्वभाव सिद्ध कर लिया है उन्ही को सिद्ध कहते है। बहुत से नैयायिक आदि मतवाले ईश्वर को सदा ज्ञानी मानते है। ईश्वर में सदा से रहने वाला ज्ञान मानते हैं। उनका खण्डन करने के लिए आचार्य कहते है कि जिन्होने अनंत ज्ञान प्राप्त कर लिया है वे ही सिद्ध कहलाते है। ईश्वर में सदा से ज्ञान कभी नही हो सकता। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञानावरणादि कर्मो का नाश करना पड़ता है तब कही जाकर पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है। जिनके पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है उन्ही को सिद्ध कहते है। उन सिद्धो के उपमा रहित अनत गुण है। उन अनंतगुणरूपी रस्सी के द्वारा उन सिद्धों की ओर खिच जाने के कारण अत्यंत सतुष्ट हुआ मैं उस शुद्ध आत्मस्वरूप सिद्धि की प्राप्ति के लिए उन सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि के द्वारा सुवर्ण पाषाण में से कीट कालिमा निकालकर शुद्ध सुवर्ण प्राप्त कर लेते है उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी मल को दूर करने से जो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाती है उसीको सिद्ध अवस्था कहते है। इसीलिये वह सिद्ध अवस्था समस्त कर्मो से रहित है और आत्मा के निज स्वभाव रूप है। ऐसे सिद्धो के लिए मैं उनके गुणो से मोहित होकर उसी सिद्ध पद को प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ ॥१॥

आगे—नैयायिक बौद्ध आदि अन्य दर्शनकार जो मोक्ष का स्वरूप मानते हैं उसका खण्डन करते हुए आचार्य मोक्ष का यथार्थ स्वरूप बतलाते हैं तथा साथ में ही आत्मतत्व का निरूपण भी करते हैं:—

नाभावःसिद्धिरिष्टा, न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तेः ।
अस्त्यात्मानादिबद्धः, स्वकृतजफलभुक्. तत्क्षयान्मोक्षभागी ॥
ज्ञाता द्रष्टा स्वदेह, प्रमितिरुपसमा. हारविस्तारधर्मा ।
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा, स्वगुणयुत इतो, नान्यथासाध्यसिद्धिः॥२॥

अर्थ—बौद्ध और वैशेषिक आदि मतवाले मोक्ष का स्वरूप 'अभावरूप' मानते हैं । वे कहते है कि जिस प्रकार तेल के समाप्त हो जाने मे दीपक बुझ जाता है फिर वह किसी भी दिशा या विदिशा मे जाकर नहीं ठहरता; किन्तु वह सर्वथा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की संतान का जब क्लेश वा दु.खादि नष्ट हो जाता है तब आत्मा का सर्वथा अभाव हो जाता है; इसी को 'मोक्ष' कहते है । ऐसा बौद्ध मानते है । परन्तु आचार्य इसका खंडन करते हुए कहते है कि मोक्ष का स्वरूप अभाव-रूप नही है; क्योकि ऐसा कोई भी बुद्धिमान् नही है जो अपना नाश करने के लिए प्रयत्न करे । तथा मोक्ष के लिए प्रयत्न किया ही जाता है। इसलिए बौद्ध का माना हुआ मोक्ष का स्वरूप ठीक नही है ।

यौग मतवाले कहतेहै कि बुद्धि, सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न. धर्म, अधर्म और सस्कार, ये आत्मा के विशेष गुण है; इनका अत्यन्त नाश हो जाना ही मोक्ष है, परन्तु आचार्य कहते हैं कि यौगों के द्वारा भी माना हुआ मोक्ष का यह लक्षण ठीक नही है; क्योंकि मोक्ष का स्वरूप आत्मा के गुणों के नाश होने रूप नही है । इसका भी कारण यह है कि यदि आत्मा के गुणों का नाश होना ही मोक्ष मान लिया जाय तो उन लोगों का तपश्चरण करना, व्रत पालना आदि कुछ भी नही बन सकेगा, क्योंकि अपने आत्मा का नाश करने के लिए अथवा अपने आत्मा के गुणों का नाश करने के लिए, कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य व्रत वा तप का पालन नहीं करता । संसार में जो तप और व्रतों का पालन किया जाता है, वह आत्मा को दुर्गति से बचाने के लिए और और आत्मा की गुणों की वृद्धि करने के लिये ही किया जाता है; इसलिए मानना चाहिये कि आत्मा के गुणों का नाश होना मोक्ष का स्वरूप नही है ।

चार्वाक कहता है कि आत्मा ही कोई पदार्थ नही है आत्मा का ही सर्वथा अभाव है। फिर मोक्ष किसका ? परन्तु चार्वाक का यह भी कहना ठीक नही है। इसीका खडन करते हुए आचार्य कहते है कि आत्मा है और वह अनादिकाल से चला आ रहा है। कोई कोई लोग आत्मा का अस्तित्व मानते तो है परन्तु उसी जन्म की आत्मा को ही मानते है। भूत और भविष्यत् काल मे उसका अस्तित्व नही मानते। इसी बात का खंडन करने के लिए आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा अनादि काल से चला आ रहा है।

अथवा यो कहना चाहिये कि वह आत्मा अनादिकाल से कर्मों मे बधा हुआ चला आ रहा है। सतान दर सतान रूप से बधे हुए कर्मो के बधनबद्ध होता हुआ चला आ रहा है। इस कथन से आचार्य ने **सांख्य मत का खण्डन किया** है। सांख्य मतवाला मानता है कि आत्मा तो सदा मुक्त ही रहता है। वह आत्मा कभी कर्मबद्ध वा पापो से लिप्त नही होता। प्रकृति ही कर्मो मे बद्ध वा पापो से लिप्त होती है और वही प्रकृति उन कर्मो से छूटती रहती है, परन्तु इसका खंडन करते हुए आचार्य कहते है कि आत्मा सदा से मुक्त नही है; किन्तु अनादि काल से कर्मो के द्वारा बधन बद्ध हो रहा है, इसलिए सांख्यमत का यह मानना सर्वथा अयुक्त है इसके सिवाय साख्य मतवाला यह भी मानता है कि यह आत्मा कर्मो का कर्त्ता नही है किन्तु उन कर्मो के फलों का भोक्ता अवश्य है, परन्तु सांख्य मत का यह मानना भी सर्वथा अयुक्त है; क्योकि जो कर्त्ता होता है वही भोक्ता होता है। इसी बात का निरूपण करते हुए आचार्य कहते है कि वह अनादि काल से चला आया आत्मा स्वयं अपने आप कर्मो को करता है और फिर उससे जो सुख, दुःख, रूप फल प्राप्त होते हैं उनको भोगता है। यह जीव अपने मन, वचन, कायकी जैसी प्रवृत्ति करता है, जैसे कषाय उत्पन्न करता है, उसीके अनुसार अपने कर्मो का फल प्राप्त होता है, वह उसे भोगना पडता है। इस प्रकार आत्मा का यथार्थ स्वरूप कहकर आचार्य ने **बौद्ध, वैशेषिक, योग, सांख्य, चार्वाक** आदि सब का खंडन कर दिया है।

अब जैनाचार्य यह दिखलाते है कि जब मोक्ष का स्वरूप ऊपर लिखे

अनुसार नहीं है तो फिर कैसा है ? इसके उत्तर में कहते है कि इस आत्मा ने जो कर्म स्त्रय किये है उनका अत्यन्त नाश हो जाने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है: उन कर्मो का नाश उन कर्मो का फल भोग लेने पर भी होता है और विना फल भोगे भी होता है; दोनों प्रकार से होता है परन्तु उन कर्मो का नाश हुये बिना कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इसके सिवाय वह आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है। ज्ञानोपयोव और दर्शनोपयोग स्वभाव सहित है। अनेक लोग आत्माका स्वरूप जड़ मानते है अथवा केवल चैतन्यमात्र मानते है; इसका खंडन करनेके लिए जैनाचार्य कहते है कि आत्मा जड़ नहीं है और न ज्ञानशून्य है; केवल चैतन्यमात्र है किंतु अर्थात् आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है। जानना और देखना उसका स्वभाव है। ज्ञान और दर्शन स्वभाव को ही चैतन्य कहते हैं आत्मा का परिमाण अपने शरीर प्रमाण रहता हैं। **सांख्य मीमांसक और यौग मतवाले** आत्मा को व्यापक मानते है परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। यदि सबका आत्मा व्यापक है और वह समस्त शरीरों में रहता हे तो फिर सब जीवो को एक सा ज्ञान होना चाहिये; परन्तु सो होता नही है इससे सिद्ध होता है कि आत्मा व्यापक नही है किन्तु शरीर के ही समान रहता है। कदाचित् यहा पर कोई यह शंका करे कि यदि आत्मा अपने शरीर के ही समान है तो फिर जो आत्मा हाथी के शरीर मे है वह हाथी के शरीर के समान है फिर वह मर कर यदि चीटी के शरीर में जन्म ले, अथवा कोई चीटी का जीव हाथी के शरीर में जन्मे तो वह अपना परिमाण कैसे बदल सकता है। इसके उत्तर में आचार्य कहते है कि जिस प्रकार किसी दीपक को छोटे घर में रख दें तो उतने ही घर मे वह प्रकाश फैल जाता है और यदि उसी दीपक को बड़े घर में रख दें तो उसका प्रकाश फैल कर सब घर में फैल जाता है। यदि उसी दीपक को घडे मे रखदें दो उसका प्रकाश उतना ही रह जाता है और मैदान मे टाग दे तो दूर तक फैल जाता है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में संकोच होने और फैलने की शक्ति है, उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी संकोच और विस्तार होने की शक्ति है। अपने २ कर्मो के उदय से यह जीव जब जैसा छोटा या बड़ा शरीर पाता है तब उसी परिमाण हो जाता है। जब छोटा शरीर

पाता है। तब आत्मा के प्रदेश सकुचित होकर उसी छोटे शरीर रूप हो जाते है और जब बड़ा शरीर पाता है तब वे ही प्रदेश विस्तृत होकर उस बड़े शरीर रूप हो जाते हैं। बच्चे के शरीर मे आत्मा उतने ही परिमाण रूप है फिर शरीर बड़ा होने पर वे ही आत्मा के प्रदेश फैल कर उस बड़े शरीर रूप हो जाते है। यही कारण है कि शरीर के बढ जाने पर भी शरीर का कोई भी भाग ऐसा नही रहता जिसमें आत्मा न हो। इससे सिद्ध हो जाता है कि आत्मा के प्रदेशो में सकोच विस्तार होने की शक्ति है। जब यह आत्मा कर्मो के उदय से छोटा शरीर पाता है तब उसके आत्मा के प्रदेश सकुचित उसी छोटे शरीर के परिमाण हो जाते है तथा जब बडा शरीर पाता है तब वे ही आत्म प्रदेश विस्तृत होकर उस बडे शरीर रूप हो जाते है इसके सिवाय वह आत्मा 'उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप' है। **सांख्य मीमांसक और यौग** कहते है कि आत्मा सर्वथा नित्य है। सर्वथा नित्य होने के कारण उसमे उत्पाद व्यय नही हो सकता, परन्तु इन लोगों का यह कहना ठीक नही है, क्योंकि एक आत्मा जो आज सुखी है वही आत्मा कल दुखी हो जाता है तथा जो आज दुखी है वह कल सुखी हो जाता है। इस प्रकार आत्मा मे उत्पाद और विनाश स्पष्ट रीति से प्रतीत होता रहता है। इसलिये आत्मा सर्वथा नित्य नही है किन्तु उत्पादव्यय और ध्रौव्य स्वरूप है।

बौद्धमत वाला मानता है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान रूप है। तथा ज्ञान में सदा उत्पाद विनाश होता रहता है। कभी ज्ञान घटता है, कभी बढता है, इसलिये आत्मा सर्वथा नित्य नही है, किन्तु उत्पाद व्यय स्वरूप है। **बौद्धमत** वाला आत्मा को ध्रौव्यस्वरूप नही मानता, परन्तु उसका यह मानना भी ठीक नही है क्योंकि यदि आत्मा मे ध्रौव्यपना न माना जायगा तो "मै वही हू, जो बालक अवस्था मे था और कुमार अवस्था मे था, यह जो प्रत्येक जीव को प्रत्यभिज्ञान होता है सो नहीं होना चाहिये। यदि आत्मा को सर्वथा उत्पाद, व्यय, स्वरूप ही माना जायगा और ध्रौव्यरूप न माना जायगा तो फिर लेन देन का व्यवहार व धरोहर रखने और लेने का व्यवहार कभी नही हो सकेगा। परन्तु ये सब व्यवहार होते है और 'मै वही हूँ' यह प्रत्यभिज्ञान सबको होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा ध्रौव्य स्वरूप है। इस प्रकार आत्मा का स्वरूप

उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप वतला कर आचार्य ने सांख्य मीमांसक योग और बौद्ध का खंडन कर दिया है। इसके सिवाय वह आत्मा अपने ज्ञानादि गुणो से सुशोभित होने के कारण ही उसके निजस्वरूप की प्राप्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यदि आत्मा को ज्ञानादिक गुणविशिष्ट न माना जायगा तो फिर उसके निजस्वरूप की प्राप्ति भी कभी नही हो सकती। ज्ञानावरणादिक कर्म आत्मा के ज्ञानादिक गुणों को ढक लेते है उन कर्मो के नाश होने से वे ज्ञानादिक गुण प्रगट हो जाते है इसी को निजस्वरूप अथवा मोक्ष की प्राप्ति कहते है। इसमें सिद्ध होता है कि आत्मा को ज्ञानादिक गुण विशिष्ट मानने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा कभी नही हो सकती ॥२॥

आगे यह आत्मा स्वयंभू कैसे बनता है सो दिखलाते है:—

स त्वन्तर्बाह्यहेतु,प्रभवविमलस,दर्शनज्ञानचर्या ।
सम्पद्धे तिप्रघात,चतदुरिततया,व्यञ्जिताविन्त्यसारैः ॥
कैवल्यज्ञानदृष्टि,प्रवरसुखमहा,वीर्यसम्यक्त्वलब्धि ।
ज्योतिर्वातायनादि,स्थिरपरमगुणै,रद्भुतैर्भासमानः ॥३॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम होना सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के लिये अंतरग कारण है तथा गुरु का उपदेश, जिनबिंबदर्शन, जातिस्मरण आदि बाह्य कारण है। इन अतरग और बाह्यकारणों के मिलने मे (१) सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। (२) सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होने के लिये (क) दर्शन मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशमादिक होना अंतरंग कारण है (ख) और गुरु का उपदेश, स्वाध्याय, तीव्र बुद्धि आदि बाह्य कारण है। सम्यक् चारित्र उत्पन्न होने के लिए मोहनीय कर्म का क्षयोपशमादिक अंतरग कारण है (ख) और गुरु का उपदेश, स्वाध्याय, तीव्र बुद्धि आदि वाह्य कारण है। (३) सम्यक्-चारित्र उत्पन्न होने के लिए मोहनीय कर्म का क्षयोपशमादिक अन्तरंग कारण है और गुरूपदेश शरीरसंहनन आदि बाह्य कारण है। इन अंतरंग और बहिरंग कारणों के मिलने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट होते है। तथा कर्मो के विशेष क्षयोपशम होने से

ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र अत्यन्त निर्मल हो जाते है। इस प्रकार के ये निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र आत्मा की संपत्ति है। कर्मों को नाश करने के लिये यही रत्नत्रय रूप सपत्ति आत्मा का शस्त्र है। इस रत्नत्रयरूप शस्त्र के प्रवल प्रहार से घातिया कर्मरूपी पाप बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते है। यह आत्मा अपने रत्नत्रयरूप शस्त्र के प्रबल प्रहार से जिस समय घातिया कर्मो को नष्ट कर देता है उसी समय इस आत्मा के केवल ज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य, अत्यन्तनिर्मलसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, यथाख्यात चारित्र, भामडल, चमर और दडादि शब्द से अनेक अनुपम विभूतियां प्राप्त होती है। ये ऊपर लिखी विभूतिया सिवाय घातिया कर्मो को नाश करने वाले अरहतों के अन्य किसी के भी प्राप्त नही हो सकती। इन विभूतियों मे से ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व आदि विभूतियां तो आत्म स्वभाव रूप है और वे शास्वत है। फिर उनका नाश कभी नही होता। वे शुद्ध मुक्तस्वरूप आत्मा के साथ सदा बनी रहती है। तथा भामडल, चमर, छत्र, सिंहासन आदि विभूतिया देवोपनीत है। वे शरीर के साथ तक रहती है। ये समस्त विभूतिया अद्भुत है, इनका चितवन भी नही किया जा सकता तथा इन विभूतियो का माहात्म्य अचित्य है; अचित्य माहात्म्य स्पष्ट प्रगट दिखाई देता है। जब यह आत्मा घातिया कर्मो के नाश कर देने पर ऊपर लिखे अचित्य और परमगुणो के द्वारा देदीप्यमान होता है तभी यह आत्मा स्वयभू वा अरहत बन जाता है। भावार्थ—स्वयभू वा अरहत अवस्था को प्राप्त होता है और फिर अघातिया कर्मों का नाश करने पर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है ॥३॥

यह आत्मा किन-किन कामों को करता हुआ स्वयंभू होता है। यही बात आगे दिखलाते है।

जानन्पश्यन्समस्तं, सममनुपरतं संप्रतृप्यन्वितन्वन्।
धुन्वन्ध्वान्तं नितान्तं, निचितमनुपमं, प्रीणयन्नीशभावम् ॥
कुर्वन्सर्वप्रजाना,मपरमभिभवन्, ज्योतिरात्मानमात्मा।
आत्मन्येवात्मनासौ, क्षणमुपजनयन्,सत्स्वयंभू प्रवृत्तः ॥४॥

अर्थ—स्वयंभू व अरहत होने पर यह अत्यन्त शुद्ध आत्मा समस्त लोक एवं अलोक को एक साथ निरतर जानता और देखता रहता है। कृतकृत्य हो जाने के कारण पूर्ण तृप्ति को प्राप्त हो जाता है। अनतकाल तक अपने आत्मा में लीन रहता है। अथवा केवल ज्ञान के द्वारा अनंतकाल तक समस्त लोकालोक को जानता और देखता रहता है। मोहरूपी घोर अन्धकार को उसी समय पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है। अपनी समवसरण रूप सभा में किया गधकुटी रूप सभा में अमृत के समान दिव्यध्वनि रूपी वचनों के द्वारा कल्याणमय उपदेश देकर भव्य जीवो को अत्यन्त सतुष्ट करता है उनको अत्यन्त आनंदित करता है। तीनों लोकों का प्रभुत्व प्राप्त करता है तथा समस्त प्रजा के मध्य मे विराजमान होकर अपने केवल ज्ञान के द्वारा अन्य लोगों के द्वारा माने हुए ईश्वर के ज्ञान रूप तुच्छ ज्योति को तिरस्कृत करता है तथा अपने शरीर की अनुपम काति से सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करता है इस प्रकार ज्ञाता द्रष्टा तथा ऊपर लिखे अनुसार अपने आत्मस्वभावको सिद्ध करने वाला वह अरहतरूप शुद्ध आत्मा, अपने आत्मा में, प्रतिक्षण निमग्न करता रहता है फिर वह अपने आत्मा को, अन्य किसी भी पदार्थ में नही लगाता। इस प्रकार वह शुद्ध आत्मा विना किसी दूसरे के उपदेश की अपेक्षा के अपने आप मोक्ष मार्ग को जानकर तथा उस मोक्ष मार्ग का अनुष्ठान कर अनंत ज्ञानस्वरूप हो जाता है। उस समय उस परम शुद्ध आत्मा को **स्वयंभू** कहते है। जो अपने आप हो उसको स्वयंभू कहते है। यह आत्मा भी अपने ही रत्नत्रय रूप गुणो के द्वारा अनंत ज्ञानी हुआ है, अरहत हुआ है। इसलिये भगवान् अरहत देव को 'स्वयंभू' कहते है ॥४॥

यह स्वयंभू अवस्था को प्राप्त हुआ आत्मा अंत में सिद्ध व। मुक्त होता है। यही बात आगे आचार्य दिखलाते हैं।

छिन्दन्शेपानशेपा,न्निगलवलकलींस,तैरनन्तस्वभावैः ।
सूक्ष्मत्वाग्र्यावगाहा,गुरुलघुकगुणैः, क्षायिकैः शोभमानः ॥
अन्यैश्चान्यव्यपोह,प्रवणविपयसं,प्राप्तिलब्धिप्रभावै ।
रूर्ध्वं व्रज्यास्वभावात,समयसुपगतो. धाम्नि संतिष्ठतेऽग्र्ये॥५॥

अर्थ—भगवान् अरहतदेव के जो बाकी के अघातिया कर्म लगे हुए है वे भी बेडियो के समान अत्यन्त कठिन है ऐसे वेदनीय (२) नाम (३) गोत्र और (४) आयु कर्म की मूल ४ एवं ८५ * उत्तर प्रकृतियो को विदीर्ण करते हुए (सर्वथा नाश करते हुए) वे भगवान् अनंत स्वभाव को धारण करने वाले सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि गुणों से शोभायमान होते है।

इसके सिवाय समस्त कर्मो के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, और अगुरुलघु आदि परम गुणों से भी वे भगवान् सुशोभित होते है इन गुणो के सिवाय उत्तरोत्तर समस्त कर्म प्रकृतियों के नाश होने से जो आत्मा की विशुद्धता और आत्मा का निज-स्वभाव प्रगट होता है उससे जिनका माहात्म्य व प्रभाव खूब बढ गया है ऐसे चौरासी लाख उत्तर गुणो से भी भगवान् सुशोभित होते है। शुद्ध आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है। इसलिये समस्त कर्मो के नाश होने पर उसी समय मे उसी काल के सबसे छोटे भाग मे वे भगवान् लोकाकाश के अग्रभाग पर जा विराजमान होते है।

भावार्थ—समस्त कर्मो के नाश होने पर सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्रगट होते है तथा उनके साथ आत्मा के अन्य अनन्त गुण प्रगट हो जाते

---

* १. असाता वेदनीय २. देवगति। पाच शरीर ३ औदारिक ४. वैक्रियिक ५ आहारक ६ तैजस ७ कार्माण। पाच बधन ८ औदारिक ९ वैक्रियिक १० आहारक ११ तैजस १२ कार्माण। पाच सघात १३ औदारिक १४ वैक्रियक १५ आहारक १६ तैजस १७ कार्माण। छह सस्थान १८ समचतुरस्र सस्थान १९ न्यग्रोधपरिमडल २० स्वातिक २१. वामन २२ कुब्जक २३ हुँडक। तीन अगोपाग २४. औदारिक २५ वैक्रियिक २६ आहारक। छहसहनन २७ वज्रनाराच २८ नाराच ३० अर्द्धनाराच ३१ कीलक ३२ स्फाटिक। पाच वर्ण ३३ काला ३४. नीला ३५ पीला ३६ सफेद ३७. लाल। दो गध ३८ सुगध ३९ दुर्गन्ध। पाच रस ४० तिक्त (तीखा) ४१ आम्ल (खट्टा) ४२ कडुवा ४३ मीठा ४४ कषायला। आठ स्पर्श ४५ कोमल ४६. कठोर (कडा) ४७. शीत ४८. उष्ण ४९ हलका ५० भारी ५१ स्निग्ध ५२ रूक्ष ५३ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व ५४ अगुरुलघु ५५ उपघात ५६ परघात ५७ उच्छ्वास ५८. प्रशस्तविहायोगति ५९ अप्रशस्तविहायोगति ६० अपर्याप्तक ६१ प्रत्येक शरीर ६२ स्थिर ६३ अस्थिर ५४ शुभ ६५ अशुभ ६६ दुर्भग ६७. सुस्वर ६८ दुस्वर ६९ अनादेय ७० अयश कीर्त्ति ७१ निर्माण ७२ नीचगोत्र ७३ साता वेदनीय ७४ मनुष्यगति ७५. मनुष्यायु ७६ पचेन्द्रियजाति ७७ मनुष्यगति प्रयोग्यानुपूर्व ७८ त्रस ७९ वादर ८७. पर्याप्तक ८१ सुभग ८२ आदेय ८३ यश कीर्त्ति ८४ तीर्थकर ८५ उच्चगोत्र।

है तथा जिस समय कर्मो का नाश होता है उसी समय में वे भगवान् लोकाकाश के अग्रभाग पर जा विराजमान होते है ॥५॥

आगे बतलाते हैं कि सिद्ध अवस्था में आत्मा का परिमाण कितना रहता है। अन्तिम शरीर से कम रहता है या अधिक।

अन्याकाराप्तिहेतु,र्न च भवति परो, येन तेनाल्पहीनः।
प्रागात्मोपात्तदेह,प्रतिकृतिरुचिरा,कार एव ह्यमूर्तः॥
क्षुत्तृष्णाश्वासकास,ज्वरमरणजरा,निष्टयोग प्रमोह।
व्यापत्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः, कोऽस्य सौख्यस्य माता ॥६॥

अर्थ—जिस मनुष्य शरीर से यह जीव मुक्त होता है वह उस जीव का अंतिम शरीर कहलाता है उसीको 'चरम शरीर' कहते है। मुक्त होने पर इस जीव का आकार चरम शरीर के आकार से भिन्न आकार नही हो सकता, न तो वह समस्त लोक मे व्यापक हो सकता है और न वटवृक्ष के बीज के समान अणुमात्र ही हो सकता है। क्योंकि वह आकार बदलने का कोई कारण नही है। किन्तु अन्तिम शरीर के परिणाम से कुछ आकार होने का कारण है, और वह यह है कि संसार परिभ्रमण मे इस जीव का आकार कर्मो के उदय मे बदलता था। अब कर्मो के नष्ट हो जाने से आकार बदलने वाला कोई कारण नही रहा; इसलिये मुक्त अवस्था मे जीव का आकार अन्तिम शरीर के आकार ही रहता है, तथा उसका परिमाण अन्तिम शरीर से कुछ कम रहता है। क्योंकि शरीर के जिन २ भागों में आत्मा के प्रदेश नही है उतना परिमाण घट जाता है। शरीर के भीतर पेट नाक कान आदि भाग ऐसे है जिनमें (पोले भाग में) आत्मा के प्रदेश नही है। इसलिये आचार्य कहते है कि अन्य ऐसे कारण है जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्त जीव का परिमाण अन्तिम शरीर के परि-माण से कुछ कम है। यह कमी आकार की अपेक्षा से नही है किन्तु घन फल की अपेक्षा से है, तथा मुक्त अवस्था में जीव का आकार अन्तिम शरीर के समान अत्यन्त देदीप्यमान रहता है।

एव शब्द निश्चयवाचक है और हि शब्द स्पष्टता सूचित करने के लिये है; इससे सिद्ध होता है कि मुक्त अवस्था मे जीव का आकार अंतिम

शरीर के आकार है और उनका परिमाण अतिम शरीर से कुछ कम है। मुक्त जीव का यह आकार और यह परिमाण निश्चित है और स्पष्ट है। इसके सिवाय अन्य कोई आकार तथा अन्य कोई परिमाण हो नही सकता। इसके सिवाय मुक्त अवस्था में वह शुद्ध आत्मा अमूर्त्तिक रहता है। रूप रस गंध स्पर्श और शब्द रूप पुद्गल परिणति को मूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्ति जिसके न हो उसको अमूर्ति कहते हैं। सिद्धो मे रूप रस गंध स्पर्श रूप मूर्ति नही है इसलिये वे अमूर्ति स्वरूप है। अथवा अमूर्ति भी पाठ है जिनके रूपरसादि स्वरूप मूर्ति हो उनको मूर्त कहते है तथा जिनके ऐसी मूर्ति न हो उनको अमूर्त कहते है। उन सिफ परमेष्ठी की परिणति रूप रस गध स्पर्श स्वरूप नहीं है इनसे सर्वथा रहित है इसलिए वे अमूर्त है।

इसके सिवाय वे भगवान् क्षुधा, तृषा, श्वास, कास (दमा) ज्वर, मरण, जरा (बुढापा) अनिष्ट योग, मोह अनेक प्रकार की आपत्तियों तथा इनको आदि लेकर और भी अनेक प्रकार के घोर दु ख जिससे उत्पन्न होते है ऐसे ससार के परिभ्रमण को उन सिद्ध भगवान् ने नाश कर दिया हैं। अथवा कर्मो के नाश होने से वह संसार अपने आप नष्ट हो गया है। उस ससार के नष्ट होने से सिद्धो को अनत सुख की प्राप्ति हो गई है उस सुख का परिमाण भला कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नही। सिद्धोंका सुख अनत है उनका परिमाण कभी किसी से नही हो सकता ॥६॥

आगे सिद्धों का वह सुख कैसा है सो दिखलाते हैं—

आत्मोपादानसिद्धं, स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं।
वृद्धिह्रासव्यपेतं, विषयविरहितं, निःप्रतिद्वन्द्वभावम् ॥
अन्यद्रव्यानपेक्षं, निरुपममितं, शाश्वतं सर्वकालं।
उत्कृष्टानन्तसारं, परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्यजातम् ॥७॥

अर्थ—भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के जो सुख होता है वह केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है। अन्य किसी प्रकृति आदि से उत्पन्न नहीं होता इसीलिये वह सुख अनित्य नही होता वह सुख स्वयं अतिशय युक्त होता है। समस्त बाधाओसे रहित होता है। अत्यन्त विशाल वा विस्तीर्ण होता है आत्मा के समस्त प्रदेशो मे व्याप्त होकर रहता है। वह सुख न

कभी घटता है न बढता है । वृद्धि और ह्रास दोनों से रहित है । जिस प्रकार सांसारिक सुख विषय से उत्पन्न नही होता किंतु सब प्रकार के विषयों से रहित स्वाभाविक होता है । सुख का प्रतिद्वन्द्वी दुःख है । उन दुःखों से मिला हुआ है । परन्तु सिद्धों का सुख सदा सुख रूप ही रहता है । जीवों का सुख, सातावेदनीय कर्म के उदय से होता है तथा पुष्पमाला, चन्दन, भोजन आदि बाह्य सामग्री से उत्पन्न होता है परन्तु सिद्धों का सुख उपमा रहित है; अनंत है । विनाश रहित है और इसीलिये वह सदा बना रहता है । उस सुख का माहात्म्य परमोत्कृष्ट है और अनंत काल तक रहता है । वह सुख परम सुख कहलाता है अर्थात् इन्द्रादिक के सुख से भी अत्यन्त अतिशय युक्त वा बढकर है । जिन सिद्धों का लक्षण वा उनके गुण पहले निरूपण कर चुके है और जो लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान हैं, ऐसे सिद्धो का अनन्त सुख ऊपर लिखे अनुसार होता है । अभिप्राय यह है कि सिद्धों का सुख ससारी जीवों के सुखों से अत्यन्त विलक्षण है । सिद्धो का सुख वास्तविक सुख है और इसीलिये वह सर्वोत्तम है ॥७॥

सांसारिक सुख अन्नादिक साधनों से उत्पन्न होता है परन्तु सिद्धों का सुख किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं रखता । यही दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं:—

नार्थः क्षुत्तृट्विनाशाद्विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या ।
नास्पृष्टेर्गन्धमाल्यैर्नहि मृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात् ॥
आतंकार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजानर्थतावद् ।
दीपानर्थक्यवद्वा, व्यपगततिमिरे, दृश्यमाने समस्ते ॥८॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी जीव के, प्राण हरण करने वाली व्याधि की कोई पीडा व दुःख न हो तो फिर उसके लिये पीडा को शान्त करने वाली किसी भी श्रेष्ठ औषधि की आवश्यकता नही होती अथवा जिस समय अन्धकार का सर्वथा अभाव हो और समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई दे रहे हों उस समय दीपक की कोई आवश्यकता नही होती । उसी प्रकार उन सिद्ध भगवान् के क्षुधा और तृषा (प्यास) का सर्वथा नाश हो गया है इसलिये उनको अनेक प्रकार के रसों से परिपूर्ण ऐसे अन्न जल की कोई

आवश्यकता नही होती। तथा सिद्धों के किसी भी प्रकार की अपवित्रता का स्पर्श नही होता इसलिये उनको केसर चदन या पुष्पमाला आदि की आवश्यकता नही होती। इसी प्रकार उन सिद्ध भगवान् के ग्लानि वा थकावट का सर्वथा अभाव है निद्रा का सर्वथा अभाव है और ज्वरादिक रोगों का सर्वथा अभाव है, इसलिये उनको कोमल शय्या की भी कोई आवश्यकता नही होती।

भावार्थ—सिद्धो का सुख ससारी जीवो के सुख के समान भोगोपभोग की सामग्रियो से उत्पन्न नही होता इसलिये उनके सुख मे किसी भी बाह्यसामग्री की आवश्यकता नही होती। उनका सुख स्वाभाविक सुख होता है और केवल स्वात्मजन्य होता है। इसीलिये वह सदा एक सा अनन्त स्वरूप बना रहता है ॥८॥

आगे सिद्धों का स्वरूप कहते हुए उनको नमस्कार करते हैं:—

तादृक्सम्पत्समेता, विविधनयतपः,संयमज्ञानदृष्टि।
चर्या सिद्धाः समन्तात्,प्रविततयशसो, विश्वदेवाधिदेवाः॥
भूता भव्या भवन्तः, सकलजगति ये, स्तूयमाना विशिष्टैः।
तान्सर्वान्नौम्यनंतान्,निजिगमिषुररं,तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम् ॥९॥

अर्थ—वे सिद्ध भगवान् अनन्त ज्ञान आदि अनेक उत्तम गुणो से सुशोभित है। नैगम सग्रह आदि अनेक प्रकार के नयों के द्वारा कृतकृत्य हो चुके है, अनशन आदि बारह प्रकार के तपश्चरण के द्वारा कृतकृत्य हो चुके है, सामायिक आदि पांच प्रकार के संयम से कृतकृत्य हो चुके है, मतिज्ञान आदि पांच प्रकार के ज्ञानो से कृतकृत्य हो चुके है, तत्वों के श्रद्धान करने रूप सम्यग्दर्शन के द्वारा कृतकृत्य हो चुके है और तेरह प्रकार के चरित्र के द्वारा कृतकृत्य हो चुके है। इसके सिवाय उनका यश चारों ओर फैल रहा है, वे समस्त देवो के अधिदेव वा स्वामी कहे जाते है और तीनो लोकों मे समस्त भव्य जन जिनको सदा नमस्कार करते रहते है अथवा जिनकी स्तुति करते रहते है ऐसे भूत काल मे होने वाले भविष्यत् काल में होने वाले और वर्तमान काल मे होने वाले समस्त अनन्तानत

सिद्धों को मै उन सिद्धों के स्वरूप को बहुत शीघ्र ही प्राप्त करने की इच्छा से प्रातः काल, मध्यान्हकाल और सायंकाल तीनो समय नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—सिद्ध परमेष्ठी अनन्त ज्ञानी हैं, कृतकृत्य है, देवाधिदेव है और इन्द्र, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि समस्त महापुरुषों के द्वारा वदनीय है, ऐसे समस्त सिद्धो को मैं उनके स्वरूप की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हू ॥६॥

क्षेपक श्लोक—

कृत्वा कायोत्सर्गं. चतुरष्टदोषविरहितं सुपरिशुद्धं ।
अतिभक्तिसंप्रयुक्तो, यो वन्दते स लघुलभते परमसुखं ॥१॥

अर्थ—जो व्यक्ति अत्यन्त निर्मल तथा ३२ प्रकार के दोष रहित कायोत्सर्ग को भक्ति पूर्वक करता है वह शीघ्र ही मुक्ति के सुख को प्राप्त करता है ॥१॥

गद्य—इच्छामि भंते ! सिद्धिभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउ, सम्मणाणसम्मदंसण, सम्मचारित्तजुत्ताणं,अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुण-संपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पयट्ठियाणं, तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं, संजमसिद्धाणं, चरित्तसिद्धाणं, अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं, सव्व-सिद्धाणं, सया णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।

अर्थ.—हे भगवन्! सिद्धभक्ति करने के अनन्तर जो मैने कायोत्सर्ग किया है उसमें लगे हुए दोषो की आलोचना करने की मैं इच्छा करता हूँ। जो सिद्ध भगवान् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र सहित है, आठों कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सुशोभित से रहित है, जो ऊर्ध्वलोक के मस्तकपर जाकर विराजमान है, जो तपश्चरणसे सिद्ध हुए है, नयोंसे सिद्ध हुएहै, संयमसे सिद्ध हुए है, चारित्र से सिद्ध हुए हैं, जो भूतकाल भविष्यत् और वर्तमान काल तीनों कालों में सिद्ध हुए है ऐसे समस्त सिद्धों की मैं सदा हर समय अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूं, वदना करता हूँ, और

नमस्कार करता हू । मेरे दु खो का नाश हो, कर्मो का नाश हो मुझे, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, श्रेष्ठ गति को प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों की प्राप्ति हो ।

इस प्रकार सिद्ध भक्ति समाप्त हुई ।

---

[३] श्रुत-भक्ति

विशेष—यह आर्या छन्द है इसके प्रथम तथा तृतीय चरण में १२ मात्रायें, दूसरे चरण में १८ मात्रायें और चतुर्थ चरण में १५ होती है उनका ध्यान रखते हुये पढ़ना चाहिये ।

स्तोष्ये संज्ञानानि, परोक्षप्रत्यक्षभेदभिन्नानि ।
लोकालोकविलोकन,लोलितसल्लोकलोचनानि सदा ॥१॥

अर्थ—जिस सम्यग्ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद है और जिस प्रकार नेत्रो से घट पट आदि पदार्थो का ज्ञान होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भव्य जीवो को जिस सम्यग्ज्ञान से लोक अलोक सबका परिज्ञान होता है ऐसे १ मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मन पर्ययज्ञान, और ५. केवल ज्ञान इन पाचों सम्यग्ज्ञानो की सदा स्तुति करता हू ।

सम्यग्ज्ञान कहने से मिथ्या ज्ञान का निषेध हो जाता है ।

भावार्थ—लोकाकाश मे भरे हुए अजीव आदि समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है । इसलिये मैं सम्यग्ज्ञान की ही स्तुति करता हूँ ॥१॥

आगे मति ज्ञान की स्तुति करते है: —

अभिमुखनियमितबोधन,माभिनिबोधिकमनिंद्रियेंद्रियजं ।
वह्वाद्यवग्रहादिक,कृतषट्त्रिंशतत्रिशतभेदम् ॥२॥

विविधर्द्धिबुद्धिकोष्ठ,स्फुटबीजपदानुसारिबुद्ध्य.धिकं ।
संभिन्नश्रोतृतया, सार्धं श्रुतभाजं । वन्दे ॥३॥

अर्थ—मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते है । लिखा भी है मति स्मृति संज्ञाचिताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । अर्थात मति, स्मृति, सज्ञा, चिता आभिनिबोध, ये सब एक ही मतिज्ञान के वाचक है । यह आभिनिबोध सज्ञा सार्थक है । ज्ञान के लिए जो योग्य देश काल, और ग्रहण करने योग्य सामग्री है उसको 'अभि' कहते है । 'नि' शब्द का अर्थ नियम है जैसे चक्षु के द्वारा रूप का ज्ञान होता है, नाक के द्वारा गध का ज्ञान होता है, कान के द्वारा शब्द का ज्ञान होता है, जिव्हा से रस का ज्ञान होता है, स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है । इन सबका पृथक् २ इन्द्रियों से जो नियमित रीति से ज्ञान होता है उसको निबोध कहते है । इस प्रकार योग्य स्थान पर योग्य काल मे निर्दोष इद्रियों से जो पदार्थो का ज्ञान होता है उसको मति ज्ञान कहते है ।

आगे मतिज्ञान के भेद दिखलाते है १. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय ४. धारणा ये चार भेद हैं । इनमे से प्रत्येक के १. बहु, २. बहुविध, ३. एक, ४. एकविध, ५. शीघ्र, ६ देरसे, ७ निसृत वा प्रगट, ८. अनिःसृत व अप्रगट, ९. उक्त, १०. अनुक्त, ११. ध्रुव, १२. अध्रुव ये बारह विषय होते है । इस हिसाब से अडतालीस भेद हो जाते है । ये सब पाच इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होते है इनसे गुणा कर देने से दो सौ अठासी भेद होते है । ये अर्थावग्रह के भेद है । व्यंजनावग्रह अथवा अप्रगट पदार्थ का केवल अवग्रह ही होता है । ईहा, अवाय, धारणा नही होते तथा वह आँख और मन से नही होता । इस प्रकार उसके अडतालीस भेद होते हैं । दोनों मिलाकर मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते है ।

इसके सिवाय वह मतिज्ञान अनेक ऋद्धियों से सुशोभित है । तपश्चरणादिक के द्वारा मतिज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम होने से ये ऋद्धिया उत्पन्न होती हैं । वे ऋद्धिया नीचे लिखे अनुसार है—

१. कोष्ठ बुद्धि—जिस प्रकार भंडारी एक ही कोठे में अनेक प्रकार के धान्य रखता है तथा उनको नष्ट भी नही होने देता । उसी प्रकार अपनी बुद्धि मे अनेक प्रकार के ग्रन्थों की धारणा रखना है । उनकी अलग-

अलग व्यवस्था रखता है तथा किसी भी धारणा को नष्ट नही होने देता, ऐसी कोठे के समान बुद्धि की प्राप्ति को 'कोष्ठबुद्धि ऋद्धि' कहते है।

२. **बीजबुद्धि** – जिस प्रकार अच्छे खेत मे काल के अनुसार बोया हुआ एक बीज भी अनेक धान्य उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार बीज के समान एक पद के ग्रहण करने से ही जिस बुद्धि के द्वारा अनेक पदार्थो का ज्ञान हो जाय उस बुद्धि को 'बीज बुद्धि' कहते है।

३. **पदानुसारी बुद्धि**—जिस बुद्धि में किसी ग्रथ का पहला पद अथवा अत का पद ग्रहण करने मात्र से समस्त ग्रथ का ज्ञान हो जाय ऐसी बुद्धि की ऋद्धि को 'पदानुसारी ऋद्धि' कहते है।

४. **संभिन्नश्रोतृता**—एक ही साथ अनेक शब्द होते हो उन सबको एक साथ अलग-अलग जिस विशेष बुद्धि के द्वारा जान सकते है उस बुद्धि की ऋद्धि को 'संभिन्न श्रोतृता ऋद्धि' कहते हैं। चक्रवर्ती की सेना बारह योजन लबे और नौ योजन चौड़े मैदान में रहती है उसमें हाथी, घोडा, ऊंट, मनुष्य, आदि सभी एक साथ बोलते है उन सब की अक्षर रूप अनक्षर रूप भाषा को एक साथ अलग-अलग जान लेना इस ऋद्धि का काम है। ऐसी ऋद्धि इसी जन्म में अथवा पहले जन्म मे उपार्जित किये हुये तपविशेष क्षयोपशम होने के कारण होती है। इससे ये चार बुद्धि ऋद्धि कहलाती है। इनमे बुद्धि की विशेपता है, तपश्चरण से उत्पन्न होने वाली शक्ति की मुख्यता है, इसलिये इनका वर्णन अलग किया है।

इसके सिवाय मतिज्ञानश्रुतज्ञान का कारण है। मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। लिखा भी है 'श्रुतंमतिपूर्वं इत्यादि। अर्थात् मतिज्ञान श्रुतज्ञान पूर्वक ही होना है।

उन ऊपर लिखे समस्त भेदों से ऋद्धियो से सुशोभित ऐसे मतिज्ञान के लिए मै नमस्कार करता हूं ॥२-३॥

आगे श्रुतज्ञान की स्तुति करते है।

श्रुतमपि जिनवरविहितं, गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्तम्।
अङ्गांगबाह्यभावित,मनंतविषयं नमस्यामि ॥४॥

अर्थ —मै केवल मतिज्ञान को ही नमस्कार नहीं करता किन्तु उस

श्रुतज्ञान को भी नमस्कार करता हूं जो श्रुतज्ञान अर्थ रूप से श्री जिनेन्द्रदेव ने निरूपण किया है तथा अर्थ और पद रूप से जिसकी अंग पूर्व रूप रचना गणधर देवों ने की है। जिस श्रुतज्ञान के दो भेद है और अनेक भेद है। उनमें से श्रुतज्ञान के दो भेद अंग और अंग-बाह्य है तथा द्रव्य श्रुतज्ञान और भाव श्रुतज्ञान के भेद से श्रुतज्ञान के अनेक भेद हैं। शब्द रूप ज्ञान को 'द्रव्यश्रुत' कहते है और उनसे जो पदार्थ ज्ञान होता है उसको 'भावश्रुत' कहते हैं। उस श्रुतज्ञान का विषय अनंत पदार्थो से भरा हुआ वह समस्त लोकाकाश है। ऐसे श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४॥

आगे भाव श्रुतज्ञान को कहते हैः—

पर्यायाक्षरपदसं, घातप्रतिपत्तिकानुयोगविधीन् ।
प्राभृतकप्राभृतकं, प्राभृतकं वस्तुपूर्वं च ॥५॥
तेषां समासतोऽपि च. विंशतिभेदान्समश्नुवानं तत् ।
वंदे द्वादशधोक्तं, गभीरवरशास्त्रपद्धत्या ॥६॥

अर्थ—श्रुतज्ञान के के बीस भेद हैं। १ पर्याय, २ पर्यायसमास, ३ अक्षर, ४ अक्षरसमास, ५. पद, ६ पदसमास, ७. सघात, ८ सघात-समास, ९ प्रतिपत्ति, १० प्रतिपत्तिसमास, ११. अनुयोग, १२. अनुयोग-समास, १३ प्राभृतप्राभृत, १४ प्राभृतप्राभृतसमास, १५. प्राभृतक, १६. प्राभृतकसमास, १७. वस्तु, १८ वस्तुसमास, १९ पूर्व, २० पूर्व-समास ये सब श्रुतज्ञान के बीस भेद है। इन सबका अतर्भाव द्वादशाग श्रुतज्ञान में हो जाता है।

१ सूक्ष्मनित्यनिगोद के लब्ध्यपर्याप्त जीव के पहले समय में जो श्रुतज्ञान होता है उसको १ पर्याय श्रुतज्ञान कहते है यह ज्ञान सबसे जघन्य होता है 'लब्ध्यक्षर' इसका नाम है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयो-पशम को 'लब्धि' कहते हैं। और जिस ज्ञान का कभी नाश न हो उसको 'अक्षर' कहते है। यह ज्ञान सदा बना रहता है, इसका कभी आवरण नहीं होता। यह ज्ञान एक अक्षर का अनंतवा भाग होता है। इसीलिये यह ज्ञान सबसे जघन्य कहा जाता है। यह ज्ञान सदा आवरण रहित रहता है। अतएव इतना ज्ञान सदा बना रहता है यदि इसका अभाव मान लिया

जाय तो जीव का नाश ही हो जाय। क्योंकि उपयोग ही जीव का लक्षण है। यदि उसका भी नाश मान लिया जायगा तो जीव का ही अभाव हो जायगा। इसलिये जीव के कम से कम इतना ज्ञान अवश्य रहता है। सो ही लिखा है ॥५-६॥

सुहुमणिगोदअपज्जत्त,यस्स जादस्स पढमसमयह्मि।
हवदे हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ॥१॥

गोम्मटसार,

२. **पर्याय समास**–जब पर्याय श्रुतज्ञान अनंतभागवृद्धि असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यात वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि, अनंतगुणवृद्धि इस प्रकार षटगुणी वृद्धि होते होते जब असंख्यात लोक प्रमाण हो जाता है तब उसको 'पर्याय समास' ज्ञान कहते हैं। अक्षरश्रुतज्ञान से पहले तक 'पर्याय समास कहलाता है।

३. **अक्षर श्रुतज्ञान**—अकार आकार आदि अक्षररूप श्रुतज्ञान को अक्षरश्रुतज्ञान कहते हैं।

४. **अक्षर समास**—अक्षर श्रुतज्ञान से ऊपर पद श्रुतज्ञान से नीचे जो श्रुतज्ञान के भेद हैं उनको 'अक्षर समास' कहते है।

५. **पद श्रुत**—अक्षर श्रुत ज्ञान के आगे क्रम-क्रम से अक्षरो की वृद्धि होते होते जब संख्यात अक्षरो की वृद्धि हो जाती है तब उस ज्ञान को 'पदश्रुतज्ञान' कहते है।

६. **पदसमास**—पद श्रुत ज्ञान के आगे संघात श्रुतज्ञान होने तक श्रुत ज्ञान के जितने भेद है उन सबको 'पदसमास' कहते है।

७. **संघात**—एक पदज्ञान के आगे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते जब संख्यात हजार पदो की वृद्धि हो जाती है तब यह संघात ज्ञान होता है,यह ज्ञान चारों गतियो मे से किसी एक गति का वर्णन कर सकता है।

८. **संघात समास**—अक्षरो के द्वारा बढता हुआ जो ज्ञान संघात लेकर प्रतिपत्ति श्रुत ज्ञानतक हो जाता है उसको 'संघातसमास' श्रुतज्ञान कहते है।

९. **प्रतिपत्तिज्ञान**—संघात समास से बढते बढते जब संख्यात हजार

मधानो की वृद्धि हो जाय तब प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चारो गतियों का स्वरूप वर्णन किया जा सकता है।

१०. **प्रतिपत्ति समास**—प्रतिपत्तिज्ञानसे आगे जब संख्यात प्रतिपत्ति रूप ज्ञान बढ जाता है तब अनुयोग से पहले तक उसको 'प्रतिपत्ति समास' कहते हैं।

११. **अनुयोग**—प्रतिपत्ति समास से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाती है तब एक अनुपयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान से चोदह मार्गणाओ का स्वरूप जाना जाता है।

१२. **अनुयोग समास**—अनुयोग ज्ञान से आगे और प्राभृत प्राभृत ज्ञान से पहले जितने ज्ञान के विकल्प है वह सब अनुयोग समास है।

१३. **प्राभृतप्राभृत**—अनुयोग ज्ञान के आगे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते सख्यात अनुयोग होने पर प्राभृत प्राभृत ज्ञान होता है। प्राभृत शब्द का अर्थ अधिकार है। वस्तु नामक श्रुतज्ञान के अधिकार को प्राभृत और उसके भी अधिकारो को प्राभृत-प्राभृत कहते है।

१४. **प्राभृत-प्राभृत-समास**—प्राभृत प्राभृत से आगे और प्राभृत से पहले तक श्रुतज्ञान के जितने विकल्प है उन सब को 'प्राभृत प्राभृत समास' कहते हैं।

१५. **प्राभृत**—प्राभृतप्राभृतज्ञान की वृद्धि होते होते जब चौबीस प्राभृत प्राभृत हो जाते है तब एक 'प्राभृत ज्ञान' होता है।

१६. **प्राभृत समास**—प्राभृत से ऊपर और वस्तु से नीचे जो श्रुत ज्ञान के विकल्प है उन सब को 'प्राभृतसमास' कहते हैं।

१७. **वस्तु श्रुतज्ञान**—प्राभृत ज्ञान की वृद्धि होते होते जब बीस प्राभृत बढ जाते है तब 'वस्तु श्रुतज्ञान' होता है।

१८. **वस्तु समास**—वस्तु ज्ञान से ऊपर क्रम से अक्षर पदों की वृद्धि होते होते दस वस्तु ज्ञान की वृद्धि हो जाय उसमे से एक अक्षर कम तक जो ज्ञान के विकल्प है उनको वस्तु समास ज्ञान कहते हैं।

१९. **पूर्वश्रुत**—पूर्व ज्ञान के चौदह भेद है। वस्तु समास के

अन्तिम भेद मे अक्षर मिलाने से उत्पाद पूर्व होता है।

२०.**उत्पाद पूर्व समास**--उत्पाद पूर्व मे भी वृद्धि होते होते चौदह वस्तु पर्याय वृद्धि होने पर उसमे से एक अक्षर कम करने से उत्पाद पूर्व समास ज्ञान होता है।

उसमे एक अक्षर बढाने से अग्रायणीय पूर्व और उसकी वृद्धि होने होते अग्रायणीय पूर्व समास होता है। इसी प्रकार आगे के पूर्व और पूर्व समास समझने चाहिये।

इस प्रकार वह द्वादशाग श्रुतज्ञान अनन्त पदार्थो को विषय भूत करने से अत्यन्त गम्भीर है और अबाधित विषय होने से अत्यन्त श्रेष्ठ है इस प्रकार की शास्त्र प्रणाली के अनुसार वह श्रुतज्ञान बारह प्रकार है। ऐसे श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हूँ।

आगे उन श्रुतज्ञान के बारह भेदों को कहते है:--

आचारं सूत्रकृतं, स्थानं समवायनामधेयं च।
व्याख्याप्रज्ञप्तिं च, ज्ञातृकथोपासकाध्ययने ॥७॥
वन्देऽन्तकृद्दश,मनुत्तरोपपादिकदशं दशावस्थम्।
प्रश्नव्याकरणं हि, विपाकसूत्रं च विनमामि ॥८॥

अर्थ--अगप्रवृष्ट श्रुतज्ञानके बारह भेद है। उनके नाम ये हैं। १ आचाराग, २. सूत्रकृताग, ३ स्थानाग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग, ६ ज्ञातृकथांग, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अंतकृद्दशांग ९. अनुत्तरोपपादिकदशाग, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११ विपाकसूत्राग और १२. दृष्टिवादाग। इन बारह भेदरूप श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हूँ।

इन बारह अंगो की पदसंख्या और स्वरूप इस प्रकार है।

(१) **आचारांग**--इसकी पदसंख्या अठारह हजार और इसंमे गुप्ति समिति आदि मुनियो के आचरणो का वर्णन है।

श्रुतज्ञान के दो भेद है एक द्रव्यश्रुत और दूसरा भावश्रुत। द्रव्यश्रुत की रचना शब्दात्मक है इसलिए उसकी पदसंख्या कही जा सकती है परन्तु भावश्रुत ज्ञानमय है इसलिये उसकी पदसंख्या आदि कुछ नही कही जा सकती।

द्वादशाग श्रुतज्ञान मे आचारांग को सब से पहले स्थान मिला है। इसका कारण यह है कि मोक्ष का साक्षात् कारण मुनिमार्ग है। और वह गुप्ति समिति पचाचार दशधर्म आदि रूप है। इन सबका वर्णन आचारांग में है। इसलिये सब से पहले यही कहा है। अथवा भगवान् अरहत देव ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण किया उसी को सुन कर गणधरदेव ने द्वादशांग श्रुतज्ञान की रचना की उसमें से सबसे पहले मोक्ष का साक्षात् कारण होने के कारण आचारांग सबसे पहला अंग कहा जाता है।

(२) **सूत्रकृतांग**—इसमे ज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञान का विनय और अध्ययनके कारण आदिका वर्णन है इसकी पदसख्या छत्तीस हजारहै।

(३) **स्थानांग**—इसमें जीवादिक द्रव्यो के एक से लेकर अनेक स्थानों तक का वर्णन किया है। जैसे संग्रहनय से आत्मा एक है। ससारी मुक्त के भेद से दो प्रकार है। उत्पादव्ययध्रौव्य की अपेक्षा तीन प्रकार है। गतियों की अपेक्षा से चार प्रकार है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक भावों की अपेक्षा से पांच प्रकार है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे इन छह दिशाओ की ओर [विग्रहगति में] गमन करने के कारण छह प्रकार है। स्यात् अस्ति, स्यान्नास्ति, आदि सप्त भगो की अपेक्षा से सात प्रकार है। आठ कर्मो के प्रतिक्षण आस्रव की अपेक्षा से आठ प्रकार। नवपदार्थरूप स्वरूप की अपेक्षा से नौ प्रकार है। पृथ्वी कायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, प्रत्येक साधारण दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइंद्रिय, पंचेन्द्रिय के भेद से दस प्रकार है इस प्रकार जीव के अनेक भेद है।

इसी प्रकार पुद्गल धर्म अधर्म आदि समस्त द्रव्यों के विकल्प सम झने चाहिए। ये सब भेद स्थानांग में निरूपण किये है। इस अग की पदसंख्या ब्यालीस हजार है।

(४) **समवायांग**— इसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से द्रव्यो में जो परस्पर समानता हो सकती वह दिखलाई है। जैसे १. धर्म, द्रव्य २. अधर्म द्रव्य, ३. लोकाकाश और ४. एक जीव के प्रदेश समान है यह **द्रव्य की अपेक्षा समानता है**। १. जंबूद्वीप, २. अप्रतिष्ठान नरक, ३

नन्दीश्वर द्वीप की वावडिया और ४ सर्वार्थसिद्धिविमान समान क्षेत्र है। **यह क्षेत्र कृत समानता है**। १ उत्सर्पिणी, २. अवसर्पिणी दोनों का काल समान है। **यह काल की समानता है**। १. क्षायिकज्ञान और २. क्षायिक दर्शन दोनो समान है। यह **भावकृत समानता है**। इस प्रकार समानता को निरूपण करने वाला समवायाग है। इसकी पद सख्या एक लाख चौसठ हजार है।

(५) **व्याख्या प्रज्ञप्त्यंग**—जीव है अथवा नही है इस प्रकार गण-धर देव ने साठ हजार प्रश्न भगवान् अर्हत देव से पूछे। उन सव प्रश्नों का तथा उनके उत्तरो का वर्णन इस अंग मे है। इसकी पद सख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है।

(६) **ज्ञातृकथांग**—इसमें भगवान् तीर्थंकर परम देव और गणधर देवों की कथाओं का तथा उपकथाओ का वर्णन है। अन्य महापुरुषो की कथाए भी उसी मे है। इसकी पद सख्या पांच लाख छप्पन हजार है।

(७) **उपासकाध्ययनांग**—इसमें श्रावकों के समस्त आचरण, क्रिया, अनुष्ठान आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या ग्याराहलाख सत्तर हजार है।

(८) **अन्तकृद्दशांग**—प्रत्येक तीर्थंकर के समय मे दशदश मुनी-श्वर ऐसे होते है जो भयकर उपसर्गों को सहन कर समस्त कर्मो का नाश कर मोक्ष जाते है उनका वर्णन इस अग में है। संसार का अंत करने वाले दश दश मुनियों का वर्णन जिसमे हो उसको अंत कृद्दशांग कहते है। इसकी पद सख्या तेईस लाख अट्ठाईस हजार है।

(९) **अनुत्तरोपपादिक दशांग**—प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश दश मुनि ऐसे होते है जो घोर उपसर्ग सहन कर समाधि मरण से अपने प्राणो का त्याग करते है और विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते है। उन सवका वर्णन इस अग में है। इनकी पदसख्या बानवे लाख चवालीस हजार है।

(१०) **प्रश्नव्याकरणांग**—जो वस्तु खो गई है वा मुट्ठी में है वा और कोई चिंता का विषय हो उन सव प्रश्नो को लेकर उनका पूर्ण

यथार्थ व्याख्यान वा समाधान का वर्णन इस अंग मे है। इसकी पद संख्या तिरानवे लाख सोलह हजार है।

(११) **विपाक सूत्रांग**—इसमें अशुभ कर्मों का उदय शुभ कर्मो का उदय तथा उनका फल वर्णन किया है इसकी पदसंख्या एक करोड़ चौरासी लाख है।

इस प्रकार ग्यारह अंगों की पदसंख्या चार करोड पंद्रह लाख दो हजार है। ऐसे श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हू ॥७-८॥

आगे बारहवें अंग दृष्टिवाद की स्तुति करते हैं।

परिकर्म च सूत्रं च, स्तौमि, प्रथमानुयोगपूर्वगते।
सार्द्धं चूलिकया च, पंचविधं दृष्टिवादं च ॥ ९ ॥

अर्थ—दृष्टिवाद नाम के बारहवे अग के पांच भेद है १. परिकर्म, २ सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका इन सब को मैं नमस्कार करता हू।

(१) **परिकर्म**—जिसमे गणित की व्याख्या कर उसका पूर्ण विचार किया हो उसको **परिकर्म** कहते है। इसके पांच भेद है। १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २ सूर्यप्रज्ञप्ति, ३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ४ द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति।

(१) **चन्द्रप्रज्ञप्ति**—इसमें चन्द्रमा की आयु, गति, परिवार, विभूति आदि का वर्णन है इसकी पदसख्या छत्तीस लाख पांच हजार है।

(२) **सूर्यप्रज्ञप्ति**—इसमें सूर्य की आयु, गति, परिवार, विभूति ग्रहण आदि का वर्णन है। इसकी पदसंख्या पाच लाख तीन हजार है।

(३) **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति**—इसमे जम्बूद्वीप संबंधी सात क्षेत्र, कुलाचल पर्वत सरोवर नदियां आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या तीन लाख पचीस हजार है।

(४) **द्वीपसागर प्रज्ञप्ति**—इसमें असंख्यात द्वीप समुद्रों का वर्णन है। उन द्वीप समुद्रो में रहने वाले अकृत्रिम चैत्यालय ज्योतिष व्यंतर आदि सबका वर्णन है। इसकी पदसंख्या बावन लाख छत्तीस हजार है।

(५) **व्याख्याप्रज्ञप्ति**—इसमें जीवाजीवादिकद्रव्यों का स्वरूप,

उनका रूपी, अरूपीपना आदि का वर्णन है इसकी पद संख्या चौरासी लाख छत्तीस हजार है।

(२) **सूत्र**—इसमे जीव कर्मो का कर्त्ता है, उनके फल को भोक्ता है, शरीर परिमाण है, इत्यादि पदार्थो का यथार्थ स्वरूप निरूपण किया है तथा यह जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से उत्पन्न नही हुआ है, अणुमात्र नही है, सर्वगत नही है, इत्यादि रूप से अन्य मतो के द्वारा माने हुए पदार्थो के स्वरूप का खडन है इसकी पदसख्या अठासी लाख है।

(३) **प्रथमानुयोग**—इसमें त्रेसट सलाका पुरुषों के चरित्र व पुराणों का निरूपण है। इसकी पदसख्या पाच हजार है।

(४) **पूर्वगत**—इसमे समस्त पदार्थो के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या पिचानवे करोड पचास लाख पाच है।

(५) **चूलिका के पांच भेद है**—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

(१) **जलगता**—इसमे जल मे गमन करने के लिये तथा जल का स्तभन करने के लिए जो कुछ मत्र, तत्र व तपश्चरण कारण है उन सब का वर्णन है। इसकी पद सख्या दो करोड नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

(२) **स्थलगता**—इसमे पृथ्वी पर गमन करने के कारण मंत्र तंत्र और तपश्चरणो का वर्णन है। पृथ्वी पर होने वाली जितनी वास्तुविद्याए है मकान वनाने आदि की विद्याए उन सवका वर्णन है। इसकी पदसंख्या दो करोड नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

(३) **मायागता**—इसमे इन्द्रजाल सबधी मत्र, तत्रो का वर्णन है इसकी पद सख्या दो करोड नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

(४) **रूपगता**—इसमे सिह, व्याघ्र, हिरण आदि के रूप धारण करने के मत्र, तत्रो का वर्णन है तथा अनेक प्रकार के चित्र बनाने का वर्णन है। इसकी पदसख्या दो करोड नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

(५) **आकाशगता**—इसमे आकाश मे गमन करनेके कारण मत्र तंत्र और तपश्चरण का वर्णन है। इसकी पदसख्या दो करोड नौ लाख

नवासी हजार दो सौ है ।

आगे यद्यपि पूर्व गत की स्तुति कर चुके हैं तथापि उसके अनेक भेद हैं इसलिये उन सब भेदों को कहते हुए उस पूर्वगत की फिर भी स्तुति करते हैं ॥ ६ ॥

पूर्वगतं तु चतुर्दश, धोदितमुत्पादपूर्वमाद्यमहम् ।
आग्रायणीयमीय, पुरुवीर्यानुप्रवादं च ॥ १० ॥
संततमहमभिवंदे, तथास्तिनास्तिप्रवादपूर्वं च ।
ज्ञानप्रवादसत्य, प्रवादमात्मप्रवादं च ॥ ११ ॥
कर्मप्रवादमीडेऽथ, प्रत्याख्याननामधेयं च ।
दशमं विद्याधारं, पृथुविद्यानुपवादं च ॥ १२ ॥
कल्याणनामधेयं, प्राणांवायं क्रियाविशालं च ।
अथ लोकविंदुसारं, वंदे लोकाग्रसारपदं ॥ १३ ॥

अर्थ—पूर्वगत के चौदह भेद हैं उनके नाम ये है । १ उत्पादपूर्व, २. आग्रायणीय पूर्व, ३. वीर्यानुवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ५ ज्ञान प्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवाद, ७. आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ६. प्रत्याख्यान पूर्व, १०. विद्यानुवादपूर्व, ११. कल्याणवाद, १२ प्राणानुवादपूर्व, १३. क्रियाविशाल, १४. लोकविंदुसार ।

(१) उत्पादपूर्व—इसमें जीवादिक पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप धर्मों का वर्णन है । इसकी पद संख्या एक करोड़ है ।

(२) आग्रायणीय पूर्व—इसमें प्रधान व मुख्य पदार्थों का निरूपण है । दुर्नय सुनय और द्रव्यों का वर्णन है । इसकी पदसंख्या छयानवे लाख है ।

(३) वीर्यानुवाद—इसमें चक्रवर्ती इन्द्र, धरणेन्द्र, केवली आदि की सामर्थ्य का माहात्म्य दिखलाया है । इसकी पदसंख्या सत्तर लाख है ।

(४) अस्ति नास्ति प्रवाद—इसमें अनेक प्रकार से छहों द्रव्यो के

अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्मो का वर्णन है। इसकी पद संख्या साठ लाख है।

५. **ज्ञानप्रवाद**—इसमे पाचो ज्ञानो का तथा तीनों मिथ्या ज्ञानो के स्वरूप का वर्णन है। उसके प्रगट होने के कारण उनके आधार वा पात्र [जिनके वह ज्ञान होता है] आदि का वर्णन है। इसको पद संख्या निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे है।

६. **सत्यपवाद** इसमें वचन गुप्ति का वर्णन है, वचनो का सस्कार किस प्रकार होता है उसका वर्णन है, कठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों का वर्णन है, जिनके बोलने की शक्ति उत्पन्न हो गई है ऐसे दोइंद्रिय, तेइंद्रिय, चौइद्रिय, पंचेद्रिय जीवो के शुभ अशुम वचनों के प्रयोगों का वर्णन है। इसकी पदसंख्या एक करोड़ छह है।

७. **आत्मप्रवाद**—इसमे जीव के ज्ञान, सुख और कृतत्व आदि धर्मो का वर्णन है। इसकी पदसख्या छब्बीस करोड है।

८. **कर्मप्रवाद**--इसमें कर्मो का बध, उदय, इदीरणा, उपशम, और निर्जरा आदि का वर्णन है। इसकी पदसंख्या एक करोड़ अस्सी लाख है।

९. **प्रत्याख्यान पूर्व**—इसमें द्रव्य और पर्यायों के त्याग का वर्णन है उपवास करना व्रत, समिति, गुप्ति, पालन करना प्रतिक्रमण प्रतिलेख, विगधना विशुद्धि आदि का वर्णन है। इसकी पदसंख्या चौरासी लाख है।

१०. **विद्यानुवाद**—इसमे सातसो लघुविद्या, पांचसो महाविद्याओं का वर्णन है। आठों महानिमित्तों का वर्णन है तथा इन सव विद्याओं का साधन का वर्णन है। इसकी पदसख्या एक करोड दस लाख है।

११. **कल्याणवाद**—इसमे तीर्थंकर परमदेव चक्रवर्ती बलदेव नारायण आदि के गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक आदिका वर्णन है। इसकी पदसख्या छब्बीस करोड है।

१२. **प्राणानुवाद** - इसमे प्राण, अपान के विभाग का वर्णन है, आयुर्वेद शास्त्र, मत्रशास्त्र गारुडीविद्या आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या तेरह करोड़ है।

१३. **क्रियाविशाल**--इसमें बहत्तर कलाओं का वर्णन है तथा छंद-

शास्त्र और अलंकार शास्त्र का वर्णन है। इसकी पदसंख्या नौ करोड़ है।

१४. लोकबिंदुसार--इसमे लोक में सबसे प्रधान और सारभूत जो मोक्ष है उसके सुख, साधन और उसको प्राप्त करने के लिये कहे गये समस्त अनुष्ठानों का वर्णन है। इसकी पदसंख्या बारह करोड पचास लाख है।

इस प्रकार पूर्वगत के चौदह भेद हैं इन सबको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं, इनकी वदना करता हूं और स्तुति करता हूं। इस प्रकार चौदह पूर्वों की स्तुति की ॥१० से १३॥

अब आगे आगे इन पूर्वों के अधिकार तथा प्रत्येक अधिकार के प्राभृत आदि का वर्णन करते है।

दश च चतुर्दश चाष्टा,वष्टादश च द्वयोर्द्विपूटकं च।
षोडश च विंशतिं च. त्रिंशतमपिं पंनदश च तथा ॥१४॥

अर्थ—ऊपर जो उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व कहे है उनमे नीचे लिखे अनुसार अधिकार है। उत्पादपूर्व के दश अधिकार है। आग्रायणी के चौदह, वीर्यानुवाद के आठ, अस्तिनास्तिप्रवाद के अठारह, ज्ञानप्रवाद के बारह, सत्यप्रवाद के बारह, आत्मप्रवाद के सोलह, कर्मप्रवाद के बीस, प्रत्याख्यान पूर्व के तीस, विद्यानुवाद के पन्द्रह, कल्याणवाद के दश प्राणानुवाद के दश, क्रिया विशाल के दश और लोक बिन्दुसार के दश अधिकार है ॥१४॥

वस्तूनि दश दशान्येष्,वनुपूर्वं भाषितानि पूर्वाणाम्।
प्रतिवस्तु प्राभृतकानि, विंशतिं विंशतिं नौमि ॥१५॥

ये सब मिलकर एक सौ पिचानवे अधिकार होते है इन सब अधिकारों को वस्तु कहते है एक-एक वस्तु वा अधिकार में बीस-बीस प्राभृत होते हैं इस प्रकार एक सौ पीचानवे अधिकारो मे उन्तालीस सौ प्राभृत होते है। तथा एक २ प्राभृत में चौवीस प्राभृत-प्राभृत होते हैं सब प्राभृत प्राभृतों की संख्या तिरानवे हजार छः सौ होती है।

भावार्थ—पुर्व १४, वस्तु १९५, प्राभृत ३९०० प्राभृत प्राभृत ९३६०० होते है। इन सबको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥१५॥

आगे आग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकार अथवा वस्तु कही जाती है उनके नामपूर्व परंपरा से उपलब्ध हो रहे है। इसलिये आचार्य उनका वर्णन करते है।

पूर्वांतं ह्यपरान्तं,ध्रुवमध्रुवच्यवनलब्धिनामानि ।
अध्रुवसंप्रणिधिं चा,प्यर्थं भौमावयाद्यं च ॥१६॥
सर्वार्थकल्पनीयं, ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालं ।
सिद्धिमुपाध्यं च तथा, चतुर्दशवस्तूनि द्वितीयस्य ॥१७॥

अर्थ—इस दूसरे आग्रायणीय नाम के पूर्व के चौदह अधिकार है उनके नाम ये है। पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, च्यवनलब्धि, अध्रुव सप्रणिधि, अर्थभौमावय, सर्वार्थ कल्पनीय, ज्ञान, अतीतकाल अनागतकाल सिद्धि और उपाध्य। ये नाम आचार्य परम्परा से चले आ रहे है। इनको भी मै नमस्कार करता हूं ॥१६-१७॥

आगे इस आग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकारोमें से पांचवां अधिकार 'च्यवनलब्धि' है उसके चौथे अध्याय का नाम 'कर्मप्रकृति' है उसके चौवीस अनुयोग है। उनके नाम आचार्य परपरा से चले आ रहे है आगे उन्ही की स्तुति करते है—

पंचमवस्तुचतुर्थ,प्राभृतकस्यानुयोगनामानि ।
कृतिवेदने तथैव, स्पर्शनकर्मप्रकृतिमेव ॥१८॥
बंधननिबंधनप्र,क्रमानुपक्रममथाभ्युदयमोक्षौ ।
संक्रमलेश्ये च तथा, लेश्यायाः कर्मपरिणामौ ॥१९॥
सातमसातं दीर्घं, ह्रस्वं वधारणीयसंज्ञं च ।
पुरुपुद्गलात्मनाम च, निधत्तमनिधत्तमभिनौमि ॥२०॥
सनिकाचितमनिकाचित,मथ कर्मस्थितिकपश्चिम स्कंधौ ।
अल्पबहुत्वं च यजे, तद्द्वाराणां चतुर्विंशम् ॥२१॥

अर्थ—१. कृति, २. वेदना, ३ स्पर्शन, ४ कर्म, ५. प्रकृति, ६ बन्धन, ७ प्रक्रम, ८. अनुपक्रम, ९ अभ्युदय, १० मोक्ष, ११ सक्रम,

१२. द्रव्यलेश्या, १३. भावलेश्या, १४. सात, १५. असात, १६ दीर्घ, १७. ह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९ पुरुपुद्गलात्म, २० निधत्तमनिधत्त, २१. सनिकांचितमनिकांचित, २२. कर्मस्थितिक, २३ पश्चिमस्कंध और २४, अल्प बहुत्व ये चौवीस अनुयोग है ये चौवीसो अनुयोग चतुर्थ प्राभृत के द्वार के समान है। इनसे चतुर्थ प्राभृतमे प्रवेश हो जाता है। इनके सिवाय एक पच्चीसवां सर्वानुयोग नाम का अनुयोग और है। इसमें जो कथन है वह समस्त अनुयोगो के लिये उपयोगी है इसलिये इसका नाम सर्वानुयोग है इसके होने से ही सबकी पूर्णता होती है। इस प्रकार ये चौवीस अनुयोग अथवा पच्चीस अनुयोग आग्रायणीय पूर्वके पांचवें च्यवनलब्धि नाम के अधिकार के कर्म प्रकृति नामक चोथे प्राभृत कहे जाते है। इनको मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं ॥१८ से २१॥

आगे द्वादशांग श्रुतज्ञान की पदसंख्या कहते है :—

कोटीनां द्वादशशत,मष्टापंचाशतं सहस्राणाम् ।
लक्षत्र्यशीतिमेवच, पंच च वंदे श्रुतपदानि ॥२२॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त द्वादशांग की पदसंख्या एक सौ बारह करोड़, तीरासी लाख, अट्ठावन हजार पांच है। इस श्रुतज्ञान को मै सदा नमस्कार करता हू।

आगे – एक एक पद में कितने कितने अक्षर होते है सो कहते है :—

षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्,कोटीनां त्र्यशीतिलक्षाणि ।
शतसंख्याष्टासप्तति,मष्टाशीतिं च पदवर्णान् ॥२३॥

अर्थ—पद तीन प्रकार के होते है। १. अर्थपद, २. प्रमाणपद और ३. मध्यम पद। कहने वाले का अभिप्राय जितने अक्षरों से पूर्ण हो जाय उतने अक्षरो का एक अर्थपद होता है। इस पद के अक्षर नियत नहीं है। किसी पद मे अधिक अक्षर होते है और किसी मे कम। जैसे 'अग्नि लाओ' इसमें थोड़े अक्षर है और 'इस सफेद गाय को अपनी जगह पर बांध दो' इसमें अधिक अक्षर है।

आठ अक्षर वा इससे अधिक अक्षरों के समुदाय को प्रमाणपद कहते हैं। इससे अङ्गबाह्य श्रुत की संख्या कही जा सकती है। जैसे

अनुष्टप् श्लोक के प्रत्येक चरण मे आठ अक्षर होते हैं ।

अगप्रविष्ट श्रुत की सख्या के निरूपण करने वाले जो पद है उनको **मध्यमपद** कहते हैं । इस श्लोक मे उन्हीं मध्यमपद के अक्षरों की संख्या का प्रमाण कहते है । सोलहसो चौतीस करोड तिरासी लाख, अठत्तर सौ अठासी अक्षर अर्थात् सोलह अरब चौतीस करोड़, तिरासी लाख सात हजार, आठसौ अठासी अक्षर एक एक मध्यम पद के होते है ।

समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरो की सख्या एकट्ठी प्रमाण है । अर्थात् १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ इतने अक्षर है ।

इसमे मध्यपद के अक्षरों का भाग देना चाहिए जो फल आये वह द्वादशाग की पद संख्या समझनी चाहिये । तथा जो अक्षर बाकी रहते है वे अक्षर अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान के समझने चाहिये । जो अक्षर बाकी रह जाते है उनसे मध्यमपद बन नहीं सकता इसीलिये वे अक्षर अगबाह्य के समझे जाते है । उनकी सख्या आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार, एकसौ पिचहत्तर है । उस अगबाह्य के अनेक भेद है आगे उन्ही की स्तुति करते है :—

सामायिकं चतुर्विंशति,स्तवं वंदना प्रतिक्रमणं ।
वैनयिकं कृतिकर्म च, पृथुदशवैकालिकं च तथा ॥२४॥
वरमुत्तराध्ययनमपि, कल्पव्यवहारमेवमभिवंदे ।
कल्पाकल्पं स्तौमि, महाकल्पं पुंडरीकं च ॥२५॥
परिपाट्या प्रणिपतितोऽस्म्यहं महापुंडरीकनामैव ।
निपुणान्यशीतिकं च, प्रकीर्णकान्यंगबाह्यानि ॥२६॥

अर्थ—अगबाह्य श्रुतज्ञान के चौदह भेद है उनके नाम ये है । १. सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वदना, ४ प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक ६. कृति-कर्म, ७. दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार १० कल्पाकल्प, ११. महाकल्प, १२. पुडरीक, १३ महापुंडरीक, १४ अशीतिक इन्ही को **प्रकीर्णक** कहते है । इनमे पदार्थो का स्वरूप अत्यत सूक्ष्म रीति से वर्णन किया है । ऐसे इन चौदह प्रकीर्णको को मै बडी विनय के साथ वदना करता हू ।

(१) **सामायिक**—गृहस्थ वा मुनि जो नियत काल तक अथवा अनियत काल तक समता धारण करते है उनको सामायिक कहते हैं। उनका जिसमे वर्णन हो वह **सामायिक प्रकीर्णक** है।

(२) **चतुर्विंशतिस्तव**—वृषभादि चौबीस तीर्थकरो के आठ प्रतिहार्य चौतीस अतिशय, चिन्ह तथा अनंत चतुष्टय आदि की स्तुति करना स्तव है। उसका जिसमें वर्णन हो वह चतुर्विशतिस्तव है।

(३) **वंदना**—पञ्च परमेष्ठियो मे से प्रत्येक की अलग अलग वंदना करना **वंदना** है। उसका जिसमे वर्णन हो वह **वंदना** है।

(४) **प्रतिक्रमण**—जिसमे सात प्रकार के प्रतिक्रमण का वर्णन हो उसको **प्रतिक्रमण** कहते है। यथा १ दैवसिक--दिन के दोषों को निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण। (२) रात्रिक रात्रि के दोषो के निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण। (३) पाक्षिक--पन्द्रह दिन के दोषों को निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण। (४) चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—जिसमे चार महीने के दोषो का निराकरण हो। (५) सावत्सरिक प्रतिक्रमण-जिसमे एक वर्ष के दोषो का निराकरण हो। (६) ऐर्यापथिक—जिसमें ईर्यापथ संबधी दोषों का निराकरण हो। (७) उत्तमार्थिक—जिसमें समस्त पर्याय सबंधी दोषों का निराकरण किया जाय। इस प्रकार सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन जिसमें हो उसको **प्रतिक्रमण प्रकीर्णक** कहते हैं।

(५) **वैनयिक**—जिसमे ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनयों का वर्णन हो उसको **वैनयिक प्रकर्णकी** कहते है।

(६) **कृतिकर्म**—जिसमें दीक्षा देने और दीक्षा लेने का विधान हो उसको **कृतिकर्म** कहते हैं।

(७) **दश वैकालिक**—द्रुम, पुष्पित आदि दश दश अधिकारों के द्वारा इसमें मुनियो के समस्त आचरणो का वर्णन है।

(८) **उत्तराध्ययन**—इसमे अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करने और उनको सहन करने के फलों का वर्णन है।

(९) **कल्पव्यवहार**—इसमें मुनियों के योग्य आचरणो का तथा उन आचरणों से च्युत होने पर योग्य प्रायश्चित का वर्णन है।

(१०) **कल्पाकल्प**---इसमें गृहस्थ और मुनियो के योग्य तथा अयोग्य आचरणो का वर्णन है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा वा विशेष समय के अनुसार योग्य आचरणो का निरूपण इसमे किया गया है।

(११) **महाकल्प**----दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसस्कार, भावना, उत्तमार्थ ये छह कालभेद माने है। इनके अनुसार इसमे मुनियों के आचरणो का निरूपण है।

(१२) **पुण्डरीक**----इसमें भवनवासी, व्यतर आदि देवो में उत्पन्न होने के कारण तपश्चरण का वर्णन है।

(१३) **महापुण्डरीक**---इसमे देव, देवागना, अप्सरा आदि स्थानों मे उत्पन्न होने के कारणों का वर्णन है ।

(१४) **अशीतिक**---इसमे मनुष्यों की आयु और सामर्थ्य के अनु-सार स्थूल दोष और सूक्ष्म दोषो के प्रायश्चित्तों का वर्णन है।

इस प्रकार ये चौदह प्रकीर्णक कहलाते है। इनमें अत्यत सूक्ष्म पदार्थो का वर्णन है इसीलिये इनको निपुण कहते है। ये अंगबाह्य इतने ही है। न इनसे कम है और न इनसे अधिक है, ऐसे इस अंग बाह्य को मै नमस्कार करता हूं तथा इसकी स्तुति करता हूँ ।।२४ से २६।।

आगे--अवधिज्ञान की स्तुति करते है।

पुद्गलमर्यादोक्तं,प्रत्यक्षं सप्रभेदमवधिं च ।
देशावधिपरमावधि, सर्वावधिभेदमभिवंदे ॥२७॥

अर्थ---जो अधिकतर नीचे के विषयो को जाने उसको अवधि कहते है अथवा जिस ज्ञान का विषय पुद्गल ही हो उसको अवधिज्ञान कहते है। अवधिज्ञान, रूपी पदार्थ को ही जानता है अन्य को नही। यह अवधिज्ञान प्रत्यक्ष है। केवल आत्मा से उत्पन्न होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के समान इन्द्रियो से उत्पन्न नही होता है और इसीलिए परोक्ष नही है। इस अवधिज्ञान के अनेक भेद है और वे सब अबाधित है। यथा देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन मुख्य भेद है। इनमे से परमावधि और सर्वावधि चरम शरीर मुनियो के ही होता है तथा देशावधि अवधिज्ञान सबके होता है। देशावधि और परमावधि मे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि

अनेक भेद हैं क्योंकि अवधिज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम जैसा जैसा बढ़ता जाता है वैसा ही ये ज्ञान भी बढ़ते जाते हैं। सर्वावधिज्ञान में एक उत्कृष्ट भेद ही होता है। क्योंकि यह सर्वावधिज्ञान समस्त अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही प्रगट होता है। ऐसे इस अवधिज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२७॥

आगे आचार्य मनःपर्यय ज्ञान की स्तुति करते हैः--

परमनसि स्थितमर्थं, मनसा परिविद्य मंत्रिमहितगुणम् ।
ऋजुविपुलमतिविकल्पं, स्तौमि मनःपर्ययज्ञानम् ॥२८॥

अर्थ—दूसरो के मन में स्थित पदार्थों को जो प्रत्यक्ष जान ले उसको मन पर्ययज्ञान कहते है। यह जन्म मरण रूप अपार ससार एक प्रकार का दुर्वार विष है। उस ससार रूपी विष को दूर करने मे ऐसा अपराजित मंत्र मुनियों के ही पास रहता है इस लिये उन मुनियों को मंत्री कहते है। ऐसे मुनिराज भी विशेष बढ़ते हुए चारित्र के साथ रहने वाले इस मन:पर्ययज्ञान की पूजा वा आराधना करते है। मन पर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से केवल आत्मा के द्वारा दूसरे के मन मे ठहरे हुए पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लेना मन पर्यय ज्ञान है। यह मन:पर्यय ज्ञान उत्तम मुनियों के ही होता है।

यहा पर कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि जब यह ज्ञान दूसरे के मन के सम्बन्ध से होता है तो फिर उसको अतीन्द्रिय ज्ञान नही कह सकते, क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन मे ठहरे हुए पदार्थ ही जाने जाते हैं। अतएव मन का सम्बन्ध होने से इसको इन्द्रियजन्य ज्ञान कहना चाहिये। परंतु यहां पर यह प्रश्न वा शका भी ठीक नही है क्योंकि 'बादल में चन्द्रमा देखो' इस वाक्य से जो ज्ञान होता है उसमें चन्द्रमा का ज्ञान कराने वाला बादल नही है। किन्तु चन्द्रमा ही स्वयं अपना ज्ञान कराता है। इसी प्रकार मन पर्यय ज्ञान उत्पन्न होने में दूसरे का मन कारण नही है। जिन पदार्थों को मन पर्यय ज्ञान जानता है वे पदार्थ दूसरे के मन में ठहरे हैं। मन केवल उन पदार्थों का आधार है इसलिये वह ज्ञान उत्पन्न होने में कारण नही है। इससे स्पष्ट मालूम हो जाता है कि मन:पर्यय मन से उत्पन्न नही होता किन्तु आत्मा से उत्पन्न होता है। मन:

पर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के विशेष क्षयोपशम होने से ही यह मन पर्ययज्ञान उत्पन्न होता है । अतएव यह ज्ञान अतीन्द्रिय ही है ।

इस मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद है एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति । जिसके मन वचन काय सरल है ऐसे पुरुष के मन में ठहरे हुए पदार्थो को प्रत्यक्ष जान लेना **ऋजुमति मनःपर्यय** ज्ञान है । तथा जिस के मन, वचन, काय, सरल हो वा कुटिल हो ऐसे पुरुष के मन में ठहरे हुए पदार्थो को जान लेना विपुलमति मन पर्यय ज्ञान है ऐसे मन.पर्यय ज्ञान की मै स्तुति करता हूँ ।।२८।।

आगे आचार्य केवल ज्ञान की स्तुति करते हैं:--

क्षायिकमनन्तमेकं, त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् ।
सकलसुखधाम सततं, वंदेहं केवलज्ञानम् ।।२९।।

अर्थ—यह केवल ज्ञान क्षायिक है । क्योकि समस्त ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होता है अथवा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चारों घातिया कर्मो के अत्यन्त क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है इसलिये इसको **क्षायिक** कहते है । इसके सिवाय यह केवल ज्ञान अनन्त है इसका कभी नाश नही होता, अनन्त काल तक बराबर बना रहता है । तथा एक है, अद्वितीय है, इसको किसी की सहा-यता की आवश्यकता नही होती तथा न इसके कोई भेद है । यह ज्ञान अभेद रूप है । यह ज्ञान भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालो में होने वाले समस्त पदार्थ और उनके समस्त पर्यायो को एक साथ जानता है । यह ज्ञान अनन्त सुख का स्थान है केवल ज्ञान के होते ही अनन्त सुख की प्राप्ति अवश्य होनी है । ऐसे केवल ज्ञान की मै सदा वन्दना करता हू ।।२९।।

आगे आचार्य स्तुति के फल की प्रार्थना करते है :—

एवमभिष्टुवतो मे, ज्ञानानि समस्त लोकचक्षूंषि ।
लघु भवताज्ज्ञानर्द्धि, ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम् ।।६०।।

अर्थ—ये पाचों ही ज्ञान लोकाकाश के समस्त पदार्थो को जानने

के लिये नेत्र के समान है। इसीलिये मैंने इन ज्ञानों की स्तुति की है। उस ज्ञान की स्तुति करने से मुझे बहुत शीघ्र उस अनन्त सुख की प्राप्ति हो। जो अनन्त सुख कभी नष्ट नही होता तथा जो सुख ज्ञान से ही उत्पन्न होता है इन्द्रियों से उत्पन्न नही होता अथवा पुष्पमाला, भोजन, स्त्री आदि वाह्य पदार्थों से उत्पन्न नही होता। केवल ज्ञान, आत्मा से उत्पन्न होता है। तथा जिस सुख में ज्ञान की अनेक ऋद्धिया भरी हुई है। अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य जिस अनन्त सुख के साथ है ऐसा अनन्त सुख मुझे शीघ्र ही प्राप्त हो ।।३०।।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये: -

गद्य–इच्छामि भंते ! सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्स आलोचेउं, अङ्गोवंगपइण्णए, पाहुडयपरियम्मसुत्तपढमाणिओग-पुव्वगयचूलिया चेव, सुत्तत्थयथुइ, धम्मकहाइयं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वन्दामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, वोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ—हे भगवन् ! श्रुतभक्ति करनेके बाद मैंने जो कायोत्सर्ग किया है और उसमे जो दोष लगे है उनकी मै आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। श्रुतज्ञान के जो अग और उपांग है प्रकीर्णक, प्राभृतक परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका, सूत्रार्थ, स्तुति, धर्मकथा आदि है उन सबकी मैं सदा काल अर्चा करता हूँ, सब की पूजा करता हूं, सब की वदना करता हूँ, और सब के लिये नमस्कार करता हू, ऐसा करने से मेरे समस्त दु:खों का नाश हो, समस्त कर्मो का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति प्राप्त हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्र देव के अनन्त गुणों की प्राप्ति हो।

इति श्रुतभक्ति

(४) अथ चारित्रभक्तिः

—:*:—

श्रुतभक्ति कर अब आगे पचाचार की स्तुति करते हैं:—

येनेन्द्रान्भुवनत्रयस्य विलसत्,केयूरहारांगदान् ।
भास्वन्मौलिमणिप्रभाप्रविसरोत्तुंगोत्तमाङ्गान्नतान् ॥
स्वेषां पादपयोरुहेषु मुनयश्,चक्रुः प्रकामं सदा ।
वंदे पंचतयं तमद्य निगदन्, नाचारमभ्यर्चितम् ॥१॥

अर्थ—जिनके सुन्दर शरीर केयूर, हार, बाजूबंद आदि आभूषणों से सुशोभित हैं, जिनके मस्तक देदीप्यमान मुकुट की मणियों की कांति के फैलाव से बहुत ऊंचे दिखाई देते हैं, ऐसे तीनों लोकों के समस्त इन्द्रों को जिन मुनियों ने अपने पंचाचार के प्रभाव मे अपने चरण कमलों में नम्रीभूत कर लिया है ऐसे अत्यन्त पूज्य पांचों आचारों के स्वरूप को कहने की इच्छा करने वाला मैं उन पाँचों आचारों का बड़ी भक्ति से सदा नमस्कार करता हूँ। भावार्थ—इन्द्रादिक देव भी मुनियों के चरण कमलों में नमस्कार करते हैं यह पंचाचार का ही प्रभाव है। वे मुनि, पंचाचार का पालन करते है इसीलिये इन्द्रादिक देव उनको नमस्कार करते हैं। मैं भी उन्हीं पंचाचारो को नमस्कार करता हूँ ॥१॥

आगे आचार्य ज्ञानाचार का स्वरूप कहते हैं:—

अर्थव्यंजनतदुद्वयाविकलता, कालोपधाप्रश्रयाः ।
स्वाचार्याद्यनपन्हवो बहुमतिश्,चेत्यष्टधा व्याहृतम् ॥
श्रीमज्ज्ञातिकुलेन्दुना भगवता, तीर्थस्य कर्त्राऽञ्जसा ।
ज्ञानाचारमहं त्रिधा प्रणिपता,म्युद्धूतये कर्मणाम् ॥२॥

अर्थ—यह ज्ञानाचार आठ प्रकार का है:—

१. अर्थाचार—ज्ञान के द्वारा जाने हुए अर्थ व पदार्थ को अच्छी तरह धारण करना। २. व्यञ्जनाचार शब्दोंको स्पष्ट और निर्दोष उच्चारण करना। ३. उन दोनों की पूर्णता अर्थात् शब्दाचार और अर्थाचार दोनों की पूर्णता। ४. कालाचार—योग्य समय में ज्ञान का आराधन करना प्रातः काल, संध्याकाल, मध्यान्हकाल, भूकम्प, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात वज्रपात आदि के समय ज्ञान का आराधन नहीं करना चाहिये। जहां दुर्गन्ध हो वहां भी ज्ञान का आराधन नहीं करना चाहिये। इन सबको छोड़ कर योग्य समय में ज्ञान का आराधन करना चाहिये। ५. उपधाचार-स्मरण-पूर्वक अध्ययन करना चाहिये। ६. प्रश्नाचार व विनयाचार-शास्त्रों का विनय करते हुए अध्ययन करना चाहिये। ७. स्वाचार्यानिह्नव-पन्हव अर्थात् पंचाचारको निरूपण करने वाले आचार्य अथवा ज्ञान दान देने वाले उपाध्याय आदि का नाम नहीं छिपाना चाहिये। ८. वहुमति-आचार्य व उपाध्यायों का आदर सत्कार करते हुए अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानाचार के आठ भेद हैं जिनके अनन्त चतुष्टय रूप अंतरंग लक्ष्मी और समवसरणादिक वहिरंग लक्ष्मी विद्यमान है, जो अपनी जाति और कुल को प्रकाशित करने के लिए चन्द्रमा के समान है और श्रुतज्ञान रूप तीर्थ के अथवा धर्मरूप तीर्थ के यथार्थ कर्त्ता है धर्म व श्रुतज्ञान को प्रगट करने वाले व निरूपण करने वाले है; ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस आठ प्रकार के ज्ञानाचार का निरूपण किया है ऐसे ज्ञानाचार को मैं अपने समस्त कर्मों को नाश करने के लिये मन, वचन, काय से नमस्कार करता हूं ॥२॥

आगे दर्शनाचार का स्वरूप कहते हैं:—

शंकाद्दृष्टिविमोहकांक्षणविधि.व्यावृत्तिसन्नद्धतां,
वात्सल्यं विचिकित्सना,दुपरतिं, धर्मोपवृंहक्रियाम् ।
शक्त्या शासनदीपनं हितपथाद्, भ्रष्टस्य संस्थापनम्,
वंदे दर्शनगोचरं सुचरितंमूर्ध्ना नमन्नादरात् ॥३॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन रूप दर्शनाचार के भी आठ अंग हैं। पहले अंग का नाम निःशंकित है। सर्वज्ञ है वा नहीं अथवा ये पदार्थ सर्वज्ञदेव

के कसे हुए है वा नहीं इस प्रकार से संदेह को शंका कहते हैं। ऐसी शंका कभी न करना ऐसी शंका निवृत्ति मे सदा तत्पर रहना अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत पदार्थों मे पूर्ण विश्वास करना निःशंकित अंग है। दूसरे अङ्ग का नाम, अमूढ़ दृष्टि है। दृष्टि शब्द का अर्थ पदार्थो का यथार्थ श्रद्धान है उसकी मूढता अन्य मिथ्यादृष्टियो की प्रशंसा करना है। ऐसी मूढता न करना, ऐसी मूढता की निवृत्ति करने में सदा तत्पर रहना अमूढ दृष्टि अंग है। तीसरा निःकांक्षित अंग है। आगामी भोगों की इच्छा का होना कांक्षा कहलाती है। ऐसी कांक्षा न करना इच्छाओं की निवृत्ति मे सदा तत्पर रहना निकांक्षित अङ्ग है। चौथा अंग वात्सल्य है। साधर्मी भाइयों के साथ स्नेह रखना वात्सल्य है। पांचवा अंग निर्विचिकित्सा है। विचिकित्सा ग्लानि को कहते हैं। मुनियो के मलीन शरीर को देखकर ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा अंग है। छठा अंग उपबृंहण है। उत्तम क्षमा आदि धर्मों की वृद्धि करना अथवा धर्म का अनुष्ठान करने वाले धर्मात्मा भाइयों के प्रमादवश लगे हुए दोषो को ढक कर धर्म की वृद्धि करना धर्मोपबृंहण नाम का अंग कहा जाता है। सातवें अंग का नाम प्रभावना है। अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चरण आदि के द्वारा जैनधर्म का माहात्म्य प्रगट करना प्रभावना है। आठवें अंग का नाम स्थितिकरण है। जो मुनि वा श्रावक रत्नत्रय से भ्रष्ट हो रहा है उसका उदाहरण देकर वा हेतुवाद से वा नयवाद से समझाकर रत्नत्रयमें स्थिर करना भ्रष्ट न होने देना, स्थिति, करण अंग कहलाता है। इस प्रकार जिस दर्शनाचार में सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग हैं, जिसका अनुष्ठान वा धारण करना, अत्यन्त मनोहर वा सुगति देने वाला है अथवा जिसका अनुष्ठान गणधरादिक देव करते हैं ऐसे दर्शनाचार को मैं बड़े आदर से मस्तक नवाकर नमस्कार करता हूँ ॥३॥

आगे तप काचार का स्वरूप कहते हैं:—

एकान्ते शयनोपवेशनकृतिः, संतापनं तानवम्,
संख्यावृत्तिनिबन्धनामनशनं, विष्वाणमर्द्धोदरम्।
त्यागं चेन्द्रियदन्तिनो मदयतः, स्वादो रसस्यानिशम्,
षोढा बाह्यमहं स्तुवे शिवगति, प्राप्त्यभ्युपायं तपः ॥४॥

अर्थ— तपश्चरण के दो भेद हैं एक अन्तरंग तपश्चरण और दूसरा बाह्य तपश्चरण। इन दोनों तपों के छह-छह भेद हैं। इनमें से बाह्य तपश्चरण के छह भेद यहां दिखलाते हैं। जहां पर पशु स्त्री, नपुंसक आदि न रहते हों ऐसे एकांत स्थान में सोना या बैठना विविक्तशय्यासन नामका तप है। अनेक प्रकार के तपश्चरणों से शरीर को क्लेशित करना 'काय-क्लेश' नाम का तप है। अपने आहार विहार आदिप्रवृत्ति मे जो कारण हैं उनकी गिनती वा नियम करना 'वृत्तिपरिसंख्यान' तप है। चार प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास करना अनशन तप है। अर्ध पेट भोजन करया अवमोदर्य तप है। इन्द्रिय रूपी हाथी को मद उत्पन्न करने वाले स्वादिष्ट वा पौष्टिक रसों का सदा के लिये त्याग करना रस परित्याग नाम का तप है। इस प्रकार बाह्य तप के छह भेद है। ये छहो प्रकार के तप बाहर से दिखाई देते है लोगों को मालूम हो जाते है इसलिये इनको बाह्य तप कहते हैं तथा ये छहों तप मोक्षमार्ग को प्राप्त कराने के कारण हैं उनसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति अवश्य होती है। ऐसे छहो प्रकार के बाह्य तपों की मैं स्तुति करता हूं तथा वंदना करता हूं ।।४।।

आगे अतरंग तपों का वर्णन करते हैं:—

स्वाध्यायः शुभकर्मणश्च्युयवतः, संप्रत्यवस्थापनम्,
ध्यानं व्यापृतिरामयाविनि गुरौ, वृद्धे च बाले यतौ।
कायोत्सर्जनसत्क्रिया विनय इत्येवं तपः षड्विधं।
वन्देऽभ्यंतरमन्तरंगबलवद्वि,द्वेषिविध्वंसनम् ॥५॥

अर्थ—अन्तरग तपश्चरण के छह भेद इस प्रकार हैं। लाभ, सन्मान, कीर्ति आदि की इच्छा रहित केवल कर्मो के नाश करने के लिये धर्मशास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है। जो सामायिक वन्दना आदि शुभ कार्यो को छोड़ रहे हैं वा जो छोड़ चुके है उनको प्रायश्चित्त देकर फिर उसी सनातन मोक्षमार्ग में लगाना प्रायश्चित्त नाम का तप है। अपने मन को किसी एक पदार्थ पर लगाकर अन्य समस्त चितवनों को रोक देना ध्यान है। जो गुरु वा आचार्य रोगी हो अथवा कोई मुनि अत्यन्त वृद्ध हो अथवा कोई बालक अवस्था में कम अवस्था में मुनि होगया, और वह रोगी

हो तो अपने शरीर से उसकी सेवा करना **वैयावृत्य** नाम का तप है। अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देना **कायोत्सर्ग** नाम का तप है। चार प्रकार का विनय धारण करना **विनयतप** है। इस प्रकार अंतरंग तप के छह भेद है। ये सब अंतरग तप अत्यन्त बलवान् ऐसे क्रोधादिक अंतरग शत्रुओ को नाश करने वाले है ऐसे इन छहो तपो को मैं बड़ी भक्ति के साथ नमस्कार करता हू ।।५।।

आगे वीर्याचार का वर्णन करते हैः—

सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः, श्रद्धानमर्हन्मते,
वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि, स्वस्य प्रयत्नाद्यतेः ।
या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा, लघ्वी भवोदन्वतो,
वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं, वन्दे सतामर्चितम् ॥६॥

अर्थ—जो मुनि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्रों को धारण करते हैं और भगवान् अरहत देव के कहे हुए मत मे गाढ श्रद्धान धारण करते है ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को धारण करने वाले मुनि अपने वीर्य व शक्ति को न छिपा कर बड़े प्रयत्न से, आदर से, ऊपर कहे हुए बारह प्रकार के तपश्चरण पालन करने में अपनी प्रवृत्ति करते है; वह उनकी प्रवृत्ति, ससार रूपी समुद्र से पार कर देने के लिये नाव के समान होती है। जिस प्रकार नाव छिद्र रहित होती है उसी प्रकार उन मुनियो की प्रवृत्ति भी अतिचार रहित होती है तथा नाव जिस प्रकार छोटी और हलकी, एक ही लकड़ी की बनी हुई अवश्य पार कर देती है। उसी प्रकार उन मुनियो की प्रवृत्ति भी आडम्बर रहित केवल तपश्चरण रूप होती है। ऐसी जो वह मुनियो की शक्ति है वा **वीर्याचार** है जो कि समस्त कर्मो के नाश करने में अथवा कठिन तपश्चरणो के धारण मे अत्यन्त गुणशाली है और गणधरादिक बड़े बडे ऋद्धिधारी मुनि भी जिसकी पूजा करते हैं ऐसे वीर्याचार को अत्यन्त कठिन और घोर तपश्चरण करने की शक्ति को मै नमस्कार करता हू।

आगे चारित्राचार का वर्णन करते हैः--

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनो,भाषानिमित्तोदयाः,
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः, पंचव्रतानीत्यपि ।

चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परे-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरं नमामो वयम् ॥७॥

अर्थ—चारित्र के तेरह भेद है और वे इस प्रकार है। मनको वश करना, वचन को वश करना और काय को वश करना अर्थात् मन वचन काय की कोई क्रिया न होने देना गुप्तियां कहलाती है। इस प्रकार गुप्तियो के तीन भेद है। समितियां पांच हैं। १. ईर्यासमिति, २ भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४ आदान निक्षेपण समिति और ५. उत्सर्ग समिति। सूर्य के प्रकाश में चार हाथ भूमि देखकर चलना ईर्यासमिति है। हितमित भाषा बोलना भाषा समिति है। शास्त्र मे कही हुई विधि के अनुसार शुद्ध निर्दोष भोजन ग्रहण करना एषणा समिति है। उपकरणों को देख शोध कर रखना आदान निक्षेपण समिति है। जमीन को देखकर मल-मूत्र निक्षेपण करना व्युत्सर्ग समितिहै। इनके सिवाय पाच महाव्रत है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाचों पापो का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से सर्वथा त्याग कर देना पाच महाव्रत कहलाते है। यह सब तेरह प्रकार का चारित्र के समुदाय को चारित्राचार कहते है। उस चारित्राचार के ऊपर लिखे हुए तेरह भेद है। यह तेरह प्रकार का चारित्राचार भगवान् वीरनाथ ने ही निरूपण किया है। अरहंत परमेष्ठी तीर्थंकर परमदेव भगवान् वीरनाथ के सिवाय तथा भगवान् वृषभदेव के सिवाय अन्य अजितनाथ तीर्थंकर से लेकर पार्श्वनाथ तीर्थंकर तक बाईस तीर्थंकरों ने किसी ने निरूपण नही किया है। श्री वृषभदेव तीर्थंकर के समय लोगों की बुद्धि सरल थी परन्तु मार्ग नन्द होने के कारण लोग जानकार नहीं थे इसलिये उन्होने तेरह प्रकार का चारित्र निरूपण किया तथा भगवान् महावीर स्वामी के समय मे लोगों की बुद्धि जडरूप थी, परिणामों मे कुटिलता थी इसलिये उन्होंने ऐसे भव्य जीवो के लिये तेरह प्रकार का चारित्र निरूपण किया। बाकी के तीर्थंकरों ने समस्त पापों की निवृत्ति रूप एक सामयिक चारित्र का ही निरूपण किया था। क्योंकि उनके समय में न तो जीव भोले थे और न जड बुद्धि वाले थे। ऐसे चारित्राचार के लिये मै नमस्कार करता हू ॥७॥

आगे ज्ञानाचार आदि के भेद से जो पांच प्रकार का आचार

बतलाया है उसकी समुदाय रूप से सबकी एक साथ स्तुति करने के लिए उन पंचाचारों को पालन करने वाले मुनियों की वन्दना करते हैं:—

आचारं सहपंचभेदमुदितं, तीर्थं परं मंगलं,
निर्ग्रंथानपि सच्चरित्रमसतो, वंदे समग्रान्यतीन् ।
आत्माधीनसुखोदयामनुपमां, लक्ष्मीमविध्वंसिनी,
मिच्छन्केवलदर्शनावगमन, प्राज्यप्रकाशोज्वलाम् ॥८॥

अर्थ—जिस आचार के ऊपर पाच भेद बतलाये है, जो आचार भव्य जीवो को इस संसार समुद्र से पार कर देने वाला तीर्थ है, जो मोक्ष मार्ग मे सर्वोत्कृष्ट है और जो पापो को नाश करने वाला अथा अनंत पुण्य उत्पन्न करने वाला मंगलमय है। ऐसे पचाचार के लिये मै वंदना करता हूँ, तथा इनकी वंदना के साथ १ इन पंचाचारो की धारण करने ताले समस्त मुनियो की भी वदना करता हू कि जो कि उत्तम चारित्र के पालन करने वाले है और पूज्य हैं अथवा जो उत्तम चारित्र के पालन करने से ही पूज्य है.ऐसे समस्त मुनियों के लिये मै वदना करता हूँ ॥८॥

इस ससार मे एक मोक्ष लक्ष्मी ही अविनश्वर है। बाकी की समस्त लक्ष्मियाँ नाश होने वाली है। इसके सिवाय यह मोक्ष लक्ष्मी केवल आत्मा मे उत्पन्न होने वाले अनत सुखमय है तथा केवल दर्शन और केवल ज्ञान इन दोनो के अनत प्रकाश से अत्यत देदीप्यमान है और इसीलिये वह उपमा रहित है ऐसी मोक्ष लक्ष्मी के प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ मै पचाचारों को और पचाचार धारण करने वाले समस्त मुनियो को नमस्कार करता हूँ ॥८॥

आगे चारित्र पालन करते हुए जो दोष व अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते है —

अज्ञानाद्यदवीवृतं नियमिनोऽवर्त्तिष्यहं चान्यथा,
तस्मिन्नर्जितमस्यति प्रतिनवं, चैनो निराकुर्वति ।
वृत्ते सप्ततयीं निधिं सुतपसा, मृद्धिं नयत्यद्भुतं ।
तन्मिथ्या गुरुदुष्कृतं भवतु मे, स्वं निंदतो निंदितम् ॥६॥

अर्थ - मैने अपने अज्ञान से यदि मुनियो का शास्त्र में कही हुई विधि के प्रतिकूल प्रवर्तन किया हो अथवा यदि मैंने स्वयं अपने अज्ञान से आगम से विरुद्ध प्रवर्तन किया हो और उस आगम के प्रतिकूल प्रवर्तन करने अथवा कराने में जो पाप लगे हों वे सब पाप इस चारित्र के पालन करने से नष्ट हो जाते है तथा नवीन नवीन जो पाप आते है वे भी सब इस चरित्र के पालन करने से नष्ट हो जाते है। इसके सिवाय इस चारित्र के प्रभाव से श्रेष्ठ तपश्चरण करने वाले मुनियो को आश्चर्य करने वाली तपश्चरण की सात ऋद्धियां प्राप्त होती है। १. बुद्धिऋद्धि २. घोरऋद्धि ३. विक्रयाऋद्धि, ४. औषधिऋद्धि, ५. रसऋद्धि, ६. बलऋद्धि. ७. अक्षीण-ऋद्धि ये सात प्रकार की ऋद्धियां मुनियों को ऐसे चारित्र के ही प्रभाव से होती है। ऐसे इस चारित्र के पालन करने मे जो मुझसे महापाप बन गया हो जो कि अत्यन्त गर्हित वा निन्दनीय हो वह सब पाप अपने आत्मा की निन्दा करने वाले मेरे मिथ्या हो ॥९॥

आगे ऐसी महिमा को धारण करने वाला चरित्र भव्य जीवों को धारण करना चाहिये ऐसा आचार्य उपदेश देते है:—

संसारव्यसनाहति प्रचलिता. नित्योदयप्रार्थिनः,
प्रत्यासन्नविमुक्तयः सुमतयः, शांतैनसः प्राणिनः।
मोक्षस्यैव कृतं विशालमतुलं. सोपानमुच्चैस्तराम्,
आरोहन्तु चरित्रमुत्तममिदं, जैनेन्द्रमोजस्विनः ॥१०॥

अर्थ—जो भव्य जीव ससार के दुःखों के धक्को से भयभीत हो गये है, जो सदा काल रहनेवाली मोक्ष लक्ष्मी के प्राप्त होने की प्रार्थना करते हैं, जो आसन्नभव्य है अर्थात् मोक्ष लक्ष्मी जिनके समीप तक आ पहुँची है, जिनकी बुद्धि मोक्ष मार्ग मे लगी रहने के कारण अत्यन्त उत्तम है, जिनके पाप कर्मो का उदय शात हो गया है और जो बडे तेजस्वी वा मोक्ष मार्ग में उद्यम करने वाले है, ऐसे भव्य जीव इस ऊपर कहे हुए, श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा निरूपण किये हुए तथा जिसकी ससार भर मे कोई उपमा नहीं है जो अत्यन्त विशाल और अत्यन्त ऊचा है ऐसा मोक्ष के लिए बनाये हुए जीने के (सीढियों के) समान इस उत्तम चरित्र को धारण करें, पालन करें।

कायोत्सर्ग —इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये । **अथ-आलोचना-**

इच्छामि भंते! चारित्तभत्तिकाउसग्गो कओ, तस्स आलोचेउं। सम्मणाणजोयस्स सम्मत्ताहिट्ठियस्स सव्वपहाणस्स णिव्वाणमग्गस्स कम्मणिज्जरफलस्स खमाहारस्स पंचमहव्वय-संपण्णस्स तिगुत्तिगुत्तस्स पंचसमिदिजुत्तस्स णाणज्झाणसाहणस्स समया इव पवेसयस्स सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ—हे! भगवन् मै चारित्रभक्ति करके कायोत्सर्ग करता हूं तथा उस कायोत्सर्ग मे जो अतिचार वा दोष लगे हों उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। यह सम्यक् चरित्र सम्यग्ज्ञानसहित है, सम्यग्दर्शन से परिपूर्ण है, मोक्ष प्राप्त कराने के कारणो में, सबमें प्रधान है, मोक्ष का साक्षात् कारण है, कर्मो की निर्जरा होना ही इसका फल है, उत्तम क्षमा ही इसका आधार है, पच महाव्रतों से सुशोभित है, तीनों गुप्तियों से इसकी रक्षा होती है, यह पाचो समितियो सहित है, ज्ञान और ध्यान का मुख्य साधन है, समता का प्रवेश इसके अतर्गत है, ऐसे सम्यक् चारित्र की मै अर्चा करता हूँ। सदा पूजा करता हूँ, सदा वदना करता हूँ, और सदा नमस्कार करता हूँ। ऐसा करने से मेरे समस्त दुखो का नाश हो, समस्त कर्मो का नाश हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभगति की प्राप्ति हो, समाधि-मरण की प्राप्ति हो और श्री जिनेन्द्रदेव के गुणों की प्राप्ति हो।

इस प्रकार यह चारित्र भक्ति समाप्त हुई।

[५] अथ योगिभक्तिः

जातिजरोरुरोगमरणा,तुरशोकसहस्रदीपिताः,
दुःसहनरकपतन,सन्त्रस्तधियः प्रतिबुद्धचेतसः ।
जीवितमंबुबिंदुचपलं, तडिदभ्रसमा विभूतयः,
सकलमिदं विचिन्त्य मुनय , प्रशमाय वनान्तमाश्रिताः ॥१॥

अर्थ—जो मुनिराज जन्म, मरण, बुढापा, और भगदर आदि अनेक प्रकार के रोगो से दुःखी है, जो पुत्र, स्त्री आदि के वियोग जनित संताप से अत्यन्त जाज्वल्यमान हो रहे है, असह्य नरक पतन मे जिनकी बुद्धि भयभीत हो रही है और जिनके हृदय मे हेयोपादेय का विवेक जागृत हो रहा है, ऐसे मुनि इस जीवन को पानी की बूंद के समान अत्यंत चंचल समझकर तथा संसार की इन समस्त विभूतियों को बिजली के समान क्षणनश्वर समझकर संसार को नाश करने के लिये अथवा रागद्वेष को दूर करने के लिए वन का आश्रय लेते है अर्थात् वन में चले जाते है ॥१॥

आगे ऐसे मुनि वन में जाकर क्या करते है सो कहते है:—(भद्रिका छंदः)

व्रतसमितिगुप्तिसंयुताः, शमसुखमाधाय मनसि वीतमोहा ।
ध्यानाध्ययनवशंगताः, विशुद्धये कर्मणां तपश्चरन्ति ॥२॥

अर्थ—जो मुनिराज पांचो महाव्रतों का पालन करते है पाचो समितियो का पालन करते है और तीनो गुप्तियो को पालन करते है। तेरह प्रकार के चारित्र को प्रयत्न पूर्वक पालन करते है, जिनका दर्शन मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो गया है और जो ध्यान तथा अध्ययन मे ही सदा लीन रहते है; ऐसे मुनि अपने मन में मोक्षसुख को धारण कर कर्मो का नाश करने के लिए तपश्चरण पालन करते है। कहीं-कहीं पर शिवसुख

के स्थान मे शमसुख भी पाठ है। उसका अर्थ है—परम वीतरागता के सुख को हृदय मे धारण कर तपश्चरण पालन करते है ॥२॥

दिनकरकिरणनिकर,संतप्तशिलानिचयेषु निस्पृहाः,
मलपटलावलिप्ततनवः, शिथिलीकृतकर्मबंधनाः ।
व्यपगतमदनदर्परति,दोषकषायविरक्तमत्सराः,
गिरिशिखरेषु चंडकिरणा,भिमुखस्थितयो दिगंबराः ॥३॥

अर्थ—जो मुनिराज कभी स्नान नहीं करते इसलिये उनके शरीर पर मैल के पटल जम गये है मैल के पटलो से उनका शरीर मलीन हो गया है परतु उनके कर्मो के स्थिति बन्ध और अनुभाग बध सब शिथिल हो गये है नष्ट हो गये है। इसके सिवाय उनके काम का उद्रेक, इष्ट पदार्थो से रति वा राग, मोहादिक दोष और क्रोधादिक कपाय सब नष्ट हो गये है; तथा मात्सर्य जिनसे सर्वथा विमुख हो गया है अर्थात् जो मात्सर्य से रहित है और सूर्य के सामने जो बिराजे हुए है, ऐसे दिगम्बर मुनिराज निस्पृह होकर पर्वतों के शिखर पर चढकर सूर्य की किरणों के समूह से अत्यन्त गर्म हुई शिलाओ के समूह पर विराजमान होकर घोर तपश्चरण करते है। भावार्थ—वे मुनिराज समस्त दोषो से रहित होकर पर्वतो पर घोर तपश्चरण करते है ॥३॥

सज्ज्ञानामृतपायिभिः,क्षान्तिपयः सिच्यमानपुण्यकायैः ।
धृतसंतोषच्छत्रकैः, तापस्तीव्रोऽपि सह्यते मुनीन्द्रैः ॥४॥

अर्थ—जो मुनिराज सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत को पीते रहते हैं, जो अपने पुण्यमय शरीर को क्षमारूपी जल से सीचते रहते है तथा जो संतोष-रूपी छत्र को धारण करते रहते है। ऐसे मुनिराज असह्य काय क्लेश सहन करते रहते हैं।

अभिप्राय यह है कि मुनिराज गर्मी के दिनो मे पर्वत के शिखर पर जाकर तपश्चरण करते है, केवल ज्ञानरूपी जल को पीते है; क्षमारूप जल से स्नान करते है और संतोषरूपी छत्र धारण करते है; इस प्रकार गर्मी के दिनो मे घोर तपश्चरण करते है ॥४॥

आगे वर्षाऋतु में मुनिराज क्या करते हैं सो दिखलाते हैः—

शिखिगलकज्जलालिमलिनैर्विबुधाधिपचापचित्रितैः,
भीमरवैर्विसृष्टचण्डाशनिशीतलवायुवृष्टिभिः ।
गगनतलं विलोक्य जलदैः, स्थगितं सहसा तपोधनाः,
पुनरपि तरुतलेषु विषमासु निशासु विशंकमासते ॥५॥

अर्थ—वर्षाऋतु में जो बादल आते है वे मयूर के गर्दन के समान नीले अथवा काजल वा भ्रमरो के समान काले होते है तथा अनेक इन्द्र धनुषों से सुशोभित रहते हैं, वे बादल भयकर शब्दो से गरजते हैं, बिजली गिराते है, वायु को शीतल करते हैं और घनघोर वर्षा करते है, ऐसे बादलों को आकाश मडल मे छाये हुए देख कर वे मुनिराज शीघ्र ही भयानक रात्रियो मे भी वृक्ष के नीचे आतापन योग धारण कर निर्भय होकर विराजमान रहते हैं ॥५॥

वे मुनिराज वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे विराजमान रहते है, मूसलधार वर्षा से उनके शरीर को बहुत कष्ट पहुँचता तथापि वे मुनिराज अपने प्रतिज्ञा किये हुये व्रत से च्युत नहीं होते है ऐसा दिखलाते है :—

जलधाराशरताडिता न चलन्ति, चरित्रतः सदा नृसिंहाः,
संसारदुःखभीरवः परीषहारातिघातिनः प्रवीराः ॥६॥

अर्थ—वे मुनिराज यद्यपि पानी की धारारूपी बाणो से ताडित किये जाते है, वर्षा की धारा बाणो के समान उनको दुख देती है तथापि वे मुनिराज मनुष्यो में सिंह के समान शूरवीर होते है। तथा ससार के दुःखों से वे भयभीत रहते है और इसीलिये परीषह रूपी शत्रुओं को वे सर्वथा घात कर डालते है और इसी कारण से वे शूरवीरो में भी मुख्य गिने जाते हैं। ऐसे वे मुनिराज ऐसी घोर वर्षा में भी अपने चारित्र से कभी चलायमान नही होते हैं ॥६॥

आगे शीतकाल में ये मुनिराज क्या कहते हैं सो कहते हैः—

अविरतबहलतुहिनकणवारिभिरंघ्रिपपत्रपातनै-
रनवरतमुक्तसात्काररवैः परुषैरथानिलैःशोषितगात्रयष्टयः ।

इह श्रमणा धृतिकंबलावृताः शिशिरनिशां,
तुषारविषमां गमयन्ति, चतु;पथे स्थिताः ॥७॥

अर्थ—शीतकाल में जो वायु चलती है वह सदा बरफ वा पाले की वड़ी-वडी बून्दो से भरी रहती है, तथा वह वायु वृक्षों के सब पत्तो को गिरा देती है उससे निरतर 'सांय-साय' ऐसा बडा भारी शब्द होता रहता है और वायु अत्यन्त कठोर वा असह्य होती है ऐसी झंझा वायुसे जिनकी शरीर रूपी लकडी सब सूख गईहै ऐसे वे मुनिराज चौराहे पर चौड़े मैदान मे विराजमान होकर और संतोषरूपी कम्बल को धारण कर बड़े सुख से पाला वा वरफ पड़ने से अत्यन्त असह्य ऐसी शीतकाल की रात्रि को व्यतीत कर देते है ॥७॥

आगे स्तुति करने वाला अपनी स्तुति के फल की याचना करता है:-

इति योगत्रयधारिण;,सकलतपशालिन,प्रवृद्धपुण्यकाया ।
परमानंदसुखैषिणः, समाधिमग्र्यं,दिशंतु नो भदन्ताः ॥७॥

अर्थ—पर्वत के शिखर पर आतापनयोग धारण करने वाले, वर्षा में वृक्ष के नीचे विराजमान होने वाले और शीतकाल में चौराहे पर विराजमान होने वाले, मन,वचन, काय, तीनों गुप्तियोको पालन करने वाले, बाह्य अभ्यतर समस्त तपश्चरणो से सुशोभित होने वाले, अपने पुण्य के समूह को परम अतिशय से सुशोभित करने वाले अथवा अनेक प्रकार के तपश्चरण करने मे अपने शरीर को उत्साहित करने वाले और मोक्षरूपी सुख की इच्छा करने वाले तथा सवका कल्याण करने वाले ऐसे वे मुनिराज स्तुति करने वाले मुझको सर्वोत्तम शुक्ल ध्यान की प्राप्ति करे ॥८॥

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

इच्छामि भंते योगिभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं । अड्ढाइज्जदीव दो समुद्देसु, पण्णारसकम्मभूमिसु आदावण-रुक्खमूलअब्भोवासठाणमोणवीरासणेक्कपासकुक्कुडासण चउ-छ-पक्ख-खवणादियोगजुत्ताणं, सव्वसाहूणं वंदामि, णमंसामि,

दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

आलोचना—

अर्थ—हे भगवन्, मैं योगीभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूँ। इसमे जो दोष हुए हो उनकी आलोचना करना चाहता हूँ। ढाई द्वीप और दो समुद्रों मे जो पन्द्रह कर्मभूमिया हैं उनमे जो साधु आतापन योग धारण करते है, वृक्ष के नीचे रहते हैं और चौडे मैदान मे रहते हैं इस प्रकार के तीनो योगों को जो धारण करते है, जो मौनव्रत धारण करते है, वीरासन, एकपार्श्व (एक करवट से सोना) और कुक्कुटाशन [मुर्गे का सा आसन] आदि अनेक आसनो से तपश्चरण करते है जो बेला तेला करते है, पन्द्रह दिन का उपवास और अधिक उपवास करते है ऐसे समस्त मुनियों की मैं वंदना करता हू, सबको नमस्कार करता हूं, मेरे दुःखो का क्षय हो। कर्मों का क्षय हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणो की प्राप्ति हो।

(इति योगिभक्तिः)

[६] अथ आचार्यभक्तिः

सिद्धगुणस्तुतिनिरता,नुद्धतरुषाग्निजालबहुलविशेषान् ।
गुप्तिभिरभिसंपूर्णान्, मुक्तियुतः सत्यवचनलक्षितभावान् ॥१॥

अर्थ—जो आचार्य सिद्धो के सम्यक्त्व आदि गुणों की स्तुति करने में सदा लीन रहते है, क्रोध, मान, माया, लोभरूपी अग्नि के समूह के जो अनन्तानुबंधी आदि अनेक भेद है अर्थात् कषायों के जो भेद है वे सब जिन्होंने नष्ट कर दिये है, जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तियों का पालन करते है, जो मोक्ष मे ही सदा संबंध रखते हैं और जिनके भाव सत्य

वचन से ही सदा भरपूर है, जो कभी किसी को नही ठगते, ऐसे आचार्यों को मै नमस्कार करता हूँ ।।१।।

इस श्लोक में तथा आगे के श्लोक में नमस्कार सूचक कोई वाक्य नहीं है वह वाक्य दशवे श्लोक में है और वहां तक सब श्लोकों का संबंध है इसलिए नमस्कार करता हूं यह वाक्य वहां से लिया है। आगे भी ऐसा ही समझना चाहिये।

मुनिमाहात्म्यविशेषात्, जिनशासनसत्प्रदीपभासुरमूर्तीन् ।
सिद्धिं प्रपित्सुमनसो, बद्धरजोविपुलमूलघातनकुशलान् ।।२।।

अर्थ—जो मुनियो के विशेष माहात्म्य को, ज्ञान के अतिशय को, प्रकाशित करने वाले है, जिनकी मूर्त्ति जिनशासन के प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान देदीप्यमान है, अथवा तपश्चरण के माहात्म्य से जिनके शरीर की मूर्त्ति दीपक के समान देदीप्यमान हो रही है, जिनके मन में सिद्ध पद प्राप्त करने की इच्छा है और जो ज्ञानावरण आदि कर्मो के कारण रूप तत्प्रदोप, निन्हव, मात्सर्य आदि दोषों को नाश करने में अत्यन्त कुशल है ऐसे आचार्यो को मै नमस्कार करता हूँ ।।२।।

गुणमणिविरचितवपुषः, षड्द्रव्यविनिश्चितस्य धातृन्सततम् ।
रहितप्रमादचर्यान्.दर्शनशुद्धान्, गणस्य संतुष्टिकरान् ।।३।।

अर्थ—जिनके शरीर सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी मणियो से सुशोभित है, जो जीवादिक छहो द्रव्यो के निश्चय के आधारभूत रहते हैं अर्थात् जिनके हृदय मे छहो द्रव्यों का सदा गाढ श्रद्धान रहता है, जिनके चारित्र विकथा आदि प्रमादो से सदा रहित रहते हैं, जिनका सम्यग्दर्शन सदा शकादिक पच्चीसो दोषो से रहित होता है और जो संघ को सदा संतुष्ट रखते हैं ऐसे आचार्यो को मै सदा नमस्कार करता हूँ ।।३।।

मोहच्छिदुग्रतपसः,प्रशस्तपरिशुद्धहृदयशोभनव्यवहारान् ।
प्रासुकनिलयाननघा,नाशाविध्वंसिचेतसो हतकुपथान् ।।४।।

अर्थ—अवधिज्ञान आदि अतिशय होने के कारण जिनका उग्र तपश्चरण, मोह और अज्ञान को नाश करने वाला है; जिनके हृदय में

सदा धर्मवृद्धि की इच्छा रहती है, जिनका हृदय सदा शुद्ध लाभादिक की इच्छा से रहित रहता है; इसीलिए जिनका समस्त व्यवहार अपने आत्मा का कल्याण करने वाला और अन्य भव्य जीवों का कल्याण करने वाला होता है। जिनका रहने का स्थान सम्मूर्छन जीवों से रहित सदा प्रासुक रहता है, जो पापों से वा पापकार्यों से सर्वथा रहित होते है; जिनका हृदय इस लोक और परलोक की आशा से सर्वथा रहित होता है और वे मिथ्या दर्शन रूप कुमार्ग का सदा नाश करने वाले होते है; ऐसे आचार्यों को मैं सदा नमस्कार करता हू ॥४॥

धारितविलसन्मुंडान्,वर्जित बहुदंडपिंडमंडलनिकरान् ।
सकलपरीषहजयिनः क्रियाभिरनिशं प्रमादतः परिरहितान् ॥५॥

अर्थ—जिनके मन, वचन, काय पाचो इन्द्रिया और हाथ पैर आदि के व्यापार सब पाप रहित और इसीलिये अत्यन्त शोभायमान रहते है। जो मुनियो का समुदाय अधिक प्रायश्चित्त लेने वाला वा अधिक अपराधी होता है अथवा अधिक प्रायश्चित्त लेने वाला आहार ग्रहण करता है ऐसे मुनि समुदाय से जो आचार्य सर्वथा अलग रहते है, जो तपश्चरण के विशेष अनुष्ठानों से अनेक प्रकार की परीषहों को सदा जीतते रहते हैं और जो प्रमाद से सर्वथा रहित होते है ; ऐसे आचार्यों को मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥५॥

अचलान्व्यपेतनिद्रान्, स्थानयुतान्कष्टदुष्टलेश्याहीनान् ।
विधिनानाश्रितवासा,नलिप्तदेहान्विनिर्जितेंद्रियकरिणः ॥६॥

अर्थ—जो अनेक परीषहो के आ जाने पर भी अपने अनुष्ठान से वा व्रतों से कभी चलायमान नही होते। जो विशेषकर निद्रा से रहित होते है, प्राय: कायोत्सर्ग धारण करते है, अनेक प्रकार के दुःख और दुर्गतियों को देने वाली लेश्याओं से जो सदा रहित होते है अर्थात् अशुभ लेश्याओं से सदा रहित होते है, जिन्होंने विधिपूर्वक घर का त्याग कर दिया है अथवा जो नियम से घर रहित है अथवा आगम के अनुसार जिनके कंदरा, वसतिका आदि अनेक प्रकार के रहने के स्थान है; तपश्चरण के माहात्म्य से जिनका शरीर अत्यन्त निर्मल है। अर्थात् जिनका शरीर मल

से अलिप्त है और जो इन्द्रियरूपी हाथी को सदा अपने वश में रखते हैं अर्थात् इन्द्रियो को जीतने वाले है ऐसे आचार्यों को मैं सदा नमस्कार करता हू ॥६॥

अतुलानुत्कुटिकासान्,विविक्तचितानखंडितस्वाध्यायान् ।
दक्षिणभावसमग्रान्,व्यपगतमदरागलोभशठमात्सर्यान् ॥७॥

अर्थ—संसार में जिनकी कोई उपमा नही है, जो उत्कुटिकासन आदि कठिन कठिन आसनो से तपश्चरण करते है, जिनका हृदय सदा हेयोपादेय के विवेक से सुशोभित रहता है, जिनका स्वाध्याय सदा अखंडित रहता है, जो शुभ परिणामो से ही सदा सुशोभित रहते है और जो मद, राग, लोभ, अज्ञान और मत्सरता से सदा अलग रहते है, ऐसे आचार्यो के के लिये मैं सदा नमस्कार करता हू ॥७॥

भिन्नार्तरौद्रपक्षान्,संभावितधर्मशुक्लनिर्मलहृदयान् ।
नित्यं पिनद्धकुगतीन्,पुण्यान्गण्योदयान्विलीनगारवचर्यान् ॥८॥

अर्थ—जिन्होने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानरूपी पक्षो का सर्वथा नाश कर दिया है जो अपने हृदय से धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का सदा अनुभव करते रहते है, जिन्होंने नरकादिक दुर्गतियो का सदा के लिये नाश कर दिया है, जो अत्यन्त पवित्र वा पुण्यस्वरूप है, जिनकी ऋद्धियां वा तपश्चरण के माहात्म्य अत्यन्त प्रशसनीय है और जो दूररसास्वादन (दूर से ही रस का आस्वादन कर लेना) आदि ऋद्धियो की प्रवृत्तियों से सर्वथा रहित होते हैं। ऐसे आचार्यो को मै सदा नमस्कार करता हूँ ॥८॥

तरुमूलयोगयुक्ता,नवकाशातापयोगरागसनाथान् ।
बहुजनहितकरचर्या,नभयाननघान्,महानुभावविधानान् ॥९॥

अर्थ जो आचार्य वर्षाकाल मे वृक्ष के नीचे तरुमूल योगधारण करते है। ग्रीष्मकाल मे आतापनयोग धारण करते है और शीतकाल में अभ्रावकाशयोग (मैदान मे रहना) धारण करते है, जिनके मन, वचन, काय की प्रवृत्ति अथवा चारित्र सदा अनेक जीवो को हित करने वाला होता है, जो सात प्रकार के भय से सर्वथा रहित होते है, जो सब तरह के

पापों से रहित है, प्रबल पुण्य के उदय से जिनका प्रभाव सब जगह पड़ता है अथवा जो सदा धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे ही लीन रहते है; ऐसे आचार्यों को मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥९॥

ईदृशगुणसंपन्नान्,गुष्मान्भक्त्या विशालया स्थिरयोगान् ।
विधिनानारतमग्रयान्,मुकुलीकृतहस्तकोमलशोभितशिरसान् ॥१०॥
अभिनौमि सकलकलुष,प्रभवोदयजन्मजरा मरणबंधनमुक्तान् ।
शिवमचलमनघमक्षय,मव्याहतमुक्तिसौख्यमस्त्विति सततम् ॥११॥

अर्थ—जो आचार्य ऊपर कहे हुए समस्त गुणो से सुशोभित है जिनके मन, वचन, काय, अनेक परीषहों के आजाने पर भी सदा स्थिर रहते हैं; समस्त गुणों को धारण करने से जो सदा मुख्य या प्रधान रहते है और अशुभ कर्मों के उदय से प्राप्त होने वाले जन्म, मरण, बुढापा आदि समस्त दोषो के सम्बन्ध से जो सर्वथा रहित होते है, ऐसे आचार्यो को मैं बडी भारी भक्ति से विधिपूर्वक आचार्य भक्ति करके तथा अपने दोनों हाथ-रूपी कमलों को जोडकर मस्तक पर रखकर सदा नमस्कार करता हू। तथा इस नमस्कार करने का फल अत्यन्त प्रशसनीय, हीनाधिकता से रहित, निर्दोष, अविनश्वर और बाधा रहित ऐसा मोक्ष का अनत सुख मुझे प्राप्त हो ऐसी कामना करता हू अर्थात् ऐसे मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिये ही मैं आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार करता हूँ ॥१०-११॥

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये:— (अथ आलोचना)

इच्छामि भंते ! आइरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं । सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयणगुण पालनरयाणं सव्वसाहूणं सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ सुगइगमणं, समाहिमरणं,जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ—हे भगवन् ! मैं आचार्य भक्तिकर कायोत्सर्ग करता हूँ । तथा इसमें जो दोष हुए हो उनकी आलोचना करने की इच्छा करता हूं । मैं

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित और पंचाचार पालन करने वाले आचार्यों की, आचारांग आदि श्रुतज्ञान का उपदेश देने वाले उपाध्यायो की और रत्नत्रय गुण को पालन करने वाले समस्त साधुओं को सदा अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हू और नमस्कार करता हू मेरे समस्त दु खों का नाश हो, कर्मोंका नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभगति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्र-देव के गुणो की प्राप्ति हो।

(इति आचार्य भक्ति)

---

[७] अथ पंचगुरुभक्तिः

श्रीमदमरेन्द्रमुकुट,प्रघटितमणिकिरणवारिधाराभिः।
प्रक्षालितपदयुगलान्,प्रणमामि जिनेश्वरान्भक्त्या ॥१॥

अर्थ—जिनके चरण कमल विशेष लक्ष्मी से सुशोभित ऐसे इन्द्रों के मुकुटो मे लगे हुए मणियों की किरणरूपी जलधारा से प्रक्षालित किये गये है ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव भगवान् अरहतदेव को मै बडी भक्तिसे नमस्कार करता हू ॥१॥

अष्टगुणैः समुपेतान्,प्रणष्टदुष्टाष्टकर्मरिपुसमितीन्।
सिद्धान्सततमनन्ता,न्नमस्करोमीष्टतुष्टिसंसिद्धयै ॥२॥

अर्थ—जो सम्यक्त्व आदि आठों गुणोसे सुशोभित हैं और जिन्होने अत्यत दुष्ट दु ख देने वाले ऐसे आठो कर्मरूपी शत्रुओं के समूह को नष्ट कर दिया है ऐसे अनत सिद्धों को मै अत्यन्त इष्ट ऐसी मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हू ॥२॥

साचारश्रुतजलधीन्,प्रतीर्य शुद्धोरुचरणनिरतानाम्।
आचार्याणां पदयुग,कमलानि दधे शिरसि मेऽहम् ॥३॥

अर्थ—जो पंचाचार सहित द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी समुद्र के पार हो गये हैं जो निर्दोष तथा उग्र तपश्चरण के पालन करने में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे आचार्यों के दोनो चरणकमलों को मैं अपने मस्तक पर धारण करता हूं ॥३॥

मिथ्यावादिमदोग्र,ध्वान्तप्रध्वंसिवचनसंदर्भान् ।
उपदेशकान्प्रपद्ये मम दुरितारिप्रणाशाय ॥४॥

अर्थ— जिनके वचनो की रचना मिथ्यावादियो के अहंकार रूपी अंधकार का नाश करने वाली है, ऐसे उपाध्यायो की मैं अपने पापरूपी शत्रुओं को नाश करने के लिए शरण लेता हू, अर्थात् मैं उनकी शरण में जाता हूं ॥४॥

सम्यग्दर्शनदीप,प्रकाशका मेयबोधसंभूताः ।
भूरिचरित्रपताकास्,ते साधुगणास्तु मां पान्तु ॥५॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन रूपी दीपक से भव्य जीवोके मन के अंधकार को दूर कर उनके मन को प्रकाशित करने वाले है, जीवादिक समस्त पदार्थों के ज्ञान से सुशोभित हैं और अतिशय चरित्र की पताका जिन्होने फहरा रक्खी है, ऐसे साधुगण मेरी रक्षा करो ॥५॥

जिनसिद्धसूरिदेशक,साधुवरानमलगुणगणोपेतान् ।
पंचनमस्कारपदैस्त्रिसंध्यमभिनौमि मोक्षलाभाय ॥६॥

अर्थ—जो अनेक निर्मल गुणो के समूह से सुशोभित है, ऐसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और उत्तम साधुओं को मैं मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से पंच नमस्कार मंत्र पढकर तीनो काल नमस्कार करता हूं ॥६॥

एष पंचनमस्कारः, सर्वपापप्रणाशनः ,
मङ्गलानां च सर्वेषां, प्रथमं मङ्गलं भवेत् ॥७॥

अर्थ—यह पंच नमस्कार मंत्र समस्त पापों का नाश करने वाला है और समस्त मंगलों में प्रथम वा मंगल मुख्य मंगल गिना जाता है ॥७॥

अर्हत्सिद्धाचार्यो,पाध्यायाः सर्वसाधवः ।
कुर्वन्तु मङ्गलाः सर्वे, निर्वाणपरमश्रियम् ॥८॥

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पांचों परमेष्ठी सब मंगलरूप है इसलिये ये परमेष्ठी मेरे लिए मोक्षरूपी परम लक्ष्मी को प्रदान करें ॥८॥

सर्वान् जिनेंद्रचंद्रान्सिद्धानाचार्यपाठकान् साधून् ।
रत्नत्रयं च वंदे, रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या ॥९॥

अर्थ—मै रत्नत्रय प्राप्त करने के लिये, बडी भक्ति से समस्त अरहतो को नमस्कार करता हूँ, समस्त सिद्धो को नमस्कार करता हू, आचार्यों को नमस्कार करता हूँ, समस्त उपाध्यायो को नमस्कार करता हू, और समस्त साधुओं को नमस्कार करता हूं ॥९॥

पांतु श्रीपादपद्मानि, पंचानां परमेष्ठिनां ।
लालितानि सुराधीश,चूडामणिमरीचिभिः ॥१०॥

अर्थ—जो इन्द्रों के मुकुटो मे लगे हुए चूडामणि रत्न की किरणो से अत्यन्त सुशोभित हो रहे है और जो अनेक प्रकार की लक्ष्मी से सुशोभित है ऐसे पाचो परमेष्ठियो के चरणकमल मेरी रक्षा करे ॥१०॥

प्रातिहार्यैर्जिनान् सिद्धान्, गुणैः सूरीन् स्वमातृभिः ।
पाठकान् विनयैः साधून्, योगांगैरष्टभिः स्तुवे ॥११॥

अर्थ—जो भगवान् अरहत देव आठ प्रातिहार्य और चौतीस अतिशय से सुशोभित है, जो सिद्ध सम्यक्त्व आदि आठ गुणो से सुशोभित है, जो आचार्य तीन गुप्ति और पांच समिति इन आठ प्रवचन मातृकाओं से सुशोभित है, जो उपाध्याय अनेक शिष्यो से सुशोभित हैं, और जो साधु प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्यय, आहार, यम, नियम और आसन के योग साधन के इन आठ अगो से सुशोभित है, उनकी मैं स्तुति करता हू । भावार्थ—पाचो परमेष्ठियो की मैं स्तुति करता हूं ॥११॥

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये । (आलोचना)

गद्य—इच्छामि भंते ! पंचमहागुरुभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं । १. अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्ताणं अरहंताणं । अट्ठगुण-संपण्णाणं, २. उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं । ३. अट्ठपवयणमउसंजुत्ताणं आयरियाणं । ४. आयारादिसुद णाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं । ५. तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं । णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ—हे भगवन् ! मै पचगुरुभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं । इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करने की इच्छा करता हूं । १. भगवान् अरहंत देव आठ महाप्रतिहार्य गुणों से सुशोभित है, २. भगवान् सिद्ध परमेष्ठी सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से विभूषित है और ऊर्ध्वलोक के शिखर पर विराजमान हैं, ३. भगवान् आचार्य परमेष्ठी अष्ट प्रवचन मातृकाओं से सुशोभित हैं, ४. भगवान् उपाध्याय परमेष्ठी आचारांग आदि श्रुतज्ञान का उपदेश देने वाले हैं और ५. सर्व साधु परमेष्ठी रत्नत्रय गुणों का पालन करने वाले हैं । इन पांचों परमेष्ठियों की मैं सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वदना करता हूं और नमस्कार करता हूं । मेरे दुःखों का नाश हो और कर्मो का नाश हो, मुझे रत्नत्रय प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्राप्ति हो ।

(इति पंचगुरुभक्तिः)

[८] चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति

गद्य—अथ देवसियपडिक्कमणाए सव्वाइचारविसोहिणिमित्तं। पुव्वाइरियकमेण चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गं करेमि ॥

अर्थ—दैवसिक प्रतिक्रमण मे लगे हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिये पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार मै तीर्थंकर भक्ति और तत्संबन्धी कायोत्सर्ग करता हू।

गाथा—णमो अरहंताणं, णमोसिद्धाणं णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥

अर्थ—मैं अरहंतों के लिये नमस्कार करता हू; सिद्धो के लिये नमस्कार करता हूँ, आचार्यो के लिये नमस्कार करता हू उपाध्यायों के लिये नमस्कार करता हूँ, और समस्त साधुओं के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥

चउवीसं तित्थयरे, उसहाईबीरपच्छिमे वन्दे।
सव्वेसिं सगणगणहरे, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥१॥

अर्थ—मै श्री वृषभदेव से लेकर श्री वर्द्धमान पर्यंत समस्त चौबीस तीर्थंकरों को मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ तथा मुनि गणधर और सिद्धो को भी नमस्कार करता हुं ॥१॥

ये लोकेष्टसहस्रलक्षणधरा, ज्ञेयार्णवांतर्गता,
ये सम्यग्भवजालहेतुमथनाश, चंद्रार्कतेजोधिका:।
ये साध्विंद्रसुराप्सरोगणशतैर्गीतप्रणुत्यार्चिता:,
तान्देवान्वृषभादिवीरचरमान्, भक्त्या नमस्याम्यहम् ॥२॥

अर्थ—जो तीर्थंकर परमदेव एक हजार आठ लक्षण धारण करते है, जो जीवादिक पदार्थ रूपी महासागर के पारगत है अर्थात् समस्त

पदार्थों को एक साथ जानते हैं, जो जन्ममरण रूप ससार को बढाने वाले मिथ्यात्व आदि कारण हैं उनको जिन्होंने सर्वथा नष्ट कर दिया है, जिनका प्रकाश सूर्य चन्द्रमा से भी अधिक है, शरीर का प्रकाश करोडों सूर्य से भी अधिक है और ज्ञान का प्रकाश लोक अलोक से भी अधिक है। सैकड़ो इन्द्र और असंख्यात देव अप्सराओ के समूह जिनकी कीर्ति को गाकर और जिनके लिये नमस्कार कर पूजा करते है ऐसे श्री वृषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत चौबीसो तीर्थंकर परम देवो को मै बड़ी भक्ति से नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

नाभेयं देवपूज्यं, जिनवरमजितं, सर्वलोकप्रदीपं,
सर्वज्ञं संभवाख्यं, मुनिगणवृषभं नंदनं देवदेवम् ।
कर्मारिघ्नं सुबुद्धिं, वरकमलनिभं, पद्मपुष्पाभिगंधं,
क्षान्तं दांतं सुपार्श्वं, सकलशशिनिभं चंद्रनामानमीडे ॥३॥

अर्थ—देवो के द्वारा पूज्य ऐसे श्री वृषभदेव की मै स्तुति करता हूँ। १. समस्त लोक को व लोकाकाश मे भरे हुए समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान भगवान् अजितनाथ की स्तुति करता हूँ। २ मुनिगणो मे श्रेष्ठ और सर्वज्ञ ऐसे श्री सभवनाथ की स्तुति करता हूँ। ३. देवाधिदेव श्री अभिनन्दननाथ की मैं स्तुति करता हूँ। ४ कर्मरूपी शत्रु को नाश करने वाले भगवान् सुमतिनाथ की स्तुति करता हूँ। ५. श्रेष्ठ समान कांति को धारण करने वाले भगवान् पद्मप्रभ की स्तुति करता हूँ ६ उत्तम क्षमा को धारण करने वाले और इन्द्रियो को सर्वथा वश करने वाले भगवान् सुपार्श्वनाथ की मैं स्तुति करता हूँ। ७. पूर्ण चन्द्रमा के समान अत्यन्त सुशोभित भगवान् चन्द्रप्रभ की मै स्तुति करता हूँ ॥३॥

विख्यातं पुष्पदन्तं, भवभयमथनं, शीतलं लोकनाथं,
श्रेयांसं शीलकोशं, प्रवरनरगुरुं, वासुपूज्यं सुपूज्यम् ।
मुक्तं दान्तेन्द्रियाश्वं, विमलमृषिपतिं, सिंहसैन्यं मुनीन्द्रं,
धर्मं सद्धर्मकेतुं, शमदमनिलयं स्तौमि शान्तिं शरण्यम् ॥४॥

अर्थ—संसार के भय को नाश करने वाले और अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे भगवान् पुष्पदन्त की स्तुति करता हूँ। ६ तीनों लोकों के स्वामी भगवान

शीतलनाथ की स्तुति करता हूँ। १० शील व्रत के निधि भगवान श्रेयांसनाथ की मै स्तुति करता हूँ। ११. गणधरादिक देवों के गुरु और अत्यंत पूज्य ऐसे श्री वासु पूज्य की मै स्तुति करता हूँ। कर्मो से सर्वथा मुक्त होने वाले और इन्द्रिय रूपी घोड़े को सर्वथा वश करने वाले भगवान् विमलनाथ की मै स्तुति करता हूँ १३. समस्त ऋषियों के स्वामी मुनिराज श्री अनन्तनाथ की मै स्तुति करता हूँ। १४. सद्धर्म की ध्वजा को धारण करने वाले भगवान् धर्मनाथ की मै स्तुति करता हूँ। १५. अत्यन्त शांतता को धारण करने वाले, इन्द्रियों को सर्वथा वश करने वाले और समस्त जीवों के शरण भूत ऐसे भगवान् शांतिनाथ की मै स्तुति करता हूँ ॥४॥

कुंथुं सिद्धालयस्थं, श्रमणपतिमरं, त्यक्तभोगेषु चक्रं,
मल्लिं विख्यातगोत्रं, खचरगणनुतं, सुव्रतं सौख्यराशिम् ।
देवेन्द्रार्च्यं नमीशं, हरिकुलतिलकं नेमीचन्द्रं भवान्तं,
पार्श्वं नागेन्द्रवन्द्यं, शरणमहमितो, वर्द्धमानं च भक्त्या॥५॥

अर्थ—सिद्धालय मे जाकर विराजमान होने वाले और समस्त मुनियो के स्वामी ऐसे भगवान् कुथुनाथ की मैं शरण जाता हूँ। १७ भोगोपभोग के समस्त पदार्थो का त्याग करने वाले भगवान् अरनाथकी मैं शरण जाता हूँ। १८ प्रसिद्ध काश्यप नाम के गोत्र मे उत्पन्न होने वाले भगवान् मल्लिनाथ की मैं शरण जाता हूँ। १९ समस्त देव और विद्याधर जिनके लिये नमस्कार करते है और जो अनन्त सुख की राशि है ऐसे भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की मै शरण जाता हूँ। २०. देवो के समस्त इन्द्र जिनको नमस्कार करते है ऐसे भगवान् नमिनाथ की मैं शरण जाता हूँ। २१ जो हरि वश के तिलक है और संसार को नाश करने वाले है ऐसे भगवान् नेमिनाथ की मैं शरण जाता हूँ। २२. धरणेन्द्र देव के द्वारा वंदनीय ऐसे भगवान् पार्श्वनाथ की मैं शरण जाता हूँ। २३. और इसी प्रकार भगवान वर्द्धमान् स्वामी की मै भक्ति पूवक शरण जाता हूँ। इस प्रकार मै चौवीसो तीर्थकरो की स्तुति करता हूँ और चौवीसों तीर्थंकरों की शरण मे जाता हूँ ॥ ५ ॥

इसके बाद कायोत्सर्ग करना चाहिये । (आलोचना)

गद्य—इच्छामि भंते ! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो तस्सालोचेउं । १. पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं, २. अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं, ३. चउतीसअतिसयविसेसंजुत्ताणं, ४. बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहियाणं, ५. बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणिजइअणगारोवगूढाणं, ६. थुइसयसहस्सणिलयाणं, उसहाइवीरपच्छिममङ्गलमहापुरिसाणं, णिच्चकालं, अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ॥

अर्थ—हे भगवान् मै चौवीस तीर्थङ्करो की भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूँ । इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना कनने की इच्छा करता हूँ ।

१. जो तीर्थङ्कर गर्भ, जन्म आदि पाँचों महा कल्याणकों से सुशोभित है, २. जो आठ महाप्रतिहार्यो सहित विराजमान है, ३. जो चोंतीस विशेष अतिशयों से सुशोभित है, ४. जो देवों के वत्तीस इन्द्रों के मणिमय मुकुट लगे हुए मस्तकों से पूज्य है, जिनको समस्त इन्द्र आकर नमस्कार करते है, ५. वलदेव, वासुदेव। चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति, अनगार आदि सब जिनकी सभा में आकर धर्मोपदेश सुनते है और ६. जिनके लिये लाखो स्तुतियां की जाती हैं ऐसे श्री वृषभदेव से लेकर श्री महावीर पर्यंत चौवीसो महा पुरुष तीर्थंकर परम देव की मैं सदा अर्चा करता हूँ, पूजा करता हू, वन्दना करता हूँ और उनके लिये सदा नमस्कार करता हूं । मेरे दुःखों का नाश हो और कर्मो का नाश हो । मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्र देव के समस्त गुणों की प्राप्ति हो ।

(इति तीर्थङ्कर भक्तिः)

[६] अथ शान्ति-भक्तिः

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्,पादद्वयं ते प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः, संसारघोरार्णवः ।
अत्यंतस्फुरदुग्ररश्मिनिकर,व्याकीर्णभूमंडलो,
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिल,च्छायानुरागं रविः ॥१॥

अर्थ—हे भगवन् ! ससारी जीव आपके दोनों चरण कमलो की शरण आये है सो कुछ आपके स्नेह से नही आये है किन्तु आपके चरण कमलों की शरण मे आने का कारण अनेक प्रकार के दु खो से भरा हुआ यह ससार रूपी महासागर ही है । इस दु ख स्वरूप ससार मे त्रस्त होकर ही आपके चरण कमलों की शरण में आये हैं, क्योंकि आपके चरण कमल उस संसार के दु.ख को समूल नाश कर देते हैं । गर्मी के दिनो में चन्द्रमा की किरणों से, पानी से और छाया से अनुराग होता है उसका कारण जिसकी अत्यन्त, देदीप्यमान तेज किरणों का समूह समस्त संसार में व्याप्त हो रहा है ऐसा ग्रीष्म ऋतु का सूर्य ही समझना चाहिये । भावार्थ—जिस प्रकार गर्मी के दिनो में सूर्य से सतप्त हो कर यह जीव छाया और जल मे अनुराग करता है क्योंकि छाया और जल उस संताप को दूर करने वाले हैं इसी प्रकार आपके चरण कमल भी ससार के दु खों को दूर करने वाले है इसीलिए ससार के दु.खो से अत्यन्त दु खी हुए प्राणी उन दुःखो को दूर करने के लिये आपके चरण कमलों की शरण लेते है ॥१॥

आगे—हे भगवन् ! आपके चरण कमलों को नमस्कार करने से इस लोक संबंधी फल भी मिलता है यही दिखलाते है :—

क्रुद्धाशीविषदष्टदुर्जयविष,ज्वालावलीविक्रमो,
विद्याभेषजमन्त्रतोयहवनै,र्याति प्रशांति यथा ।
तद्वत्ते चरणारुणांबुजयुग,स्तोत्रोन्मुखानां नृणाम्,
विघ्नाःकायविनायकाश्चसहसा,शाम्यन्त्यहो विस्मयः ॥२॥

अर्थ—क्रोधित हुए सर्प के काट लेने से जो असह्य विष समस्त शरीर में फैल जाता है वह गारुडी मुद्रा के दिखाने वा उसके पाठ करने से, विष को नाश करने वाली औषधियों को देने से, मंत्र से, जल से और होम करने आदि से बहुत शीघ्र शांत हो जाता है उसी प्रकार हे भगवन्, जो मनुष्य आपके दोनो चरण रूपी अरुणकमलो का स्तोत्र करते हैं, दोनों चरणकमलो की स्तुति करते है, उनके समस्त विघ्न नष्ट हो जाते है और शरीर के समस्त रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाते है। हे भगवन्, यह भी एक महा आश्चर्य की बात है। भावार्थ–विघ्न को दूर करने के लिये बहुत सा परिश्रम करना पडता है परन्तु रोग और विघ्न आदि केवल आपकी स्तुति करने मात्र से दूर हो जाते हैं। यही सब से अधिक आश्चर्य की बात है ॥२॥

आगे—हे भगवन् ! आपको प्रणाम करने से क्या होता है सो दिखलाते हैः—

संतप्तोत्तमकांचनक्षितिधर, श्रीस्पर्द्धिगौरद्युते,
पुंसां त्वच्चरणप्रणामकरणात्, पीडाः प्रयान्ति क्षयं ।
उद्यद्भास्करविस्फुरत्करशत, व्याघातनिष्कासिता,
नानादेहिविलोचनद्युतिहरा, शीघ्रं यथा शर्वरी ॥३॥

अर्थ—अंधकारमय रात्रि अनेक प्रकार के प्राणियो के नेत्रों के प्रकाश को रोकने वाली है परन्तु वही रात्रि उदय होते हुए सूर्य की देदीप्यमान सैंकडों किरणो के आघात से मानों निकाल दी गई है इस प्रकार नष्ट हो जाती है उसी प्रकार हे प्रभो ! आपके शरीर की कान्ति तपाये हुए उत्तम सोने के समान मेरु पर्वत की शोभा की स्पर्द्धा करने वाली है अथवा तपाये हुए उत्तम सोने के समान और मेरु पर्वत की शोभा के समान आपके शरीर की काति अत्यन्त देदीप्यमान है ऐसी अनुपम शोभा को धारण करने वाले है। हे भगवन् आपके चरण कमलों को नमस्कार करने से मनुष्यो की पीडाए क्षणभर मे नष्ट हो जाती हैं। इसमें कोई संदेह नही है ॥३॥

आगे—स्तुति ही प्राणियों को अजर अमर पद अर्थात मोक्ष पद का कारण है ऐसा कहते है :—

त्रैलोक्येश्वरभंगलब्धविजया,दत्यंतरौद्रात्मकान्,
नाना जन्मशतांतरेषुपुरतो. जीवस्य संसारिणः।
को वा प्रस्खलतीह केन विधिना, कालोग्रदावानलान्,
न स्याच्चे त्तव पादपद्मयुगल,स्तुत्यापगावारणम् ॥४॥

अर्थ—हे भगवन् ! इस ससार मे यह काल वा यम एक प्रचड दावानल है, इसने अनेक प्रकार के सैकडो जन्मो मे तीनों लोकों के स्वामी धरणेन्द्र, देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि नरेन्द्रो का नाश कर सर्वत्र विजय प्राप्त की है। इसीलिये यह कालरूपी दावानल अत्यन्त रौद्र रूप व भयानक है। हे प्रभो ! इन ससारी जीवों के सामने यदि आपके दोनों चरण कमलों की स्तुति रूपी नदी इस दावानल अग्नि को रोकने वाली न होती तो भला कौन मनुष्य किस प्रकार इससे बच सकता था। अर्थात् कभी नही। अभिप्राय यह है कि इस संसार में जीवो को जन्म मरण करना ही पड़ता है। एक आपके चरण कमलों की स्तुति ही ऐसी है जो इन जीवो को जन्म मरण से बचा सकती है और अजर अमर पद अर्थात् मोक्षपद दे सकती है ॥४॥

आगे—आपके चरण कमलों की स्तुति करने से शरीर को नष्ट करने वाले असाध्य रोग भी नष्ट हो जाते हैं ऐसा दिखलाते हैः—

लोकालोकनिरंतरप्रवितत,ज्ञानैकमूर्तें विभो,
नानारत्नपिनद्धदंडरुचिर,श्वेतातपत्रत्रय ।
त्वत्पादद्वयपूतगीतरवतः, शीघ्रं द्रवन्त्यामया,
दर्पाध्मातमृगेंद्रभीमनिनदाद्,वन्या यथा कुंजराः ॥५॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप लोक अलोक में, घनीभूत फैले हुए समस्त लोक अलोक में व्याप्त हुए केवल ज्ञान की एक अद्वितीय मूर्ति है और अनेक प्रकार के रत्नों से जड़े हुए दड से सुशोभित, ऐसे तीन श्वेत छत्र आपके मस्तक पर फिर रहे है। हे भगवन् ! ऐसे आपके दोनो चरण कमलों की स्तुति मैं गाये हुए पवित्र गीतों के शब्दों से अर्थात् आपके चरण कमलों की स्तुति करने मात्र से, बडे-बडे रोग इस प्रकार शीघ्र नष्ट हो जाते है। जैसे

गर्व से उद्धत हुए सिंह की गर्जना के भयकर शब्दो को सुनकर जगल के बड़े २ हाथी भाग जाते है।

भावार्थ—जिस प्रकार सिंह की गर्जना को सुनते ही हाथी भग जाते हैं उसी प्रकार भगवान् शांतिनाथ की स्तुति करने मात्र से समस्त रोग नष्ट हो जाते है ॥५॥

आगे--आपके चरण कमलों की स्तुति से मोक्ष के अनंत सुख भी प्राप्त होते है ऐसा आचार्य कहते है:----

दिव्यस्त्रीनयनाभिरामविपुल,श्रीमेरुचूडामणे.
भास्वद्वालदिवाकरद्युतिहर, प्राणीष्टभामडल ।
अव्यावाधमचिन्त्यसारमतुलं, त्यक्तोपमं शाश्वतं,
सौख्यं त्वच्चरणारविंदयुगल,स्तुत्यैव संप्राप्यते ॥६॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! देवांगनाओ के नेत्रो के लिए भी आप अत्यत सुन्दर हैं। महाविभूति को धारण करने वाले मेरु पर्वत की चूड़ामणि के समान हैं। देदीप्यमान उदय होते हुए सूर्य की कान्ति को भी हरण करने वाले है और आपका प्रभामंडल समस्त प्राणियो को इष्ट वा प्रिय है। हे प्रभो ! ऐसे आपके दोनो चरण कमलों की स्तुति करने से ही इस जीव को जो सब प्रकार की बाधाओं से रहित है, जिसका माहात्म्य अचिंत्य है, संसार में जिसकी कोई उपमा नही है, कोई समानता नही है, और जो सदा रहने वाला है ऐसा मोक्ष सुख प्राप्त होता है ॥६॥

आगे आचार्य कहते है कि ऐसा अनुपम मोक्ष सुख समस्त पापों के नाश होने से होता है और उन समस्त पापों का नाश भगवान के चरण कमल के प्रसाद से होता है :—

यावन्नोदयते प्रभापरिकरः, श्रीभास्करो भासयंम्,
स्यतावद्धारयतीह पंकजवनं, निद्रातिभारश्रमम् ।
यावत्त्वच्चरणद्वयस्य भगवन्,न स्यात्प्रसादोदय,
स्तावज्जीवनिकाय एप वहति, प्रायेण पापं महत् ॥७॥

अर्थ—हे भगवन् ! अपनी किरणों के समूह से परिपूर्ण और अपना तथा अन्य पदार्थो के स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ सूर्य, जब तक उदय नही होता तब तक ही, कमलो का वन नीद के बोझ के परिश्रम को धारण करता है अर्थात् मुद्रित रहता है, सूर्य के उदय होते ही वह प्रफुल्लित हो जाता है, उसी प्रकार हे भगवन् ! जब तक आपके दोनों चरण कमलो की प्रसन्नता का उदय नही होता है, तभी तक यह जीवो का समूह प्राय: महापापो को धारण करता रहता है। आपके चरण कमलो की प्रसन्नता होते ही वे समस्त पाप स्वयं नष्ट हो जाते है ॥७॥

शान्ति शान्तिजिनेन्द्र ! शांतमनसः त्वत्पादपद्माश्रयात्,
संप्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः, शान्त्यर्थिनः प्राणिनः ।
कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो, दृष्टिं प्रसन्नां कुरु,
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः, शांत्यष्टकं भक्तितः ॥८॥

अर्थ—हे शान्तिजिनेन्द्र ! इस ससार मे जो जीव शाति की इच्छा करते है अर्थात् परम कल्याणरूप शाति चाहते है अथवा ससार को नाश करने रूप शाति चाहते है, तथा जिनके मन से राग द्वेष सब निकल गया है, ऐसे अनेक जीव इस समस्त पृथ्वीमडल पर केवल आपके चरण कमलों का आश्रय लेने से ही मोक्ष रूप परम शाति को प्राप्त कर चुके हैं। हे प्रभो ! मैं भी आपकी भक्ति करने वाला एक भक्त हूं आपके दोनों चरण कमलों को ही मैं परम देवता मानता हूँ और बड़ी भक्ति से इस शांत्यष्टक का पाठ कर रहा हू। इस शांत्यष्टक के द्वारा आपकी स्तुति कर रहा हूँ। हे स्वामिन् ! कृपाकर मुझपर भी अपनी दृष्टि प्रसन्न कीजिये, मुझपर अनुग्रह कीजिये अर्थात् मुझे भी मोक्ष रूप परम शाति दीजिये अथवा हे प्रभो ! मेरी दृष्टि को वा सम्यग्दर्शन को अत्यन्त निर्मल बना दीजिये जिस से मुझे वह परम शाति स्वयं प्राप्त हो जाय ॥८॥

शांतिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं, शीलगुणव्रतसंयमपात्रं ।
अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं, नौमि जिनोत्तममंबुजनेत्रम् ॥९॥

अर्थ—जिनका मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान अत्यन्त निर्मल है, जो शील, गुण, सयम और व्रतो के अद्वितीय पात्र है जिनका शरीर एकसौ

आठ शुभ लक्षणो से सुशोभित है, जिनके नेत्र कमल के समान सुशोभित है और जो गणधरादिक देवों मे भी परमोत्कृष्ट है; ऐसे भगवान् शांतिनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ ॥९॥

आगे भगवान् शांतिनाथ के गृहस्थ अवस्था में क्या क्या गुण थे और मुनि अवस्था में क्या-क्या गुण थे सो ही दिखलाते हैं:—

पंचममीप्सितचक्रधराणां, पूजितमिन्द्रनरेंद्रगणैश्च ।
शांतिकरंगणशांतिमभीप्सुः, षोडशतीर्थकरं प्रणमामि ॥१०॥

अर्थ—जो भगवान् शांतिनाथ गृहस्थावस्था मे बारह चक्रवर्तियों में पांचवें चक्रवर्ती थे, और जो मुनि अवस्था में सोलहवे तीर्थङ्कर थे, इन्द्र और चक्रवर्तियों के समूह भी जिनकी पूजा करते थे, जो शांतिनाथ चारो प्रकार के संघ की शांति चाहते थे, अर्थात् सबके ससार का नाश अथवा राग द्वेष का नाश चाहते थे, और सबको शांति प्रदान करने वाले थे, ऐसे भगवान् शांतिनाथ को मै नमस्कार करता हू ॥१०॥

आगे उनके आठ महाप्रतिहार्यों की शोभा दिखलाते हैं:—

दिव्यतरु सुरपुष्पसुवृष्टि,दुंन्दुभिरासनयोजनघोषौ ।
आतपवारणचामरयुग्मे, यस्य विभाति च मंडलतेजः ॥११॥
तं जगदर्चितशान्तिजिनेन्द्रं, शांतिकरं शिरसा प्रणमामि ।
सर्वगणाय तु यच्छतु शान्तिं, मह्यमरं पठते परमां च ॥१२॥

अर्थ—भगवान् शांतिनाथ के समीप अशोक वृक्ष शोभायमान है, देवों के द्वारा पुष्पवृष्टि शोभायमान है, दुंदुभि बाजे शोभायमान है, सिंहासन शोभायमान है, एक योजन तक पहुंचने वाली ध्वनि, दिव्यध्वनि, शोभायमान है, तीन छत्र शोभायमान हैं, चौंसठ चमर शोभायमान हैं (भगवान् के दोनों ओर चामरेन्द्र चौंसठ चमर ढोरते रहते हैं, यहा पर इन्द्रों की दो जातियों की अपेक्षा से ही दो चमर बतलाये हैं वास्तव मे चौंसठ चमर होते हैं) और प्रभामंडल का प्रकाश शोभायमान है। इसके सिवाय वे भगवान् शांतिनाथ तीनों लोकों के द्वारा पूज्य है और मोक्ष रूप परम शांति को देने वाले हैं। ऐसे उन शांतिनाथ भगवान् को मैं मस्तक

झुका कर नमस्कार करता हूं। वे भगवान् शांतिनाथ समस्त संघ के लिये परम शांति प्रदान करे, तथा इस शांति ॥ को पढने वाले भगवान् शांतिनाथ की स्तुति करने वाले मुझको भी, बहुत शीघ्र परम शांति प्रदान करे ॥११-१२॥

आगे चौवीसों तीर्थङ्करों से शांति की प्रार्थना करते हुए स्तुति करने वाले कहते हैः--

येऽभ्यर्चिता मुकुटकुंडलहाररत्नैः,
शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः।
ते मे जिनाः प्रवरवंशजगत्प्रदीपाः,
तीर्थङ्कराः सततशांतिकरा भवंतु ॥१३॥

अर्थ—जो भगवान् इन्द्रादिक देवों के द्वारा जन्माभिषेक के समय मुकुट, कुंडल और हीरों के रत्नों से पूजित हुए है अर्थात् मुकुट, कुंडल, हार आदि पहना कर जिनकी पूजा की है, तथा अनेक प्रकार से जिनके चरण कमलोकी स्तुति की है तथा जो उत्तम वश मे उत्पन्न हुए है, संसार मे समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान है, जो तीर्थंकर अर्थात् आगम के स्वामी वा प्रवर्तक है और सदा शांति प्रदान करने वाले है ऐसे भगवान् चौवीसों तीर्थंकर मेरे लिये सदा शांति प्रदान करने वाले हो ॥१३॥

संपूजकानां प्रतिपालकानां, यतींद्रसामान्यतपोधनानां।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शान्तिंभगवान्जिनेंद्रः॥१४॥

अर्थ—वे केवलज्ञानी पूज्य भगवान् जिनेन्द्रदेव पूजा करने वालों के लिये, चैत्य,चैत्यालय और धर्म की रक्षा करने वालो के लिये,आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के लिये, शैक्ष्य आदिसामान्य तपस्वियों के लिये, देश के लिये राष्ट्र के लिये, नगर के लिये और राजा के लिये शांति प्रदान करें ॥१४॥

क्षेमं सर्वप्रजानां, प्रभवतु बलवान्,धार्मिको भूमिपालः,
काले कालेच सम्यग्,विकिरतु मघवा, व्याधयो यान्तुनाशम्।

दुर्भिक्षं चौरमारिः, क्षणमपि जगतां, मास्मभूज्जीवलोके.
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं, प्रभवतु सततं. सर्वसौख्यप्रदायि ॥१५॥

अर्थ—इस संसार में समस्त प्रजा का कल्याण हो, बलवान् राजा धार्मिक हो, समय २ पर इन्द्र (बरसने वाले बादल) अच्छी वर्षा करें, रोग सब नष्ट हो जावें दुष्काल, चोर और मारी अर्थात् प्लेग आदि मारक-रोग वा शस्त्रादिक से होने वाला अपघात इन संसारी जीवों को कभी न हो, तथा जो समस्त जीवों को सुख देने वाला है ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव कहा हुआ उत्तम क्षमा आदि धर्मों का समूह, बिना किसी रुकावट के सदा प्रवृत्त होता रहे ॥१५॥

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये। (आलोचना)

गद्य—इच्छामि भंते! शान्तिभत्तिकाउस्सग्गो तस्सा-लोचेउं। १. पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं, २. अट्ठमहापाडिहेरस-हियाणं, ३. चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं, ४. बत्तीसदेवेंद-मणिमउडमत्थयमहियाणं, ५. बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणिजइ-अणगारोवगूढाणं, ६. थुइसयसहस्सणिलयाणं,उसहाइवीरपच्छिम-मङ्गलमहापुरिसाणं, णिच्चकालं, अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो. सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ॥

अर्थ—हे भगवान् मैं शांति भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूँ। इसमे जो दोष लगे हो उनकी आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। १ जो गर्भ, जन्म आदि पाँचों महा कल्याणकों से सुशोभित है, २ जो आठ महा प्रतिहार्यों सहित विराजमान हैं, ३. जो चौतीस विशेष अतिशयों से सुशो-भित है, ४. जो बत्तीस देवेन्द्रों के रत्नमय मुकुटों से सुशोभित मस्तको नमस्कार किये जाते हैं, ५. बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति, अनगार जिनकी सदा सेवा करते रहते है ६. और जो लाखों स्तुतियों के पात्र हैं, ऐसे श्री वृषभदेव से लेकर श्री महावीर पर्यंत चौबीसों महा-पुरुषों की तीर्थंकर परम देव की मैं सदा अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूं,

वन्दना करता हूं और उनके लिये सदा नमस्कार करता हूं। मेरे दुःखों का नाश हो और कर्मों का नाश हो। मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्र देव के समस्त गुणों की प्राप्ति हो।

(इति शांति भक्ति)

---

[१०] अथ समाधि-भक्ति

स्वात्माभिमुखसंवित्ति,लक्षणं श्रुतचक्षुषा।
पश्यन्पश्यामि देव त्वां, केवलज्ञानचक्षुषा ॥१॥

अर्थ—हे भगवन्, अपने आत्मा के स्वरूप मे तल्लीन होने वाला ज्ञान ही आपका लक्षण है; अर्थात् आपका स्वरूप केवल ज्ञानमय है, ऐसे आपको श्रुत ज्ञान रूपी नेत्र से देखता हुआ मै केवल ज्ञान रूपी नेत्र से देख रहा हूँ ॥१॥

भावार्थ जो भव्य जीव श्रुत ज्ञान से आगम के अनुसार आपकी आराधना है उसको केवल ज्ञान की प्राप्ति अवश्य होती है। जो श्रुतज्ञान से आपको देखता है वह केवल ज्ञान से भी अवश्य देखता है।

शास्त्राभ्यासो, जिनपतिनुतिः, संगतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां, गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि, प्रियहितवचो, भावना चात्मतत्वे,
संपद्यंतां, मम भवभवे, यावदेतेऽपवर्गः ॥२॥

अर्थ—जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो तब तक मेरे भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए शास्त्रों का अभ्यास सदा बना रहे, तब तक मैं भगवान् जिनेन्द्रदेव की स्तुति करता रहूं, तब तक मैं सदा व्रती पुरुषों की संगति मे रहूँ, तब तक मैं श्रेष्ठ व्रतों के गुणों की कथा में ही सदा लीन

रहू, किसी के भी दोष कहते समय मेरे मौनव्रत हो, सर्व के साथ बोलते हुए मेरे मुख से प्रिय और हित करने वाले वचन निकले और मेरी भावना सदा आत्मतत्व में बनी रहे, हे प्रभो ! तब तक भव मे, ये सब बातें, मुझे प्राप्त रहें ॥२॥

जैनमार्गरुचि,रन्यमार्गनिर्वेगता, जिनगुणस्तुतौ मतिः ।
निष्कलंक,विमलोक्ति,भावना, संभवन्तु मम जन्मजन्मनि ॥३॥

अर्थ—जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त हो तब तक मेरा श्रद्धान भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए मोक्ष मार्ग में ही बना रहे, अन्य मिथ्या मार्ग से मुझे वैराग्य उत्पन्न हो, मेरी बुद्धि तब तक भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों की स्तुति करने में लगी रहे; और मेरी भावना कर्ममल कलक रहित और अठारह दोषो से रहित ऐसे भगवान् अरहतदेव के वचनों मे ही बनी रहे। हे प्रभो ! ये सब बातें मुझे जन्म-जन्म मे प्राप्त होती रहै ॥३॥

गुरुमूले यतिनिचिते; चैत्य,सिद्धांत,वार्धि,सद्घोषे ।
मम भवतु जन्मजन्मनि, सन्यसन,समन्वितं मरणम् ॥४॥

अर्थ हे देव, जहां पर अनेक मुनियो का समुदाय विराजमान है ऐसे आचार्य के समीप, जिन प्रतिमा के समीप अथवा जहा पर सिद्धात रूपी समुद्र के गम्भीर शब्द हो रहे हैं ऐसे स्थानों मे मेरे जन्म-जन्म मे सन्यास सहित मरण हो ॥४॥

जन्मजन्मकृतं पापं, जन्मकोटिसमार्जितम् ।
जन्ममृत्युजरामूलं, हन्यते जिनवंदनात् ॥५॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव की वदना करने से जन्म-जन्म के किये पाप नष्ट हो जाते हैं तथा जो जन्म, मरण और बुढापा आदि दु.खो के मूल कारण हैं ऐसे करोड़ों जन्मों में इकट्ठे किये पाप भगवान् की वदना करने से नष्ट हो जाते है ॥५॥

आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः श्री पादयोः सेवया,
सेवासक्त,विनेय,कल्पलतया, कालोद्य,यावद्गतः ।

त्त्रां तस्याः, फलमर्थये तदधुना, प्राणप्रयाणक्षणे,
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने, कण्ठोऽस्त्यकुण्ठो मम ॥६॥

अर्थ—हे देवाधिदेव ! आपके चरण कमलों की सेवा करना, सेवा करने वाले भक्तपुरुषो के लिए इच्छानुसार फल देने वाली कल्पलता के समान है। हे भगवन् ! मैने बालकपन से लेकर आज तक आपके चरण कमलों की सेवा की है। हे देव आज इस समाधिकरण के समय, आपसे, उस सेवा पूजा का फल मागता हूँ। हे स्वामिन् ! जब तक मेरे प्राण इस शरीर से निकले तब तक आपके नाम के अक्षर पढने मे, मेरा कठ रुके नही, बस ! इतनी ही प्रार्थना आपसे करता हूँ। भावार्थ--समाधि-मरण के समय, मै वराबर पच नमस्कार मन्त्र का जप, करता रहूं और आयु के अंत तक आपका नाम जपता रहूँ बस यही जन्म भर की सेवा फल मुझे दे दीजिये ॥६॥

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्,यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ॥७॥

अर्थ—हे भगवान् ! मुझे जब तक मोक्ष की प्राप्ति हो, तब तक आपके दोनो चरणकमल मेरे हृदय में विराजमान रहें, और मेरा हृदय आपके चरण कमलों में तल्लीन बना रहे क्योंकि--

एकापि समर्थेयं, जिनभक्ति,र्दुर्गतिं निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं, दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥८॥

अर्थ--यह भगवान् जिनेन्द्रदेव की एक भक्ति ही समस्त नरकादिक दुर्गतियो से बचाने के लिए समर्थ है तथा समस्त पुण्यों को पूर्ण करने के के लिए समर्थ है। यह भगवन् जिनेन्द्रदेव की भक्ति भव्य जीवों को मोक्ष लक्ष्मी देने के लिए भी पूर्ण समर्थ है ॥८॥

पंचसुअ अरिंजयणामे, पंचयमदि सायरं जिणे वंदे ।
पंच जसोयरणामे, पंचयसी मंदरे वंदे ॥९॥
रयणत्तयं च वंदे, चव्वीसजिणे च सव्वदा वंदे ।
पचगुरूणं वंदे चारणचरणं सदा वंदे ॥१०॥

अर्थ—मैं रत्नत्रय को नमस्कार करता हूँ, चौवीस तीर्थंकरो को सदा नमस्कार करता हू, पंच परमेष्ठियों की वंदना करता हूँ, और चारण मुनियों के चरण कमलो को सदा नमस्कार करता हू ॥९-१०॥

अर्हमित्यक्षरब्रह्म, वाचकं परमेष्ठिनः ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वतः प्रणिदध्महे ॥११॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्तं, मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम् ।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतं, सिद्धचक्रं नमाम्यहम् ॥१२॥

अर्थ—'अर्हम्' यह अक्षर परम ब्रह्म का वाचक है, पच परमेष्ठीका वाचक है, और सिद्धचक्र का सर्वोत्तम बीज मन्त्र है। इसलिए मैं इस 'अर्हम्' अक्षर को अपने हृदय मे सब ओर से धारण करता हू। भगवान् सिद्ध परमेष्ठी आठो कर्मों से सदा रहित है, मोक्ष लक्ष्मी के स्थान हैं, और सम्यक्त्व आदि आठ गुणो से सुशोभित है ऐसे सिद्धचक्र को समस्त सिद्धो के समूह को मैं नमस्कार करता हूँ ॥११-१२॥

आकृष्टिं, सुरसंपदां विदधते, मुक्तिश्रियो वश्यता,
मुच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां, विद्वेषमात्मैनसाम् ।
स्तंभं, दुर्गमनं प्रति प्रयततो, मोहस्य सम्मोहनम्,
पायात्,पंचनमस्क्रियाक्षरमयी, साराधना देवता ॥१३॥

अर्थ—पच नमस्कार मत्र के अक्षरो से बना हुआ नमस्कार मत्र आराधना करने योग्य देवता है। इस देवता के आराधन करने से अर्थात् पच नमस्कार मंत्र का जाप करने स्वर्ग की संपदा का आकर्षण होता है, मोक्षरूपी लक्ष्मी वश हो जाती है, चारों गतियो मे होने वाली विपत्तियों का उच्चाटन हो जाता है, आत्मा के द्वारा होने वाले पापो से विद्वेष हो जाता है। नरकादिक दुर्गतियों का स्तभन होता है और इस देवता का आराधन करने वाले पुरुष का मोह स्वयं मूर्छित हो जाता है। ऐसा यह पच नमस्कार मंत्र मेरी रक्षा करो ॥१३॥

अनंतानन्तसंसार,संततिच्छेदकारणम् ।
जिनराजपदाम्भोज, स्मरणं शरणं मम ॥१४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के चरण कमलो का स्मरण करना अनन्तानन्त ससार परपरा के नाश करने का कारण है इसीलिये मै भगवान् के उन चरण कमलों की शरण लेता हूँ ॥१४॥

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्यभावेन, रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥१५॥

अर्थ—हे प्रभो ! इस ससार में आपके सिवाय और कोई मेरी रक्षा करने वाला नही है, यही समझ कर मैने आपकी शरण ली है । मै केवल आपको ही शरण मानता हूँ । अतएव हे जिनेन्द्रदेव ! मुझ पर करुणा कीजिये । इस संसार के दु:खो से मुझे बचाइये ॥१५॥

नहि त्राता नहि त्राता, नहि त्राता जगत्त्रये ।
वीतरागात्परो देवो, न भूतो न भविष्यति ॥१६॥

अर्थ—हे प्रभो ! इन तीनो लोको मे, वीतराग परम देव के सिवाय अन्य कोई भी देव आज तक, किसी भी जीव की रक्षा करने वाला नही हुआ है, नही हुआ है, नही हुआ है, तथा वीतराग परमदेव के सिवाय, अन्य कोई भी देव, तीनो लोकों में आगे कभी भी किसी भी जीव की रक्षा करने वाला नही होगा, नही होगा, नही होगा, अतएव हे वीतराग देव आप ही मेरी रक्षा कीजिये ॥१६॥

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने जिने ।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु, सदा मेस्तु भवे भवे ॥१७॥

अर्थ—हे भगवन् ! मेरी भक्ति प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र देव में ही रहे श्री जिनेन्द्र देव मे ही रहे, श्री जिनेन्द्र देव में ही रहे । तथा वही आपके चरण कमलो की भक्ति भव भव में मुझे सदा प्राप्त हो, सदा प्राप्त हो, सदा प्राप्त हो ॥१७॥

याचेहं याचेहं, जिन तव चरणारविन्दयो,र्भक्तिम् ।
याचेहं याचेहं, पुनरपि तामेव तामेव ॥१८॥

अर्थ—हे भगवन् जिनेन्द्र देव, मैं आपके दोनो चरण कमलों की भक्ति की याचना करता हूँ, याचना करता हूँ। हे स्वामिन् ! फिर भी मैं उसी आपके चरण कमलों की भक्ति की आपके ही दो चरण कमलों की भक्ति की याचना करता हूँ, याचना करता हूँ।

इसके अनंतर कायोत्सर्ग करना चाहिये। (आलोचना)

गद्य—इच्छामि भंते ! समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं। रयणत्तयपरूवपरमप्पज्झाणलक्खणं समाहिभत्तीये णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, वोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुण-संपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ—हे भगवन् ! मैं समाधिभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं। इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करना चाहता हूं। इस समाधि भक्ति में रत्नत्रय को निरूपण करने वाले शुद्ध परमात्मा के ध्यानस्वरूप शुद्ध आत्मा की सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वंदना करता हूं और नमस्कार करता हूं। मेरे दु:खों का नाश हो, और कर्मों का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव के समस्त गुणों की प्राप्ति हो।

(इति समाधिभक्तिः)

[११] अथ निर्वाण-भक्ति

विबुधपतिखगपनरपति,धनदोरगभूतयक्षपतिमहितम्,
अतुलसुखविमलनिरुपम, शिवमचलमनामयं संप्राप्तम् ॥१॥
कल्याणैः संस्तोष्ये, पंचभिरनघं त्रिलोकपरमगुरुम् ।
भव्यजनतुष्टिजननै,दुरवापैः सन्मतिं भक्त्या ॥२॥

अर्थ—जो भगवान् महावीर स्वामी, इन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती कुबेर के स्वामी, धरणेन्द्र, चमरेन्द्र, यक्षपति आदि सब के द्वारा पूज्य हैं, तथा ससार मे जिसके कोई उपमा नही, जो समस्त कर्मों से रहित है और इसीलिये जो उपमा रहित है ऐसे मोक्षपद को जो प्राप्त हो चुके हैं और जो फिर वहा से कभी चलायमान नही होते सदा अनन्तकाल तक मोक्ष सुख का ही अनुभव किया करते है । वैशेषिक मत के समान मुक्त होने पर भी फिर ससार मे परिभ्रमण नही करते । इसके सिवाय वे भगवान् व्याधियो से सर्वथा रहित है, जो सब प्रकार के पापो से रहित है और इसीलिए तीनो लोको के गुरु है ऐसे भगवान् महावीर स्वामी को मै बडी भक्ति से नमस्कार करता हू, जो बड़ी कठिनता से प्राप्त होते है और जो भव्य जीवों को सदा सन्तोष उत्पन्न करने वाले है ऐसे १. गर्भ, २ जन्म, ३ दीक्षा, ४. केवल और ५ मोक्ष कल्याणकों से उनकी स्तुति करता हूँ । भावार्थ उनके पञ्चकल्याणों का वर्णन कर उनकी स्तुति करता हू ।

आषाढसुसितषष्ठ्यां, हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते शशिनि ।
आयातःस्वर्गसुखं, भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः ॥३॥
सिद्धार्थनृपतितनयो, भारतवास्ये विदेहकुंडपुरे ।
देव्यां प्रियकारिण्यां,सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः ॥४॥

अर्थ—भगवान् महावीर स्वामी का जीव पहले अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान का स्वामी था। वह वहा पर अपनी आयु पूरी कर अर्थात्

बाईस सागर तक स्वर्ग के सुख भोग कर इसी भरत क्षेत्र के विदेह देश मे कुण्डलपुर नगर में राजा सिद्धार्थ की महादेवी प्रियकारिणी के गर्भ में आया। वह आषाढ शुक्ला षष्ठी का दिन था और चन्द्रमा हस्त तथा उत्तरा नक्षत्र के मध्य में था। गर्भ में आने के पहले माता ने सोलह स्वप्न देखे थे ॥३-४॥

चैत्रसितपक्षफाल्गुनि,शशांकयोगे दिने त्रयोदश्यां।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु. ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥५॥
हस्ताश्रिते शशांके. चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशीदिवसे।
पूर्वाण्हे रत्नघटै.विबुधेन्द्राश्चक्रुरभिषेकम् ॥६॥

अर्थ—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन शुभ लग्न मे भगवान् महावीर स्वामी ने जन्म लिया। उस दिन चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र पर आ गया था तथा समस्त सौम्यग्रह अपनी अपनी राशि के उच्च स्थान पर आ गये थे। चैत्र शुक्ला चतुर्दशी के दिन जब कि चन्द्रमा हस्त नक्षत्र पर आ गया था उस समय प्रात काल सब इन्द्रो ने मिलकर मेरु पर्वत की पाडुक शिला पर ले जाकर भगवान् महावीर स्वामी का अभिषेक किया था ॥५-६॥

भुक्त्वा कुमारकाले, त्रिंशद्वर्षाण्यनंतगुणराशिः।
अमरोपनीतभोगान्,सहसाभिनिबोधितोऽन्येद्युः ॥७॥
नानाविधरूपचितां, विचित्रकूटोच्छ्रितां मणिविभूषाम्।
चंद्रप्रभाख्यशिविका,मारुह्य पुराद्विनिःक्रान्तः ॥८॥
मार्गशिरकृष्णदशमी,हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते सोमे।
षष्ठेनत्वपराह्णे, भक्तेन जिनःप्रवव्राज ॥९॥

अर्थ—अनन्त गुणों की राशि ऐसे उन भगवान् महावीर स्वामी ने कुमार काल के तीस वर्ष तक देवो के द्वारा प्राप्त हुए गध, पुष्पमाला, वस्त्रा भूषण आदि भोगोपभोग का उपभोग किया। तीस वर्ष के अनंतर ही किसी एक दिन वे विरक्त हुए, उसी समय लौकान्तिक देवो ने आकर उनकी प्रशंसा और स्तुति की। तदनन्तर जो अनेक प्रकार से सजाई गई हैं जिस

पर अनेक प्रकार के ऊंचे कगुरे लग रहे है और जो अनेक प्रकार के मणियो से सुशोभित है ऐसी चन्द्रप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर वे भगवान् नगर मे बाहर निकले । माग शीर्ष कृष्णा दशमी के दिन शाम के समय भगवान् महावीर स्वामी ने दीक्षा धारण की । उस समय चन्द्रमा हस्त और उत्तरा नक्षत्र के मध्य भाग में था । तथा भगवान् ने दीक्षा लेते ही दो उपवास करने की प्रतिज्ञा की थी ॥७ से ९॥

ग्रामपुरखेटकर्वट,मटंबघोषाकरान्प्रविजहार ।
उग्रैस्तपोविधानै,द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः ॥१०॥
ऋजुकूलायास्तीरे, शालद्रुमसश्रिते शिलापट्टे ।
अपराण्हे षष्ठेना,स्थितस्यखलु जृंभिकाग्रामे॥११॥
वैसाखसितदशम्यां, हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चंद्रे ।
क्षपकश्रेण्यारूढस्,योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥१२॥

अर्थ—देवो द्वारा पूज्य ऐसे भगवान् महावीर स्वामी ने बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करते हुए गांव, नगर खेट (नदी पर्वत के बीच का गांव) कर्वट (जिसके चारो ओर पर्वत हो) मटंब (जिससे पांच सौ गांव लगते हो) घोष (छोटी झोपडी) आकार (जिसमें खानि हो) आदि सब जगह विहार किया ।तदनतर ऋजुकूला नदी के किनारे जृंभिका नाम के गाव मे शाल वृक्षों मे घिरी हुई एक शिला पर दो उपवास की प्रतिज्ञा कर खड़े हुए । उसी दिन शाम के समय उन्होने क्षपक श्रेणी पर चढना प्रारम्भ किया । उस दिन वैसाख शुक्ला दशमी थी और चन्द्रमा हस्त और उत्तरा नक्षत्र के मध्य मे था । उस समय उनको केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई ॥१० से १२॥

अथ भगवान् संप्रापद्,दिव्यं वैभार पर्वतं रम्यम् ।
चातुर्वर्ण्यसुसंघस्,तत्राभूद्गौतमप्रभृति ॥१३॥
छत्राशोकौ घोषं, सिंहासनदुंदुभी कुसुमवृष्टिम् ।
वरचामरभामंडल,दिव्यान्यन्यानि चावाप्त ॥१४॥

दशविधमनगाराणा,मेकादशधोत्तरं तथा धर्मम् ।
देशयमानो व्यहरस्त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः ॥१५॥

अर्थ—तदनतर वे भगवान् अत्यन्त मनोहर और दिव्य ऐसे वैभार पर्वत पर जो विराजमान हुए । वहां पर गौतम गणधर को आदि लेकर रत्नत्रय से सुशोभित चारों प्रकार का संघ था । भगवान् के समवसरण मे १. दिव्य छत्र, २ अशोक वृक्ष, ३. दिव्यध्वनि. ४. सिहासन ५ दुंदुभी, ६. पुष्पवृष्टि, ७. चमर और ८ भामंडल ये आठ महाप्रातिहार्य थे। तथा चार सौ कोस तक सुभिक्षका रहना आकाश में चलना आदि कितने ही दिव्य अतिशय, भगवान् को प्राप्त हुए थे । उन समवसरण मै भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मुनियो के उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार के धर्म का उपदेश दिया और श्रावकों के लिये ग्यारह प्रतिमाओं का उपदेश दिया। इस प्रकार धर्म का उपदेश देते हुए भगवान् ने तीस वर्ष तक विहार किया ॥१३ से १५॥

पद्मवनदीर्घिकाकुल.विविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने, व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥१६॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते, स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेषं संप्रापद्,व्यजरामरमक्षयं सौख्यम् ॥१७॥

अर्थ—अन्त मे वे भगवान् कमलों मे सुशोभित ऐसे पानी के तलाव मे तथा अनेक प्रकार के वृक्षो के समूह से सुशोभित और अत्यन्त मनोहर ऐसे पावानगर के उद्यान मे कायोत्सर्ग से विराजमान हुए। उस समय उनके साथ और भी अनेक मुनि थे । कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन स्वाति नक्षत्र मे भगवान् ने बाकी के समस्त अघातिया कर्मो का अर्थात् वेदनीय, नाम, गोत्र और भी आयु का नाश किया और जन्म, मरण, बुढापा आदि दुःखो से रहित तथा कभी न नाश होने वाला ऐसा मोक्ष सुख प्राप्त किया ॥१६-१७॥

परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं, ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशुचागम्य ।
देवतरुरक्तचन्दन.कालागुरुसुरभिगोशीर्षैः ॥१८॥

अग्नीन्द्राज्जिनदेहं, मुकुटानलसुरभिधूपवरमाल्यैः।
अभ्यर्च्य गणधरानपि, गता दिवं खं च वनभवने ॥१९॥

अर्थ—भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष पधारे ऐसा जानकर इन्द्रादिकदेव बहुत शीघ्र आये। उन्होने भगवान् के शरीर की पूजा की और फिर देवदारु, लाल चन्दन से अग्निकुमार देवो के इन्द्र के मुकुट से निकली हुई अग्नि से तथा सुगंधित धूप और उत्तम मालाओ से भगवान् के शरीर का अग्नि सस्कार किया। फिर उन देवो ने गणधरों की पूजा की। तदनतर वे देव स्वर्ग को, आकाश को, वनो को और भवनों को चले गये। अर्थात् कल्पवासी देव स्वर्गों को चले गये। ज्योतिष्कदेव आकाश को चले गये। व्यतरदेव भूतारण्यवन को चले गये और भवनवासीदेव अपने २ भवनो को चले गये।

इस अठारहवें श्लोक में आशु के स्थान में शुचा भी पाठ है। उसका अर्थ यह है कि भगवान् के मोक्ष जाने पर देवो को शोक हुआ। अब भगवान् मोक्ष चले गये अब उनके दर्शन नही होगे, यही उनके लिये शोक का कारण था। ऐसा शोक करते हुए ही वे देव आये ॥१८-१९॥

इत्येवं भगवति वर्धमानचंद्रे, यः स्तोत्रं पठति सुसंध्ययोर्द्वयोर्हि।
सोऽनतं परमसुखं नृदेवलोके, भुक्त्वांते शिवपदमक्षयं प्रयाति ॥२०॥

अर्थ—जो भव्य जीव दोनो सध्या कालो में अर्थात् प्रातःकाल और सायकाल दोनो समय ऊपर लिखे अनुसार भगवान् वर्धमान स्वामी का स्तोत्र पढता है वह मनुष्य लोक और देवलोक में अनंत परम सुख का अनुभव करता हुआ अत में कभी न नाश होने वाले मोक्ष सुख को प्राप्त होता है।

विशेष--यह वसंत तिलका! नामक छंद है, इसमें ८ तथा६सेविराम होताहै।

यत्रार्हतां गणभृतां श्रुतपारगाणां,
निर्वाणभूमिरिह भा,रतवर्षजानाम्।
तामद्य शुद्धमनसा, क्रियया वचोभिः,
संस्तोतुमुद्यतमतिः, परिणौमि भक्त्या॥२१॥

अर्थ—इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे उत्पन्न हुए चौबीस तीर्थंकरो की जो निर्वाण भूमि है, गणधर देवों की जो निर्वाण भूमि है तथा श्रुत केवलियों की जो निर्वाण भूमि है अथवा अन्य साधारण मुनियों की जो निर्वाण भूमि है उन सब की स्तुति करने की इच्छा करने वाला मैं शुद्ध मन से, शुद्ध वचन से और शरीर की क्रिया से बड़ी भक्ति पूर्वक समस्त निर्वाण भूमियों को नमस्कार करता हू ॥२१॥

कैलाशशैलशिखरे, परिनिर्वृतोसौ,
शैलेशिभावमुपपद्य, वृषो महात्मा ।
चंपापुरे च वसुपूज्य,सुतः सुधीमान्,
सिद्धिं परामुपगतो, गतरागबंधः ॥२२॥

अर्थ—महात्मा भगवान् वृषभदेव स्वामी अठारह हजार शीलों के पूर्ण स्वामी होकर कैलाश पर्वत के शिखर पर से मोक्ष पधारे थे। तथा केवलज्ञान को धारण करने वाले और समस्त कषायों से रहित ऐसे भगवान् वासुपूज्य स्वामी चपापुर से मोक्ष पधारे थे ॥२२॥

यत्प्रार्थ्यते शिवमयं, विबुधेश्वराद्यैः,
पाखंडिभिश्च परमार्थगवेषशीलैः ।
नष्टाष्टकर्मसमये, तदरिष्टनेमिः,
संप्राप्तवान् क्षितिधरे, बृहदूर्जयन्ते ॥२३॥

अर्थ—जिस मोक्ष को प्राप्त करने के लिये इन्द्रादिक देव भी प्रार्थना करते रहते हैं; तथा जिस मोक्ष की प्राप्ति के उपायो को वा अठारह हजार शीलों के भेदों को अन्वेषण करने वाले खोज करने वाले अन्य पाखंडी लोग भी जिस मोक्ष की इच्छा करते है ऐसा वह मोक्ष इन भगवान् अरिष्ट नेमिनाथ ने आठों कर्मों को नाश करने के समय में ही महाऊर्जयंत पर्वत मे प्राप्त किया। अर्थात् भगवान् नेमिनाथ स्वामी गिरनार पर्वतसे मोक्ष पधारे।२३।

पावापुरस्यबहिरुन्नतभूमिदेशे,
पद्मोत्पलाकुलवतां,सरसां हि मध्ये ।

श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो,
निर्वाणमाप भगवान्प्रविधूतपाप्मा ।।२४।।

अर्थ—पावापुर नगर के बाहर सूर्य विकासी और चन्द्रविकासी कमलों से भरे हुए सरोवर के मध्य भाग में ऊंचे टीले पर से केवलज्ञान से सुशोभित, समस्त पापो को नाश करने वाले और अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे भगवान् वर्द्धमान जिनेन्द्रदेव मोक्ष पधारे ।।२४।।

शेषास्तु ते जिनवरा, जितमोहमल्ला,
ज्ञानार्क भूरिकिरणै,रवभास्य लोकान् ।
स्थानं परं निरवधारित,सौख्यनिष्ठं,
सम्मेदपर्वततले, समवापुरीशाः ।।२५।।

अर्थ—मोहरूपी मल्ल को जीतने वाले और इन्द्रादिक देवों के द्वारा पूज्य ऐसे बाकी के बीस तीर्थंकर केवल ज्ञानरूपी सूर्य की अनेक किरणों से तीनो लोको को प्रकाशित करते हुए सम्मेदशिखर पर्वत के ऊपर के भाग से जिसके सुख की कोई सीमा नही है जहां पर अनंतानंत सुख है ऐसे परम स्थान व मोक्ष स्थान को प्राप्त हुए थे ।।२५।।

आद्यश्चतुर्दशदिनै,र्विनिवृत्तयोगः,
षष्ठेननिष्ठितकृति,र्जिनवर्द्धमानः ।
शेषा विधूतघनकर्मनिवद्धपाशाः,
मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः ।।२६।।

अर्थ—१ भगवान् वृषभदेव की आयु जब चौदह दिन की रह गई थी तब उन्होंने अपने द्रव्य मन, वचन, काय की क्रियाओं को रोक लिया था; २ भगवान् वर्द्धमान स्वामी की आयु जब दो दिन की रह गई थी तब उन्होने अपने द्रव्य मन, वचन, काय की क्रियाओं को रोक लिया था और जिन्होने घनीभूत कर्मो के बधन के जाल को सर्वथा नष्ट कर दिया है ऐसे बाकी के बाईस तीर्थंकरो ने एक महीने की आयु बाकी रहने पर अपने द्रव्य मन, वचन, काय की क्रियाओं को रोक लिया था अर्थात् योग निरोध धारण किया था ।।२६।।

माल्यानि वाक्स्तुतिमयैः, कुसुमैः सुदृब्धा—
न्यादाय मानसकरै,रभितः किरंतः ।
पर्येम आदृतियुतो, भगवन्निषद्या,
संप्रार्थिता वयमिमे, परमां गतिं ताः ॥२७॥

अर्थ—वचनो के द्वारा होने वाली स्तुतिरूपी पुष्पों से बनी हुई इस माला को लेकर तथा भगवान् की निर्वाण भूमियों के चारों ओर मनरूपी हाथ से उस माला को चढाते हुए हम लोग बड़े आदरके साथ उन निर्वाण भूमियों की परिक्रमा करते हैं और हमको परमगति वा मोक्ष गति प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना करते है ॥२७॥

आगे तीर्थङ्करों की निर्वाण भूमियों के सिवाय अन्य मुनियों की जो निर्वाण भूमियां है उनकी स्तुति करते है:—

शत्रुंजये नगवरे, दमितारिपक्षाः,
पंडोः सुताः परमनि,र्वृतिमभ्युपेताः ।
तुंग्यां तु संगरहितो, बलभद्रनामा,
नद्यास्तटे जितरिपुश्च सुवर्णभद्रः ॥२८॥

द्रोणीमति प्रबलकुण्,डलमेंढ्रके च,
वैभार पर्वततले, वरसिद्धकूटे ।
ऋष्यद्रिके च विपुला,द्रिबलाहके च,
विंध्ये च पोदनपुरे, वृषदीपके च ॥२९॥

सह्याचले च हिमव,त्यपि सुप्रतिष्ठे,
दंडात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ ।
ये साधवो हतमलाः, सुगतिं प्रयाताः,
स्थानानि तानि जगति, प्रथितान्यभूवन् ॥३०॥

अर्थ—कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन ये तीनों भाई पवित्र शत्रुंजय पर्वतसे मोक्ष पधारे । समस्त परिग्रहों

से रहित बलदेव, तुंगीगिरी पर्वत से मोक्ष पधारे। कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले सुवर्णभद्र, नदी के किनारे से (पावागिर पर्वत के पास चलना नदी के किनारे) मोक्ष पधारे। द्रोणगिरि, उत्तम कुंडल पर्वत, मेंढगिर पर्वत (मुक्तागिर) वैभार पर्वत, उत्तम सिद्धवरकूट, ऋष्यद्रि, विपुलाचल, बलाहक, विंध्य पर्वत, पोदनपुर, वृषदीपक. सह्याद्रि, हिमवान्, सुप्रतिष्ठ, दडात्मक, गजपंथ, पृथुसारयष्टि आदि जिन-जिन पर्वतो पर से अनेक मुनिराज कर्ममलकलक को नाश कर मोक्ष पधारे है, वे सब स्थान इस ससार में प्रसिद्ध हो गये है ।।३०।।

इक्षोर्विकाररसपृक्त,तगुणेन लोके,
पिष्टोधिकां मधुरता,मुपयाति यद्वत् ।
तद्वच्च पुण्यपुरुषै,रुषितानि नित्यं,
स्थानानि तानि जगता,मिह पावनानि ॥३१॥

अर्थ—जिस प्रकार ईख के रस से उत्पन्न होने वाले गुड के रस मे मिला हुआ आटा अधिक स्वादिष्ट और मीठा जान पड़ता है इसी प्रकार तीर्थंकर गणधर तथा सामान्य मुनि जहां-जहां निवास करते है वे सब स्थान इस संसार के प्राणियो को सदा के लिए अधिक पवित्र करने वाले हो जाते है ।।३१।।

इत्यर्हतां शमवतां, च महामुनीनां,
प्रोक्ता मयात्र परिनि,र्वृतिभूमिदेशाः ।
ते मे जिनाजितमया, मुनयश्च शांताः,
दिश्यासुराशु सुगतिं, निरवद्यसौख्याम् ॥३२॥

अर्थ—इस प्रकार मैंने भगवान् तोर्थंकर परमदेव की जो निर्वाण भूमि बतलाई है अत्यन्त शांतता को धारण करने वाले सामान्य मुनियों की निर्वाणभूमि बतलाई है और महामुनि गणधर देवों की जो निर्वाणभूमि बतलाई है, वे सब निर्वाणभूमियां सब तीर्थंकर परमदेव गणधर केवली और सामान्य केवली मुझे शीघ्र ही शुभगति देवें तथा जिसमे सब तरह की बाधाओं से रहित परमसुख है ऐसे मोक्ष को देवें ।।३२।।

दूसरे ग्रंथों में निम्नलिखित श्लोक विशेष पाये जाते है वे भी यहां लिखे जाते हैं:-

कैलाशाद्रौ मुनींद्रः, पुरुरपदुरितो, मुक्तिमाप प्रणूतः,
चंपायां, वासुपूज्यस्त्रिदशपतिनुतो नेमिरप्यूर्जयंते ।
पावायां वर्धमानस्त्रिभुवनगुरवो विंशतिस्तीर्थनाथाः,
सम्मेदाग्रे प्रजग्मु-र्ददतु विनमतां,निर्वृतिं,नोजिनेन्द्राः ॥३३॥

चौवीस तीर्थङ्करों की निर्वाण भूमिः

अर्थ—१. कैलाश पर्वत पर पापो से रहित, मुनियो के स्वामी श्री वृषभनाथ जिनेन्द्र मुक्ति को पधारे। २. इन्द्रों के द्वारा पूजित वासुपूज्य जिनेन्द्र चंपापुर से मोक्ष पधारे। ३ गिरनार (ऊजयन्त) पर्वतसे नेमिनाथ भगवान् मोक्ष पधारे ४. अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान भगवान् पावापुर से मोक्ष पधारे ५. तीन लोक के गुरु अवशिष्ट २० तीर्थङ्कर श्री सम्मेद-शिखर से मोक्ष पधारे, ये सब तीर्थङ्कर नमस्कार करने वाले हम सबको मुक्ति प्रदान करें ॥३३॥

चौवीस तीर्थङ्करों के चिन्हः—

गौर्गजोऽश्वः कपिः कोकः, सरोजः स्वस्तिकः शशी ।
मकरः श्रीयुतो वृक्षो, गंडो महिषशूकरौ ॥३४॥
सेधावज्रमृगच्छागाः, पाठीनः कलशस्तथा ।
कच्छपश्चोत्पलं शंखो, नागराजश्च केसरी ॥३५॥

अर्थ—१. वृषभनाथजी का वैल २. अजितनाथजी का हाथी ३. संभवनाथजी का घोडा ४. अभिनन्दनजी का वदर ५. सुमतिनाथजी का चकवा ६. पद्मप्रभुजी का कमल ७ सुपार्श्वनाथजी का स्वस्तिक (सांथिया) ८. चंद्रप्रभुजी का चंद्र ९. पुष्पदन्तजी का मगर १०, शीतलनाथजी का कल्पवृक्ष ११. श्रेयांसनाथजी का गैंडा १२. वासुपूज्यजी का भैंसा १३ विमलनाथजी का सूकर(सूअर) १४ अनंतनाथजीका सेही १५ धर्मनाथजी का वज्र १६. शांतिनाथजी का हिरण १७. कुंथुनाथजी का अज (बकरा) १८. अरहनाथजी का मीन (मछली) १९ मल्लिनाथजी का कलश २०

मुनिसुव्रतनाथजी का कछुआ २१ नमिनाथजीका लाल कमल २२ नेमिनाथ जी का शख २३ पार्श्वनाथजी का सर्प २४. वर्द्धमान स्वामी का सिंह ।

चौवीस तीर्थङ्करों के वंशः—

शांति कुंथ्वरकौरव्या यादवौ नेमिसुव्रतौ ।
उग्रनाथौ पार्श्ववीरौ, शेषा इक्ष्वाकुवंशजाः ॥३६॥

अर्थ—१. शांतिनाथ २. कुंथुनाथ और ३ अरनाथ ये तीन तीर्थङ्कर कुरुवंश मे उत्पन्न हुये है । १ नेमिनाथ और २ मुनिसुव्रत ये दो तीर्थङ्कर यदुवंश मे उत्पन्न हुये है और १. पार्श्वनाथ उग्रवंश मे तथा महावीर स्वामी नाथ वंश में पैदा हुये है बाकी के १७ तीर्थङ्कर इक्ष्वाकु वंश मे पैदा हुये है ।

इसके अनंतर कायोत्सर्ग करना चाहिये । (आलोचना)

गद्य–इच्छामि भंते ! परिणिव्वाणभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं । इमम्मि अवसप्पिणीये, चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए, आउट्ठमासहीणे, वासचउक्कम्मि सेसकालम्मि । पावाये णयरीए, कत्तियमासस्स किण्हचउद्दसिए रत्तीए सादीए णक्खत्ते, पच्चूसे भयवदो महदि महावीरो वड्ढमाणो सिद्धिं गदो । तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतरजोयिसियकप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धुव्वेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं, अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमंसंति, परिणिव्वाणमहाकल्लाणपुज्जं करंति । अहमविइह संतो, तत्थ संताइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइ-गमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ—हे भगवन् ! मै निर्वाण भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूँ, उसमे जो दोष लगे हो उनकी आलोचना करना चाहता हूँ । इस अव-सर्पिणी काल के, चौथे समय के पिछले भाग में, जब तीन वर्ष साढे आठ

महीना कम थे, तब पावापुर नगर से कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले भाग में, प्रात.काल स्वाति नक्षत्र में भगवान् महति महावीर वर्द्ध-मान स्वामी मोक्ष पधारे थे। उस समय तीनो लोको में निवास करने वाले, भवनवासी व्यतर ज्योतिष्क और कल्पवासी. ये चारो प्रकार के देव, अपने-अपने परिवार के सहित आये थे, और वे दिव्य गंध, दिव्य फूल, दिव्य धूप, दिव्य सुगंधित, दिव्यवस्त्र और अभिषेक से मुसज्जित होकर सदा अर्चा करते थे, पूजा करते थे वदना करते थे, नमस्कार करते थे, और निर्वाण कल्याणकी पूजा करते थे मैं भी वैसा ही होकर, सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वदना करता हूं और नमस्कार करता हूं। मेरे दु.खों का नाश हो, और कर्मो का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो. समाधिमरण की प्राप्ति हो, और भगवान् जिनेन्द्रदेव के समस्त गुणों की प्राप्ति हो।

(इति निर्वाण भक्तिः)

---

[१२] अथ नंदीश्वर भक्तिः

त्रिदशपतिमुकुटतटगत, मणिगणकरनिकरसलिलधाराधौत ।
क्रमकमलयुगलजिनपति, रुचिरप्रतिबिंबविलयविरहितनिलयान् ॥१॥
निलयानहमिह महसां, सहसाप्रणिपतनपूर्वमवनौम्यवनौ ।
त्रय्यां त्रय्या शुद्ध्या, निसर्गशुद्धान्विशुद्धये घनरजसां ॥२॥

अर्थ—इन्द्रों के मुकुटो के किनारे पर लगे हुए अनेक मणियों के किरणों के समूह रूपी जल की धारा से जिनके दोनों चरण कमल प्रक्षा-लित हो रहे हैं; ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव के प्रतिबिम्बों को विनाश रहित सदा के लिए अनंतानंत काल के लिए स्थान देने वाले, स्वाभाविक शुद्ध और तेज की राशि ऐसे तीनों लोकों के अकृत्रिम चैत्यालयों को मैं मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक महा पापों को नाश करने के लिए, बहुत शीघ्र

पृथ्वी पर पडकर नमस्कार करता हूँ ॥१-२॥

आगे अधो लोक सम्बन्धी भवनवासियों के विमानों के अकृत्रिम चैत्यालयों को कहते है.—

भावनसुरभवनेषु, द्वासप्तति,शत,सहस्र,संख्या,भ्यधिका ।
कोट्यः सप्त प्रोक्ता, भवनानां, भूरि,तेजसां, भुवनानाम् ॥३॥

अर्थ—अत्यंत तेज को धारण करने वाले, ऐसे भवनवासी देवों के भवनो मे रहने वाले, अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या सात करोड वहत्तर लाख है । भावार्थ—भवनवासियो के इतने ही भवन है और उनमें प्रत्येक मे एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है ॥३॥

आगे व्यंतर देवो के अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या कहते हैः—

त्रिभुवनभूतविभूनां, संख्यातीतान्यसंख्य,गुणयुक्तानि ।
त्रिभुवन,जननयनमनः, प्रियाणि भवनानि भौमविबुधनुतानि॥४॥

अर्थ—जिनको समस्त व्यतरदेव नमस्कार करते है और जो तीनो लोको के मनुष्यो के नेत्र और मन को अत्यत प्रिय लगते है, ऐसे तीनों लोकोके समस्त प्राणियोंके स्वामी भगवान् जिनेन्द्र देव के मन्दिर असंख्यात को असख्यात से गुणा करने पर जितनी सख्या होती है उतने है । भावार्थ-व्यतर देवो के आवास भी असख्यातासख्यात है और उनमें प्रत्येक में एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है ॥४॥

आगे ज्योतिष्कदेव और वैमानिक देवों के अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या कहते हैंः—

यावन्ति सन्ति कान्त,ज्योति,र्लोकाधि,देवताभिनुतानि,
कल्पेऽनेक विकल्पे, कल्पातीतेऽह,मिन्द्रकल्पानल्पे ॥५॥
विंशतिरथ त्रिसहिता, सहस्रगुणिता च सप्तनवतिः, प्रोक्ता ।
चतुरधिकाशीति,रतः, पंचक,शून्येन विनिहतान्,यनघानि ॥६॥

अर्थ—सुन्दर और उत्तम ज्योतिषी देवोके विमानअसख्यातासख्यात है । इसलिये उन विमानो मे होने वाले अकृत्रिम चैत्यालय भी असख्याता-सख्यात है ।

कल्पवासी देवो के अनेक भेद हैं तथा जिनमे अहमिंद्रो की कल्पना है ऐसे कल्पातीत विमान भी बहुत हैं और विशाल हैं उन सबमें, पापरहित अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या शून्य से गुणा किये हुए चौरासी लाख, एक हजार से गुणा किये हुए सतानवे अर्थात् सतानवे हजार तेईस है, अर्थात् चौरासी लाख सतानवे हजार, तेईस है। यह सख्या कल्पवासी और कल्पातीत दोनों प्रकार के देवों के अकृत्रिम चैत्यालयों की है। यदि इनके चैत्यालयों की पृथक् २ संख्या कही जाय तो कल्पवासियों के चैत्यालय चौरासी लाख, छयानवे हजार, सात सौ, और कल्पातीत देवों के चैत्यालयो की सख्या तीन सौ तेईस है ॥५-६॥

आगे मनुष्य क्षेत्र के अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या कहते हैः—

अष्टापंचाशद,तश्,चतुः शतानीह मानुषे च क्षेत्रे ।
लोकालोकविभाग,प्रलोकना,लोक,संयुजां, जयभाजाम् ॥७॥

अर्थ—लोक और अलोक के विभाग को देखने के लिए प्रकाश के समान, केवल दर्शन से सुशोभित होने वाले और घातिया कर्मों को नाश करने के कारण सर्वत्र विजय प्राप्त करने वाले, भगवान् अरहतदेव के अकृत्रिम चैत्यालय इस मनुष्य क्षेत्र मे चार सौ अट्ठावन हैं ॥७॥

आगे तीनों लोकों में अब कितने अकृत्रिम चैत्यालय हैं सो दिखलाते हैं:—

नवनवचतुःशतानि च, सप्तच, नवतिः, सहस्रगुणिताः, षट्च ।
पंचाशत्पंचवियत,प्रहताः, पुनरत्र, कोटयोऽष्टौ, प्रोक्ताः ॥८॥
एतावंत्येव सता,मकृत्रिमाण्यथ; जिनेशिनां भवनानि ।
भुवनत्रितये त्रिभुवन,सुरसमिति,समर्च्यमान,सत्प्रतिमानि ॥९॥

अर्थ—तीनों लोको मे भगवान् जिनेन्द्रदेव के अकृत्रिम चैत्यालय आठ करोड, छप्पन लाख, सतानवे हजार, चार सौ इक्यासी, है। इनमें अनेक जिन प्रतिमायें विराजमान है और तीनों लोकों के देवों के समूह उन प्रतिमाओ की पूजा करते है। अधोलोक मे सात करोड, बहत्तर लाख चैत्यालय है। मध्यलोक मे चार सौ अट्ठावन है, और ऊर्ध्व लोकमें चौरासी

लाख, सतानवे हजार, तेईस है, ये सब मिलकर ऊपर की संख्या के बराबर होते हैं इनमे ज्योतिष्क और व्यंतर देवो के असंख्यातासख्यात चैत्यालय अलग है ।।८-९।।

आगे मध्यलोक के चार सौ अट्ठावन चैत्यालय कहां-कहां हैं सो दिखलाते है । (नन्दीश्वर द्वीप के ५२, पंच मेरु के ८० चैत्यालय मिलकर ४५८ होते है)

वक्षाररुचककुंडल,रौप्यनगोत्तरकुलेषुकारनेगषु ।
कुरुषु च जिनभवनानि, त्रिशतान्यधिकानि तानि षड्विंशत्या ।।१०।।

अर्थ—एक २ विदेह क्षेत्र मे सोलह सोलह वक्षार पर्वत है, तथा चार २ गजदंत पर्वत हैं; इस प्रकार सब सौ पर्वत हैं । इन सौ पर्वतो पर सौ ही अकृत्रिम चैत्यालय है । रुचक नाम के द्वीप मे रुचक पर्वत पर, चार अकृत्रिम चैत्यालय है । कुण्डल द्वीप मे, मानुषोत्तर पर्वत के समान, गोल कुण्डल पर्वत है, उस पर चार अकृत्रिम चैत्यालय है । ढाई द्वीप में, एक सौ सत्तर कर्म भूमियां है, उनमे एक सौ सत्तर ही विजयार्द्ध पर्वत है, उन पर एक सौ सत्तर ही अकृत्रिम चैत्यालय हैं । मानुषोत्तर पर्वत पर, चारो दिशाओं मे, चार चैत्यालय है । जम्बूद्वीप में छः कुलाचल है, धात की द्वीप में बारह है, और पुष्करार्द्ध में बारह है, इस प्रकार सब तीस कुल पर्वत है, इन पर तीस ही अकृत्रिम चैत्यालय हैं । चारों इष्वाकार पर्वतो पर चार अकृत्रिम चैत्यालय है । देव कुरु पांच है और उत्तर कुरु पाच है इस प्रकार दशो उत्तम भोग भूमियो मे दश अकृत्रिम चैत्यालय है । इस प्रकार इन अकृत्रिम चैत्यालयोकी सख्या तीन सौ छब्बीस होती है ।।१०।।

आगे नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालय कहते हैं:—

नंदीश्वरसद्द्वीपे,नंदीश्वर,जलधि,परिवृते धृतशोभे ।
चंद्रकरनिकरसंनिभ,रुन्द्रयशो,वितत,दिङ् महीमंडलके ।।११।।
तत्रत्यांजनदधिमुख,रतिकर.पुरु,नग,वराख्य,पर्वतमुख्याः ।
प्रतिदिशमेषामुपरि. त्रयोदशेन्द्रा,र्चितानि जिनभवनानि ।।१२।।

अर्थ—चन्द्रमा की किरणो के समूह के समान फैले हुए यश के

द्वारा, जिसने समस्त दिशाओ का समूह और समस्त पृथ्वी मडल व्याप्त कर दिया है अर्थात् जिसकी कीर्ति समस्त पृथ्वी पर फैल रहीहै तथा जो नन्दीश्वर महासागर से चारो ओर घिरा हुआ है, और जो बड़ी अच्छी शोभा को धारण कर रहा है, ऐसे सर्वोत्तम नन्दीश्वर द्वीप की प्रत्येक दिशा में, एक २ अजनगिरि है उस अंजनगिरि के चारो ओर चारो दिशाओ में, चार २ दधिमुख पर्वत है। वे दधिमुख वावडियों में है, उन वावडियों के किनारे कोनो पर रतिकर-पर्वत हैं,-प्रत्येक अजनगिरि पर, और प्रत्येक दधिमुख पर्वत पर एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है, तथा वावड़ियों के भीतरी दोनो कोनों पर जो दो २ रतिकर है उन पर प्रत्येक पर एक २ अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीप की एक दिशा मे एक अजनगिरि, चार दधिमुख, और आठ रतिकरों के ऊपर चैत्यालय है। ये सब चैत्यालय तेरह होते है। इसी प्रकार की रचना नन्दीश्वर द्वीप की चारो दिशाओं मे है। इसलिये चारों दिशाओ मे सब मिलकर बावन चैत्यालय होते है। इन चैत्यालयों में इन्द्र आकर पूजा करते है ॥११-१२॥

आषाढकार्तिकाख्ये, फाल्गुन,मासे च, शुक्लपक्षेऽष्टम्याः।
आरभ्याष्टदिनेषु च, सौधर्मप्रमुख.विबुधपतयो, भक्त्या ॥१३॥
तेषु महामहमुचितं, प्रचुराक्षत,गंध.पुष्प,धूपै,र्दिव्यैः।
सर्वज्ञप्रतिमाना,मप्रतिमानां प्रकुर्वते सर्वहितम् ॥१४॥

अर्थ—आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन महीनेमे शुक्लपक्ष की अष्टमी से लेकर आठ दिन तक सौधर्म इन्द्र को आदि लेकर समस्त इन्द्र बड़ी भक्ति से, वहां पर जाते है और जिनकी समता ससार भर में कही नही है, ऐसी वहा पर विराजमान भगवान् सर्वज्ञ देव की प्रतिमाओ की बहुत से दिव्य अक्षतों से, दिव्यगंध से, दिव्य पुष्पो से, और दिव्य धूप से, समस्त प्राणियों का हित करने वाली और अपने योग्य अर्थात् इन्द्रों के द्वारा ही करने योग्य ऐसी महामह नाम की पूजा करते हैं ॥१३-१४॥

भेदेन वर्णना का, सौधर्मः, स्नपनकर्तृतामापन्नः।
परिचारक.भावमिताः, शेषेन्द्रारुन्द्रचंद्रनिर्मलयशसः ॥१५॥

मंगलपात्राणि पुनस्तद्देव्यो बिभ्रतिस्म शुभ्रगुणाढ्याः।
अप्सरसो नर्तक्य, शेषसुरास्तत्र लोकनाव्यग्रधियः ॥१६॥

अर्थ - उन नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयो का वर्णन और तो क्या कहना चाहिये बस इतने मे ही समझ लेना चाहिये कि सौधर्म इन्द्र तो स्वय उन प्रतिमाओं के अभिषेक करने का काम करता है; और पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान जिनका निर्मल यश फैला हुआ है ऐसे बाकी के इन्द्र सब उस सौधर्म इन्द्र के परिचारक बन जाते है, अर्थात् उस महाभिषेक में सहायता देते है; अन्य सब काम करते है। निर्मल गुणों को धारण करने वाली उन सौधर्म आदि इन्द्रों की महादेवियां आठ महा मंगल द्रव्य धारण करती है। अप्सराएं नृत्य करती है, और बाकी के सब देव और देवियां उस अभिषेक को देखने मे तल्लीन रहते है। उस नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयो की महा पूजा का वर्णन बस इतने से ही समझ लेना चाहिये। ॥१५-१६॥

वाचस्पतिवाचामपि, गोचरतांसं व्यतीत्य यत्क्रममाणम्।
विबुधपतिविहितविभवं, मानुषमात्रस्य,कस्य,शक्तिः स्तोतुं ॥१७॥

अर्थ---नदीश्वर द्वीप के चैत्यालयो की पूजा सौधर्म आदिक इन्द्र ही अपनी पूर्ण विभूति के साथ करत है। इसलिये उस पूजन का वर्णन करना बृहस्पति के वचनो की शक्ति के भी बाहर है। उस पूजन की शोभा और भक्ति का वर्णन बृहस्पति भी नही कर सकता फिर भला उन चैत्यालयों की स्तुति करने मे हम ऐसे मनुष्यो की शक्ति क्या काम दे सकती है? अर्थात् उनकी स्तुति करना मनुष्य मात्र की शक्ति के बाहर है। जब वहां पर होने वाली पूजा का वर्णन बृहस्पति नहीं कर सकता, फिर उनकी स्तुति करना तो बहुत बडी बात है वह स्तुति भला मनुष्य से कैसे हो सकती है ॥१७॥

निष्ठापितजिनपूजाश्,चूर्णस्नपनेन दृष्टि,विकृत,विशेषाः।
सुरपतयो नंदीश्वर, जिनभवनानि, प्रदक्षिणीकृत्य पुनः ॥१८॥
पंचसु मंदरगिरिषु, श्रीभद्रशाल,नंदन,सौमनस।
पांडुकवन,मिति तेषु, प्रत्येकं, जिनगृहाणि, चत्वार्येव ॥१९॥

तान्यथ परीत्य तानि च, नमसित्वा, कृतसुपूजनास्,तत्रापि ।
स्वास्पदमीयुः सर्वे, स्वास्पदमूल्यं स्वचेष्टया संगृह्य ॥२०॥

अर्थ—सुगंधित चूर्ण से अभिषेक कर जिन्होने महाभिषेक और जिनपूजा पूर्ण करली है और इसीलिये जिनको महा आनन्द आ रहा है उस आनन्द से जिनकी आकृति कुछ विकृत हो रही है, ऐसे इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप के उन चैत्यालयो की प्रदक्षिणा देते है; फिर वे सब इन्द्र अनुक्रम से पांचों मेरु पर्वतों पर आते है एक-एक मेरु पर्वत पर भद्रशालवन, नन्दनवन, सौमनसवन और पांडुकवन ये चार-चार वन है । मेरु पर्वतों के सब से नीचे चारो और भद्रशाल वन है उनके ऊपर मेरु पर्वत के चारों ओर नन्दवन है उसके ऊपर तीसरी कटनी पर चारो ओर सौमनस वन है, और उसके ऊपर चारो ओर पाडुकवन है । इस प्रकार पांचो मेरु सम्बन्धी बीस वन हैं । इन वनों की चारो दिशाओ में,एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार पाचों मेरु पर्वतो पर अस्सी चैत्यालय हैं । वे सब इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की प्रदक्षिणा करके इन अस्सी चैत्यालयों की प्रदक्षिणा देते हैं, फिर वहा पर भगवान् जिनेन्द्र देव की स्तुति करते हैं, बहुत उत्तम रीति से पूजा करते है और फिर उन्होने जो अपने शरीर से अभिषेक पूजन परिचर्या आदि व्यापार किया है उसके बदले महापुण्य रूपी भारी मूल्य वाले पदार्थ का लेकर अपने-अपने स्थान के लिये चले जाते है ॥१८से२०॥

आगे उन चैत्यालयो की विभूति को दिखलाते हैं:—

सहतोरणसद्वेदी.परीत,वनयाग,वृक्षमानस्तंभ ।
ध्वजपंक्तिदशकगोपुर,चतुष्टय,त्रितय,शाल,मंडप,वर्यैः ॥२१॥
अभिषेकप्रेक्षणिका, क्रीडनसंगीत,नाटका,लोकगृहैः ।
शिल्पिविकल्पितकल्पन,संकल्पा,तीत,कल्पनैः समुपेतैः ॥२२॥
वापीसत्पुष्करिणी,सुदीर्घिकाद्यंबुसंसृतैः समुपेतैः ।
विकसितजलरुहकुसुमै,र्नभस्यमानैः शशिग्रहर्क्षैः शरदि ॥२३॥
भृंगाराब्दककलशा,द्युपकरणैरष्टशतकपरिसंख्यानैः ।
प्रत्येकं चित्रगुणैः, कृतझण,झिनद,वितत,घंटा जालैः ॥२४॥

प्रभ्राजंते नित्यं हिरण्मयानीश्वरेशिनां भवनानि ।
गंधकुटीगतमृगपतिविष्टररुचिराणि विविधविभवयुतानि ॥२५॥

अर्थ—जिनका वर्णन ऊपर कह चुके है ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव के सब अकृत्रिम चैत्यालय, अकृत्रिम तोरणों से सुशोभित है; चारो ओर होने वाली वेदी से सुशोभित है; चारों ओर रहने वाले वनों से, यागवृक्षों से मान स्तम्भों से, दश-दश प्रकार की ध्वजाओं की पक्तियों से, चार-चार गोपुरों से, तीन-तीन कोटो से, तीन-तीन शालाओं से और उत्तम-उत्तम मडपो से सुशोभित है । जहां बैठकर भगवान् का अभिषेक अच्छी तरह देखा जा सकता है ऐसे स्थल क्रीड़ाभूमि, संगीतभूमि, और नाटक शालाओं से सुशोभित है । उन सब तोरण आदि की रचना उनको बनाने वाले कारीगरों के द्वारा कल्पना की हुई रचना के भेदों के विचार से सवथा रहित है अर्थात् किसी चतुर कारीगर ने भी उनके बनाने की कल्पना नही की है क्योकि सब तोरण आदि अकृत्रिम है; ऐसी अकृत्रिम शोभाओं से वे सब अकृत्रिम चैत्यालय शोभायमान है । वे सब अकृत्रिम चैत्यालय, गोल बावड़ियों से, चौकोर बावड़ियों से और बहुत गहरी बावड़ियों से सुशोभित है; उन सब बावडियो मे सुन्दर निर्मल जल भरा हुआ है, और खिले हुए कमलों के पुष्प सुशोभित हो रहे है । उन कमलो से बावड़ियाँ ऐसी सुशोभित हो रही है मानो शरद् ऋतु मे चन्द्रमा ग्रह और नक्षत्रों से निर्मल आकाश ही शोभायमान हो रहा हो, अथवा वे बावड़ियां निर्मल आकाश के समान है और उनमे उत्पन्न हुए कमल चन्द्रमा ग्रह नक्षत्रों के समान हैं ऐसी बावड़ियों से चैत्यालय सुशोभित हो रहे है । उन चैत्यालयों में प्रत्येक मे एक सौ आठ श्रृंगार, दर्पण, कलश आदि मंगल द्रव्य रक्खे हुए हैं । वे सब चैत्यालय अनेक प्रकार के गुणो से सुशोभित हैं; और झणझण शब्द करते हुए बहुत बड़े २ घंटाओं के समूह पक्तिबद्ध होकर, उन चैत्यालयों में लटक रहे है, उन चैत्यालयोमे बहुत मनोहर गधकुटी बनी हुई है उनमें सुन्दर सिंहासन है उनसे वे चैत्यालय बहुत ही शोभायमान हो रहे हैं वे भगवान् जिनेन्द्रदेव के चैत्यालय सुवर्ण के बने हुए है और अनेक प्रकार की विभूतियो से सुशोभित हैं । ऐसे वे अकृत्रिम चैत्यालय बहुत ही देदीप्यमान और शोभायमान हो रहे हैं ॥२१ से २५॥

येषु जिनानां प्रतिमाः पंचशतशरासनोच्छ्रिताः सत्प्रतिमाः ।
मणिकनकरजतविकृता दिनकरकोटिप्रभाधिकप्रभदेहाः ॥२६॥
तानि सदा वंदेऽहं भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि ।
यशसां महसां प्रतिदिशमतिशय शोभाविभांजि पापविभजि॥२७॥

अर्थ—वे सब अकृत्रिम चैत्यालय सूर्य के विमान के समान देदीप्यमान है, इनकी शोभा अद्वितीय है, यश और तेज के स्थान है, प्रत्येक दिशा में होने वाली अपूर्व शोभा से सुशोभित है, और समस्त पापो को नाश करने वाले हैं, ऐसे उन अकृत्रिम चैत्यालयो को, मै सदा नमस्कार करता हूं। उन चैत्यालयो मे जो भगवान् की प्रतिमाएं विराजमान है वे पाचसौ धनुष ऊची है, उनका आकार अत्यन्त मनोहर और सुन्दर है, सोना चादी और मणियो की बनी हुई है; और उनके शरीर की कांति करोड़ों सूर्यो की कांति से भी अधिक देदीप्यमान है। ऐसी जिनप्रतिमाओं से सुशोभित उन चैत्यालयों को मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥२६-२७॥

आगे तीर्थङ्करों की स्तुति करते हैः—

सप्तत्यधिकशतप्रिय धर्मक्षेत्र गत तीर्थंकरवरवृषभान् ।
भूतभविष्यत्संप्रति कालभवान्भव विहानये विनतोऽस्मि ॥२८॥

अर्थ—इस मध्य लोक मे एक सौ सत्तर धर्मक्षेत्र है; अथवा कर्मभूमियां है उनमें श्रेष्ठ से श्रेष्ठ जो तीर्थंकर होते है, अथवा जो तीर्थंकर इन कर्मभूमियों में अब तक हो चुके हैं; आगे होगे और वर्तमान काल मे हैं उन सब के लिये मैं अपना जन्म मरण रूप ससार नाश करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

श्री वृषभदेव का वर्णनः—

अस्यामवसर्पिण्यां, वृषभजिनः प्रथमतीर्थकर्ता भर्ता ।
अष्टापदगिरिमस्तक गतास्थितो मुक्तिमाप पापान्मुक्तः ॥२९॥

अर्थ—इस अवसर्पिणी काल मे चौबीस तीर्थंकर हुए उनमे से श्री वृषभदेव स्वामी प्रथम तीर्थंकर थे; तथा असि मसि आदि छहों कर्मो

कर्मो का उपदेश देकर सबके स्वामी थे। ये भगवान् समस्त पापों को नष्ट कर कैलाश पर्वत के शिखर पर से कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष पधारे है ॥२६॥

भगवान् वासुपूज्य की स्तुतिः—

श्रीवासुपूज्यभगवान्, शिवासु पूज्यासु पूजितस्त्रिदशानां ।
चंपायां दुरितहरः, परमपदं प्रापदापदामन्तगतः ॥३०॥

अर्थ—समस्त कर्मो को नाश करने वाले समस्त दुखों को दूर करने वाले और सर्वोत्तम पच कल्याणको मे इन्द्रादिक देवों के द्वारा पूज्य ऐसे भगवान् वासुपूज्य स्वामी चापापुर से मोक्ष पधारे है ॥३०॥

मुदितमतिवलयुरारि,प्रपूजितो जितकषायरिपुरथ जातः ।
बृहदूर्जयन्तशिखरे, शिखामणिस्त्रिभुवनस्य नेमिर्भगवान् ॥३१॥

अर्थ—कृष्ण और वलदेव दोनो भाइयो ने अत्यन्त प्रसन्न होकर जिनकी पूजा की है तथा जिन्होने समस्त कषायरूपी शत्रुओ को जीत लिया है और जो तीनों लोको के चूडामणि है; ऐसे भगवान् नेमीनाथ स्वामी गिरनार पर्वत पर से तीनो लोको के चूड़ामणि सिद्ध पद को प्राप्त हुए है ॥३१॥

पावापुरवरसरसां, मध्यगतः सिद्धिवृद्धितपसां महसां ।
वीरो नीरदनादो,भूरिगुणश्चारुशोभमास्पदमगमत् ॥३२॥

अर्थ—जो अपने इच्छित कार्यो को उत्पन्न करने में, उत्तम क्षमा आदि गुणो के उत्कर्ष करने में और अनशन आदि महातपश्चरण करने में सर्वोत्तम है जिनकी दिव्य ध्वनि का शब्द मेघ की गर्जना के समान है; जिनके गुण अनन्त है; और जो महातेजस्वी है ऐसे भगवान् महावीर स्वामी पावापुर नगर के समीपवर्ती उत्तम सरोवर के मध्य भाग से अनन्त सुख के स्थान ऐसे मोक्ष स्थान मे जा विराजमान हुए है ॥३२॥

सम्मदकरिवनपरिवृत, सम्मेदगिरीन्द्रमस्तकेविस्तीर्णे ।
शेषा ये तीर्थकराः, कीर्तिभृतः प्रार्थितार्थसिद्धिमवापन् ॥३३॥

अर्थ—जिसमे मदोन्मत्त हाथी चारो ओर फिर रहे हैं ऐसे वनों मे घिरे हुए सम्मेद शिखर पर्वत के विशाल मस्तक पर से अनन्त कीर्ति को धारण करने वाले बाकी के बीस तीर्थंकर सब के द्वारा प्रार्थनीय ऐसे मोक्ष को प्राप्त हुए है ॥३३॥

शेषाणां केवलिनां, अशेषमतवेदिगणभृतां साधूनां ।
गिरितलविवरदरीसरि,दुरुवनतरुविटपिजलधिदहनशिखासु ॥३४॥
मोक्षगतिहेतुभूत,स्थानानि सुरेन्द्ररुन्द्रभक्तिनुतानि ।
मंगलभूतान्येतान्,यंगीकृतधर्मकर्मणामस्माकम् ॥३५॥

अर्थ—इन तीर्थकरो के सिवाय अन्य सामान्य केवली जहा-जहा से मोक्ष पधारे है, समस्त मतो को जानने वाले गणधरदेव तथा सामान्य साधु जहा-जहा से मोक्ष पधारे है, ऐसे पर्वत, पर्वत के शिखर, पर्वतो के दर्रे, गुफाये, नदी, बडे २ वन, वृक्ष, वृक्षों के स्कंध, समुद्र और अग्नि की शिखाए आदि जितने स्थान है जिनको इन्द्रादिकदेव भी बडी भक्ति से नमस्कार करते है जो मोक्ष के कारण भूत है और सबका कल्याण करने वाले है ऐसे वे स्थान धार्मिक कार्यो को स्वीकार करने वाले हम लोगो के लिए भी मंगल करने वाले हो ॥३४-३५॥

जिनपतयस्तत्प्रतिमास्तदालयास्तन्निषद्यका स्थानानि ।
ते ताश्च ते च तानि च, भवन्तुभवघातहेतवो भव्यानाम् ॥३६॥

अर्थ—चौवीस तीर्थङ्कर, उनकी प्रतिमा, उनके भवन अर्थात् जिनालय और उनकी निर्वाणभूमि ये सब हम भव्य जीवो को जन्म मरण रूप संसार का नाश करने वाले हो ॥३६॥

आगे तीनों समय नन्दीश्वर भक्ति करने का फल कहते हैं: –

संध्यासु तिसृषु नित्यं, पठेद्यदि स्तोत्रमेतदुत्तमयशसाम् ।
सर्वज्ञानां सार्वं, लघुलभते श्रुतधरेडितं, पदममितम् ॥३७॥

अर्थ—जिनका यश ससार भर मे उत्तम है, ऐसे भगवान् सर्वज्ञ देव का यह स्तोत्र जो भव्य जीव प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सायकाल तीनों समय पढता है वह शीघ्र ही समस्त जीवों का कल्याण करने वाले

और गणधरदेवो के द्वारा पूज्य ऐसे अनन्त काल तक रहने वाले मोक्ष पद को प्राप्त होता है ॥३७॥

जन्म के दश अतिशय —

नित्यं निःस्वेदत्वं, निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्वं च ।
स्वाद्याकृतिसंहनने, सौरूप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥३८॥
अप्रमितवीर्यता च, प्रियहितवादित्वमन्यदमितगुणस्य ।
प्रथिता दशविख्याताः स्वतिशयधर्माः स्वयंभुवो देहस्य ॥३९॥

अर्थ—भगवान् तीथङ्कर देव के शरीर मे अन्य साधारण मनुष्य मे न होने वाले दस अलौकिक अतिशय होते है तथा—१ उनके शरीर मे पसीना कभी नही आता, २. मलमूत्र नही होता, ३ रुधिर दूध के समान सफेद होता है, ४ समचतुरस्र संस्थान होता है, ५ वज्रवृषभ नाराच सहनन होता है, ६. शरीर अत्यन्त सुन्दर होता हे, ७. शरीर से सदा सुगध आती रहती है, ८, शरीर पर उत्तम लक्षण रहते है, ९ अनत शक्ति होती है, १०. और उनके मुख से सबका हित करने वाले मधुर वचन निकलते है । अपरिमित गुणो को धारण करने वाले तीथङ्कर देव के ये दश स्वाभाविक गुण होते है ॥३९॥

केवल ज्ञान के दश अतिशयः—

गव्यूतिशतचतुष्टय,सुभिक्षता,गगन,गमन,मप्राणिवधः ।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतु,रास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥४०॥
अच्छायत्व,मपक्ष्मस्पन्दश्च, सम,प्रसिद्ध,नखकेशत्वं ।
स्वतिशयगुणा भगवतो, घातिक्षयजा, भवंति, तेपि दशैव॥४१॥

अर्थ—१ चार सौ कोस तक दुष्काल का न पडना, २ आकाश मे गमन करना, ३ किसी जीव को बाधा न पहुँचना, ४. कवलाहार ग्रहण न करना, ५ किसी प्रकार का उपसर्ग न होना, ६ चारो दिशाओ मे चार मुख का दिखाई देना, ७ समस्त विद्याओ का ईश्वरपना प्रगट होना, ८. शरीर की छाया का न पडना, ९ नेत्रो की टमकार न लगनी, और १०. नख केशो का न बढना ये दश अतिशय भगवान् तीर्थङ्कर परमदेव के

घातिया कर्मों के नाश होने पर होते हैं अर्थात् ये केवलज्ञान के दश अति-शय हैं ॥४०-४१॥

देवकृत चौदह अतिशयः—

सार्वार्धमागधीया, भाषा मैत्री च सर्व जनताविषया ।
सर्वर्तु फलस्तवक, प्रवाल, कुसुमोप, शोभित, तरु, परिणामा ॥४२॥
आदर्शतलप्रतिमा, रत्नमयी, जायते, मही, च मनोज्ञा ।
विहरणमन्वेत्यनिलः, परमानंदश्च, भवति, सर्वजनस्य ॥४३॥

अर्थ—१. समस्त जीवों का कल्याण करने वाली, भगवान् की दिव्य ध्वनि, अर्द्ध मागधी भाषा में होती है, भगवान् की दिव्य ध्वनि एक योजन तक सुनाई पडती है; परन्तु मागध जाति के देव उसे समवसरण के अंत तक पहुंचाते रहते हैं; तथा उस अनक्षरी भाषा को अर्द्धमागधी भाषा मे परिणत करते रहते हैं। जिसको समस्त प्राणी अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। यह केवल ज्ञान का पहला अतिशय है। २. समव सरण मे आने वाले समस्त प्राणी अपना जन्म से होने वाला वैर विरोध छोड कर, मैत्रीभाव से रहते हैं, यह दूसरा अतिशय है। ३ वहां की पृथ्वी के वृक्ष छहो ऋतुओ में होने वाले फल, गुच्छे, पत्ते और फूलों से सुशोभित रहते हैं; यह तीसरा अतिशय है। ४. वहा की पृथ्वी दर्पण के समान अत्यन्त निर्मल रहती है, अनेक प्रकार के रत्नो से बनी हुई होती है और बड़ी ही सुन्दर होती है यह चौथा अतिशय है। ५. भगवान् जिस दिशा की ओर विहार करते है वायु भी उसी दिशा की ओर बहती है। यह पांचवा अतिशय है। ६. वहा पर आने वाले समस्त जीवो को बडा ही आनन्द होता है। यह छठा अतिशय है ॥४२-४३॥

मरुतोऽपि सुरभिगंध, व्यामिश्रा, योजनांतर, भूभागं ।
व्युपशमित, धूलिकंटक, तृण, कीटक, शर्करो, पलं, प्रकुर्वन्ति ॥४४॥
तदनु स्तनित, कुमारा, विद्युन्, माला, विलास, हास, विभूषा ।
प्रकिरन्ति, सुरभिगंधिं: गंधोदक, वृष्टि, माज्ञया, त्रिदश, पतेः ॥४५॥

अर्थ—७. जहा भगवान् विहार करते है वहा पर सुगन्ध मिली

हुई वायु एक योजन तक की भूमि को धूलि, कांटे, तृण, कीड़े और बालू पत्थर आदि को हटा कर स्वच्छ कर देती है। यह सातवा अतिशय है। ८. उसके अनन्तर बिजली की चमचमाट और बादलों की गर्जना ही जिनके आभूषण है ऐसे स्तनितकुमार जाति के देव इन्द्र की आज्ञा से सुगन्धता से मिली हुई गंधोदक वृष्टि करते हैं। यह आठवां अतिशय है ॥४४-४५॥

वरपद्मरागकेसर,मतुलसुखस्पर्श,हेम,मय,दल,निचयम् ।
पादन्यासे पद्मं; सप्त, पुरः, पृष्ठतश्च, सप्त, भवंति ॥४६॥

अर्थ—९ भगवान् तीर्थङ्कर परमदेव जब विहार करते हैं तब देव उनके चरण कमल से नीचे कमलो की रचना करते हैं। उन कमलो में उत्तम पद्मराग मणियो की केसर होती है, स्पर्श करने मात्र से अतुल सुख देने वाले ऐसे सुवर्ण के बने हुए उसके पत्ते रहते हैं। एक कमल, चरण कमल के नीचे रहता है सात आगे होते है, और सात पीछे होते है। इस प्रकार सब पन्द्रह कमल होते है। अथवा च शब्दसे अन्य समस्त कमलो की सख्या ले लेनी चाहिये। सब कमल दो सौ पचीस होते है। एक कमल भगवान् के चरण कमल के नीचे रहता है। सात-सात कमल आठो दिशाओ मे तथा उन आठों दिशाओ के मध्य के आठो भागो में रहते है। इस प्रकार एक सौ तेरह कमल होते है तथा उन सोलह पक्तियो के मध्य भाग मे सात-सात कमलो की पक्ति और होती है। इस प्रकार एक सौ बारह कमल ये होते है। सब मिलाकर दो सौ पच्चीस कमल होते है। अथवा यो समझ लेना चाहिये कि एक कमल भगवान् के चरण कमल के नीचे रहता है। सात कमल आगे होते है और सात पीछे होते है। ये सब पन्द्रह कमल होते है। इनमे से एक एक कमल के दाईं ओर सात-सात कमल होते है। और बाईं ओर भी सात-सात कमल होते है। इस प्रकार पन्द्रह मध्य के कमल तथा एक सौ पाच दाई ओर के कमल और एक सौ पांच बाई ओर के कमल होते है। सब मिला कर दो सौ पचीस हो जाते है। यह नौवा अतिशय है ॥४६॥

फलभारनम्रशालि,व्रीह्यादि,समस्त,सस्य,धृत,रोमांचा ।
परिहृषितेव च भूमिस्त्रिभुवन,नाथ,स्य वैभवं, पश्यंती ॥४७॥

अर्थ—१०. भगवान् जहां पर विराजमान होते हैं, वहां पर की भूमि फल के बोझ से नम्र हुए, शाली, साठी, चावल आदि समस्त पके हुए धान्यों से सुशोभित रहती हैं, और इसीलिये ऐसी जान पड़ती है, मानो, तीनो लोकों के स्वामी भगवान् अरहंत देव की विभूति को देखने से, उसे बहुत आनन्द हुआ है और इसीलिये मानो, उसके रोमांच खड़े हो गये हैं। यह दशवा अतिशय है ।।४७।।

शरदुदयविमलसलिलं; सर, इव, गगनं, विराजते विगतमलं ।
जहतिचदिशस्तिमिरिकां:विगतरजःप्रभृति,जिह्मता,भावं,सद्यः।।४८॥

अर्थ—११. उस समय शरद ऋतु के आनेसे जिसका पानी अत्यन्त निर्मल हो गया है; ऐसे सरोवर के समान आकाश, बादल आदि सब दोषो से रहित अत्यन्त निर्मल हो जाता है और समस्त दिशाए धूम्र रहित तथा धूल रहित और भी सब तरह को मलिनता से रहित होकर शीघ्र ही अत्यन्त निर्मल हो जाती है। यह ग्यारहवा अतिशय है ।।४८।।

एतेतेति त्वरितं, ज्योति,र्व्यंतर,दिवौ,कसा,ममृतभुजः ।
कुलिश,भृदाज्ञा,नयाः; कुर्वन्त्यन्ये,समन्ततो,व्याह्वानम् ।।४९॥

अर्थ—१२. भगवान् अरहत देव की पूजा सेवा करने के लिये व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, भवनवासी देव और कल्पवासी देव इन्द्र की आज्ञा से चारो ओर परस्पर एक दूसरे को बुलाते है। पूजा करने के लिये तुम भी आओ ! तुम भी आओ ! इस प्रकार शब्द करते है। यह बारहवां अतिशय है ।।४९।।

स्फुर,दर,सहस्र,रुचिरं; विमल,महा,रत्न,किरण,निकर,परीतम् ।
प्रहसित,किरण,सहस्र,द्युति,मंडल,मग्र,गामि, धर्म,सुचक्रम् ।।५०।।

अर्थ—१३. जिसमे देदीप्यमान, एक हजार आरे है, और उन्ही से जो अत्यन्त सुन्दरता धारण करता है, जिसके चारों ओर अत्यन्त निर्मल ऐसे महारत्नो की किरणों के समूह शोभा दे रहे है, और जो अपनी कांति से सूर्य की कांति को भी तिरस्कार करता है, ऐसा धर्म-चक्र भगवान् के विहार करते समय सब से आगे-आगे चलता है। यह तेरहवा अतिशय है ।।५०।।

इत्यष्ट,मंगलं, च, स्वादर्श,प्रभृति, भक्ति,राग,परीतैः ।
उप,कल्,प्यन्ते त्रिदशै,रेतेऽपि निरुपमातिशेषाः ॥५१॥

अर्थ—१४. इसी प्रकार अर्थात् धर्मचक्र के समान दर्पण आदि आठ मगल द्रव्य भगवान् के सामने रक्खे रहते है । यह चौदहवां अतिशय है । भक्ति और राग से सुशोभित रहने वाले देव इन उपमा रहित चौदह अतिशयो को धारण करते है ।

भावार्थ—जन्म के दश अतिशय, केवल ज्ञान के दश अतिशय और देव कृत चौदह अतिशय इस प्रकार कुल चोंतीस अतिशयो का वर्णन किया ॥५१॥

अब आगे आठ प्रतिहार्यो का वर्णन करते है:—

वैडूर्य,रुचिर,विटप,प्रवाल,मृदु,पल्लवोप,शोभितशाखः ।
श्रीमा,नशोक,वृक्षो,वर,मरकत.पत्र,गहन,बहल,च्छायः ॥५२॥

अर्थ—१. जिसका विस्तार वैडूर्यमणि की काति के समान अत्यन्त सुन्दर है, जिसकी शाखाएं, नवीन अकुरो से और कोमल पत्तों से सुशोभित है, उत्तम मरकत मणि के समान जिनके हरे पत्ते है और पत्तों की बहुतायत होने से जिसकी छाया बहुत बडी और बहुत घनी है; ऐसा अनेक प्रकार की शोभा से सुशोभित होने वाला, अशोक वृक्ष भगवान् के समीप शोभायमान रहता है ॥५२॥

मंदारकुन्दकु,वलय,नीलोत्पल,कमल,मालतीवकुलाद्यैः ।
समद,भ्रमर,परीतै,र्व्यामिश्रा,पतति कुसुम,वृष्टि,र्नभसः ॥५३॥

अर्थ—२. जिनके चारों ओर मदोन्मत्त भ्रमर फिर रहे है ऐसे मंदार, कुंद, रात्रि विकासी कमल, नील कमल, श्वेत कमल, मालती वकुल आदि खिले हुए फूलों के द्वारा आकाश मे सदा पुष्पवृष्टि होती रहती है ॥५३॥

कट,कटि,सूत्र,कुन्डल, केयूर,प्रभृति,भूषितांगौ, स्वंगौ ।
यक्षौ,कमलदलाक्षौ, परिनिक्षिपत , सलील,चामरयुगलम् ॥५४॥

अर्थ—३ कड़े, करधनी, कुंडल, बाजूबंद, आदि आभूषणो से जिनके शरीर सुशोभित हो रहे है तथा स्वाभाविक रीति से जिनके शरीर सुन्दर है; और कमल के दल के समान जिनके सुन्दर नेत्र है; ऐसे दो यक्ष लीला पूर्वक डुलते हुए दो चमरों को ढोलते रहते है ॥५४॥

आकस्मिक मिव युगपद्दिवसकरसहस्रमप [illegible] [illegible] ।
भामंडलमवि [illegible] रात्रिंदिवभेदमतितरामाभाति ॥५५॥

अर्थ—४ भगवान् का प्रभामंडल, बहुत ही अच्छा सुशोभित होता है। वह भामंडल ऐसा जान पड़ता है, मानो,हजारों सूर्य एक साथ अकस्मात् उदय हो आये हो; तथा उन हजारो सूर्यो मे कोई अंतर न हो। उस प्रभामंडल से समवसरण मे रात्रि दिन का भेद नष्ट हो जाता है; ऐसा वह भामंडल अत्यन्त देदीप्यमान होता रहता है ॥५५॥

प्रबलपवनाभिघातप्रक्षुभितसमुद्रघोषमन्द्रध्वानम् ।
दंध्वन्यते [illegible] वीणावंश [illegible] वाद्यदुन्दुभिस्तालसमम् ॥५६॥

अर्थ—५. प्रबल वायु के घात से क्षोभित हुए समुद्र के गभीर शब्द के समान, जिनके मनोहर शब्द हो रहे है; ऐसे वीणा, वंशी आदि सुन्दर बाजों के साथ, दुंदुभि बाजे ताल के साथ-साथ, बडो मनोहर ध्वनि से बजते रहते हैं ॥५६॥

त्रिभुवनपतितालांछनमिंदुत्रय तुल्य मतुलमुक्ता जालम् ।
छत्रत्रयं च सूबृहद्वैडूर्य विक्लृप्त दंड मधिकमनोज्ञम् ॥५७॥

अर्थ—६. जो तीनो लोको के स्वामीपने के चिन्ह है, जो ऊपर नीचे रखे हुए, तीन चन्द्रमाओं के समान हैं, जिनमें उपमारहित अनेक मोतियों की झालरें लग रही है जो बहुत ही मनोहर है और जिनके दंड बड़ी-बड़ी वैडूर्य मणियों के बने हुए है, ऐसे तीन छत्र भगवान् के ऊपर सदा सुशोभित होते रहते है ॥५७॥

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्र हृदय हारि गंभीरः ।
ससलिलजलधरपटल ध्वनितमिव, प्रवितान्तराशावलयं ॥५८॥

अर्थ—७. जिसकी ध्वनि पानी से भरे हुए बादलों की गर्जना के समान है, जो समस्त दिशाओं के समूह मे व्याप्त हो रही है और जो कानों को तथा मन को अत्यन्त सुख देने वाली है ऐसी भगवान् की दिव्यध्वनि एक योजन तक पहुंचती है ।।५८।।

स्फुरि,तांशु,रत्न दीधिति परि विच्छुरिता मरेंद्र चापच्छायम् ।
ध्रियतेमृगेंद्र. वर्यैः, स्फटिक शिला घटित सिंह विष्टर,मतुलं।।५९।।

अर्थ—८ जिनकी किरणे चारों ओर फैल रही है, ऐसे रत्नों की किरणो मे, जिसने इन्द्र धनुष भी अनेक रंग का बना दिया है, ऐसी अपूर्व शोभा को धारण करने वाला, तथा स्फटिक पाषाण का बनाया हुआ ऐसा अत्यन्त उत्कृष्ट सिहासन, सिहो के द्वारा, धारण किया जाता है ।।५९।।

यस्येह चतुर्स्त्रिंशत प्रवर,गुणा प्रातिहार्य,लक्ष्य,श्चाष्टौ ।
तस्मै, नमो, भगवते,त्रिभुवन परमे,श्वरा,र्हते गुण,महते ॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार उत्तम गुणो को धारण करने वाले जिनके चौतीस अतिशय है, आठ प्रतिहार्य की विभूतिया हैं, जो तीनो लोको के परमेश्वर हैं। केवल ज्ञान से सुशोभित है और गुणो से पूज्य है ऐसे भगवान् अरहत देव के लिये, मै नमस्कार करता हूँ ।।६०।।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये ।   (आलोचना)

गद्य—इच्छामि भंते। णंदीसरभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सा लोचेउं। णंदीसरदीवम्मि, चउदिसविदिसासु अंजण, दधिमुह,रदिकर,पुरु,णगवरेसु जाणि जिणचेइयाणि, ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु, भवण,वासिय,वाण,विंतर,जोइसि,कप्पवासियत्ति, चउविहा देवा सपरिवारा, दिव्वेहिं गंधेहिं, दिव्वेहिं पुप्फेहिं, दिव्वेहिं धुव्वेहिं, दिव्वेहि चुण्णेहिं, दिव्वेहिं वासेहिं, दिव्वेहिं ण्हाणेहिं,आसाढकत्तियफागुणमासाणं अट्ठमिमाइं काऊण जाव पुण्णिमंति. णिच्चकालं अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमसंति, णंदीसरमहाकल्लाण करंति, अहमवि इह संतो, तत्थसंताइं, णिच्चकालं

अंचेमि, पूजेमि; वंदामि, णमंसामि; दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, वोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ—हे भगवन्, मैं नन्दीश्वर भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं। इसमें जो दोप हुए हों उनकी आलोचना करना चाहता हूं। नँदीश्वर द्वीप में चारो दिशाओं में तथा विदिशाओं में अंजनगिरि, दधिमुख और रतिकर पर्वत है। चारो दिशाओ में श्याम वर्ण के चार अंजनगिरि पर्वत हैं। एक-एक अंजनगिरि पर्वत के चारों ओर एक-एक विशाल वावड़ी है; उसके मध्य भाग में एक-एक दधिमुख पर्वत है, इस प्रकार एक अंजनगिरि सँवंधी चारों वावड़ियों में चार दधिमुख है। उन चारो वावड़ियों के चारों कोनो पर रतिकर हैं; परंतु अकृत्रिम चैत्यालय अंजनगिरि की ओर भीतरी कोनों पर है। इसलिए आठ रतिकरों पर ही चैत्यालय है तथा अंजनगिरि पर तथा चारो दधिमुखों पर चैत्यालय है। इस प्रकार एक दिशा में तेरह चैत्यालय है। चारो दिशाओं में वावन चैत्यालय है तीनो लोको मे रहने वाले भवनवासी, व्यंतर ज्योतिपी और कल्पवासी चारों प्रकार के देव, परिवार सहित आते है और आपाढ, कार्तिक, फाल्गुन महीने की शुक्ला अष्टमी से लेकर, पौर्णमासी पर्यंत, दिव्यगंध, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्य चूर्ण, दिव्यवस्त्र और दिव्य अभिपेक से सदा अर्चा करते है, पूजा करते है, वंदना करते हैं, और नमस्कार करते है। इस प्रकार नन्दीश्वर पर्व का महाउत्सव करते हैं। मैं यहां रहकर उसी रीति से सदा अर्चा करता हू, पूजा करता हूं, वंदना करता हू और नमस्कार करता हूं। मेरे दुःखो का नाश हो, और कर्मो का नाश हो,मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो, और भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों की प्राप्ति हो।

(इति नन्दीश्वर भक्तिः)

---

[१३] अथ चैत्य भक्तिः

श्री गौतमादिपदमद्भुतपुण्यवंध, मुद्योतिताखिलममोघमघप्रणाशम् ।
वक्ष्ये जिनेश्वरमहं प्रणिपत्यतथ्यं,निर्वाणकारणमशेष जगद्धितार्थम् ॥ १ ॥

अर्थ—आगे के श्लोक 'जयति' इत्यादि के द्वारा श्री गौतम स्वामी, वर्धमान स्वामी को नमस्कार जगत् के हित के लिये चैत्य भक्ति का प्रारभ करते है–वे वर्धमान स्वामी कैसे है उनके ये निम्न लिखित विशेषण है– अद्भुत पुण्यवंध के निमित्त है, संपूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करने वाले है। पापो का नाश करने वाले है । तथ्य रूप है । निर्वाण के कारण है ।।१।।

विशेष—यह हरिणी छंद है और इसमें छह चार तथा सात अक्षरों पर विराम करना चाहियेः—

जयति भगवान्, हेमाम्भोज,प्रचार, विजृम्भिता,
वमरमुकुट,छायोद्गीर्ण,प्रभापरिचुम्वितौ ।
कलुषहृदया, मानोद्भ्रान्ता ,परस्परवैरिणः,
विगतकलुषाः, पादौ यस्य, प्रपद्य विशश्वसुः ॥२॥

अर्थ—भगवान् अरहंत, देव जब विहार करते है तब आगे पीछे पैर रखते हुए नही चलते किन्तु दोनो चरण कमल समान रखते हुये विहार करते है । वे आकाश मे विहार करते है । चरण कमलो के नीचे देव लोग सुवर्णमय कमलो की रचना करते जाते है । उस समय भगवान् के चरण कमलो की शोभा वडी ही अच्छी जान पड़ती है । देवों के मुकुटों में लगे हुए मणियों से जो प्रभा निकलती है, उसके सयोग से उन चरण कमलो की शोभा और भी अधिक बढ जाती है । ऐसे भगवान् के उन चरण कमलो को पाकर जिनके हृदय अत्यन्त क्रूर है, और अभिमान के कारण जो अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप से च्युत हो रहे है; ऐसे परस्पर वैर विरोध रखने वाले, सर्प नौला आदि जीव भी अपने-अपने क्रूर स्वभाव

को छोड़ कर परस्पर एक दूसरे का विश्वास करने लग जाते है, अत्यन्त शांत हो जाते हैं। जिनके चरण कमलों की यह ऐसी महिमा है वे भगवान् इन्द्रादिक देवों के द्वारा पूज्य वा केवल ज्ञानी जिनेन्द्र देव सदा जयशील हों ॥२॥

तदनु जयति, श्रेयान्,धर्मः, प्रवृद्ध,महोदयः,
कुगतिविपथ,क्लेशाद्योसौ, विपाश,यति प्रजाः।
परिणतनय;स्यांगीभावाद्,विविक्तविल्पितम्,
भवतु भवतस्त्रातृत्रेधा, जिनेन्द्रवचोऽमृतम् ॥३॥

अर्थ—जो नरकादिक दुर्गतियो मे पड़ते हुए प्राणियों का उद्धार करदे, उनको मोक्ष स्थान मे पहुचा दे, उसको धर्म कहते है। यह धम उत्तम क्षमा, मार्दव, आदि भेद से दश प्रकार है अथवा चारित्र के भेद से अनेक प्रकार है। इसमे स्वर्ग, चक्रवर्ती, तीर्थकर आदि के पद प्राप्त होते है. इसलिये यह धर्म, अत्यत कल्याणकारी है। इस धर्म के प्रभाव से, जीवों के नरकादिक दुर्गतियों का नाश होता है। मिथ्यात्व, कषाय आदि कुमार्गों का नाश होता है और अनेक प्रकार के दु खो का नाश होता है। ऐसा यह उत्तम धर्म भी, इस ससार में जयशील हो। इसके अनन्तर, मै भगवान् जिनेन्द्रदेव की वाणी की जय बोलता हूं। ये भगवान् के वचन अमृत के समान है। जिस प्रकार अमृत से शारीरिक दु.ख नष्ट हो जाते है और शरीर की पुष्टि होती है उसी प्रकार भगवान् के वचनो के अनुसार चलने से, नरकादिक के घोर दु.ख भी दूर हो जाते हैं और अनुपम सुख की प्राप्ति होती है। इस जिनवाणी की रचना अग पूर्वरूप से गणधर देव ने की है, अथवा पूर्वा पर विरोध रहित इसकी रचना हुई है अथवा अग पूर्वरूप अनेक प्रकार से इसकी रचना हुई है। तथा द्रव्यार्थिक नय को गौण कर और पर्यायार्थिक नय को मुख्य वा स्वीकार कर इसकी रचना हुई है। यह जिनवाणी उत्पाद व्ययध्रौव्यरूप से तीन प्रकार है अर्थात् तीन प्रकार से पदार्थों का स्वरूप निरूपण करती है अथवा १. अङ्ग, २. पूर्व, और ३. अङ्ग बाह्य के भेद से तीन प्रकार है। और यह जिनवाणी ही इन जीवों को संसार के दुःखों से बचाती है। ऐसी यह जिनवाणी इस संसार में सदा जयशील हो ॥३॥

आगे ज्ञान की स्तुति करते हैं:—

तदनु जयताज्जैनी वित्तिः, प्रभंगतरंगिणी,
प्रभवविगमध्रौव्यद्रव्य, स्वभावविभाविनी ।
निरुपमसुखस्येदं द्वारं, विघट्य निरर्गलम्,
विगतरजसं, मोक्षं देयान्निरत्ययमव्ययम् ॥४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव का केवलज्ञान मतिज्ञानादिक से अत्यत श्रेष्ठ है, इसलिए यह केवल ज्ञान भी सदा जयशील हो। यह केवलज्ञान एक नदी के समान है। जिस प्रकार नदी लहरों से भरपूर रहती है उसी प्रकार यह केवल ज्ञानरूपी नदी सप्तभंगरूपी लहरों से सदा भरपूर रहती है। 'स्यात् अस्ति स्यान्नास्ति' इत्यादि सप्तभगनय प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है। उन सब को केवल ज्ञान जानता है। इसलिए केवलज्ञान भी सप्तभगमय है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव वा स्वरूप है उसको भी प्रकाशित करने वाला यह केवल ज्ञान ही है। ऐसा यह केवल ज्ञान सदा जयशील हो। इस प्रकार आचाय ने भगवान् जिनेन्द्रदेव की, उनके कहे हुए धर्म की, उनकी वाणी और उनके केवलज्ञान की स्तुति की। अब आगे आचार्य कहते है कि अनुपम अनंत सुख की प्राप्ति मोक्ष में होती है, उसका दरवाजा इस मोहनीय कर्म ने ढक रक्खा है। तथा उस पर अन्तराय कर्म का अर्गल वा वेंडा लगा रक्खा है। अतएव आचार्य भगवान् जिनेन्द्र देव से धर्म से जिनवाणी से और केवल ज्ञान से प्रार्थना करते है कि हे प्रभो ! आप इस मेरे मोहनीय कर्म को नाशकर अनंत सुख का दरवाजा खोल दीजिये और अन्तराय कर्म को नाश कर अर्गल व वेंडा भी हटा दीजिये क्योकि विना अर्गल हटाये मनुष्य दरवाजे के खुल जाने पर भी (संकल खोल देने पर भी) भीतर नही जा सकता। हे प्रभो ! इस प्रकार दरवाजे को खोलकर और वेंडा हटाकर अर्थात् मोहनीय और अन्तराय कर्म का नाशकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म से रहित अथवा समस्त कर्मो से रहित, सव तरह की व्याधियो से रहित वा जन्ममरण से रहित और अविनश्वर (कभी न नाश होने वाली) ऐसी अनत सुखमय मोक्ष, मुझे प्रदान कीजिये ।।४।।

आर्या छंद—अर्हत्सिद्धाचार्यो,पाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्यः ।
सर्वजगद्वंद्येभ्यो, नमोस्तु सर्वत्र सर्वेभ्यः ॥५॥

अर्थ—तीनों लोकों मे समस्त प्राणियो के द्वारा वंदनीय ऐसे समस्त अरहतों को, समस्त सिद्धों को, समस्त आचार्यो को, समस्त उपाध्यायो को और समस्त साधुओं को मेरा नमस्कार हो । भावार्थ- मै समस्त पांचों परमेष्ठियों के लिए नमस्कार करता हूँ ॥४॥

आगे आचार्य पांचों परमेष्ठियों को नमस्कार कर लेने पर भी अरहंतों को फिर नमस्कार करते है क्योंकि इस संसार में भव्य जीवों का उपकार अरहंतों से ही होता है । अरहंत ही धर्मोपदेश देकर भव्य जीवों का विशेष उपकार करते हैं:

मोहादिसर्वदोषा,रिघातकेभ्यः सदाहतरजोभ्यः ।
विरहितरहस्कृतेभ्यः, पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः ॥६॥

अर्थ—मोहनीय कर्म और क्षुधा तृषा आदि दोष इस जीव के शत्रु है; क्योकि जिस प्रकार शत्रु दु ख देता है उसी प्रकार ये सब, इस जीव को दु ख देने वाले है । ये समस्त शत्रु जिन्होने नाश कर दिये है तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनो कर्म रूपी रज को जिन्होने सदा के लिये नाश कर दिया है; जिन्होंने अन्तराय कर्म को सवथा नष्ट कर दिया है, और इस प्रकार घातिया कर्मो को सर्वथा नाश कर देने से इन्द्रादिक देवो के द्वारा भी सर्वोत्कृष्ट रीति से पूज्य हुए है, ऐसे भगवान् अरहंत देव को मै वार-वार नमस्कार करता हूँ ॥६॥

इस प्रकार अरहंत को नमस्कार कर आगे धर्म के लिए नमस्कार करते हैः—

क्षान्त्यार्जवादिगुणगण,सुसाधनं सकललोकहितहेतुं ।
शुभधामनि धातारं, वंदे धर्मं जिनेन्द्रोक्तम् ॥७॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशधर्म रूपी गुणों के समूह का जो साधन है; जो समस्त प्राणियों के हित का कारण है और मोक्षरूप शुभ स्थान को प्राप्त कराने वाला है ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव के

कहे हुए चरित्ररूप धर्म को मै वदना करता हूँ। अथवा इन ऊपर लिखें हुए गुणों से गुणोभित उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य इन दस प्रकार के धर्म की मै वदना करताहूँ।

यहां पर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि चारित्ररूप धर्म को वंदना करना तो ठीक है क्योंकि वह उत्तम क्षमा आदि गुणों का साधन है परन्तु यदि उत्तम क्षमादिक दश धर्मो को ही वंदना की जायगी तो फिर वे अपने ही कारण कैसे माने जायेगे क्योकि वह धर्म उत्तम क्षमादिक का कारण है ऐसा उस धर्म का विशेषण दिया जा चुका है। परंतु इसका उत्तर यह है कि उत्तम क्षमादिक दश प्रकार का धर्म दो प्रकार है। एक द्रव्यरूप और दूसरा भावरूप। द्रव्यरूप क्षमादिकके लिए भावरूप क्षमादिक कारण है और भावरूप क्षमादिक के लिए द्रव्यरूप क्षमादिक कारण है। क्योंकि विना द्रव्यरूप क्षमादिक के भावरूप क्षमादिक धर्म नही होते और बिना भावरूप क्षमादिक के द्रव्यरूप क्षमादिक नही होते। इस प्रकार कार्यकारण भाव होने से कोई किसी प्रकार का विरोध नही होता ॥७॥

जिनधर्म की स्तुति कर अब आगे जिनवाणी की स्तुति करते है —

मिथ्याज्ञानतमोवृत,लोकैकज्योतिरमितगमयोगि।
सांगोपांगमजेयं, जैनं वचनं सदा वंदे ॥८॥

अर्थ—विपरीत ज्ञान को 'मिथ्या ज्ञान' कहते है। वह एक प्रकार से अधकार के समान है। उससे यह समस्त लोक आच्छादित हो रहा है। उसको प्रकाशित करने के लिए भगवान् जिनेन्द्र देव के वचन एक अद्वितीय प्रकाश के समान है। क्योकि वे वचन समस्त जीवादिक पदार्थो को प्रकाशित करते हैं। उन भगवान् जिनेन्द्र देव के वचनो का सम्बन्ध केवल ज्ञान से है, क्योकि केवल ज्ञान के प्रगट होने से ही वे दिव्य ध्वनिरूप वचन निकलते है। अथवा अमितगम का अर्थ श्रुतज्ञान भी है। क्योंकि श्रुतज्ञान भी समस्त पदार्थो को जानता है। उसमे जिनेन्द्रदेव के वचनों का सम्बन्ध है; क्योकि वह श्रुतज्ञान की रचना जिनेन्द्र देव के वचनो के अनुसार ही तो होती है। इसके सिवाय वे भगवान् जिनेन्द्र देव के वचन; अङ्ग, उपाग सहित है। आचारांग आदि अङ्ग कहलाते है और पूर्व वस्तु उपाग कहलाते

हैं। इन दोनों से युक्त वे वचन है। तथा वे वचन अजेय है एकांत वादियों के द्वारा वे कभी जीते नही जा सकते। इसलिए वे अजेय कहे जाते है। ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए वचनो को मै सदा नमस्कार करता हूं। मैं किसी नियत समय पर ही वंदना नही करता किन्तु सदा करता हूं इसके लिए सदा शब्द दिया है। तथा जिनेन्द्र देव के कहे हुए वचनों को ही वंदना करता हूँ अन्य ईश्वर वा महादेव के कहे हुए वचनों को नही। इसलिए आचार्य ने जैन शब्द दिया है। मैं जिनेन्द्र देव के कहे हुए वचनों को ही वदना करता हूँ। अन्य को नहीं ॥८॥

आगे भगवान् की प्रतिमा को नमस्कार करते हैः—

भवनविमानज्योति,व्यंतर,नरलोक,विश्वचैत्यानि।
त्रिजगदभिवंदितानां, त्रेधा वंदे जिनेन्द्राणाम् ॥९॥

अर्थ—जिनको तीनो लोकों के समस्त प्राणी नमस्कार करते है ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रतिमाए, भवनवासो, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के समस्त निवास स्थानो में है तथा मनुष्य लोक में वा मध्यलोक में भी सब जगह विराजमान है। उन सबको मैं मन, वचन, काय से नमस्कार करता हूँ ॥९॥

आगे चैत्यालयों को स्तुति करते हैः—

भुवनत्रयेऽपि भुवन,त्रयाधिपाभ्यर्च्यतीर्थकर्तृणां।
वंदे भवाग्निशान्त्यै, विभवानामालयालीस्ताः ॥१०॥

अर्थ—जो जन्ममरणरूप संसार में सर्वथा रहित है और देवेन्द्र नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि तीनो लोकों के स्वामियों के द्वारा सदा पूज्य है ऐसे तीर्थकर परमदेव के भवन वा जिनालय इन तीनों लोकों मे जितने है, उन सबको मैं अनेक प्रकार के दुःखरूप संताप का कारण ऐसी संसाररूपी अग्नि को शांत करने के लिए नमस्कार करता हू ॥१०॥

आगे स्तुति करने वाला अपनी स्तुति का उपसंहार कर उस स्तुति के फल की याचना करता हैः—

इति पंचमहापुरुषाः, प्रणुता जिनधर्मवचन चैत्यानि।
चैत्यालयाश्च विमलां, दिशन्तु वोधिं वुधजनेष्टाम् ॥११॥

अर्थ—इस प्रकार मैने पच परमेष्ठियों की स्तुति की, जिनधर्म जिनवचन, जिनप्रतिमा और जिनालयों की स्तुति की। इसलिए ये सब मेरे लिए अत्यन्त निर्मल वा कर्मो के क्षय से उत्पन्न होने वाले और गरण-धरादिक विद्वानों को भी इष्ट ऐसे रत्नत्रय की प्राप्ति देवे ॥११॥

आगे आचार्य कृत्रिम और अकृत्रिम जिनप्रतिमाओंकी स्तुति करते हैः—

अकृतानि कृतानि चा,प्रमेयद्युतिमन्ति. द्युतिमत्सु मंदिरेषु।
मनुजामरपूजितानि वंदे; प्रतिबिंबानि जगत्त्रये जिनानाम् ॥१२॥

अर्थ—इन तीनो लोको मे अत्यन्त देदीप्यमान समस्त जिनालयों मे जो कृत्रिम और अकृत्रिम भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रतिमाएं जो मनुष्य और देवों के द्वारा पूज्य है उन समस्त प्रतिमाओं को मैं नमस्कार करताहूँ ॥१२॥

द्युतिमंडलभासुराङ्गयष्टीः, प्रतिमा अप्रतिमा जिनोत्तमानाम्।
भुवनेषु बिभूतये प्रवृत्ता वपुषा प्राञ्जलिरस्मि वंदमानः ॥१३॥

अर्थ—जिस प्रकार लकडी समुद्र से पार कर देती है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी ससारी प्राणियो को इस ससार समुद्र से पार कर देता है। इसलिए वह भगवान् का शरीर एक प्रकार से लकडी के समान है। जिनकी शरीर रूपी लकडी प्रभामडल से अत्यत देदीप्यमान हो रही हैं। अर्थात् जो प्रतिमाए प्रभामडल से अत्यत प्रभा युक्त हो रही है और ससार मे जिनकी कोई उपमा नही है, तेज वा स्वरूप से भी जिनकी कोई उपमा नही है, ऐसी तीनो लौको मे विराजमान जो भगवान् अरहत देवकी प्रतिमाए हैं उनको नमस्कार करता हुआ मैं, अरहत आदि परमेष्ठियो की विशेष विभूति प्राप्त करने के लिए, अथवा स्वर्ग मोक्ष देने वाले पुण्य की प्राप्ति करने के लिए, हाथ जोड़कर नम्रीभूत होता हूँ अर्थात् उन सब प्रतिमाओ को हाथ जोडकर नमस्कार करता हूँ ॥१३॥

विगतायुधविक्रियाविभूषाः, प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणां।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्या, प्रतिमाः कल्मषशान्तयेऽभिवंदे॥१४॥

अर्थ जो कृतकृत्य है अर्थात् जिन्होने घातिया कर्मो को सर्वथा नष्ट कर दिया है; केवल शुभ कर्म जिनके शेष है ऐसे भगवान् जिनेन्द्र

देव की प्रतिमाएं इस संसार में अनेक जिनालयों में विराजमान हैं, वे प्रतिमाएं सब प्रकार के आयुधो से रहित है, सब तरह के विकारों से रहित है और सब तरह के आभूषणो से रहित है; उनकी काति संसार भर में सबसे अधिक है और जैसा अरहंत देव का स्वरूप है वैसे ही स्वभाव वाली वे प्रतिमाएं है। ऐसी उन भगवान् जिनेन्द्र देव की समस्त प्रतिमाओं की, मैं अपने पापों को नाश करने के लिए सन्मुख होकर स्तुति करता हूं ॥१४॥

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं, परया शांततया भवान्तकानाम् ।
प्रणमाम्यभिरूपमूर्त्तिमंति, प्रतिरूपाणि विशुद्धये जिनानाम् ॥१५॥

अर्थ—जन्ममरण रूप ससार को नाश करने वाले भगवान् जिनेन्द्र देव की वे प्रतिमाएं चारो ओर से अत्यन्त सुन्दरता को धारण करती हैं तथा कषायो के अभाव होने से जो अंतरग और बहिरग लक्ष्मी प्राप्त होती है अनंत चतुष्टय और समवसरणादिक विभूति प्राप्त होती है उसको वे प्रतिमाएं अपनी अत्यंत शांतता के द्वारा सूचित करती है ऐसी उन जिनेन्द्र देव की समस्त प्रतिमाओ को, मैं अपने कर्मरूपी मल को दूर कर आत्मा को अत्यंत विशुद्ध बनाने के लिये नमस्कार करता हूं ॥१५॥

आगे आचार्य स्तुति के फल की प्रार्थना करते है:—

यदिदं मम सिद्धभक्तिनीतं, सुकृतं दुष्कृतवर्त्मरोधि तेन ।
पटुना जिनधर्म एव भक्ति,र्भवताज्जन्मनि जन्मनि स्थिरामे ॥१६॥

अर्थ—तीनों लोकों मे प्रसिद्ध ऐसी भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं की भक्ति करने से मुझे यह जो कुछ पुण्य की प्राप्ति हुई जिससे कि मन, वचन, काय के द्वारा होने वाला समस्त पाप रुक जाता है। ऐसे अत्यत सामर्थ्य को धारण करने वाले, उस पुण्य से मुझे जन्म-जन्म में सदा स्थिर रहने वाली जिनधर्म की भक्ति ही प्राप्त हो ॥१६॥

आगे चारों प्रकार के देवों के विमानों में और मनुष्य लोक में होने वाले चैत्यालयों की स्तुति करते हैं:—

अर्हतां सर्वभावानां, दर्शनज्ञानसंपदाम् ।
कीर्तयिष्यामि चैत्यानि, यथाबुद्धि विशुद्धये ॥१७॥

अर्थ—समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाले अथवा परम उदासीन रूप पूर्ण चारित्र को धारण करने वाले और क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञानरूपी सपत्ति को धारण करने वाले अथवा क्षायिक दर्शन, एव क्षायिक ज्ञान से प्रगट होने वाली समवसरणादिक विभूति को धारण करने वाले भगवान् जिनेन्द्र देव की जितनी प्रतिमाएं है उनको मै अपने कर्मोको नाश करने के लिए अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ ।।१७।।

श्रीमद्भवनवासस्था, स्वयंभासुरमूर्तय: ।
वंदिता नो विधेयासुः, प्रतिमाः परमां गतिम् ॥१८॥

अर्थ—जिनकी मूर्ति अपने आप देदीप्यमान हो रही है, ऐसी भगवान् जिनेन्द्र देव की जो प्रतिमाएं बड़ी विभूति को धारण करने वाले भवनवासियों के भवनो मे विराजमान है उनको मै नमस्कार करता हू । वे प्रतिमाए हमारे लिये मोक्षरूप परम गति को देवे ।।१८।।

यावंति संति लोकेऽस्मिन्,नकृतानि कृतानि च ।
तानि सर्वाणि चैत्यानि, वंदे भूयांसि भूतये ।।१६।।

अर्थ—इन मध्य लोक में जो बहुत सी अकृत्रिम प्रतिमाएं है और बहुत सी कृत्रिम प्रतिमाएं है उन सबको मै मोक्ष की परम विभूति प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हू ।।१६।।

ये व्यंतरविमानेषु, स्थेयांसः प्रतिमागृहा ।
ते च संख्यामतिक्रान्ताः, संतु नो दोषविच्छदे ।।२०।।

अर्थ—व्यतर देवों के विमानों मे जो सदा स्थिर रहने वाले प्रतिमाओं के स्थान है वा चैत्यालय है, जिनकी सख्या असख्यात है, वे सब असख्यात चैत्यालय मेरे राग द्वेष आदि दोषों को नाश करने वाले हों ।।२०।।

ज्योतिषामथ लोकस्य, भूतयेऽद्भुतसंपदः ।
गृहा स्वयंभुवः संति विमानेषु नमामि तान् ॥२१॥

अर्थ—ज्योतिषी देवो के विमानो मे, जो अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करने वाली संपत्ति को धारण करने वाले भगवान् जिनेन्द्र देव के चैत्यालय

हैं उन सबको मैं समवसरण की विभूति प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ॥२१॥

वंदे सुरतिरीटाग्र,मणिच्छायाभिषेचनम् ।
याः क्रमेणैव सेवन्ते, तदर्चाः सिद्धिलब्धये ॥२२॥

अर्थ—वैमानिक देवों के मुकुटों के अग्रभाग में लगे हुए मणियों की कांति से जिनके चरण कमलों का अभिषेक किया जाता है अर्थात् समस्त वैमानिक देवो के नमस्कार करने से उनके मुकुटों में लगे हुए बड़े-बड़े मणियों की कांति जिनके चरण कमलो पर पड़ती है, ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं को मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये, नमस्कार करता हूँ ॥२२॥

आगे इस स्तुति के फल की प्रार्थना करते हैं:—

इति स्तुतिपथातीत श्रीभृतामर्हतां मम ।
चैत्यानामस्तु संकीर्तिः, सर्वास्रवनिरोधिनी ॥२३॥

अर्थ—भगवान् अरहत देव जो अनत चतुष्टय आदि अतरंग विभूति धारण करते है और समवसरण आदि बहिरग विभूति धारण करते है, उसकी स्तुति वा वर्णन इन्द्रादिक देव भी नहीं कर सकते ऐसी अपूर्व विभूति को धारण करने वाले भगवान् अरहत देव की प्रतिमाओ की जो मैंने स्तुति की है वह मेरे समस्त कर्मो के आस्रव को रोकने वाली हो। भावार्थ—इस स्तुति के करने से मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो ॥२३॥

आगे आचार्य भगवान् अरहंत देव का स्वरूप वर्णन करते हैं तथा वह भी एक महानद की उपमा के साथ वर्णन करते हैं:—

अर्हन्,महानदस्त; त्रिभुवन,भव्य,जन,तीर्थ,यात्रिकदुरितं ।
प्रक्षालनेक,कारणं;मति,लौकिक,कुहक,तीर्थ,मुत्तम,तीर्थम् ॥२४॥

अर्थ—नदियो का प्रभाव पूर्व दिशा की ओर होता है परन्तु जिनका प्रवाह पश्चिम दिशा की ओर हो उनको नद कहते है। आचार्य ने भगवान् अरहतदेव को भी एक नद बनाया है। क्योंकि ससार रूपी नदी का प्रवाह अनादि काल से चल रहा है। भगवान् अरहंत देव का उससे सर्वथा विप-

रीत है जीवो का प्रवाह ससार की ओर जा रहा है और अरहंत भगवान् का प्रवाह मोक्ष की ओर जा रहा है। इसीलिए इनको आचार्य ने नद की उपमा दी हैं। यह अरहत रूपी नद बहुत विस्तृत है इसलिए इसको महानद कहते है। जिस प्रकार महानद मे तीर्थ होते है उसी प्रकार इसमें भी ग्यारह अङ्ग चौदह पूर्वरूपी उत्तम तीथ है जिनके द्वारा यह जीव संसार से पार हो जाय उनको तीर्थ कहते है। इन द्वादशांग से ससार के प्राणी तिर जाते है इसलिए इस द्वादशाग को निरूपण करने वाला भगवान् का मत सब से उत्तम तीर्थ है। नदों के तीर्थ से शरीर का मल दूर होता है परन्तु भगवान् अरहत देव रूपी महानद के कार्य में स्नान करने से पाप रूपी समस्त मल नष्ट हो जाते है और भव्य जीवों को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ससार मे अन्य जितने तीर्थ है सब दभ और ढोंग से भरे हुए है परन्तु भगवान् अरहत रूपी महानद का तीर्थ उन सब को नीचा दिखाता है और अपनी उत्तमता प्रगट करता है। यह तीर्थ असाधारण है, सर्व श्रेष्ठ है। तीनो लोको मे यात्रा करने वाले भव्य जीवों के पापो को नाश करने में यह अरहत भगवान् रूपी महानद का तीर्थ एक अद्वितीय कारण है इसीलिए यह एक अलौकिक और महाउत्तम तीर्थ है। ऐसा यह भगवान् अरहत देव रूपी महानद का तीर्थ मेरे समस्त पापों को नाश करो ।।२४।।

कदाचित् कोई यह कहे कि तीर्थ का प्रवाह बहता है इस अरहंत देव रूपी महानद का प्रवाह नहीं बहता होगा उसके लिए आचार्य कहते हैः—

लोकालोकसुतत्व,प्रत्यव,बोधन,समर्थ,दिव्यज्ञान ।
प्रत्यह,वहत,प्रवाहं, व्रत,शीला,मल,विशाल,कूल,द्वितयम्॥२५॥

अर्थ—लोक और अलोक का जो स्वरूप है जीवादिक पदार्थो का जो यथार्थ स्वरूप है उसको पूर्ण रूप से जानने की सामर्थ्य रखने वाला जो केवल ज्ञान रूप दिव्य ज्ञान है; अथवा मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय, केवल ज्ञान मय सम्यग्ज्ञान रूपी जो दिव्य ज्ञान है उसका प्रवाह इस भगवान् अरहत देव रूपी महानद से प्रति दिन बहता रहता है। भावार्थ जिस प्रकार तीर्थ से पानी का प्रवाह बहता है उसी प्रकार अरहत देव रूपी महानद से समस्त तत्वो को निरूपण करने वाले दिव्य ज्ञान का प्रवाह सदा बहता रहता है। कदाचित् कोई यह कहे कि इस महानद का कोई किनारा नही

है तो इसके लिए आचार्य कहते है कि पांच महाव्रत और अठारह हजार भेदो को लिए हुये शील में दोनो ही उस महानद के निर्मल और विस्तीर्ण किनारे है ।।२५।।

यहां पर कदाचित् कोई यह कहे कि महानद के किनारे राजहंस रहते है वह गंभीर शब्द से गर्जता रहता है और बालू से सुशोभित रहता है। ये सब शोभाएं इस अरहंत देव रूपी महानद में नहीं होंगी ! उसके लिए आचार्य कहते हैः—

शुक्ल,ध्यान,स्तिमित,स्थित,राजद्राजहंस,राजितमसकृत् ।
स्वाध्याय,मंद्रघोषं,नाना,गुण,समिति,गुप्ति,सिकता,सुभगम् ॥२३॥

अर्थ—इस अरहत देव रूपी महानद के किनारे, शुक्ल ध्यान रूपी राजहंस, अत्यन्त स्थिरता के साथ खड़े हुए बहुत ही अच्छे जान पड़ते है। उनसे यह महानद बहुत ही शोभायमान रहता है। लाभ, पूजा और कीर्ति की इच्छा के बिना जो सर्वदा स्वाध्याय होता रहता है उसकी गभीर ध्वनि उस महानद की मनोहर ध्वनि होती रहती है। अनेक प्रकार के अर्थात् चौरासी लाख सख्या को धारण करने वाले उत्तर गुण, पांच समिति, तीन गुप्ति, ये ही सब उस महानद मे सुन्दर बालू है उससे वह महानद अपूर्व ही शोभा को धारण करता है। ऐसा वह अरहत देव रूपी महानद मेरे समस्त पापो को दूर करो ।।२६।।

कदाचित् कोई यह कहे कि अन्य महानदों के तीर्थो में भ्रमर पड़ते हैं, चारों ओर पुष्पलतायें होती है और उसमें सदा लहरें उठती रहती हैं। यह सब शोभा इस अरहंत देव रूपी महानद में नहीं है। इसके लिए आचार्य कहते हैः—

क्षान्त्या,वर्त,सहस्रं, सर्वदया,विकच,कुसुम,विलसल,लतिकम् ।
दुःसह,परीषहा,ख्य,द्रु,त,तर,रंगत्तरंग,भंगुर,निकरम् ।।२७।।

अर्थ—भगवान् अरहंत देवरूपी महानद मे, उत्तम क्षमा के हजारों भ्रमर सदा पडते रहते है। समस्त प्राणियों की दया ही खिले हुए फूलों से सुशोभित रहने वाली लता, वहा पर सदा शोभा को बढाती रहती है तथा जो बड़ी कठिनता से सही जा सकें ऐसी क्षुधा पिपासा आदि बाईस

परीषह ही उसमें अति शीघ्रता के साथ चारो ओर फैलती हुई और क्षण-क्षण मे नाश होती हुई लहरे सदा उठती रहती है। ऐसा वह अरहत देव रूपी महानद मेरे समस्त पापो को दूर करे ॥२७॥

कदाचित् कोई यह कहे कि महानद में फेन वा झाग नहीं होते शैवाल वा काई नहीं होती, कीचड़ नहीं होती, और मगरमच्छ नहीं होते, तभी उस तीर्थ की सेवा की जाती है। परन्तु इस महानद रूपी तीर्थ में ये होंगे इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं.—

व्यपगतकषायफेनं, रागद्वेषादिदोषशैवलरहितं।
अत्यस्तमोहकर्दम,मतिदूरनिरस्तमरणमकरप्रकरम् ॥२८॥

अर्थ—फेन पानी को शुद्ध नही होने देता मलिन कर देता है। जिस प्रकार तीर्थ मे फेन नही होता उसी प्रकार अरहत देव रूपी महानद मे आत्मा को कलुषित करने वाला कषाय रूपी फेन सर्वथा नही होता, जिस प्रकार तीर्थ मे शैवाल वा काई नही होती क्योकि काई होने से मनुष्य, पैर फिसलने से गिर पडता है, उसी प्रकार अरहत देवरूपी महानद मे राग, द्वेष आदि दोष रूपी शैवाल नही होते। जिस प्रकार शैवाल गिरने का कारण है, उसी प्रकार राग द्वेष आदि दोष भी, व्रतियो को अपने व्रत से गिरा देते है। इसीलिए वे अरहत देवरूपी महानद मे कभी नही होते और इसीलिए उनकी आत्मारूपी जल, अत्यन्त निर्मल और शुद्ध रहता है। जिस प्रकार महानद मे कीचड नही होती। यदि कीचड हो तो पानी गदला हो जाता है। यदि कीचड न हो तो पानी स्वच्छ निर्मल रहता है और उसके भीतर के पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते है उसी प्रकार भगवान् अरहत देवरूपी नद मे मोहरूपी कीचड़ सर्वथा नही होती। यह मोह ही आत्मा को गँदला बना देता है। मोह न होने से, यह आत्मा अत्यन्त निर्मल और शुद्ध हो जाता है फिर उसमे समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई पडते है। जिस प्रकार तीर्थ मे मगरमच्छ नही होते, यदि मगरमच्छ हो तो स्नान करने वालो का शरीर नष्ट हो जाय उसी प्रकार भगवान् अरहत देव रूपी महानद मे मरण रूपी मगर मच्छो का समूह सर्वथा नही होता। यदि मरण हो तो शरीर भी नष्ट हो जाय परन्तु भगवान् अरहत देवरूपी महानद मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसीलिए उसमे मरण रूपी मगर मच्छो का

समूह बहुत दूर रहता है। इस प्रकार अत्यन्त निर्मल वह भगवान् अरहत देवरूपी महानद मेरे समस्त पापो को दूर करो ।।२८।।

कदाचित् कोई यह कहे कि तीर्थ के किनारे, अनेक प्रकार के पक्षी शब्द करते रहते हैं आते हुए पानी को बंद करने के लिए और भरे हुए पानी को निकालनेके लिए मार्ग होते है ये सब बातें इस नद में नहीं होंगी, इसके लिए आचार्य कहते हैं:—

ऋषि,वृषभ,स्तुति,मंद्रो,द्रे कित,निर्घोष,विविध,विहग,ध्वानम् ।
विविध,तपो,निधिं,पुलिनं,सास्रव,संवरण,निर्जरा,नि स्रवणम् ॥२६॥

अर्थ—ऋषियो में श्रेष्ठ ऐसे गणधरादिक देव जो भगवान् की स्तुति करते हैं उनके जो अत्यन्त गँभीर और मनोज्ञ शब्द होते हैं उन शब्दो के द्वारा होने वाला जो शास्त्रों का पाठ है वही पाठ उस अरहंत देव रूपी महानद मे अनेक प्रकार के पक्षियों के शब्द समझने चाहिये। जिस प्रकार तीर्थो में ऊंचे किनारे होते है जहा पर बहने वाले लोग तिर कर पहुंच जाते हैं उसी प्रकार उस अरहत देव रूपी महानद मे अनेक प्रकार के तपश्चरण को करने वाले महामुनिराज ही ऊचे किनारे है। जो प्राणी इस संसार रूपी महानदी में बहते जा रहे है उनको पकड कर पार लगाने वाले वे मुनिराज ही है इसलिये वे ही मुनिराज उस महानद के ऊंचे किनारे हैं। जिस प्रकार तीर्थ में पानी अधिक होने पर आता हुआ पानी रोक दिया जाता है और उसमे भरा हुआ पानी निकाल दिया जाता है, आते हुए पानी को रोकने और भरे हुए पानी को निकालने का सुभीता रहता है उसी प्रकार इस अरहंत देव रूपी महानद में कर्मो के आने के मार्ग सब बंद हो जाते है तथा जो पहले के कर्म होते है उनकी सदा निर्जरा होती रहती है। इस प्रकार महानद संवर और निर्जरा दोनों से सुशोभित रहता है; ऐसा वह अरहंत देव रूपी महानद मेरे समस्त पापों को दूर करो ।।२६।।

गणधर, चक्रधरेन्द्र,प्रभृति,महा,भव्य.पुंड,रीकैः, पुरुषैः ।
बहुभिः; स्नातं, भक्त्या, कलि,कलुष,मलाप,कर्पणार्थ,ममेयम्।।३०॥

अर्थ—यह श्री अरहंत देवरूपी महानद अत्यन्त विशाल है और

इस कलिकाल मे होने वाले पाप रूपी मलो को दूर करने के लिए अनेक गणधर, चक्रवर्ती और इन्द्र आदि प्रधान महाभव्य पुरुषों को, बड़ी भक्ति के साथ स्नान करने योग्य है, अर्थात् ये सब महाभव्यपुरुष इस महानद में सदा स्नान किया करते है और कर्मरूपी मलो को दूर कर अपने आत्मा को अत्यन्त निर्मल बनाया करते है ।।३०।।

अव,तीर्ण,वत· स्नातुं; ममा.पि दुस्तर,समस्त,दुरितं, दूरम् ।
व्यव,हरतु,परम,पावन,मनन्य,जय्य,स्वभाव,भाव,गंभीरम् ॥३१॥

अर्थ—श्री अरहत देव रूपी महानद तीर्थ सब से श्रेष्ठ है, समस्त दोषों को दूर करने वाला है और परवादी जिनका कभी खंडन नही कर सकते, ऐसे जीवादिक पदार्थो से अत्यन्त गभीर है । जीवादिक पदार्थो का यथार्थ स्वरूप और उनके अनंत गुणों का वर्णन, जैसा भगवान् अरहतदेव के शासन मे है वैसा और किसी भी मत मे नही है । ऐसे इस अरहंत देव रूपी महानद मे स्नान करने के लिए वा कर्मरूपी मल को धो डालने के लिए मै भी उतर पडा हूँ । इसलिए हे भगवन्, मेरे अनत समस्त पापों को समस्त कर्मो को बहुत शीघ्र दूर कर दीजिये । मेरे समस्त कर्मो का नाश कर दीजिये ।।३१।।

आगे आचार्य श्री जिनेन्द्रदेव के रूप का वर्णन करते है —

अताम्र,नयनोत,पलं; सकल,कोप,वन्हे.र्जयात्,
कटाक्ष,शर.मोक्ष.ही,न.मविकारतो.द्रेकतः ।
विषाद,मद,हानितः, प्रहसिताय,मानं सदा,
मुखं.कथयतीव, ते.हृदयशुद्धि.मात्यन्तिकीम् ॥३२॥

अर्थ—हे प्रभो ! कमल की कली के समान आपके सुन्दर नेत्र कुछ थोड़े से अरुण है । उनमे अधिक लाली नही है । कदाचित् कोई यह कहे कि यह थोडी सी लाली भी क्रोध से उत्पन्न हुई होगी ? उसके लिए आचार्य कहते है कि नही, आपने अनतानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी सब प्रकार का क्रोध नष्ट कर दिया है । क्रोध ससार मे सताप उत्पन्न करता है इसलिए उसको अग्नि की उपमादी है । आपने क्रोध रूपी अग्निको सर्वथा नष्ट करदी है तथापि आपके

नेत्र कुछ लाल है इससे सिद्ध होता है कि वह लाली स्वाभाविकहै वह केवल मुख की शोभा बढाने वाली है। हे नाथ! जिसके कामका उद्रेक होता है वह अपने दृष्ट प्राणी में तिरछी निगाहसे कटाक्ष बाण के समान मर्म स्थानोका भेदन करते है; परन्तु आपके वह काम के विकार का उद्रेक है नहीं, आप परम वीतराग हैं और अत्यन्त उत्तम पद में जा विराजमान हुए है। इस लिये आपके नेत्र कटाक्ष रूपी बाणों को कभी नही छोड़ते। हे देव! इस प्रकार के विकार रहित नेत्रों से आपके मुख की शोभा और भी अधिक बढ गई है। जिस मनुष्य के हृदय में, विषाद होता है या किसी प्रकार का मद होता है, वह कभी प्रसन्न नही हो सकता; परन्तु हे भगवन्! आपने विपाद और मद दोनों का सर्वथा नाश कर दिया है; इसलिए आपका मुख सदा प्रसन्न रहता है। हे स्वामिन्! इन सब कारणों से, अत्यन्त सुशोभित होने वाला आपका निर्मल और निर्विकार मुख आपके हृदय की अत्यन्त शुद्धि को सूचित करता है। यहां पर हृदय शुद्ध का अर्थ चित्त अथवा ज्ञान है। उसकी शुद्धि ज्ञानावरण कर्म के अत्यत क्षय से होती है तथा इन कर्मो के अत्यन्त क्षय से होने वाली ज्ञान की शुद्धि, केवल ज्ञान की निर्मलता अनन्तकाल तक एकसी बनी रहती है; ऐसी आपकी केवल ज्ञान की अत्यत निर्मलता आपके सौम्य मुख से ही सूचित हो जाती है। हे भगवन्, ऐसा आपका सुन्दररूप, मुझे पवित्र करो, मेरी रक्षा करो ॥३२॥

निरा,भरण,भासुरं; विगत,राग,वेगो,दयात्,
निरंबर,मनोहरं; प्रकृति,रूप,निर्दोपतः।
निरा,युध,सु,निर्भयं, विगत.हिंस्य,हिंस,क्रमात्,
निरा,मिप,सुतृप्तिमद्,विविध,वेद,नानां क्षयात् ॥३३॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! आपका रूप, बिना ही आभरणो के अत्यंत देदीप्यमान है, भगवन्, आभूपण क्यों नहीं पहनते है? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने राग भाव का, सर्वथा नाश कर दिया है। संसारी मनुष्यों के जब रागभाव उत्पन्न होता है तब वे अनेक प्रकार के आभूपण पहनते हैं; बिना राग के, आभूपणों की इच्छा कभी होती ही नहीं। आपने, उन रागभावों को सर्वथा नष्ट कर दिया है; इसलिए आपके हृदय

मे, उनकी कभी इच्छा नहीं होती; तथा बिना आभूषणों के भी आपका शरीर अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता है; इसी प्रकार हे प्रभो ! आपका रूप, बिना ही वस्त्रो के, अत्यन्त मनोहर दिखाई पड़ता है। ससार मे, जो मनुष्य स्वभाव से सुन्दर नही होता; तथा जिसके हृदय में राग द्वेष आदि दोष भरे रहते है; वह अपना शरीर, कपड़ों से ढक कर सुन्दर बना लेता है, परन्तु हे स्वामिन् ! आपका रूप स्वभाव से ही, अत्यन्त सुन्दर है, तथा आपके हृदय में, राग द्वेष आदि दोषों का लेश भी नही है। इसलिए आपको वस्त्रों की भी आवश्यकता नही है। विना वस्त्रों के ही, आपका शरीर स्वाभाविक सुन्दरता के कारण अत्यन्त मनोहर, दिखाई देता है। इस प्रकार वस्त्राभूषणों का अभाव दिखला कर आचार्य ने श्वेताम्बर मत का खडन किया है। श्वेताम्बर लोग भगवान् को दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित मानते हैं परन्तु उनका यह मानना अयुक्त है। यही आचार्य ने दिखलाया है। **शंका**—यहां पर कदाचित्, कोई यह कहे कि माना कि भगवान् निर्दोष है, तथापि उनको अपनी लज्जा ढकने के लिए वस्त्र पहन लेना चाहिये; **उत्तर**—यह कहना भी ठीक नही है; क्योंकि लज्जा भी तो एक प्रबल दोष हैं। लज्जा मोहनीय कर्म के उदय से होती है; परन्तु भगवान् ने मोहनीय कर्म को सर्वथा नप्ट कर दिया है। मोहनीय कर्म के नष्ट होने से काम का विकार अपने आप नष्ट हो जाता है; ऐसी अवस्था में लज्जा रूप दोप कभी रह ही नही सकता, उसका रहना असम्भव है। इसलिए भगवान् को वस्त्रो की कोई आवश्यकता नही है। **इसी प्रकार हे स्वामिन् आपके पास कोई शस्त्र नहीं है तथापि आप अत्यन्त निर्भय रहते** है। इसका कारण यही है कि आपने हिस्य (मारने योग्य) और हिसा (मारना) दोनो की परिपाटी को सर्वथा नष्ट कर दिया है। यदि आप किसी की हिसा करते तो वदले में वह भी आपकी हिंसा करता; परन्तु आप अत्यन्त दयालु है; इसलिये आप कभी किसी की हिसा नहीं करते। इस प्रकार आपने हिस्य और हिसा की समस्त परिपाटी को ही नष्ट कर दिया है, इसलिये आपको न तो शस्त्रों की आवश्यकता है और न भय की आवश्यकता है। **बिना ही शस्त्रों के आप सदा निर्भय रहते हैं।** इसके सिवाय आपने भूख प्यास आदि समस्त वेदनाओ का सर्वथा नाश कर दिया है, इसलिये आप किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण किये बिना ही अत्यंत

तृप्त रहते है। जिसको भूख सताती है वह भोजन करता है। आपने भूख आदि समस्त दोषों का नाश कर दिया है इसलिए आप कवलाहार आदि सब प्रकार के आहार से रहित हैं और फिर भी अन्य किसी प्राणी के न होने वाली ऐसी अनंत तृप्ति को धारण करते है। हे देव ! ऐसा आप का अद्भुत रूप मुझे पवित्र करो ॥३३॥

मित,स्थित,नखांगजं; गत,रजो,मल,स्प,र्शनम्,
नवांबु,रुह,चंदन;प्रतिम,दिव्य,गंधो,दयम् ।
रवीन्दु,कुलि,शादि;दिव्य,बहु,लक्षणा,लं,कृतम्,
दिवा,कर,सहस्रभा;सुर,मपि,क्षणानां प्रियम् ॥३४॥

अर्थ—हे भगवन् ! केवलज्ञान होने के अनन्तर फिर आपका शरीर धातु उपधातुओ से रहित, परमौदारिक हो जाता है इसलिए आपके नख और केश फिर नही बढते है; सदा उतने ही रहते है। आपका शरीर इतना निर्मल है कि उसे धूलीरूपी मल का स्पर्श कभी नही होता। आपके शरीर से खिले हुए नवीन कमलो के समान तथा चन्दन के समान मनोहर सुगधि सदा निकलती रहती है। ऐसी मनोहर सुगन्धि अन्य किसी के शरीर से कभी नही निकल सकती। आपका शरीर सूर्य, चन्द्रमा, वस्त्र आदि एक सौ आठ, शुभ लक्षणो से, सदा सुशोभित रहता है। आपके ये शुभ लक्षण, आपके अत्यन्त अतिशयशाली पुण्य को, प्रकाशित करते है। आपका शरीर, करोड़ो सूर्यो की प्रभा के समान देदीप्यमान रहता है; तथापि वह नेत्रों को प्रिय ही लगता है। नेत्र एक सूर्य की प्रभा को भी नही देख सकते, परन्तु शरीर की प्रभा करोडो सूर्यो के समान है; तथापि लोग उसे आनन्द के साथ देखते हैं और सदा देखते रहने की इच्छा रखते है। हे प्रभो ! आपका ऐसा अद्भुत रूप है, वह मुझे भी पवित्र करे ॥३४॥

हितार्थ,परि,पंथि,भिः, प्रबल,राग,मोहा,दिभिः,
कलंकित,मना, जनो, यदभि,वीक्ष्य, शो,शुध्यते ।
सदाभि मुख मेव य ज्जगति, पश्यतां, सर्वतः
शरदृ,विमल,चंद्र,मंडल,मिवोत्थि,तं दृश्यते ॥३५॥

अर्थ—हे नाथ ! प्राणियों का सर्वोत्कृष्ट हित, मोक्ष की प्राप्ति है। उसको रोकने वाला शत्रु रूप राग द्वेष मोह आदि हैं। ये राग, द्वेष, मोह, अत्यन्त प्रबल है। ऐसे इन राग द्वेष मोह से जिनका हृदय कलंकित हो रहा है, ऐसे मनुष्य भी आपके रूप को चाहे जिस ओर से देख कर वा चारो ओर से देखकर अत्यन्त शुद्ध हो जाते है। हे स्वामिन्, आपका वह रूप इतना निर्मल और शुद्ध है कि इस ससार में आपके रूप को देखने वाले जितने मनुष्य है, उन सबको अपने सामने ही दिखाई पडता है, अर्थात् वह रूप चारों दिशाओ की ओर, दिखाई पडता है, तथा इसीलिए वह शरद् ऋतु के मेघ पटल रहित निर्मल आकाश में उदय होते हुए, निर्मल चद्र-मडल के समान, अत्यन्त सुन्दर जान पडता है। हे विभो! ऐसा वह आपका रूप मुझे सदा पवित्र करो ॥३५॥

तदे,तद,मरेश,वर,प्रचल,मौलि,माला,मणि,
स्फुरत्,करण चुब ं,नीय;चरणार,विन्द,द्वयम् ।
पुनातु, भगवज्जि,जनेन्द्र, तव, रूप,मन्धी,कृतम्,
जगत,सकल,मन्य,तीर्थ,गुरु,रूप,दोषो,दयैः ॥३६॥

अर्थ—हे प्रभो ! ससार मे जितने देव है, इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि जितने ससार के स्वामी है, वे सब आपको नमस्कार करते है, उनके नमस्कार करते समय उनके मुकुटो की पंक्तियो में लगे हुए मणियों की, देदीप्यमान किरणे, आपके दोनो चरण कमलो को, स्पर्श करती है। हे भगवान् ! केवल ज्ञान के धारण करने वाले वा इन्द्रादिक देवों के द्वारा पूज्य हे जिनेन्द्र देव ! आपका रूप ऐसी अद्भुत शोभा को धारण करने वाला है; वह आपका मुन्दर रूप आपके मत से भिन्न, जो अन्य जो मिथ्या दृष्टियो के मत है, उनसे राग, द्वेष मोह रूप जो महा दोष प्रगट होते रहते है, उनसे यह समस्त संसार अन्धा हो रहा है, उसको पवित्र करे अर्थात् हे स्वामिन्! आपका वह अद्भुत रूप, इन मिथ्यादृष्टियों से उत्पन्न होने वाले रागद्वेष मोहरूप महादोषो से अन्धे हुए समस्त जगत् को पवित्र करे। अभिप्राय यह है कि इस ससार में मिथ्यात्व, के बढने के कारण, जो राग, द्वेष, मोह बढ रहा है उसका नाश हो, और मोक्ष मार्ग का प्रकाश सदा बढता रहे, जिससे जीवों का सदा कल्याण होता रहे ॥३६॥

क्षेपक श्लोक

मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमल,जलसत्,खातिका पुष्पवाटी,
प्राकारोनाट्यशाला,द्वितयमुपवनं वेदिकांतर्ध्वजाद्याः ।
शालः कल्पद्रुमाणां, सुपरिवृतवनं, स्तूपहर्म्यावली च,
प्राकारः स्फाटिकोन्तर्नृसुरमुनिसभा, पीठिकाग्रे स्वयंभू ॥१॥

अर्थ—समवसरण की शोभा का वर्णन इस श्लोक में किया गया है:-मानस्तंभ, सरोवर, निर्मल जल से भरी हुई श्रेष्ठखाई, पुष्पवाटी, कोट, नाट्यशाला, उपवन, वेदिका के मध्य ध्वजा एवं पताकाये, कल्प वृक्ष, स्तूप, प्रासादों की पंक्ति, मनुष्य, देवता तथा मुनियों की सभा के आगे भगवान् विराजमान हो रहे है ॥१॥

वर्षेषु वर्षान्तर पर्वतेषु, नन्दीश्वरे यानि च मन्दरेषु ।
यावंति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि वंदे जिनपुंगवानानां॥२॥

अर्थ—भरतादि क्षेत्रो मे, क्षेत्रो के मध्यभाग मे, पर्वतो में, नन्दीश्वर द्वीप में, सुमेरुपवतादि में जितने भी जिनेन्द्र भगवान् के चैत्यालय है उन सबको मैं नमस्कार करता हू ॥२॥

अवनितलगतानां, कृत्रिमाऽकृत्रिमाणां,
वनभवनगतानां, दिव्यवैमानिकानाम् ।
इह मनुज कृतानां, देवराजार्चितानां,
जिनवरनिलयानां भावतोऽहंस्मरामि ॥३॥

अर्थ—पृथ्वीतल के नीचे, वन, तथा भवनों में, दिव्य वैमानिक देवों के विमानों में तथा इस मध्यलोक मे मनुष्यो के द्वारा बनाये हुये तथा इन्द्रो के द्वारा पूजित ऐसे जितने भी कृत्रिम एवं अकृत्रिम जिन चैत्यालय है मैं उन सबको भाव पूर्वक वंदना करता हू ॥३॥

जंबूधातकिपुष्करार्द्ध वसुधा, क्षेत्रत्रये ये भवाश्,
चंद्राम्भोजशिखंडिकंठकनक, प्रावृड्घनाभाजिनः ।

सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा, दग्धाष्टकर्मेन्धनाः,
भूतानागतवर्तमान समये, तेभ्यो जिनेभ्योनमः ॥४॥

अर्थ—इस श्लोक मे ढाई द्वीप में होने वाले जितने भी भूतकाल, वर्त्तमान काल और भविष्यत् काल में होने वाले तीर्थंकर है उन सबको नमस्कार किया गया है । १. जंबूद्वीप, २. धातकी खंड द्वीप तथा पुष्करार्द्ध द्वीप इन ढाई द्वीपो में, चद्रमा, कमल, मोर के कठ स्वर्ण, तथा वर्षाकाल के बादल के समान रग वाले जिनेन्द्र देव, जो, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के उत्तम २ लक्षणों को धारण करने वाले है और जिन्होंने आठों ही कर्मरूप इन्धन को जला दिया है उन सभी तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार हो ॥४॥

श्रीमन् मेरौ कुलाद्रौ, रजतगिरिवरे; शाल्मलौ जम्बुवृक्षे,
वक्षारे चैत्यवृक्षे, रतिकररुचके, कुंडले, मानुषांके ।
इक्ष्वाकारेऽजनाद्रौ दधिमुखशिखरे, व्यंतरे स्वर्गलोके,
ज्योतिर्लोकेऽभिवंदे भवनमहितते यानि चैत्यालयानि ॥५॥

विशेष —इस श्लोक का पूरा विवरण नदीश्वर भक्ति पृष्ठ १०३ मे प्रकाशित है अत वहा से देख लेना चाहिये ।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये । (आलोचना)

गद्य—इच्छामि भंते, चेइयभत्तिकाउस्सगो, कओ, तस्सालोचेउं । अहलोय,तिरिय,लोय,उड्ढलोयम्मि, किट्टिमाकिट्टिमाणि, जाणि जिणचेइयाणि, ताणि सव्वाणि, तिसुवि लोएसु, भवणवासिय,वाण,विंतर,जोइसिय,कप्पवासियत्ति चउविहादेवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अंचंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति । अहमवि इह संतो तत्थ संताई, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ,

कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुण-संपत्ति होउ मज्झं।

अर्थः—हे भगवन् ! मै चैत्य भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं। इसमें जो दोष हुए हों उनकी आलोचना करना चाहता हूँ। अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक में जो कृत्रिम वा अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन सब की तीनो लोकों में रहने वाले भवनवासी, व्यंतर ज्योतिष्क और कल्पवासी चारों प्रकार के देव परिवार को साथ लेकर दिव्य गंध से, दिव्य पुष्प से, दिव्य धूप से, दिव्य चूर्ण से, दिव्य वस्त्र से और दिव्य अभिषक से सदा अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं और नमस्कार करते है। मैं भी यहां ही रहकर उसी प्रकार से सदा समस्त चैत्यालयों की अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूं और नमस्कार करता हूँ। मेरे दुःखो का नाश हो और कर्मो का नाश हो। मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्र देव के समस्त गुणों की तथा विभूतियों की प्राप्ति हो।

(इति चैत्य भक्तिः)

कौन कौन सी भक्ति कहां कहां करनी चाहिये ?

देव वंदना, गुरुवंदना स्वाध्याय आदि कार्यों के करने में कौन-कौन सी भक्ति करनी चाहिये इसका वर्णन इस प्रकार हैः—

जिनेन्द्र वंदन

सर्वाव्यासंगनिर्मुक्तः संशुद्धकरणत्रयः।
धौतहस्तपदद्वन्द्वः परमानन्दमन्दिरम् ॥१॥

चैत्यचैत्यालयादीनां स्तवनादौ कृतोद्यमः ।
भवेदनन्तसंसार,सन्तानोच्छित्तये मतिः ॥२॥

अर्थ—जिन्होने अन्य समस्त कार्य और चिन्ताओ का त्याग कर दिया है, जिनके मन, वचन, काय तीनो शुद्ध है; और जिन्होने दोनो हाथ तथा दोनों पैर धोकर, शुद्ध कर लिये है ऐसे मुनियो को बडे आनन्द के साथ, चौत्य अथवा चैत्यालय आदि की स्तुति वदना आदि करने के लिये, प्रयत्न करना चाहिये । जो मुनिराज इस प्रकार स्तुति वदना करते है, उनकी अनत ससार की परम्परा अथवा जन्ममरण रूप सतति बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥१-२॥

विशेषः—यद्यपि निश्चयनयानुसार भगवान् किसी के भी कर्त्ता हर्त्ता नहीं है फिर भी भगवान् की सेवा करने से स्वयमेव फल की प्राप्ति होती ही है इसी बात को निम्न श्लोकों के द्वारा प्रकट किया गया हैः—

यथा निश्चेतनाश्चिन्ता,मणिकल्पमहीरुहाः ।
कृत पुण्यानुसारेण, तदभीष्टफलप्रदा ॥३॥
तथार्हदादयश्चास्त,रागद्वेषप्रवृत्तयः ।
भक्तभक्त्यनुसारेण, स्वर्गमोक्षफलप्रदाः॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न तथा कल्पवृक्ष आदि अचेतन है तो भी पुण्यवान् पुरुषो को उनके पुण्योदय के अनुसार, अनेक प्रकार के इच्छानुसार फल देते है । उसी प्रकार भगवान् अरहतदेव व सिद्ध भगवान् यद्यपि राग द्वेष रहित है, तथापि वे भक्त पुरुषो को उनकी भक्ति के अनुसार स्वर्ग और मोक्ष के अनुपम फल देते है ॥३-४॥

गराय हारिणी मुद्रा गरुडस्य यथा तथा ।
जिनस्याप्येनसो हंत्री, दुरितारातिपातिनः ॥५॥
सुमनः संगमादंग तीहसूत्रं पवित्रताम् ।
पिष्टः प्रकृष्टमाधुर्यं, प्रकृष्टे क्षुरसाद्यथा ॥६॥

चंपापावादिनिर्वाण, क्षेत्रादीनि पवित्रताम् ।
वंद्यतां चव्रजन्त्येव,वन्द्यसंगमतस्तथा ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार गारुड़ी मुद्रा (गरुड़ की मुद्रा) विष को दूर कर देती है उसी प्रकार पाप रूपी शत्रुओं को नाश करने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव की मुद्रा व मूर्ति भी भव्य जीवों के समस्त पापों को दूर कर देती है । जिस प्रकार इस संसार में पुष्पों के सम्बन्ध से सूत भी (माला में लगा हुआ सूत वा डोरी) पवित्र हो जाता है, अथवा जिस प्रकार उत्तम इक्षुरस के संबंध से आटा भी अत्यन्त मीठा हो जाता है उसी प्रकार अत्यन्त वंदनीय ऐसे तीर्थंकर अथवा अन्य मोक्षगामी पुरुषों के सम्बन्ध से चंपापुर पावापुर आदि निर्वाण भूमियां भी अत्यन्त पवित्र और वंदनीय हो जाती है ॥५ से ७॥

मत्वेति जिनगेहादिं, त्रिःपरीत्य कृतांजलिः ।
प्रकुर्वंस्तच्चतुर्दिक्षु, सत्र्यावर्तां शिरोनतिम् ॥८॥
घोरसंसारगंभीर, वारिराशौ निमज्जताम् ।
दत्तहस्तावलम्बस्य, जिनस्यार्चार्थमाविशेत् ॥६॥

अर्थ—यही समझकर जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा व निर्वाण क्षेत्र आदि की तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये, हाथ जोड़ना चाहिये, उन जिन मन्दिर वा जिनप्रतिमा के चारो ओर तीन आवर्त करने चाहियें, प्रत्येक दिशा की ओर उनके लिए शिरोनति करना चाहिए ।

इस प्रकार उनके लिए चारों ओर से बारह आवर्त और चार नमस्कार करने चाहिये । तदनन्तर भयंकर व गंभीर ऐसे संसार रूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को बचाने के लिए हस्तावलंबन (हाथ का सहारा) देने वाले ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करने के लिए मंदिर प्रवेश करना चाहिये ।

मंदिर में प्रवेश करते समय "णिसही णिसही" कहना चाहिये । भगवान् के समीप पहुच कर "पाडिकम्मामि भन्ते इरियावहियस्स" इत्यादि ईर्यापथ प्रतिक्रमण की विधि करना चाहिए । तदनन्तर "इच्छामि भन्ते

आलोचेऊँ, ईरियावहियस्य" ईर्यापथ आलोचना पाठ बोलना चाहिए। फिर चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति बोलनी चाहिये। इस प्रकार जिन प्रतिमा वदन विधि करनी चाहिए ।।८-९।।सो ही लिखा है:—

देवतास्तवने भक्ति चैत्यपंचगुरूभयोः ।।

अर्थात्—जिन प्रतिमा वंदन के समय चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये। **आचार्य वंदन विधिः—**

लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या, गणी वंद्यो गवासनात् ।
सैद्धान्तोऽन्तः श्रुतस्तुत्या, तथान्यस्तन्नुतिं विना ।।१०।।

अर्थ—आचार्य की वदना करते समय मुनियों को गवासन से बैठ कर लघु सिद्ध भक्ति और लघु आचार्य भक्ति पढकर वदना करनी चाहिये। यदि आचार्य सिद्धात शास्त्र के जानकार हो तो उनकी वंदना करने के पहले लघुसिद्धभक्ति, लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्य भक्ति पढनी चाहिये। आचार्य को छोडकर अन्य मुनियों की वदना करते समय मुनियो को लघु सिद्ध भक्ति पढकर वदना करनी चाहिये। यदि वे मुनि सिद्धात के जानकार हो तो सिद्ध भक्ति और लघु श्रुतभक्ति दोनों पढकर वदना करनी चाहिये ।।१०।।**स्वाध्याय करते समय कौनसी भक्ति करनी चाहिए:—**

स्वाध्यायं लघुभक्त्या तं, श्रुतसूर्योरहर्निशे ।
पूर्वेऽपरेऽपि चाराध्य, श्रुतस्यैव क्षमापयेत् ।।११।।

अर्थ—लघु श्रुत भक्ति और लघु आचार्य भक्ति पढ कर स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिये और लघु श्रुत भक्ति पढकर स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिये। आगे—**प्रत्याख्यान व उपवास ग्रहण करते समय अथवा छोड़ते समय कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये इसी बात को ग्रन्थकार कहते है:—**

हेय लघ्व्या सिद्धभक्त्याशनादौ, प्रत्याख्यानाद्याशु चादेयमन्ते ।
सूरौ तादृग्योगिभक्त्याग्रयातद्,ग्राह्य वंद्यःसूरिभक्त्या स लघ्व्या।।१२।।

अर्थ— यदि पहले दिन उपवास अथवा प्रत्याख्यान ग्रहण किया

हो जो दूसरे दिन आहार के समय लघु सिद्ध भक्ति पढकर उसका त्याग करना चाहिये। आहार समाप्त होने पर लघु सिद्ध भक्ति पढकर दूसरे अगले दिन के लिए प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण करना चाहिये। यह विधि आचार्य के समीप न रहने पर आहार के आदि व अन्त में करनी चाहिये। यदि आचार्य समीप ही हो तो आहार के लिए जाने के पहले, आचार्य के समीप लघु योगि भक्ति और लघु सिद्ध भक्ति पढ कर प्रत्याख्यान व उपवास का त्याग करना चाहिये। तथा आहारग्रहण कर आने के बाद आचार्य के समीप लघु योगि भक्ति और लघु सिद्ध भक्ति पढ कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। तथा लघु आचार्यभक्ति पढ कर उसी समय आचार्यकी वंदना करनी चाहिये ॥१२॥

चतुर्दशी के दिन कौनसी भक्ति करनी चाहियेः—

त्रिसमयवन्दने भक्ति,द्वयमध्ये श्रुतनुतिं चतुर्दश्याम्।
प्राहुस्तद्भक्तित्रय, मुखान्तयो केऽपि सिद्धशांतिनुतो ॥१३॥

अर्थ—चतुर्दशी के दिन त्रिकाल देव वन्दना करते समय चैत्य भक्ति श्रुत भक्ति और पच गुरु भक्ति ये तीन भक्तिया पढनी चाहिए तथा किन्ही आचार्य का यह मत है कि त्रिकाल वदना करते समय चतुर्दशी के दिन सिद्ध भक्ति, चैत्य भक्ति, श्रुत भक्ति, पचगुरु भक्ति और शाति भक्ति पढनी चाहिये। यो ही लिखा है—

सिद्धे चैत्ये श्रुते भक्तिस्,तथा पंचगुरुस्तुतिः।
शांतिभक्तिस्तथा कार्या, चतुर्दश्यामिति क्रिया ॥१४॥

अर्थ—चतुर्दशी के दिन, देव वदना के तीनों समय, सिद्ध भक्ति, चैत्य भक्ति, श्रुत भक्ति, पचगुरु भक्ति और शांति भक्ति पढनी चाहिये।

यदि किसी कार्य विशेष से चतुर्दशी के दिन यह क्रिया न हो सके तो पौर्णमासीके दिन अथवा अमावस्याके दिन यह क्रिया कर लेनीचाहिये। उसके लिये नीचे लिखे वचन हैं—

चतुर्दशीदिनेधर्म,व्यासंगादिना क्रियां कर्तुं।
न लभ्येत चेत, पाक्षिकेऽष्टम्यां क्रिया ॥१५॥

अर्थ—धर्म कार्य की अधिकता होने से यदि चतुर्दशी के दिन, चतुर्दशी की क्रिया न हो सके तो फिर, पौर्णमासी व अमावस्या के दिन यह क्रिया कर लेनी चाहिये। सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र भक्ति और शांतिभक्ति पढकर अष्टमी की क्रिया की जाती है। इसमें पाक्षिकी क्रिया से श्रुतभक्ति अधिक है ॥१५॥

अष्टान्हिक पर्व के समय कौनसी भक्ति करनी चाहिये:—

कुर्वंतु सिद्ध नंदी,श्वरगुरुशांतिस्तवैः क्रियामष्टौ ।
शुच्यूर्जतपस्यसिता,ष्टम्यादिदिनानि मध्यान्हे ॥१६॥

अर्थ—आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन महीने की शुक्लपक्ष की अष्टमी से लेकर पौर्णमासी पर्यंत आठ दिन तक नन्दीश्वर पर्व कहलाता है। उस समय सिद्धभक्ति, नदीश्वरभक्ति, पचगुरुभक्ति, शाँतिभक्ति करनी चाहिये; और सब सघ को मिलकर करनी चाहिये ॥१६॥

सिद्ध प्रतिमा तीर्थङ्कर जन्म व अपूर्व जिन प्रतिमा दर्शन के समय कौनसी भक्ति करनी चाहियेः—

सिद्धभक्त्यैकया सिद्ध,प्रतिमायां क्रिया मता ।
तीर्थकृज्जन्मनि जिन,प्रतिमायां च पाक्षिकी ॥१७॥

अर्थ—सिद्ध प्रतिमा के सामने एक सिद्ध भक्ति ही पढनी चाहिये। तीर्थङ्कर के जन्म के दिन तथा जिनप्रतिमा के सामने चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति और पचगुरु भक्ति पढनी चाहिये, अर्थात् चतुर्दशी के दिन जो भक्तियां पढी जाती है वे ही भक्तियां तीर्थंकर जन्म दिन और जिन प्रतिमा के सामने पढनी चाहिये ॥१७॥

वर्तमान कालके चौवीस तीर्थङ्करों का जन्म दिवसः—

१	श्री वृषभनाथजी	चैत वदी नवमी
२	श्री अजितनथजी	माघ वदी दशमी
३	श्री सभवनाथजी	काती वदी अमावस
४.	श्री अभिनदनजी	माघ सुदी बारस
५	श्री सुमतिनाथजी	चैत सुदी ग्यारस

६. श्री पद्मप्रभुजी	काती वदी तेरस
७ श्री सुपार्श्वनाथजी	चैत सुदी वारस
८. श्री चंद्रप्रभजी	पोष वदी ग्यारस
९. श्री पुष्पदंतजी	मगसर सुदी एकम
१०. श्री शीतलनाथजी	माघ वदी वारस
११. श्री श्रेयांसनाथजी	फागण वदी ग्यारस
१२. श्री वासुपूज्यजी	फागण वदी चौदस
१३ श्री विमलनाजी	माघ सुदी चौथ
१४. श्री अनन्तनाथजी	जेठ वदी वारस
१५. श्री धर्मनाथजी	माघ सुदी तेरस
१६. श्री शांतिनाथजी	जेठ वदी चौदस
१७ श्री कुंथुनाथजी	वैशाख सुदी एकम
१८. श्री अरहनाथजी	मगसर सुदी चौदस
१९. श्री मल्लिनाथजी	मगसर सुदी ग्यारस
२०. श्री मुनिसुव्रनाथजी	वैशाख वदी दशमी
२१. श्री नमिनाथजी	आषाढ वदी दशमी
२२. श्री नेमिनाथजी	सावण वदी छठ
२३. श्री पार्श्वनाथजी	पोष वदी ग्यारस
२४. श्री महावीरस्वामी	चैत सुदी तेरस

(ये तिथिया स्वर्गीय पंडित जिनेश्वरदासजी कृत श्री वर्त्तमान चतुर्विंशति जिन पूजा से उद्धृत की गई है)

अपूर्व चैत्य वंदना और नित्य वंदना का संयोग यदि अष्टमी व चतुर्दशी के दिन हुआ तो कौनसी भक्ति करनी चाहियेः—

दर्शनपूजात्रिसमय,वन्दनयोगो ऽष्टमीक्रियादिषु चेत् ।
प्राक्तर्हि शांतिभक्तेः, प्रयोजयेच्चैत्यपंचगुरुभक्ती ॥१८॥

अर्थ—यदि अष्टमी चतुर्दशी की क्रिया के समय अपूर्व चैत्य वदना व त्रिकाल नित्य वदना का संयोग आया हो तो पहले चैत्यभक्ति और गुरुभक्ति करनी चाहिये और फिर अन्तमें शांतिभक्ति करनी चाहिये॥१८॥

अभिषेक वन्दनाकी क्रियामें अनुक्रम से कौन कौनसी भक्ति करनी चाहिये:—

अभिषेकवंदनायाः, सिद्धचैत्यपंचगुरुशांतिभक्तयः ।

अर्थ—अभिषेक-वदना की क्रिया में, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति और शांति भक्ति पढनी चाहिये ।

स्थिर जिनबिंबप्रतिष्ठा व चलबिंबप्रतिष्ठा में इन दोनों बिंबोंके चतुर्थ महाभिषेक की क्रिया में कौनसी भक्ति पढनी चाहिये:—

स्यात्सिद्धशांतिभक्तिः. स्थिरचलजिनबिंबयोः प्रतिष्ठायां ।
अभिषेकवंदनाचल,तुर्यस्नानेऽस्तु पाक्षिकी त्वपरे ॥१॥

अर्थ—स्थिर बिव प्रतिष्ठा तथा चलबिव प्रतिष्ठा की क्रियाओ में सिद्ध भक्ति और शाति भक्ति पढनी चाहिये । चल जिन बिब के चौथे दिन की अभिषेक क्रिया मे सिद्ध भक्ति, चैत्य भक्ति, पच महा गुरु भक्ति और शांति भक्ति पढनी चाहिये ।

स्थिर जिन बिंब प्रतिष्ठा के चौथे दिन की अभिषेक की क्रिया में सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति बड़ी आलोचना और शांतिभक्ति पढनी चाहिये:—

आद्यंतसिद्धशांति.स्तुतिजिनगर्भजनुषो स्तुयाद्वृत्तम् ।
निष्क्रमणे योग्यन्तं, विदि श्रुताद्यपि शिवे शिवान्तमपि ॥१॥

अर्थ—तीर्थकरोके गर्भकल्याणक तथा जन्म कल्याणककी क्रियाओ के समय मे सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति और शाति भक्ति पढनी चाहिये । दीक्षा कल्याणक के समय सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति और शाति भक्ति पढनी चाहिये । ज्ञान कल्याणक की क्रियाओ मे सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति, योगिभक्ति और शांति भक्ति पढनी चाहिये । निर्वाण कल्याणक की क्रियाओ के समय सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, निर्वाण भक्ति और शाति भक्ति पढनी चाहिये ।

श्री महावीर निर्वाण के दिन कौनसी भक्ति पढनी चाहिये:—

योगान्तेऽर्कोदये, सिद्ध निर्वाण गुरुशान्तयः ।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे, कृत्यातो नित्यवंदना ॥१॥

अर्थ—वर्षा योग समाप्त कर श्री वर्धमान स्वामी के निर्वाण के

दिन सूर्योदय के समय सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांति भक्ति पढनी चाहिये। तदनन्तर नमस्कार कर नित्यवंदना करनी चाहिये। (यह क्रिया मुनि और श्रावक दोनो को करनी चाहिये)। मुनि और श्रावकोंको श्रुत पंचमीकी क्रिया करते समय कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये -

बृहत्याश्रुतपंचम्यां, भक्त्या सिद्धश्रुतार्थया।
श्रुतस्कन्धं प्रतिष्ठाप्य, ग्रहीत्वा वाचतां बृहत् ॥१॥
त्वम्यो गृहीत्वा स्वाध्यायः, कृत्या शान्तिनुतिस्ततः।
यमिनां गृहिणां सिद्ध, श्रुतशांतिस्तया पुनः ॥२॥

अर्थ—श्रुत पचमी के दिन बडी सिद्धभक्ति, बड़ी श्रुतभक्ति, करनी चाहिये। फिर श्रुत स्कन्ध की स्थापना करनी चाहिये। तदनन्तर बृहत वाचना स्वीकार करनी चाहिये अर्थात् श्रुतावतार का वर्णन करना चाहिये। बड़ी श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति पढकर स्वाध्याय करना चाहिये फिर श्रुत भक्ति पढकर स्वाध्याय पूर्ण करना चाहिये फिर अन्त मे शांति भक्ति पढकर श्रुतपचमी की क्रिया पूर्ण करनी चाहिये यह श्रुतपचमी की क्रिया ज्येष्ठ शुक्ला ५ पचमी के दिन मुनि और श्रावक दोनों को करनी चाहिये। श्रावकों को इस क्रिया के करते समय सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति और शांति भक्ति करनी चाहिये।

सिद्धांत वाचने की क्रिया में कौनसी भक्ति पढनी चाहिये —

गद्य—सिद्धान्तवाचनाग्रहणे सिद्धश्रुतभक्ती कृत्वा, तदनु श्रुताचार्यभक्ती कृत्वा, गृहीतस्वाध्यायः तन्निष्ठापने श्रुतशांति भक्ती करोतु। सिद्धान्तस्यार्थधिकाराणां समाप्तावेकैकं कायोत्सर्गंकुर्यात्। अर्थाधिकाराणां सुबहुमान्यत्वात् तेषामादौ सिद्धश्रुतसूरिभक्तिः कृत्वा समाप्तावप्येतेन क्रमेण प्रवर्तिते सति षट्कायोत्सर्गाः भवन्ति।

अर्थ—सिद्धान्त वाचना की क्रिया को करते समय सबसे पहले सिद्ध भक्ति और श्रुतभक्ति पढनी चाहिये। तदनन्तर श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति पढनी चाहिये। फिर स्वाध्याय करने वाले मुनियों को

सिद्धांत के वांचने का प्रारम्भ करना चाहिये। तथा सिद्धांत बाचने के समाप्त हो जाने पर श्रुतभक्ति और शांति भक्ति पढनी चाहिये।

सिद्धातो मे जो अर्थाधिकार है वे अत्यन्त मान्य हैं इसलिए उनके प्रारम्भ में सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति करनी चाहिये तथा उन अर्थाधिकारो के समाप्त होने पर भी सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति और आचार्य भक्ति करनी चाहिये। तथा छह कायोत्सर्ग करने चाहिये।

सन्यास मरण की क्रिया में कौनसी भक्ति पढनी चाहिये —

संन्यासस्य क्रियादौ सा, शांतिभक्त्या विना सह।
अन्तेऽन्यदा बृहद्भक्त्या, स्वाध्यायस्थापनोज्झने ॥१॥
योगेपि ज्ञेयं तत्रात्त,स्वाध्यायैः प्रतिचारकैः।
स्वाध्यायाग्राहिणां प्राग्वत्, तदाद्यन्तदिने क्रिया ॥२॥

अर्थ—श्रुत पंचमी क्रिया मे जो विधि कही है उसमे से शाति भक्ति को छोड कर शेष विधि सन्यास क्रिया मे करनी चाहिये। जैसे श्रुतपचमी क्रिया मे श्रुतपंचमी की स्थापना की जाती है उसी प्रकार सन्यास की स्थापना करना चाहिये। सन्यास की स्थापना के प्रारम्भ में सिद्ध भक्ति और श्रुत भक्ति पढनी चाहिये। सन्यास धारण करने वाले मुनि के स्वर्गवास होने पर शांति भक्ति पढनी चाहिये। जिस दिन सन्यास की स्थापना की जाती है उसके दूसरे दिन स्वाध्याय को स्थापना करनी चाहिये। स्वाध्याय की स्थापना करते समय बडी श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति पढनी चाहिये। इस प्रकार स्वाध्याय की स्थापना करनी चाहिये। जिस दिन सन्यास धारण करने वाले मुनि के स्वर्गवास को सम्भावना हो उससे एक दिन पहले स्वाध्याय की समाप्ति बडी श्रुतभक्ति पढकर करनी चाहिये। जिसने सन्यास धारण करने वाले मुनि के समीप स्वाध्याय प्रारम्भ किया हो और उसने यदि दूसरे स्थान पर रात्रि योग अथवा वर्षा योग ग्रहण कर लिया हो तो भी उसको सन्यास धारण करने वाले मुनि की वसनिका मे ही सोना चाहिये। गृहस्थों को सन्यास के आरम्भके दिन तथा समाप्ति के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति तथा शातिभक्ति पढनी चाहिये।

वर्षा योग को ग्रहण करते समय तथा छोड़ते समय कौनसी भक्ति करनी चाहिये:—

ततश्चतुर्दशीपूर्व,रात्रे सिद्ध मुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्तभक्तिगुरुस्तुतिम् ॥१॥
शांतिभक्तिं च कुर्वाणै,र्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां, पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥२॥

अर्थ—आचार्य आदि मुनिराजोंको वर्षायोग धारण करना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है। आषाढ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के पहले पहर में लघुसिद्ध भक्ति, लघुयोगि भक्ति, और लघु चैत्य भक्ति पढनी चाहिये। चारों दिशाओ की प्रदक्षिणा देनी चाहिये तथा योग तदुलक्षेपण करने चाहिये। चारो दिशाओ की प्रदक्षिणा देने का अर्थ यह है कि एक स्थान पर खडे होकर "मैं प्रदक्षिणा करता हूँ,ऐसी कल्पना करनी चाहिये। पहले पूर्व दिशा की प्रदक्षिणा देनी चाहिए और उस समय 'य.व ते जिन चैत्यानि इत्यादि श्लोक पढ कर स्वयभू स्तोत्र के पहली दो स्तुतिया पढनी चाहिये। अचलिका सहित चैत्य भक्ति पढनी चाहिये और इसी प्रकार शेष तीनो दिशाओ मे भी प्रदक्षिणा देनी चाहिये तथा उस समय आगे के दो दो तीर्थकरो की स्तुतिया पढनी चाहिए। तदनन्तर पचगुरु भक्ति व शाति भक्ति पढ कर वर्षा योग स्वीकार करना चाहिये। यह ग्रहण करने के विधि है। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन लिखी पूर्ण विधि करके वर्षा योग की समाप्ति करनी चाहिये ॥१-२॥

आचार्य पद ग्रहण करते समय कौनसी भक्ति करनी चाहिये:—

सिद्धाचार्यस्तुती कृत्वा, सुलग्ने गुर्वनुज्ञया।
लात्याचार्यपदं शांति,स्तुयात्साधु· स्फु द्गुण ॥१॥

अर्थ—जो अपने उत्तम गुणो से समस्त संघ को मान्य होता है जिसमे छत्तीस गुण देदीप्यमान होते है: वही श्रेष्ठ मुनि आचार्य पद ग्रहण करने योग्य होता है। जिस समय उस श्रेष्ठ मुनि को आचार्य पद दिया जाता है; उस समय पहले के आचार्य, समस्त मुनि गण के सामने उस

श्रेष्ठ मुनि को आचार्य पद को सूचित करने वाली एक पीछी देते है और कहते है कि आज से तू रहस्य शास्त्रो के (प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों के) अध्ययन करने तथा दीक्षा देने आदि आचार्यो के करने योग्य कार्यो के योग्य हो गया है। उस समय आचाय पद ग्रहण करने के लिए तैयार हुए इस मुनि को शुभलग्न मे सबसे पहले सिद्ध भक्ति,और आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्य पद ग्रहण करना चाहिये और फिर शांति भक्ति पढनी चाहिये।

प्रतिमा योग धारण करने वाले मुनि की वंदना करते समय कौनसी भक्ति पढनी चाहियेः—

लघीयसोऽपि प्रतिमा,योगिनो योगिनः क्रियाः ।
कुर्युः सर्वेऽपि सिद्धर्षिशांतिभक्तिभिरादरात् ॥१॥

अर्थ—जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन नही हुए है अर्थात् जो थोड़े दिन का ही दीक्षित है ऐसा मुनि भी यदि प्रतिमायोग धारण करे तो समस्त मुनियो को आदरपूर्वक उसके सामने सिद्ध भक्ति, ऋषि भक्ति और शातिभक्ति पढनी चाहिए। इस प्रकार उनकी वदना करनी चाहिये।

दीक्षा ग्रहण करते समय जो लोच किया जाता है उस समय की विधि में कौनसी भक्ति करनी चाहिये —

सिद्धयोगिबृहद्भक्ति,पूर्वकं लिंगमर्प्यताम् ।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म,क्षम्यतां सिद्धभक्तितः॥१॥

अर्थ—दीक्षा ग्रहण करने के समय बड़ी सिद्ध भक्ति और योगि भक्ति पढ कर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। केश लोच करना दीक्षा का नाम धारण करना, नग्नावस्था धारण करना और पीछी धारण करना आदि कार्यो को दीक्षा कहते है। दीक्षा ग्रहण करने के अनतर सिद्ध भक्ति पढनी चाहिए। **दीक्षा के सिवाय अन्य समय में लोच करते समय कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये —**

लोचो द्वित्रिचतुर्मासै,र्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः, सोपवासप्रतिक्रमः ॥१॥

अर्थ—दो महीना बाद लोच करना उत्तम है, तीन महीना बाद

करना मध्यम है और चार महीना बाद करना जघन्य है। लोच करते समय लघु योगि भक्ति और लघु सिद्ध भक्ति पढनी चाहिए। लोच समाप्त होने पर लघु सिद्ध भक्ति करनी चाहिए लोच के दिन उपवास और प्रतिक्रमण करना चाहिए ॥१॥ **आगे प्रतिक्रमण रात्रियोग धारण करने व छोड़ने में कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये:--**

भक्त्या सिद्धप्रतिक्रांति,वीरद्विर्द्वादशार्हताम् ।
प्रतिक्रामेन्मलं योगं, योगिभक्त्या भजेत् त्यजेत् ॥१॥

अर्थ--प्रतिक्रमण की विधि करते समय सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति, वीर भक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति पढकर अतीचारों की शुद्धि करनी चाहिए। योगि भक्ति पढकर रात्रियोग धारण करना चाहिए। तथा योगि भक्ति पढकर ही रात्रियोग का त्याग करना चाहिए ॥१॥

आगे देववंदना करते समय कोई दोष उत्पन्न हुए हों; अथवा रागादिक दोष उत्पन्न हुए हों तो उनको दूर करने के लिए समाधि भक्ति करनी चाहिये। लिखा भी है--

ऊनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं, सर्वत्र प्रियभक्तिकाः ।

अर्थ--इन समस्त क्रियाओं मे यदि न्यूनाधिकता हुई हो तो उसके दोष को दूर करने के लिए समाधि भक्ति पढनी चाहिए। जिसने समाधि मरण धारण किया है उस मुनि के शरीर की तथा उसके निषधिका स्थान पर क्रिया करते समय कौनसी भक्ति पढनी चाहिए सो दिखलाते है --

सामान्यर्षेः मृते शरीरस्य निषद्यकास्थानस्य वा सिद्धयोगिशांतिभक्तयः। सिध्दांतवेदिनां साधूनां सिद्धश्रुतियोगशांतिभक्तयः। उत्तरयोगिनां सिद्धचारित्रयोगिशान्तिभक्तयः। सैद्धांतोत्तरयोगिनां सिद्धचारित्रयोगशान्तिभक्तयः। आचार्यस्य सिद्धयोगाचार्यशान्तिभक्तयः सैद्धान्ताचार्यस्य सिद्धश्रुतयोगाचार्यशान्तिभक्तयः। उत्तरयोगिनामाचार्याणां सिद्धचारित्रयोगाचार्यशान्तिभक्तयः। उत्तरयोगिन सैद्धान्ताचार्यस्य सिद्धश्रुत-

योगाचार्यशान्तिभक्तयः। अनंतरोक्ता अष्टौ क्रियाः शरीरस्य निषद्यास्थानस्य च।

अर्थ—सामान्य ऋषि के स्वर्गवास होने पर उनके शरीर की तथा निषद्यास्थान की क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, योगि भक्ति और शांति भक्ति पढनी चाहिये। यदि सिद्धांत के जानकार साधु का स्वर्गवास हुआ हो तो सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, योगि भक्ति शांति भक्ति पढनी चाहिये। यदि उत्तर गुणो को धारण करने वाले साधु का स्वर्गवास हुआ हो तो उनके शरीर वा निषद्यास्थान की क्रिया करते समय सिद्ध भक्ति चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, शांति भक्ति पढनी चाहिए। यदि उत्तर गुणो को पालन करने वाले मुनि सिद्धांत के भी जानकार हो तो उनके स्वर्गवास होने पर उनके शरीर और निषद्या स्थान की क्रिया करते समय सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, शांतिभक्ति, पढनी चाहिये। आचार्य के स्वर्गवास होने पर सिद्ध भक्ति, आचार्य भक्ति, शांतिभक्ति पढनी चाहिये। यदि आचार्य सिद्धान्त के जानकार हो तो उनके स्वर्गवास होने पर उनके निषद्यास्थान की क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्य भक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये। यदि आचार्य उत्तर गुणों के पालन करने वाले हो और सिद्धांत के भी जानकार हो तो उनके स्वर्गवास पर उनके शरीर और निषद्यास्थान की क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगि भक्ति, आचार्य भक्ति, शांति भक्ति पढनी चाहिये।

ये आठ क्रियाए उनकी शरीर और निषद्यास्थान की होती है।

आगे पाक्षिक वा चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण में कौनसी भक्ति पढ़नी चाहिये सो दिखलाते हैः—

गद्य—पाक्षिक;चातुर्मासिक,सांवत्सरिक,प्रतिक्रमणे सिद्ध, चारित्र,प्रतिक्रमण,निष्ठितकरण,चतुर्विंशति,तीर्थंकरभक्ति,चारित्रालोचनागुरुभक्त्यो, बृहदालोचन गुरुभक्तिर्लघीयस्याचार्यभक्तिश्च करणीयाः।

अर्थ—पाक्षिक चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण मे १. सिद्ध भक्ति, २. चारित्रभक्ति तथा ३. प्रतिक्रमण, ४. वीरभक्ति, ५. चतुर्विंशति ६. तीर्थंकरभक्ति, ७. चारित्रालोचना भक्ति, ८. गुरुभक्ति, ९. बृहत् आलोचना गुरुभक्ति और १०. लघु आचार्य भक्ति पढनी चाहिए।

इस समय क्षुल्लकाचार्य भक्ति, भी होती है।

प्रतिक्रमण के विषय में संक्षिप्त विवेचन

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥१॥

भारतवर्ष के दक्षिण भाग से लेकर, उत्तर भाग के समस्त त्यागी वर्ग में 'दशभक्तियों' का प्रचार है, अत. उसका पूर्व भाग (प्रथम खंड) में अर्थ सहित विवरण तथा उनका कहा २ पर प्रयोग होना आवश्यक है, इस विषय का जितना भी वर्णन आचार्य ग्रथों में मिल सका है उसका सङ्कलन करके चार्ट सहित प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रथ के द्वितीय खड में तीन उप विभागो से वर्णन किया गया है---१. दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण २. पाक्षिक (चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आदि) तथा ३. श्रावक प्रतिक्रमण । मुझे बहुत ही प्रसन्नता है कि परमपूज्य प्रात. स्मरणीय, दीक्षागुरु आचार्य परमेष्ठी श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने इस विषय पर काफी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था किन्तु किसी कारण वश वह अभी तक छप नही सका, उन्हे सिद्धभक्ति पूर्वक त्रिधा नमस्कार करके, मै उसी अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने की भावना से यथा शक्ति प्रयत्न कर रहा हूं। साधर्मी बन्धु तथा अन्य त्यागी गण इससे लाभ उठायेंगे ऐसी आशा है इस कार्य मे प्रमाद या अज्ञान वश जो भी कुछ त्रुटि रह गई हो, उसे मुझे सूचित करने का कष्ट करे ताकि उसका सुधार आगे किया जा सके। प्रतिक्रमण के विषय में आचार्य श्री ने क्या लिखा है वह नीचे उद्धृत है।

प्रतिक्रमण किसे कहते है और वह क्यों किया जाता है ?

पूर्व में किये हुये दोषों को निराकरण करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। जिससे अनात्मभाव से फिर आत्मभाव की प्राप्ति हो जावे अर्थात् प्रमादजन्य दोषों से निवृत्त होकर आत्मस्वरूप में फिर से स्थित करने की क्रिया को प्रतिक्रमण कहते है।

श्रीमत् कुंदकुंदाचार्य निर्मित समयसार के मोक्षाधिकार की गाथा नं० ३२६ तथा ३२७ पृष्ठ संख्या २७३ ।

गाथा—अप्पडिकमणं अप्पडिसरणं, अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिंदाऽगरुहा,ऽसोहीय विसकुंभो ॥३२६॥
पडिकमणं, पडिसरणं, परिहारो, धारणा, णियत्ती य।
णिंदा, गरहा, सोही, अट्ठविहो अमियकुंभो दु ॥३२७॥

अर्थ—१. अप्रतिक्रमण २. अप्रतिसरण ३. अपरिहार ४. अधारणा ५. अनिवृत्ति ६. अनिदा ७ अगर्हा और ८. अशुद्धि (इन आठ प्रकार के लगे हुये दोषों का प्रायश्चित्त न करना ये विषकुंभ है और प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि इन आठ प्रकार के लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना) ये अमृत कुंभ है।

भावार्थ—१. पूर्व में किये हुए दोषों का निराकरण (अवलोकन) करना प्रतिक्रमण है और २. सम्यक्त्वादि गुणो मे प्रवृत्ति करना प्रतिसरण वे। ३. मिथ्यात्व और राग द्वेषादि दोषो से निवृत्ति होना प्रतिहरण है। ४. पंचनमस्कार आदि मत्रों से, चित्त का स्थिर करना धारणा है ५. पंचेन्द्रियों के बाह्य विषय, कषायों मे, इच्छा पूर्वक प्रवृत्ति को रोकना सो निवृत्ति है। ६. अपने आपकी साक्षी से दोषो को प्रकट करना निन्दा है। ७ गुरु के पास, अपना दोष प्रकट करना गर्हा है। ८. दोषों की प्रायश्चित्तादि से आत्म शुद्धि करना शुद्धि है। ऐसा पूर्वोक्त समस्त सम्यक् क्रियाये अमृत तुल्य है। यदि ये समस्त क्रियायें आत्मशुद्धि के लक्ष्य मे की जायं तो मोक्ष मार्ग में साधन रूप है; अन्यथा शुभोपयोग रूप भावना से की जावें तो देवायु गति के आश्रव के कारण रूप होने से विषतुल्य है; ऐसा यथार्थ समझ कर मुमुक्षुओं को क्रिया करनी चाहिये; पूर्वोक्त आठ भेद रूप शुभ क्रिया, शुभोपयोग है वह मिथ्यात्वादि विषय कषायों से परिणत रूप अशुभोपयोग की अपेक्षा से विकल्प रूप, सरागचारित्र, अमृततुल्य है; किन्तु सर्व पर द्रव्यों के आलम्बन रूप विभाव परिणामों से शून्य चिदानंद मयी एक स्वभावरूप विशुद्धात्मा के अवलम्बन से परिपूर्ण, विकल्प रहित, शुद्धोपयोग रूपलक्षण के रखने वाले परमसामायिकरूप, निर्विकल्प समाधि में लीन, वीतराग चारित्र मे स्थित महापुरुषों की अपेक्षा में विषकुम्भ है।

जो विषय कषायो से दूर होने के लिए, व्यवहार प्रतिक्रमण करता है, वह व्यवहार प्रतिक्रमण परम्परा मोक्ष का कारण है, उसका कारण यह है कि वह पुण्य रूप होते हुए भी, शुद्धात्मा की भावना केलक्ष्य से करने में आवे तो वह निमित्त साधन है, और शुद्धात्मा की भावना के अभिप्राय रहित करने मे आवे तो वह व्यवहार प्रतिक्रमण शुभोपयोग (पुण्योदय) के कारण स्वर्गादिक सुखों का निमित्त है अर्थात् मात्र ससार के पुण्य वध का कारण है।

सात प्रकार के प्रतिक्रमण निम्न लिखित है —

१ दैवसिय (दिवस सम्वन्धी। प्रतिक्रमण२ रायसिय(रात्रि सबधी) प्रतिक्रमण ३. पाक्षिक (पन्द्रह दिन का) प्रतिक्रमण ४ चातुर्मासिक (चार महिनो का) प्रतिक्रमण ५ सावत्सरिक (बारह महिने या एक सालका) प्रतिक्रमण ६. ईर्यापथिक (गमन- सम्बन्धी) प्रतिक्रमण ७ औत्तमार्थिक (सर्व प्रकार के अतिचारो का) प्रतिक्रमण, विशेष—त्रिविधाहारत्याग रूप प्रतिक्रमण भी औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण मे गर्भित हैं।

प्रतिक्रमण के विशेष भेदः—

प्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है, १ भाव प्रतिक्रमण २ द्रव्य प्रतिक्रमण। भाव प्रतिक्रमण, विना द्रव्य प्रतिक्रमण के, निष्फल है और द्रव्य प्रतिक्रमण, विना भाव प्रतिक्रमण के नही ठहर सकता है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। द्रव्य प्रतिक्रमण, भाव प्रतिक्रमण का साधन है और भाव प्रतिक्रमण साध्य है, ऐसे साध्य और साधक भाव के अभाव मे प्रतिक्रमण नही हो सकता है।

१. भाव प्रतिक्रमण--पर द्रव्यो के निमित्त से, जो रागादि भाव हुये थे, उनको वर्त्तमान मे, बुरा समझकर उन प्रत्यय सस्कारों को छोडने को एवं उन प्रत्यय ममत्व भावो को छोडने को भाव-प्रतिक्रमण कहते है। २. द्रव्य प्रतिक्रमण-अतीत काल मे जिन पर द्रव्यो को ग्रहण किया था उनको वर्त्तमान मे बुरा समझ कर उनके सस्कारो को न रहने देना एव उनके प्रति होने वाले ममत्व भाव को त्यागने को द्रव्य प्रतिक्रमण कहते है। विशेष—श्री परमात्म प्रकाश में पृष्ठ न० १८५ मे गाथा न० ६४ में कहते है —

गाथा—वंदणु णिंदणु पडिकमणु, पुण्णहं कारणु जेण।
करइ करावइ अणुमणइ, एक्कुवि णाणिण तेण ॥६४॥

अर्थ—पंच परमेष्ठी की वंदना, अपने अशुभ कर्म की निंदा, और अपराधों का प्रायश्चित्तादि विधि से निवृत्ति, ये सब पुण्यके कारण हैं, मोक्ष के कारण नही हैं, इसलिए पहली अवस्था में, पाप को दूर करने के लिए, ज्ञानी पुरुष, इनको करता है, कराता है और करते हुए को भला जानता है, सारांश यह है कि ज्ञानी जीव पहले तो अशुभ को त्याग कर शुभ में प्रवृत्त होता है, बाद मे शुभ को भी छोड़कर शुद्ध में लग जाता है, पहले किये हुये अशुभ कर्मो की निवृत्ति वह व्यवहार प्रतिक्रमण है। भविष्य में जो अशुभ परिणाम होने वाले है, उनका रोकना ही, व्यवहार प्रत्याख्यान है और वर्त्तमान मे शुभ की प्रवृत्ति, अशुभ की निवृत्ति, वह व्यवहार आलोचना है और निश्चय मे शुभ और अशुभ दोनों का ही त्याग होता है।

प्रतिक्रमण दिन के आदि में और दिन के अंत में बिना कालविलंब के करना आवश्यक क्यों है ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर मुझे श्री मूलाचार अध्ययन ७ में बहुत सुदर जान पडा इसलिये त्यागी वर्ग के उपयोगी होने के कारण उस प्रकरण का संकलन करता हूं .—

आलोचना के लिये काल का विलंब करना योग्य नहीं है। इसके लिये आचार्य निम्न प्रकार अपनी गाथा द्वारा कहते हैं—

गाथा—उप्पण्णा उप्पण्णा माया आणुपुव्वसो णिहंतव्वा।
आलोचण णिंदणगरहणाहिं च पुणो तियं विदियं ॥१५०॥

अर्थ—जैसी २ माया और व्रतातिचार उत्पन्न होता है, वैसा २ अनुक्रम से उनको नष्ट करना चाहिये। जिस काल मे, जिस क्षेत्र मे, जिस द्रव्य के आश्रय से, जिस भाव से माया उत्पन्न होती है उस काल में, उस क्षेत्र में और उस द्रव्य के आश्रय से उसी क्रम से माया का नाश करना चाहिये, गुरु के पास दोष निवेदन करना चाहिये, दूसरे के समीप उन दोषो को प्रगट करना चाहिये और स्वतः की भी जुगुप्सा करनी चाहिये। मैं पापी हूँ, दुष्ट हूँ ऐसी स्वयं की जुगुप्सा करनी (ग्लानि) करनी चाहिये, अब मैं ऐसा दूसरा अपराध नही करूंगा, तीसरा अपराध नही करूंगा ऐसा मन में विचार करना चाहिये। आलस्य से आज आलोचना नही

करूंगा, कल करूंगा अथवा परसो करूंगा ऐसा विचार करके कालक्षेप करना योग्य नही है। क्योकि काल बीतने पर विस्मरण होता है। अत शीघ्र समय पर आलोचना कर ही लेना चाहिये।

द्रव्य प्रतिक्रमण में दोष बतलाते हुये आचार्य अपने भावों को इस प्रकार प्रकट करते है गाथा नं० १५२।

गाथा—भावेण अणुवजुत्तो, दव्वीभूदो, पडिक्कमादि जो दु।
जस्सट्ठ पडिक्कमदे, त पुण अट्ठं ण साधेदि ॥१५२॥

अर्थ—जो साधु शुद्ध परिणाम रहित है और दोषो से उसका मन नही हट गया है, जिसका मन रागद्वेष मे भरा है वह साधु जिस दोष का नाश करने के लिये प्रतिक्रमण करता है, तथा सुनता भी है वह दोप नष्ट नही होता है; क्योकि उसके परिणाम शुद्ध नही है और वह साधु ऊपर से प्रतिक्रमण करता है उसका प्रतिक्रमण भाव रूप नही होने से दोष नाश करने में समर्थ नही होता है।

भावप्रतिक्रमण का वर्णन इस प्रकार है :—

गाथा—भावेण संपजुत्तो; जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं।
सो कम्मणिज्जराए, विउलाए वट्टदे साधू ॥१५३॥

अर्थ—जो साधु भाव से युक्त है और जिसके लिये शुभानुष्ठान करता है और जिस दोष का नाश करने के लिये उद्युक्त होकर प्रतिक्रमण सूत्र बोलता है वह साधु विपुल कर्मनिर्जरा करता है और सर्वापराधो को नष्ट करता है अर्थात् जो साधु दोप नाश के लिये रागद्वेष रहित होकर प्रतिक्रमण करता है, उसके दोपो का नाश होता है, और विपुल निर्जरा भी होती है। **विशेष**--केवल द्रव्य प्रतिक्रमण से भी लाभ नही होता है और द्रव्यप्रतिक्रमण के विना भाव प्रतिक्रमण भी नही हो सकता इसके लिये दोनो प्रकार के प्रतिक्रमणों की आवश्यकता है।

प्रतिक्रमण करने का उद्देश—

गाथा--सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिकमणं, मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥१५४॥

अर्थ—आदिनाथ भगवान् ने और महावीर प्रभु ने अपने शिष्यो को प्रतिक्रमण युक्त धर्म का उपदेश कितना है अर्थात् चारित्र के दोषों का नाश करने के लिये प्रतिक्रमण करना ही चाहिये, परंतु अपराध नही होने पर भी प्रतिक्रमण करना चाहिये ऐसा आदि तथा अन्तिम तीर्थङ्करों ने अपने शिष्यों को आज्ञा दी है और अजितनाथ पार्श्वनाथ पर्यन्त मध्यम तीर्थङ्करो ने अपराध होने पर प्रतिक्रमण करने की शिष्यों को आज्ञा दी है; क्योंकि उनके शिष्यों द्वारा अपराध वाहुल्य (अपराधो की अधिकता) नहीं होता था; अर्थात् कभी कभी अपराध उनसे होते थे। जव अपराध होगा तव प्रतिक्रमण करो अपराव नही हुआ तो प्रतिक्रमण नही करना ऐसी उन शिष्यो को मध्यम तीर्थङ्करों ने आज्ञा दी थी ॥१५४॥

गाथा—इरियागोयरसुमिणादि, सव्वमाचरदुमा व आचरदु।
पुरिमचरिमा दु सव्वे. सव्वं णियमा पडिकमंति ॥१५६॥

अर्थ—ईर्यापथ, आहारगमन, स्वच्छ इत्यादिकों में अतिचार होने पर अथवा नही होने पर भी ऋषभनाथ और वर्द्धमान जिनेश्वर के सर्व शिष्य सर्व नियमो का उच्चारण करते है और सर्व प्रतिक्रमणदडकों का उच्चारण करते है ॥१५६॥

प्रश्न—आदिनाथ तीर्थङ्कर और वीर तीर्थङ्कर के शिष्य वैसे नही थे ! वे कैसे है इसका उत्तर निम्न गाथा मे है—

गाथा—पुरिम चरिमा दु जम्मा, चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं, अंधलयघोडयदिट्ठंता ॥१५८॥

अर्थ—आद्यन्त तीर्थङ्करो के शिष्य चंचलचित्त है। उनका मन दृढ नहीं है। मोह से उनका मन घिरा हुआ है; अनेक वार शास्त्र का प्रतिपादन करने पर भी वे जानते नही और वे ऋजुजड और वक्रजड़ है अर्थात् सरल होते हुये भी अज्ञानी है और टेढे परिणाम वाले भी अज्ञानी है अतः सर्व प्रतिक्रमणों के दंडकों का वे उच्चारण करते है। उनके लिये अंधे घोडे का दृष्टान्त दिया जाता है—किसी राजा का घोड़ा अंधा था। राजा ने वैद्य के पुत्र से अश्व का अंधपन हटाने वाला औषध मांगा, परंतु वैद्य के पुत्र को औषध मालूम नहीं था और वैद्य ग्रामन्तर को गया था, उस वैद्य

पुत्र ने आंखो के सर्व औषधो का प्रयोग राजा के घोडे के आखों पर किया। उन औषधो से घोडे की आखे अच्छी हो गई। इसी प्रकार साधु भी एक प्रतिक्रमण दडक मे स्थिर न होगा, तो अन्य प्रतिक्रमण दडक में स्थिर होगा, उसमे न होगा तो और भिन्न प्रतिक्रमण दडक में होगा इसलिये सर्व दडको का उच्चारण करना आवश्यक है, इसमें कोई विरोध नही है क्योंकि सर्वप्रतिक्रमणदण्डक कर्म के क्षय के लिये समर्थ है।

मुनि विवेक सागर
वर्तमान चातुर्मास
कुचामन सिटी, वीर सवत् २४६६

श्री जिनाय नम.

श्री गौतम स्वामी विरचित

दैवासिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण

[द्वितीय खण्ड]

श्लोक—जीवे प्रमादजनिताः प्रचुरा प्रदोषाः,
यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात्तदर्थममलं, मुनिबोधनार्थं,
वक्ष्ये विचित्रभवकर्म विशोधनार्थम् ॥१॥

अर्थ—प्रतिक्रमण की आवश्यकता बतलाते हुए, मुनियो के लिए भी उसके स्पष्टीकरण की प्रतिज्ञा करते हुए पूज्य आचार्य कहते है कि जीव मे प्रमाद से जनित अनेक दोष पाये जाते है। वे प्रतिक्रमण करने मे प्रलय (नाश) को प्राप्त होते है, इसलिए नाना भवो मे सचित हुए कर्मरूप दोषो की विशुद्धि के निमित्त मुनियो के समझने के लिए प्रतिक्रमण का निर्मल अर्थ करता हू ॥१॥

आशा है मुनिगण इसे अवश्य ध्यान से पढ़ेंगे तथा इस आवश्यक क्रिया का नियमित रूप से पालन करेंगेः—

श्लोक--पापिष्ठेन, दुरात्मना, जडधिया, मायाविना, लोभिना,
रागद्वेष, मलीमसेन मनसा, दुष्कर्म यन्निमितम् ।
त्रैलोक्याधि,पते जिनेन्द्र भवतः, श्रीपादमूलेऽधुना,
निन्दापूर्व,महं जहामि सततं, वर्वर्तिषुः सत्पथे ॥२॥

अर्थ—हे तीनलोक के अधिपति जिनेन्द्रदेव ! अत्यन्त पापी, दुरात्मा, जडबुद्धि, मायावी, लोभी और राग द्वेप से मलीन मेरे मनने जो दुष्कर्म उपार्जन किया है उसका, निरन्तर सन्मार्ग मे चलने की इच्छा रखता हुआ, आज मै आपके चरण कमलों मै अपनी निन्दा पूर्वक त्याग करता हूँ ॥२॥

गाथा—खम्मामि सव्व जीवाणं; सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वैरं मज्झं ण केणवि ॥३॥

अर्थ—मै सब जीवो मे क्षमा की याचना करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करे, मेरा सब जीवों मे मैत्रीभाव है, किसी के भी साथ मेरा वैर-भाव नही है ॥३॥

गाथा—रागबंध पदोसंच, हरिसं दीणभावयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं, रदिमरदिंच वोस्सरे ॥४॥

अर्थ—मै १. राग २ द्वेप ३. हर्ष ४. दीनभाव ५. उत्सुकता ६. भय ७. शोक ८. रति (प्रीति) और ९. अरति (अप्रीति) इन सब आकुलता को उत्पन्न करने वाले भावों का परित्याग करता हूँ ॥४॥

गाथा—हा दुट्ठ कयं, हा दुट्ठ चिंतियं, भासियं च हा दुट्ठं ।
अंतो अंतो डज्झमि, पच्छुत्तावेण वेदंतो ॥५॥

अर्थ—हा ! १. यदि मैने काय से कोई दुष्ट कार्य किया हो । हा! २. यदि मन से कोई दुष्ट चिन्तन किया हो, और हा ! ३. यदि मैने मुख से कोई दुष्ट वचन बोला हो, उसको मै बुरा समझता हुआ, पश्चात्ताप पूर्वक मन ही मन में जल रहा हूँ अर्थात् इन दुर्भावनाओं का त्याग करता हूं ॥५॥

गाथा—दव्वे, खेत्ते, काले, भावे च कदावराहसोहणयं ।
णिंदण, गरहण जुत्तो; मण, वच, कायेण पडिक्कमणं ॥६॥

अर्थ—१. द्रव्य—आहार, शरीर आदि २. क्षेत्र—वसतिका, शयन, मार्गादि ३. काल--पूर्वाण्ह (प्रात काल) मध्यान्ह (दोपहर) अपराण्ह (सायंकाल) दिवस, रात्रि, पक्ष (१५ दिन) मास (३० दिन) चातुर्मास (४ महिने) सवत्सर (१ वर्ष) अतीत (भूतकाल) अनागत (भविष्यत्-आने वाला काल) वर्त्तमान (मौजूद रहने वाला) ४. भाव--सकल्प और विकल्प खोटे चित्त व्यापार से किये गये अपराधो की निन्दा, तथा गर्हा से युक्त होकर शुद्ध मन, वचन और काय से शोधन करना प्रतिक्रमण है।।६।।

विशेष.— निदा और गर्हा--यद्यपि यह दोनो शब्द एकार्थ सरीखे दिखते है फिर भी इनमें निम्नलिखित अतर है —(क) जो अपने आत्मा की साक्षीपूर्वक किये हुए पापो को बुरा समझना उसे निंदा कहते है, किन्तु जो (ख) गुरु आदि की साक्षी पूर्वक किये हुए पापो की निदा करना सो गर्हा कहलाती है ।

गद्य—एइंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चतुरिंदिया, पंचिंदिया, पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणप्फदिकाइया, तसकाइया, एदेसि उद्दावणं, परिदावणं बिराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥७॥

अर्थ—१ एकेन्द्रिय २ द्वीन्द्रिय ३ त्रीन्द्रिय ४. चतुरिन्द्रिय ५ पचेन्द्रिय ६ पृथ्वीकायिक ७ अप्कायिक (जलकायिक) ८. तेजस्कायिक (अग्निकायिक) ९ वायुकायिक १०. वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक; इन सब इन्द्रिय और कायिक जीवो का १ उत्तापन, २ परितापन, ३ विराधन और ४ उपघात मैने स्वय किया हो, औरों से कराया हो, और स्वय करते हुए दूसरो की अनुमोदना की हो, वे सब पाप मेरे मिथ्या हों ।

विशेष —यद्यपि ये चारो ही शब्द प्राय एकार्थ वाचक है फिरभी इनका भेद समझाने के लिए नीचे विशेषार्थ दिया है । १ पृथ्वीकायिकादि जीवो का उत्तापन अर्थात् प्राणो का वियोग रूप मारण । २ परितापन -

पृथ्वीकायिकादि जीवों को संताप पहुंचाना ३. विराधन–पृथ्वीकायिकादि जीवों को पीड़ा पहुंचाना और अनेक प्रकार से दुखी करना ४ उपघात--एक देश से अथवा संपूर्ण रूप से पृथ्वीकायिकादि जीवो को प्राणो से रहित करना ॥७॥

गाथा–वद, समिदिंदिय रोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयण, मदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥८॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोहं ॥९॥

अर्थ—उपरि लिखित दोगाथाओ में मुनियों के २८ मूल गुणो का उल्लेख किया गया है --५ महाव्रत ५ समिति ५ इन्द्रियनिरोध ६ आवश्यक (सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, व्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान तथा मुनियो के ७ विशेष गुण के वर्णन केशलोच (उत्तम २ मास, मध्यम ३ मास, जघन्य ४ मास) २३ अचेल (नग्नता, वस्त्र त्याग २४ स्नान त्याग २५ क्षितिशयन (भूमिशयन काष्ठपाट, चटाई घासादि पर सोना २६ अदन्तवन (अंगुलि आदि से दंतौन का त्याग) २७ स्थिति भोजन खड़े होकर भोजन करना २८ एक भक्त (दिन में एक बार ही भोजन करना) । ये श्रमणों मुनियोके २८ मूलगुण (प्रधान-आचरण) है जो सभी जिनेन्द्रोंके द्वारा सर्व प्रथम कहे गये है । इनमे प्रमादवश किये गये अतिचार (दोष-अपराध) से मै निवृत्त होता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए मुनि आगे के लिए छेदोपस्थापना के प्रति अपनी सकल्प पूर्वक दृढ भावना को प्रकट करते हुए नीचे के गद्य को पढते हैं -

गद्य–छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं ।

अर्थ–मेरे पुन छेदोपस्थापना हो जावे । विशेष-छेदोपस्थापना (यह चारित्र है । प्रमाद से दोष हो जाने पर, दूरकर, भले प्रकार विकल्प रहित सामायिक में तिष्ठना-ठहरना) ।

गद्य–पंचमहाव्रत-पंचसमिति-पंचेन्द्रियरोध-लोच-षडावश्यक क्रिया; अष्टाविंशति-मूलगुणाः, उत्तम क्षमामार्दवार्जव शौच सत्य संयम तपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्म, अष्टा-

दश शीलसहस्राणि, चतुरशीतिलक्षगुणा, त्रयोदशविधं चारित्रं, द्वादशविधं तपश्चेति सकल सम्पूर्णं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधु साक्षिकं सम्यक्त्व पूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मेभवतु।

अर्थ—पांच महाव्रत (१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य, ५ परिग्रह त्याग) पाच समिति (१ ईर्या २ भाषा ३ एषणा (आहार शुद्धि) ४ आदाननिक्षेपण कमडलु, पीछी शास्त्रादिको देख शोधकर उठाना अर्थात् रखना ५ प्रतिष्ठापनव्युत्सर्ग . मलमूत्रादि को निर्जन्तु भूमि मे देख शोधकर क्षेपण करना) पाच इन्द्रिय निरोध (१ स्पर्शन २ रसना ३ घ्राण ४ चक्षु एव श्रोत्र [कर्ण] के विषयो मे निरासक्त रहना) ये पद्रह तथा छह आवश्यक और ७ विशेष गुणो का पालन मुनियो के २८ मूलगुण होते है। और उत्तम क्षमादि दश धर्मो का पालन करना। अठारह हजार शील के भेदों का पालन करना वे निम्न प्रकार है चार प्रकार स्त्रिये होती है:—१. मनुष्य स्त्री २ देवस्त्री ३ तिर्यंचस्त्री ये तीन प्रकार की चेतन स्त्रिये एक अचेतन (लकड़ी, पत्थर, फोटो आदि में) मढी हुई इनके प्रति मन, वचन, और काय तथा कृत कारित एव अनुमोदन से तथा ५ इन्द्रियों के -द्वारा प्रवृत्ति करना ४×३×३×५ = १८० भेद हुये इनको दशजीवो अर्थात् ५ स्थान तथा पांच प्रकार के त्रसो मे विभक्त करने पर १८०० भेद हुए इन सबका उत्तम क्षमादि दश धर्मों के द्वारा रक्षण करना ये १८००० अठारह हजार प्रकार के शील हुये इनमे दोषों को छोडना तथा गुणो का पालन करना। १. द्वीन्द्रिय २. त्रीन्द्रिय ३ चतुरिन्द्रिय ४. पचेद्रिय असैनी और ५. पचेन्द्रिय सैनी मे। तेरह प्रकार का चारित्र (५ महाव्रत ५ समिति और मन, वचन काय का रक्षण रूप तीन प्रकार की गुप्ति) बारह प्रकार का तपश्चरण करना (वह १२ प्रकार का तपश्चरण मुख्य रूप से दो प्रकार का है १ अंतरग २ बहिरंग—उनमें १. प्रायश्चित्त २. विनय ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय ५ व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरग के भावों की मुख्यता होने के कारण 'अन्तरग तप' कहलाते है।

अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश ये छह बाहर भी देखे जा सकते है अत **बहिरंग** तप कहलाते है। अपनी शक्ति के अनुसार इन बारह प्रकार के तपो का

भी पालन अवश्य करना चाहिये। ये सब परिपूर्ण उत्तम व्रत अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच की साक्षी से सम्यक्त्व पूर्वक दृढव्रत जो आपमें है वही मुझ में भी समारूढ हों, इस प्रकार की दृढ भावना करे।

सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा—

गद्य—अथ सर्वातिचार विशुद्ध्यर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण-क्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल-कर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं आलोचनासिद्धभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहम्—

अर्थ—दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमणक्रिया में सब दोषों की विशुद्धि के निमित्त, किये हुए दोषो को दूर करने के लिये पूर्वाचार्यों के क्रम के अनुसार, सकल कर्मों के क्षय के लिये, भावपूजा, वन्दना, स्तव सहित आलोचनायुक्त सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग मै करता हूँ।

विशेष—अपरान्ह में दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण मे "दैवसिक" शब्द का प्रयोग करना चाहिये तथा प्रातःकाल के समय "रात्रिक" शब्द का प्रयोग करना चाहिये। इति प्रतिज्ञाप्य--इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके णमो अरहंताणमित्यादि सामायिक दंडकं पठित्वा कायोत्सर्ग कुर्यात्।

थोस्सामीत्यादि (चतुर्विंशतिस्तव पठेत्) इस प्रकार प्रतिज्ञापन कर णमो अरहंताणं इत्यादि सामायिक दडक पढकर सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे, पश्चात् "थोस्सामि" इत्यादि चतुर्विंशति स्तव पढे। सुविधा के लिये सारा दडक यहां अर्थ सहित उद्धृत किया जाता है; आगे जहां कहीं यह सामयिक दडक पढने का सकेत किया जाय वहाँ पर इसका पूरा उच्चारण करना ही चाहिये।

गाथा—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥

गद्य—चत्तारि मंगलं—अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धालोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा. केवलिपण्णत्तो

धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि साहुसरणं पव्वज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।।

गद्य–अड्ढाइज्जदीव दो समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जाव अरहंताणं, भयवन्ताणं, आदियराणं, तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अन्तयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसगाणं, धम्मणायगाणं, धम्मवर चाउरंग चक्क वट्टीणं, देवाहिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि किरियम्मं ।

करेमि भंते ! सामायियं, सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवं तिविहेण—मणसा, वचसा, काएण ण करेमि, ण कारमि कीरंतं ण समणुमणामि, तस्स भंते ! अइचारं पच्चक्खामि, णिंदामि गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

विशेष—इसका उच्चारण करके २७ स्वासोच्छ्वासो मे ९ बार णमोकार मंत्र का जाप्य करना चाहिये । इसके आगे ८ गाथाओ का स्तवन पढना चाहिये :—

गाथा–थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंत जिणे ।
णर पवरलोयमहिए; विहुयरयमले महप्पण्णे ।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे ।
अरहंते कित्तिस्से, चोवीसं चेव केवलिणो ।।२।।
उसहमजियं च वन्दे, संभवमभिणंदणं च सुमइंच ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चन्दप्पहं वन्दे ।।३।।

सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयलसेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वन्दामि ॥४॥
कुन्थुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वय च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥५॥
एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चोवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥
कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥
चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपयासंता।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

फिर निम्नलिखित मुख्य मगल पढे—

श्लोक—श्रीमते वर्धमानाय; नमो नमितविद्विषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा, त्रैलोक्यं गोष्पदायते ॥१॥

अर्थ—जिनके अनन्त ज्ञानादि, अतरग लक्ष्मी और समवशरणादि वहिरग लक्ष्मी विद्यमान है, जिन्होने उपसर्ग करने वाले सगम देवादि शत्रुओ का सिर अपने चरणों मे झुकाया है ऐसे अतिम तीर्थंकर भगवान् वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार हो। जिनके ज्ञान मे तीन लोक, गाय के खुर के समान झलकता है।

सिद्धभक्ति :—

तवसिद्धे णयसिद्धे, संजमसिद्धे चरित्त सिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥२॥

अर्थ—तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, सयम से सिद्ध, चारित्र से सिद्ध, ज्ञान से सिद्ध और दर्शन में सिद्ध हुए ऐसे सब सिद्धो को मै सिर झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥२॥

गद्य-(अंचलिका)-इच्छामि भंते! सिद्धभक्ति काओसग्गो कओ, तस्सालोचेउं सम्मणाण-सम्मदंसण-सम्मचरित्तजुत्ताणं, अट्ठ-

विहकम्मसुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढलोयमत्थयम्मि पयट्ठियाणं, तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं; संजमसिद्धाणं, चरित्तसिद्धाणं, अतीदाणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वन्दामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहि मरणं; जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैंने सिद्ध भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया, उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मे युक्त है; आठ प्रकार के कर्मो से मुक्त है, आठ गुणो से सम्पन्न है, ऊर्ध्वलोक के मस्तक पर प्रतिष्ठित है, तप सिद्ध है, नयसिद्ध है, सयमसिद्ध है, चारित्र सिद्ध है, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मे सिद्ध है, अतीत, अनागत और वत्तमान इन तीनो कालो मे सिद्ध है ऐसे सब सिद्धो की नित्यकाल अर्चा करता हू, पूजा करता हू, वदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। मेरे दु खो का क्षय हो, कर्मो का क्षय हो, बोधि रत्नत्रय का लाभ हो, सुगति मे गमन हो, समाधि मरण हो और जिनेन्द्र के गुणो की सम्यक् प्राप्ति हो ।।

आलोचना—

गद्य—इच्छामि भंते ! चरित्तायारो तेरसविहो परिविहाविदो, पंचमहव्वदाणि, पंचसमिदीओ, तिगुत्तीओ चेदि । तत्थ पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं, से पुढविकाइया जीवा, असंखेज्जा संखेज्जा, आउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, तेउकाइया जीवा असंखेज्जासखेज्जा वाउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाईया जीवा अणन्ताणता हरिया बीआ अंकुरा छिण्णा भिण्णा तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥१॥

अर्थ—हे भगवन् ! पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार का चारित्र है उसका मैंने प्रमाद वश परिहापन (खंडन) किया हो, उसकी आलोचना-विशुद्धि करना चाहता हूं। उस तेरह प्रकार के चारित्र में पहला महाव्रत प्राणों के व्यतिपात से रहित है। उसमें मैंने असंख्यातासंख्यात पृथ्वीकायिक जीव, असख्यातासख्यात अप्कायिक जीव, असंख्यातासंख्यात तेजस्कायिक जीव, असख्यातासंख्यात वायुकायिक जीव, अननानत वनस्पतिकायिक जीव तथा हरित (सचित्त) बीज, अंकुर, छेदे भेदे, उनका उत्तापन, परितापन, विराधन और उपघात किया है, कराया है और करने वाले की अनुमोदना की है, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ॥१॥

गद्य—वेइंदिया जीवा :—असंखेज्जासंखेज्जा कुक्खि किमि संख खुल्लुय वराडय—अक्खरिट्ठवाल संबुक—सिप्पि पुलविकाइया तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥२॥

अर्थ—स्पर्शन और रसना ये जिनके दो इन्द्रियां होती है ऐसे दो इन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात संख्या प्रमाण है उनमें से कुक्षि, कृमि (लट) घावों मे पैदा होने वाले जीवों का भी ग्रहण किया गया है तथा शंख, क्षुल्लक (वाला) वराटक (कौडी) अक्ष, अरिष्टवाल (वाल जाति का ही जन्तु विशेष) संबूक (लघुशंख) सीप, पुलविक (पानी की जोंक) आदि अन्य भी दो इन्द्रिय जीव वहुत से है उनका उत्तापन, परितापन, विराधन और उपघात मैंने किया हो, कराया हो और करने वाले की अनुमोदना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ॥२॥

गद्य—तेइंदिया जीवा—असंखेज्जासंखेज्जा, कुन्थु—देहिय, विछिय गोभिंद—गोजुव—मक्कुणे, पिपीलियाइया, तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं. उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥३॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना और घ्राण ये जिनके तीन इंद्रिया होती है

ऐसे तीन इंद्रिय जीव असख्यातासख्यात सख्या प्रमाण है उनमे से कुन्थु (सूक्ष्म जतु) देहिक (उद्देवल) गोभिद, गोजो, मत्कुण (खटमल) पिपीलिका (कीडी) सावण की डोकरी आदि अन्य भी तीन इंद्रिय जीव बहुत से है उनका उत्तापन, परितापन, विराधन और उपघात मैने किया हो, कराया हो और करने वाले की अनुमोदना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३।।

गद्य—चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा दंसमसय, मक्खि, पयग-कीड-भमर-महुयर-गोमच्छि याइया, तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥४॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इद्रियां होती है ऐसे चार इद्रिय जीव असख्यातासख्यात सख्या प्रमाण है उनमें से दश (डाम) मशक (मच्छर) मक्खि (मक्खी) पयग (पतगा) कीट (गोमय-कीट, रक्तकीट, अर्ककीटादि) भ्रमर (भौरा) महुयर (मधुमक्खी) गोम-क्षिका इत्यादि असख्यातासख्यात संख्या प्रमाण जो चो इन्द्री जीव है उनका उत्तापन, परितापन, विराधन और उपघात मैने किया हो, कराया हो और करने वाले की अनुमोदना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।।४।।

गद्य—पंचिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा अंडाइया, पोदाइया, जराइया, रसाइया, संसेदिमा, सम्मुच्छिमा, उब्भेदिमा, उववादिमा अवि चउरासीदिजोणिपमुह सदस्सेसु, एदेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवधादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडम् ॥५॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये जिनके पाच इन्द्रिया होती है ऐसे पाच इन्द्रिय जीव असख्यातासख्यात सख्या प्रमाण है उनमे अडज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदिम सम्मूर्च्छिम, उद्भेदिम,

औपपादिक और भी चौरासीलाख योनियों में उत्पन्न इत्यादि असंख्याता-संख्यात सख्या प्रमाण पचेद्रिय जीव है इनका उत्तापन, परितापन, विराधन और उपघात मैंने किया हो, कराया हो और करने वाले की अनुमोदना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।५।।

विशेष—पचेद्रिय जीवों के जन्म तीन प्रकार के होते है :—[१] जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ :—जरायुज, अंडज और पोतज इन तीन प्रकार के जीवों के गर्भ जन्म ही होता है । [१] जरायुज—जाली के समान मास और खून से व्याप्त एक प्रकार की थैली से लिपटा हुआ जो जीव जन्म लेता है उसे 'जरायुज' कहते है। जैसे—गाय, भैस मनुष्य इत्यादि [२] अंडज—जो जीव अंडो में जन्म लेते हैं उन्हे 'अंडज' कहते है, जैसे चिड़िया, कबूतर, मोर इत्यादि पक्षी [३] पोतज—उत्पन्न होते समय जिन जीवो के शरीर के ऊपर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता उसे 'पोतज' कहते है, जैसे—सिह, व्याघ्र, हाथी, बदर इत्यादि । [२] देवनारकाणामुपपाद :—दूसरा उपपाद जन्म देव और नारकियों के होता है । [३] शेषाणा सम्मूर्च्छनम्—गर्भ और उपपाद जन्म वाले जीवों के अतिरिक्त शेष जीवो के सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है । यहा इस बात पर और विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है कि एकेन्द्रिय से असैनी चतुरिन्द्रिय जीवो के नियम से सम्मूर्च्छन जन्म होता है और असैनी तथा सैनी पंचेद्रिय तिर्यचो के गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनो प्रकार के जन्म होते हैं अर्थात् कुछ गर्भज और कुछ सम्मूर्च्छन होते है । लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यो के भी सम्मूर्च्छन जन्म होता है । उत्तापन, परितापन, विराधन एव उपघात का अन्तर पहिले समझाया जा चुका है ।

प्रतिक्रमण पीठिकादण्डक –

गद्य—इच्छामि भन्ते ! देवसियम्मि (राईयम्मि) आलोचेउं, पंच महव्वदाणि—तत्थपढमं महव्वदं पाणादिवादादो वेरमणं, विदियं महव्वदं मुसावादादो वेरमणं, तिदियं महव्वदं अदत्तादाणा दो वेरमणं चउत्थं महव्वदं मेहुणादो वेरमणं पंचमं महव्वदं परिग्गाहादो वेरमणं, छट्ठं अणुव्वदं राईभोय

णादो वेरमणं, ईरियासमिदीए, भासासमिदीए, एसणासमि
दीए, आदाण-णिक्खेवणसमिदीए, उच्चारपस्सवणखेलसिंहा
णवियडिपइट्ठावणियासमिदीए, मणगुत्तीए, वचिगुत्तीए,
कायगुत्तीए, णाणेसु; दंसणेसु, चरित्तेसु, बावीसाएपरीसहेसु,
पणवीसाएभावणासु, पणवीसाए किरियासु, अट्ठारस सील
सहस्सेसु, चउरासीदि गुण सयसहस्सेसु, बारसण्हं संजमाणं,
बारसण्हं तवाणं, बारसण्हं अङ्गाणं, चोदसण्हं पुव्वाणं, दस
ण्हं मुंडाणं, दसण्हं समणधम्माणं, दसण्हं धम्मज्झाणाणं,
णवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, णवण्हं णोकसायाणं, सोलसण्हं
कसायाणं, अट्ठण्हं कम्माणं; अट्ठण्हं पवयणमाउयाणं,
अट्ठण्हं सुद्धीणं, सत्तण्हं भयाणं, सत्तविह संसाराणं, छण्हं
जीव णिकायाणं; छण्णं आवासयाणं, पंचण्हं इंदियाणं,
पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हं समिदीणं, पंचण्हं चरित्ताणं,
चउण्हं सण्णाणं, चउण्हं पच्चयाणं, चउण्ह उवसग्गाणं, मूल
गुणाणं, उत्तरगुणाणं, दिट्ठियाए पुट्ठियाए, पदोसियाए, पर
दावणियाए, से कोहेण वा, माणेणवा, माएण वा, लोहेण
वा, रागेण वा; दोसेण वा, मोहेण वा, हस्सेण वा, भएण
वा, पदोसेण वा, पमादेण वा, पिम्मेण वा, पिवासेण वा,
लज्जेण वा, गारवेण वा, एदेसिं अच्चासणदाए, तिण्हं-
दण्डाणं, तिण्हं लेस्साणं, तिण्हं गारवाणं, दोण्हं अट्ट-
रुद्दसंकिलेसपरिणामाणं, तिण्हं अप्पसत्थ संकिलेस परि-
णामाणं, मिच्छाणाणमिच्छादंसण मिच्छाचरित्ताणं, मिच्छ-
त्तपाउग्गं, असंयमपाउग्गं, कसायपाउग्गं, जोगपाउग्गं,
अपाउग्गसेवणदाए, पाउग्गरहणदाए, इत्थ मे जो कोई
देवसिओ (राईओ) अदिक्कमो, वदिक्कमो, अइचारो,

अणाचारो, आभोगो, अणाभोगो। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि, मए पडिक्कंतं तस्स मे सम्मत्तमरणं, समाहिमरणं, पंडियमरणं, वीरियमरणं, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ॥२॥

अर्थ—हे भगवन्! व्रत, समिति, गुप्ति आदि में प्रमादादि वश जो कोई दैवसिक [रात्रिक] दोष लगे हैं उनकी आलोचना-विशुद्धि करना चाहता हूँ। पांच महाव्रत है—उनमें पहला अहिंसा महाव्रत प्राणों के व्यपरोपण से रहित है, दूसरा सत्य महाव्रत, मृषावाद से रहित है, तीसरा अचौर्य महाव्रत, अदत्तादान से रहित है चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत, मैथुन से रहित है, पांचवा परिग्रहत्याग महाव्रत परिग्रह से रहित है तथा छट्ठा अणुव्रत रात्रि भोजन से विरहित है। ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उच्चार-प्रस्रवण-क्ष्वेल सिंहानक विकृतिप्रतिष्ठापन [व्युत्सर्ग समिति] ये पांच समिति [सम्यक् प्रवृत्ति] हैं तथा मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति ये तीन गुप्ति है, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बावीस परिषह [१ क्षुधा २. तृषा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक ६. नाग्न्य ७. अरति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषद्या ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४ याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृणस्पर्श १८. मल १९. सत्कार पुरस्कार २० प्रज्ञा २१. अज्ञान २२. अदर्शन] पच्चीस भावना। अहिंसाव्रत की पांच भावनायें—[१] वाग्गुप्ति [२] मनोगुप्ति [३] ईर्या समिति [४] आदाननिक्षेपण समिति [५] आलोकितपान भोजन। सत्यव्रत की पांच भावनायें—[१] क्रोधप्रत्याख्यान [त्याग] [२] लोभ प्रत्याख्यान [३] भीरुत्वप्रत्याख्यान [४] हास्यप्रत्याख्यान [५] अनुवीचि भाषण [शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना] अचौर्यव्रत की पांच भावनायें—[१] शून्यागारवास [पर्वतों की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि निर्जन स्थानों में रहना [२] विमोचितावास [दूसरों के द्वारा छोड़े गये स्थान में निवास करना] [३] परोपरोधाकरण—[अपने स्थान पर ठहरे हुए दूसरे को नहीं रोकना भैक्ष्यशुद्धि—शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना। सद्धर्माविसंवाद—

सहधर्मियों के साथ यह मेरा है, यह तेरा है, ऐसा क्लेश नही करना] [५] **ब्रह्मचर्यव्रत की पांच भावनायें**—स्त्रीरागकथा श्रवण का त्याग, तन्मनोहराङ्ग निरीक्षण त्याग, [उन स्त्रियों के मनोहर अङ्गो को देखने का त्याग] पूर्वरतानुस्मरण त्याग [अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग] वृष्येष्ट रसत्याग [कामवर्द्धक गरिष्ठ रसों का त्याग करना और अपने शरीर के सस्कारो का त्याग करना] **परिग्रहत्याग की पांच भावनाये**—स्पर्शन आदि पाचो इंद्रियों के इष्ट, अनिष्ट आदि विषयो में क्रम से राग द्वेष का त्याग करना ये पाचो व्रतो की २५ भावनाओं का सक्षेप में वर्णन किया है। **पच्चीस क्रियाओं में** पहली सम्यक्त्व वर्धिनी क्रिया का अनुष्ठान पालन और मिथ्यात्व क्रिया आदि चौवीस क्रियाओं का अननुष्ठान [त्याग] १. **सम्यक्त्वक्रिया** (चैत्य (जिन प्रतिमा) गुरु (निर्ग्रन्थ) प्रवचन (शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्यो से सम्यक्त्व की वृद्धि होती है। २. **मिथ्यात्वक्रिया** (कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के पूजा स्तवनादि रूप मिथ्यात्व की कारण वाली क्रिया) ३ **प्रयोगक्रिया** (हाथ, पैर इत्यादि चलाने के भावरूप, इच्छारूप क्रिया) ४ **समादान क्रिया** (संयमी का असयम के सम्मुख होना) ५ **ईर्यापथ क्रिया** (समादान क्रिया से विपरीत क्रिया अर्थात् संयम बढाने के लिये साधु जो क्रिया करता है।) **निम्नलिखित पांच क्रियाओं में हिंसा के भाव की मुख्यता है।** ६. **प्रादोषिकी क्रिया** (क्रोध के आवेश से द्वेषादिक रूप बुद्धि करना) ७. **कायिकी क्रिया** (उपर्युक्त दोष उत्पन्न होने पर हाथ से मारना मुख से गाली देना, इत्यादि प्रवृत्ति का भाग ८ **अधिकरणिकी क्रिया**—हिसा के साधन भूत बन्दूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना। ९ **परिताप क्रिया**—दूसरे को दु:ख देने मे लगना। १०. **प्राणातिपात क्रिया**—दूसरे के शरीर, इन्द्रिय, वा श्वासोच्छ्वास नष्ट करना। **निम्नलिखित पांच क्रियाओं का सम्बन्ध इन्द्रिय के भोगों के साथ है।** ११ **दर्शन क्रिया**—रागादि भाव से सौंदर्य को देखने की इच्छा। १२. **स्पर्शन क्रिया**—किसी चीज के स्पर्शन करने की इच्छा। १३ **प्रात्ययिकी क्रिया**—इन्द्रिय के भोगो की वृद्धि के लिये नवीन नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना। १४. **समन्तानुपात क्रिया**—स्त्री, पुरुष तथा पशुओ के उठने, वैठने के स्थान को मलमूत्र से खराब करना। १५. **अनाभोग क्रिया**—बिना देखे या विना शोधी जमीन

पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना, उठाना। निम्नलिखित पांच क्रियायें, उच्च धर्माचरण में धक्का पहुँचाने वाली हैं। १६. स्वहस्त क्रिया—जो काम दूसरों के योग्य हो उसे स्वयं करना। १७. निसर्ग क्रिया—पाप के साधनों के लेने देने में सम्मति देना। १८. विदारण क्रिया—आलस्य के वश हो अच्छे काम न करना और दूसरे के दोष प्रकट करना। १९. आज्ञाव्यापादिनी क्रिया—शास्त्र की आज्ञा का स्वयं पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना। २०. अनाकांक्षा क्रिया—उन्मत्तपना या आलस्य के वश हो प्रवचन (शास्त्रों) में कही गई आज्ञाओं के प्रति आदर या प्रेम न रखना। निम्न ५ प्रकार की क्रियाओं के होने से धर्म धारण करने में विमुखता होती है। २१. आरम्भ क्रिया—हानिकारक कार्यों मे रुकना, छेदना, तोडना, भेदना या अन्य कोई वैसा करे तो हर्षित होना। २२. परिग्रह क्रिया—परिग्रह का कुछ भी नाश न हो ऐसे उपायों में लगे रहना। २३. माया क्रिया—मायाचार मे ज्ञानादि गुणो का छिपाना। २४. मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्या दृष्टियों की तथा मिथ्यात्व से परिपूर्ण कार्यो की प्रशंसा करना। २५. अप्रत्याख्यान क्रिया—जो त्याग करने योग्य हो उनका त्याग न करना (प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है, विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग करने के बदले उसमे आसक्ति करना) इस प्रकार पच्चीस क्रियाओं का सक्षेप में वर्णन किया गया। **अट्ठारस सीलसहस्सेसु**—अठारह हजार शीलो मे (इनका विशेष विवरण पीछे पृष्ठ संख्या १६५ मे दिया गया है। **चउरासीदिगुणसहस्सेसु**—चौरासी लाख उत्तरगुणों में :—

८४ लाख उत्तर गुणों का विवरण :—५ पंच पाप, हिंसादि। १. प्राणिवध (हिंसा) २. मृषावाद (झूठ) ३. अदत्तादान (चोरी) ४. मैथुन (कुशील) ५. परिग्रह। ४ कषाय १. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ। ४ नोकषाय (१. भय, २. अरति, ३. रति, ४. जुगुप्सा। ३ योग १. मन, २. वचन, ३. काय) १ मिथ्यादर्शन। १ प्रमाद। १ पिशुनत्व। १ अज्ञान। १ पर इन्द्रियों का अनिग्रह। २१ को १ अतिक्रम, २ व्यतिक्रम, ३ अतिचार, ४ अनाचार से गुणा करने पर ८४ भेद हुये इनको १. पृथ्वीकायिक, २. जलकायिक, ३ अग्निकायिक, ४. वायुकायिक, ५. प्रत्येक वनस्पति, ६. अनंतकायिक—साधारण वनस्पति, ७. द्वीन्द्रिय, ८. त्रीन्द्रिय,

९. चतुरिन्द्रिय, १०. पंचेन्द्रिय ये आपस मे गुणने से १०० भेद होते है तथा पूर्वगाथा में कहे हुये चौरासी भेदो के साथ गुणने पर ८४०० चौरासी सौ भेद होते है। इनको १० प्रकार की विराधना अब्रह्म कारणों के भेदों से गुणा करने पर ८४००० कुलभेद होगे वे **विराधना के १० भेद** निम्नलिखित है —१. **स्त्रीसंसर्ग**—सराग होकर स्त्रियों के साथ अतिशय प्रणय रखना। २. **प्रणीतरस भोजन**—तीव्र अभिलाषा से पंचेन्द्रियों में मद उत्पन्न करने वाला आहार ग्रहण करना। ३. **गंधमाल्य संस्पर्श**—सुगधित तैल तथा चंपकादि पुष्पों से शरीर सस्कार करना। ४. **शयनासन**—कोमल शय्या, कोमल आसनों में अभिलाषा रखना। ५. **भूषणकं**—शरीर को भूषित करने वाले मुकुट, कडे, हार आदि अलकार धारण करने की इच्छा का रखना। ३ **गीतवादित्र**—सा, रे, ग, म–आदिक स्वरयुक्त गायन और मृदग, वीणा, ताल आदिक वाद्य तथा करवादन इनको वजाने की इच्छा रखना। राग भावना से नृत्य, गाना बजाना आदि अभिलाषा रखना। ७. **अर्थस्य संप्रयोग**—सुवर्णादि द्रव्यों की अभिलाषा होना। ८. **कुशीलसंसर्ग** कुशील में प्रेम रखने वाले लोगो के साथ सगति रखना। ९ **राजसेवा**—विषयभोग की अभिलाषा रखकर राजा की स्तुति प्रशसा करना। १० **रात्रिसंचरण**—कार्यान्तर से रात्रि मे भ्रमण करना ये दस शीलविराधनाये है इन दस विकल्पो से पूर्वोक्त ८४०० भेदों को गुणाने पर ८४०.०० चौरासी हजार भेद होते है। १०. **आलोचना दोषों का विवेचन**--१ **आकंपित दोष**—अन्न, पान, उपकरणादि के द्वारा आचार्य को अपना कर (कहकर) जो दोषो की आलोचना करना। २. **अनुमानित दोष**—मेरा शरीर दुर्बल है, मुझमें अल्प सामर्थ्य है, ऐसा दीन वचन बोलकर, आचार्य के मन मे दया उत्पन्न करके, अपने दोष कहना। ३ **यद्दृष्टदोष**--दूसरे व्यक्तियो ने जिन दोपो को देखा है उनकी तो आलोचना करना और दूसरों के द्वारा नही देखे हुये दोषो को छिपाना। ४. **बादरदोष**—अहिंसादिक व्रतो मे जो बडे दोष उत्पन्न हुए हों उनको निवेदन करना। ५. **सूक्ष्मदोष**—मैने गीले हाथ से वस्तु को स्पर्श किया था इत्यादि छोटे २ दोषों को प्रकट कर महा व्रतादिको मे जो बडे दोष उत्पन्न हुए हो उन्हे न कहना। ६. **छन्नदोष**—अमुक दोष किया जाने पर कौनसा प्रायश्चित्त लेना चाहिये ऐसा प्रश्न करके उस दोष का जो प्रायश्चित्त गुरु ने बताया

है वह सुन कर प्रायश्चित्त करना। ७. शब्दाकुलितदोष—पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिकादिक प्रतिक्रमण काल मे बहुजन मिलकर प्रतिक्रमण करते हैं, उस समय अपने अपराध निवेदन करना। ८ बहुजनदोष—एक आचार्य के समीप दोप कहने पर तथा उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त को ग्रहण कर पुन. उसमे अश्रद्धा कर दूसरे आचार्य को पूछना। ६ अव्यक्त—जो प्रायश्चित्त को नही जानता है उसके समक्ष अपने दोप कहने से थोडा प्रायश्चित्त मिलेगा ऐसा समझकर दोप कहना। १० तत्सेवी—जो अपने सरीखा दोषी है, उसके पास जाकर महा प्रायश्चित्त के भय से अपने दोप प्रकट करना। उपर्युक्त चौरासी हजार भेदों को आकंपितादि दश दोषों के द्वारा गुणने पर आठ लाख चालीस हजार भेद होते है। १० आलोचनादि प्रायश्चित्तों का वर्णन—१. आलोचन—गुरु के समक्ष, दश दोप वर्जित, अपने किये हुये प्रमाद का निवेदन करना। २. प्रतिक्रमण—व्रत के अतिचारों का परिहार (त्याग) करना। ३. उभय—दुःस्वप्न आदिक से जो अशुभ सकल्प उत्पन्न होकर दोप उत्पन्न होते है उनका परिहार, प्रतिक्रमण और आलोचना इन दोनों से करना। ४ विवेक—जिसमें आसक्ति उत्पन्न होती है ऐसे अन्न, पान और उपकरणादिको का त्याग करना। ५. व्युत्सर्ग—कायोत्सर्गादिक करना। ६ तप—अनशन, अवमोदर्यादिक १२ प्रकार का तप शक्तिप्रमाण करना। ७. छेद—दिवस, पक्ष, मासादिक से दीक्षा का प्रायश्चित्त रूप में छेदन करना। ८. मूल—पुनः (दुवारा) दीक्षा देना। ९. परिहार—पक्ष, मासादिक विभाग से (सघ से) दूर त्यागना। १० श्रद्धान—सावद्य में मन लगने पर मिथ्यात्व से और पाप से उसको हटाना। ये १० प्रकार की आलोचना प्रायश्चित्त करने मे दोषों का नाश होता है। पूर्व भेद आठ लाख, चालीस हजार होते है और उनको इन १० भेदो मे गुणा करने पर चौरासी लाख, उत्तर गुण होते है। चौरासी लाख दोषो के भेद है और उनका त्याग करने मे चौरासी लाख उत्तर गुण प्राप्त होते है।

बारसण्हं तवाणं—बारह प्रकार के तप (छह बाह्य तथा छह अभ्यन्तर तप) बारसण्हं अंगाणं—बारह प्रकार के अग (आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपा-

सकाध्ययनांग, अन्त: कृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिक दशाग, प्रश्नव्याकरणाग, विपाकसूत्राग और दृष्टिप्रवाद अ ग; इनके विषय का वर्णन श्रुतभक्ति पृष्ठ ३३ से ३६ मे दिया गया है वहां देख लेना चाहिये) **बारसएहं संजमाणं**—बारह प्रकार के संयमों में (पांच प्रकार का इ द्रिय तथा छठा मन का सयम और छह प्रकार के प्राणियो की रक्षा रूप सयम) **चोदसएहं पुव्वाणं**—चौदह प्रकार के पूर्व (उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यानु-प्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणानुवाद, प्राणावायप्रवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दु इनका विशेष वर्णन श्रुतभक्ति पृष्ठ ३८ से ४० तक देख लेवें) **दसण्हं मुंडाणं**—दश मु ड (पांच प्रकार की इ द्रियो की प्रवृत्ति को रोकना, वचन की प्रवृत्ति को रोकना, हाथो की प्रवृत्ति को रोकना, पैरो की प्रवृत्ति को रोकना, शरीर की प्रवृत्ति को रोकना तथा मन की प्रवृत्ति को रोकना, यही आगम मे बतलाया गया है) **दसण्हं समण-धम्माणं**—दशश्रमण धर्म (उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तम-सत्य, उत्तमशौच, उत्तमसयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य) **दसण्हं धम्मज्झाणं**—**अपायविचय**—सन्मार्ग से मिथ्या दृष्टि दूर ही है अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से जीव की किस प्रकार हानि होती है ऐसा विचार करना 'अपायविचय' है। **उपायविचय**—दर्शन मोहादि के कारण वश से जीव का सम्यग्दर्शनादि से पराङमुख होना। **विपाकविचय**—कर्म के फल का (उदय का) विचार करना। **विरागविचय**—ससार, देह और विषयभोगों में दु ख के हेतुत्व तथा अनित्यत्व का चितवन करना। **लोकविचय**—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक तथा अधोलोक के विभाग से तथा अनादि और अ त रहित लोक के स्वरूप का चितवन करना। **भवविचय**—नरकादि चारों गतियों का विचार करना। **जीवविचय**—उपयोगमयी जीव है और वे अनादि से है तथा अनन्त काल तक रहेगे; वे मुक्त और ससारी के भेद से दो प्रकार के है, इत्यादि जीव के स्वरूप का चिन्तवन करना। **आज्ञाविचय**—आगम की प्रमाणता से अपने उपार्जन किये हुये कर्म के वश से अन्य भव की

प्राप्ति करना सो संसार है, वहां भ्रमण करता हुआ जीव, पिता होकर पुत्र या पौत्र बन जाता है; माता होकर बहिन, भार्या या पुत्री बन जाती है, स्वामी होकर दास हो जाता है और दास होकर स्वामी भी हो जाता है। **णवण्हं बंभचेरगुत्तीणं** नव ब्रह्मचर्यगुप्तियों में (तिर्यन्च, मनुष्य और देवियों में मन, वचन तथा काय से विषय का सेवन नही करना अथवा स्त्री सामान्य जाति का मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से विषय सेवन नही करना) **णवण्हं णोकसायाणं**—नो किंचित् कषायों में (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद) **सोलसण्हं कसायाणं**—सोलह कषायों में (चार अनंतानुबंधी, चार अप्रत्याख्यान, चार प्रत्याख्यान, चार सज्वलन) **अट्ठण्हं कम्माणं**—आठ कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय) **अट्ठण्हं पवयणं माउयाणं**—आठ प्रवचन मातृका (पांच समिति तीन गुप्ति) **अट्ठण्हं सुद्धीणं**—आठ शुद्धि (मन, वचन, काय, आहार, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन और विनय) **सत्तण्हं भयाणं**—सातभय (इसलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, मरण भय, अनरक्षाभय, अकस्मात्भय) **सत्तण्हं संसाराणं**—सात प्रकार का संसार (एकेन्द्रिय के दो भेद सूक्ष्म तथा बादर, विकलेन्द्रिय के तीन भेद, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पचेन्द्रिय के दो भेद (सज्ञी पचेन्द्रिय तथा असज्ञी पचेन्द्रिय इनके कारणरूप कम तथा उनको पीड़ा देने वाला कार्य नही करना चाहिये। **छण्हं जीवणिकायाण**—छह जीव निकाय (पांच प्रकार के स्थावर तथा छठे त्रस जीवों की विराधना नही करना) **छण्हं आवासियाणं**—छह आवश्यक (समता—(सामायिक) शत्रु और मित्रादि मे राग द्वेष का नही करना। स्तव—चतुर्विंशति तीर्थंकर देवों मे सम्बन्ध रखने वाली स्तुति। वंदना—एक तीर्थंकर से सबंध रखने वाली स्तुति। प्रतिक्रमण—पूर्व कृत पापों का परित्याग। प्रत्याख्यान—आगामी पापों का परित्याग। व्युत्सर्ग—(शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग) **पंचण्हं इंदियाणं**—पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और

श्रोत्र) के विषयों का त्याग। **पंचण्हं-महव्वयाणं**-पांच महाव्रत (अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, आचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहत्याग महाव्रत) **पंचण्हं समिदीणं**—पांच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, व्युत्सर्ग) **पंचण्हं चरित्ताणं**—पांच चारित्त (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसापराय, यथाख्यात) का पालन प्रति दिन मुनियों को करते रहना चाहिये। **चउण्हं सण्णाणं**—चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) का निग्रह मुनियो को प्रतिदिन करना चाहिये। **चउण्हं पच्चयाणं**—चार प्रकार का प्रत्यय (कर्मबन्ध के कारण, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग का प्रतिदिन त्याग करना चाहिये। **चउण्हं उवसग्गाणं**—चार प्रकार के उपसर्ग (देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंच-कृत तथा अचेतन--प्रकृतिकृतकोपादि को सहन करना) **मूलगुणाणं**—(२८ मूलगुणो के पालन करने मे), व **उत्तरगुणाणं**—उत्तर गुणो के पालन करने मे, ऊपर लिखे हुये कर्त्तव्यो के पालन सम्बन्धी दोषो में, **दिट्ठियाए**---दृष्टिक्रिया (देखने सम्बन्धी) **पुट्ठियाए**---पुष्टिक्रिया (स्पर्श सम्बन्धी) **पदोसियाए**---प्रादोषिकी क्रिया (कोधादि के द्वारा उत्पन्न दुष्टमनवचनकायसम्बन्धी क्रिया) **परदावणिआए**---परतापनिकी क्रिया (दूसरों को सताने वाली क्रिया से) क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, राग से, द्वेष से, मोह से, हास्य मे, भय से **पदोसेण वा** (प्रदोष से) प्रमाद से, **पिम्मेणवा** (प्रेम से) **पिवासेण वा** [पिपासा से] [पर वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा से] **लज्जेण वा** लज्जा से और **गारवेण वा** गौरव से **एदेसिं** इनमें जो **अच्चासणदाए** अत्यासना [अवहेलना] हुई हो तथा तीन दंड [जीव को सताने वाले दुष्ट मन, दुष्ट वचन और दुष्ट काय] तीन लेश्या [जीव को पाप से लिप्त करने वाली कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के खोटे भावो का परित्याग तथा तीन पुण्य [पीत, पद्म, और शुक्ल] लेश्याये रूप प्रवृत्ति] तीन गारव ऋद्धिगारव, रसगारव तथा शब्दगारव। **दोण्हं अट्टरुद्द संकिलेसपरिणामाणं**---दो आर्त्तरौद्र

रूप संक्लेश परिणाम आर्त्तध्यान चार प्रकार का [इष्टवियोग सम्बन्धी, अनिष्ट संयोग सम्बन्धी, वेदना सम्बन्धी, निदान सम्बन्धी] रौद्र ध्यान चार प्रकार का [हिंसानंदी, अमृषानंदी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी] ये दोनों ही ध्यान संक्लेश परिणामों को करने वाले है। **तिण्हं अप्पसत्थ संकिलेस परिणामाणं**—तीन अप्रशस्त संक्लेश परिणाम [माया, मिथ्या और निदान रूप बुरे, तथा पाप के उत्पन्न करने में निमित्तभूत संक्लेश परिणामों का] मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र, **मिच्छत्तपाउग्ग**--मिथ्यात्वप्रायोग्य [मिथ्यात्व के योग्य, कुदेव, कुधर्म तथा कुगुरु को सेवा] सम्बन्धी आयोजनों का त्याग, **असंयमप्रायोग्य** [बारह प्रकार के असंयमों का त्याग [छह प्रकार के जीवों की विराधना का त्याग तथा पांच इन्द्रिय और छठे मन की दुष्ट प्रवृत्ति का त्याग] **कषायप्रायोग्य** [१६ कषाय तथा ६ नो कषायों की अधीनता का त्याग] **जोग पाओग्गं**—योग्यप्रायोग्य [आत्मा के प्रदेश हलन चलन को योग कहते है ये १५ प्रकार के है] ४ मन के [सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग] ४ वचन के [सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचन योग] ७ काय के [औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, तैजस, कार्माण] उन योगों की दुष्ट प्रकृति का त्याग करना] **अपाओग्ग सेवणदाए**—अप्रायोग्य सेवनता [जो सेवन करने योग्य नही है उनके सेवन करने का त्याग करना अर्थात् असयम के निमित्त फूल, फल, पत्र, घासादि का नखादि से तोडने का त्याग करना तथा दूसरों की हंसी और गीत, नृत्यादि का भी त्याग करना] **पाउग्गरहणदाए**—प्रयोग्य ग्रहणता [ग्रहण करने के योग्य सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप की वृद्धि करने वाले साधनों में अनादर करने का त्याग] इत्यादि कार्यों मे जो दिन मे या रात्रि में **अदिक्कमो** अतिक्रम [मन की शुद्धि मे कमी आना अर्थात् चित्त के संक्लेश से आगमोक्त काल से अधिक काल तक आवश्यकादि क्रियाओं का करना] **वदिक्कमो** व्यतिक्रम [विषयों की अभिलाषा मे रुचि होना अथवा विषयो मे रुचि के कारण आगमोक्त काल मे कम समय तक आवश्यकादि क्रियाओं का करना] अतिचार [आवश्यक कार्यो के करने में आलस्य

करना] अनाचार [व्रतों का भंग करना] यही बात इस श्लोक के द्वारा बताई गई है।

अतिक्रमो मानसशुद्धिहानि र्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथाऽतिचारः करणालसत्वं. भंगो ह्यनाचार इह व्रतानाम् ॥१॥

आभोग [कापोतलेश्या के वश मे पूजा प्रतिष्ठा की भावना से अति प्रकट रूप से कार्य को करना] अनाभोग [लज्जा आदि के कारण अप्रकट रूप से कार्य को करना] आदि भावनाओ से [विचारों से] जो दोष लगे है उनका हे भगवन्! मै प्रतिक्रमण करता हूँ—उन सब मे लगे अतिक्रमणादि दोषो को दूर करता हूँ। इस प्रकार अतिक्रमणादि दोष मैने किये—उनका शोधन किया। उस मेरे दोष शोधन करने वाले का फल सम्यक्त्वयुक्त मरण, समाधिमरण [धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान पूर्वक मरण] पडितमरण [भक्तप्रत्याख्यान, इ गिनीमरण, प्रायोपगमन इनका विशेष विवरण भगवती आराधना से जानना चाहिये] वीर्यमरण [वीर्ययुक्त और दीनता रहित मरण होवे, दु खो का क्षय. कर्मो का क्षय] बोधि [रत्नत्रय का लाभ] सुगति मे गमन और श्री देवाधिदेव जिनेन्द्र के गुणों की सप्राप्ति होवे।

गाथा--वदसमिदिंदियरोधो. लोचो आवासयमचेलमण्हाणं!
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदि भोयणमेयभत्तं च ॥१॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तो हं ॥१॥

गद्य- छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं। (इति प्रतिक्रमण पीठिका दंडकः)

विशेष—इसका अर्थ पहले पृष्ठ संख्या में देखें।

गद्य--अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण क्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्म क्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्री प्रतिक्रमणभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्।

अर्थ—अब मैं सब अतिचारो की विशुद्धि के अर्थ प्रतिक्रमण क्रिया

में किये गये दोषों के निराकरणार्थ पूर्वाचार्यों की परिपाटी के अनुसार सकलकर्मों के क्षय के निमित्त, भावपूजा, वंदना स्तव, सहित प्रतिक्रमण भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं—

गद्य--णमो अरहन्ताणं इत्यादि दंडकं पठित्वा कायोत्सर्गं कुर्यात् अनंतरं थोस्सामीत्यादि पठेत् ।

अर्थ—प्रथम णमो अरहंताणं, इत्यादि सामायिक दंडक पढकर सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे पश्चात् चतुर्विशति स्तव ['थोस्सामि' का पाठ] पढे ।

निषिद्धिका दंडक—

गाथा–णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥३॥

इस गाथा को तीन बार पढना चाहिये ।

अर्थ—अरहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक मे सब साधुओ को नमस्कार हो ॥३॥

गद्य--णमो जिणाणं, णमो जिणाणं, णमो जिणाणं ! णमो णिस्सिहीए णमो णिस्सिहीए, णमो णिस्सिहीए ! णमोत्थुदे णमोत्थुदे, णमोत्थुदे ! अरहंत ! सिद्ध ! बुद्ध ! णीरय ! णिम्मल ! सममण ! सुभमण ! सुसमत्थ ! समजोग ! समभाव । सल्लघट्टाण सल्ल घत्ताण । णिब्भय । णीराय ! णिद्दोस । णिम्मोह । णिम्मम । णिस्संग णिस्सल्ल । माण-माय मोस-मूरण । तवप्पहावण । गुणरयण । सीलसायर । अणंत अप्पमेय । महदिमहावीर वड्ढमाण बुद्धिरिसिणो चेदि णमोत्थुए, णमोत्थुए णमोत्थुए !

अर्थ—संसार की प्राप्ति के कारण कर्मरूप शत्रुओं को जीत लेने वाले जिनदेवो को नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो । निषिद्धिकाओ को नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो । हे घाति कर्म क्षय कारक

अर्हन्त ! हे निःशेष कर्मोन्मूलक सिद्ध ! हे हेयोपादेय विवेक सम्पन्न बुद्ध ! हे ज्ञानदर्शनावरण रज से रहित नीरज ! हे द्रव्य भाव कलक रहित निर्मल ! हे तृण काचन और शत्रु मित्र तुल्य मन ! सम मन ! हे आर्त्त–रौद्र रहित सुमन ! हे कायक्लेशानुष्ठान और परिषह सहने में सुसमर्थ ! हे परमोपशम से युक्त शमयोग ! हे ससार के उपशम अथवा राग द्वेष के परिहार के लिये द्वादश अनुप्रेक्षा भावना रूप भाव वाले शम भाव ! इस प्रकार के आप जो अर्हन्तादिक हैं आप सब को नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। इस प्रकार सामान्यत· अर्हन्त आदिको की स्तुति कर पुन· विशेषरूप से अंतिम तीर्थंकर की स्तुति करते हुये कहते हैं—हे माया, मिथ्या और निदान रूप ३ शल्यो से पोडित जीवों के उन शल्यों के विनाशक ! हे सप्त भयों से रहित निर्भय ! हे राग द्वेष से निष्क्रात नोराग ! हे निष्कलक अथवा अष्टादश दोषों से रहित निर्दोष ! हे अज्ञान अथवा दर्शनमोह और चारित्रमोह से निष्क्रान्त निर्मोह ! हे सभी विषयों से ममता रहित निर्मम ! हे बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित निःसंग, हे माया आदि शल्यो से विरहित नि.शल्य ! हे मान, माया और मृषा के मर्दक ! हे मानमायामोपमूरण [मान का अर्थ गर्व, माया का अर्थ मन, वचन और काययोग की वक्रता, मोष का अर्थ झूठ बोलना, उनका मूरण अर्थात् मर्दन करने वाले ! हे तप. प्रभावक ! हे चौरासी लाख गुण रूप रत्नों के भंडार गुण-रत्न ! हे अठारह हजार शीलों के समुद्र शील सागर ! हे अनत केवलज्ञान, दर्शन आदि से युक्त अनन्त ! हे इद्रियज्ञान से अपरिच्छेद्य अप्रमेय ! हे महति महावीर वर्धमान ! हे यथावत् परिज्ञान अशेषार्थ स्वरूप केवलज्ञानादि नव लब्धि सम्पन्न ! बुद्धिषिन् ! आपको त्रिवार नमस्कार हो।

विशेष.—संसार मे पंच परमेष्ठी ही साधुओं के लिये मंगल रूप होते हैं और कोई नही क्योंकि ये ही पूर्वजन्म के 'मम्' अर्थात् पाप को गालने मे समर्थ हैं तथा ये पांचों १. अर्हंत २. सिद्ध ३. आचार्य ४. उपाध्याय और ५ साधु परमेष्ठी ही 'मम्' अर्थात् आन्तरिक एव आत्मिक सुख को प्रदान करने में समर्थ हैं। यही आप्तपरीक्षा में भी मंगलाचरण करते हुये लिखा गया है कि—

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धि प्रसादात् परमेष्ठिनः ।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः ॥

और यही भाव आगे के दो गद्यों में भी आचार्य श्री गोतमस्वामी ने भी प्रकट किया है ।

गद्य—मम मंगलं अरहंता य सिद्धा य, बुद्धा य, जिणा य, केवलिणो, ओहिणाणिणो, मणपज्जव णाणिणो, चउदसपुव्वंगामिणो, सुदसमिदिसमिद्धा य, तवो य, बारहविहो तवस्सी, गुणा य, गुणवंतो य, महरिसी, तित्थंकरा य, पवयणं, पवयणी य, णाणं, णाणी य, दंसणं दंसणी य, संजमो संजदा य, विणओ, विणदा य, बंभचेरवासो, बंभचारी य, गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य, मुत्तीओ चेव मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमंतो य, सुसमयपरसमय विदू, खंति खंतिवंतो य, खवगा य, खीणमोहा य, खीणवंतो य, वोहियबुद्धा य, बुद्धिमंतो य, चेइयरुक्खा य, चेइयाणि।

अर्थ—मम—मेरे मंगलं मंगल रूप ये निम्न लिखित कौन २ से हैं उन्हें बतलाते हुये आचार्य कहते हैं:—अरहंता य—अर्हंत भगवान् सिद्धाय सिद्ध भगवान्, बुद्धाय—स्वय बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध, जिणाय—जिनेन्द्र भगवान्, केवलिणो—सयोग केवली और अयोग केवली, ओहिणाणिणो अवधिज्ञानी, मणपज्जवणाणिणो—मनः पर्यय ज्ञानी, चउदसपुव्वंगामिणो चउदह पूर्व के ज्ञाता, सुदसमिदिसमिद्धा य—श्रुतज्ञान और समितियों से युक्त, तवोय—बारह प्रकार का तप तथा बारहविहो तवस्सी-१२ प्रकार के तप को धारण करने वाले, गुणाय—८४ लाख गुण और गुणवंतोय और उन गुणों के धारक महरिसी—कोष्ठ बुद्धि आदि ऋद्धियों से युक्त महर्षि, तित्थं—तीर्थ तित्थंकराय—तीर्थङ्कर देव पवयणंच—पूर्वापर दोषो से रहित प्रवचन, पवयणी य प्रकृष्ट वचनो से युक्त मुनि णाणं—मत्यादि

५ प्रकार के ज्ञान **णाणीय**—उन ज्ञानो से युक्त, **दंसणं**—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, **दंसणी य**- इन तीनो से युक्ति-मुनि **संजमो**—१२ प्रकार का सयम, **संजदा य** और इनको पालने वाले मुनि **विणओ**—४ प्रकार का विनय तथा **विणदा य** उन विनयों के धारी मुनि, **बंभचेरवासो**—ब्रह्मचर्याश्रम तथा **बंभचारी य** इसके पालने वाले मुनि, **गुत्तीओ चेव**—मन, वचन और काय की गुप्ति, तथा **गुत्तिमंतो अ** इन तीन गुप्तियों के पालने वाले मुनि, **मुत्तीओ चेव**—बाहर तथा भीतर के परिग्रह के त्याग की अवस्था तथा **मुत्तिमंतो य** इनके त्यागने वाले मुनि, **समिदीओ चेव** पाच समितियां तथा **समिदीमंतो य** उनके पालने वाले मुनि, **सुसमयपरसमय विदू** स्वसमय तथा पर समय (सिद्धात) के ज्ञाता, **खंति** क्षमा तथा **खंतिवंतो य**—इस गुण को धारण करने वाले मुनि, **क्खवगा य**—श्रेणी मे आरूढ मुनि **खीणमोहा य**—क्षीण मोह गुण-स्थान तथा, **खीणवंतो य** इस गुणस्थान से युक्त महर्षि **बोहियबुद्धा य** बोधितबुद्ध, **बुद्धिमंतोय** बुद्धि आदि ऋद्धियों के धारक तपस्वी, **चेइय-रुक्खा य** चैत्यवृक्ष, **चेइयाणि**—चैत्य (जिन बिम्ब)।

गद्य—**उड्ढमहतिरियलोए, सिद्धायदणाणि णमंस्सामि, सिद्धणि-सीहियाओ, अट्ठावयपव्वये. सम्मेदे उज्जंते, चंपाए, पावाए, मज्झिमाए, हत्थिवालियसहाए, जाओ अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ, जीवलोयम्मि, इसिपब्भार तलगयाणं; सिद्धाणं, बुद्धाणं, कम्मचक्कमुक्काणं. णीरयाणं णिम्मलाणं, गुरुआइरिय उवज्झायाणं, पव्वतित्थेरकुलयराणं, चउवण्णो य, समणसंघो य. दससु भरहेरावएसु. पंचसु महाविदेहेसु. जे लोए संति. साहवो. संजदा. तवसी एदे मम मंगलं पवित्तं. एदेहं मंगलं करेमि. भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्मि. तिविहं. तियरण सुद्धो।**

अर्थ—मैं उड्ढमहतिरियलोए ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोकवर्त्ती सिद्धायदणाणि सर्वसिद्धायतनो को णमंस्सामि (नमस्कार करता हू) अट्ठावयपव्वये (कैलाश पर्वत) सम्मेदे (सम्मेदशिखर) उज्जंते (गिरनार) चंपाए (चपापुर) पावाए (पावापुर) मज्भिमाए (मध्यम-पावा) हत्थिवालियसहाए (यह एक प्रसिद्ध राजा हुआ है जिसने बड़ी भारी सभा करके जैन शासन में बड़ी उन्नति का कार्य किया है ।) इन सभी स्थानों पर जो सिद्धिनिपिद्धिकाएं (निर्वाण क्षेत्र) हैं; उन सबको नमस्कार करता हूं । जाओ अण्णाओ काओवि इसके अतिरिक्त जीवलोयम्मि इसिपव्भार तलगयाणं अन्य ढाई द्वीप और दो समुद्रो मे, मोक्ष शिला के ऊपर के भाग मे अवस्थित सिद्धाणं सब सिद्ध बुद्धाणं बुद्ध कम्मचक्क मुक्काणं (कर्मचक्र से मुक्त) णीरयाणं (नीरज) णिम्मलाणं निर्मल (मल से रहित) गुरु आइरियउवज्भायाणं (गुरु, आचार्य, उपाध्याय) पव्वतित्थेरकुलयराण (प्रवर्त्तक, स्थविर और गणधर, इनकी जो कोई भी निषिद्धिकाये हैं, उन सबको नमस्कार करता हू ।] दससु भरहेरावएसु पंचसु महाविदेहेसु तथा पाच भरत, पाच ऐरावत और पांच विदेह क्षेत्रो में चउवण्णो य सवणसंघोय ऋषि [ऋद्धि धारक साधु] यति [इन्द्रियों को वशमें करने वाले, तथा उपशम या क्षपक श्रेणी को मांडने वाले] मुनि [अवधि ज्ञानी या मनः पर्यय ज्ञानी साधु और] अनगार [सामान्य साधु] यह जो चातुर्वर्ण्य श्रमणसघ है । जे लोए साहवो, संजदा, तवसी संति तथा लोक में मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त क्षेत्र में जो साधु संयत तपस्वी हैं । एदे मम मंगलं वे मेरे लिये पवित्र मंगल स्वरूप होवें एदेहं मंगलं करेमि, भावदो विसुद्धो सिरसा अहिणंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्मि, तिविहं तियरणसुद्धो जिसके कि देववंदना, प्रतिक्रमण और स्वाध्याय इन तीन क्रियाओं के अनुष्ठान से मन, वचन और काय ये तीनों करणो से शुद्ध हुये हैं, भाव से विशुद्ध हुआ, अंजलि मस्तक पर रख

करके सिर से सिद्धों को वंदना कर मैं इन सब की स्तुति करता हूँ; इस प्रकार निषिद्धिका दण्डक का अर्थ समाप्त हुआ।

१. मन, वचन काय द्वारा दोषों की आलोचना—

गद्य—पडिक्कमामि भन्ते! देवसियस्स, (राइयस्स) अइचारस्स, अणाचारस्य,मणदुच्चरियस्स, वचिदुच्चरियस्स, कायदुच्चरियस्स, णाणाइचारस्स, दंसणाइचारस्स, तवाइचारस्स, वीरियाइचारस्स, चारित्ताइचारस्स, पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हं समिदीणं तिण्हं गुत्तीणं, छण्हं आवासयाणं, छण्हं जीवणिकायाणं, विराहणाए, पीलकदो वा, कारिदो वा कीरंतो वा समणु मणिदो; तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥१॥

अर्थ—हे भगवन्! दैवसिक (रात्रिक) व्रतों में लगे अतिचार और अनाचार का प्रतिक्रमण—निराकरण करता हूं। ज्ञान के अतिचार, दर्शन के अतिचार, तप के अतिचार, वीर्य के अतिचार और चारित्र के अतिचार का निराकरण कर ज्ञानादिक को निर्मल करता हूँ। पांच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, छह आवश्यक और छह जीवनिकाय के जीवो की विराधना करने में, जो मैने पोडा की है, अन्य से कराई है तथा अन्य की अनुमोदना की है वे पीडा सम्बन्धी दुष्कृत मेरे मिथ्या होवें ॥१॥

२. ईर्यापथ (गमनागमन) सम्बन्धी दोषों की आलोचना—

गद्य—पडिक्कमामि भन्ते! अइगमणे, णिग्गमणे, ठाणे, गमणे, चंकमणे, उवराणे, आउट्टणे, पसारणे, आमासे, परिमासे, कुइदे, कक्कराइदे, चलिदे, णिसण्णे, सयणे, उव्वट्टणे, परियट्टणे, एइंदियाणं, वेइंदियाणं, तेइंदियाणं, चउरिंदियाणं, पंचिन्दियाणं, जीवाणं, संघट्टणाए, संघादणाए, उद्दावणाए, परिदावणाए, विराहणाए, एत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइयो) अदिक्कमो, वदिकम्मो, अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥२॥

अर्थ—हे भदन्त ! हे भगवन् ! **अइगमणे**—अतिगमनमें (अति वेग से गमन करने में) **णिग्गमणे**—निर्गमन में (गमन क्रिया के प्रथम प्रारंभ में) **ठाणे**—स्थान में (स्थिति क्रिया में) **गमणे**—गमन में [सामान्य से गमन क्रिया में] **चंकमणे**—चंक्रमण में [व्यर्थ परिभ्रमण करने में] **उव्वत्तणे**—उद्वर्त्तन में **आउट्टणे परिवट्टणे** परिवर्त्तन में **आकुंचणे**-आकुचन में [हाथ, पैर आदि के सिकोडने में] **पसारणे**--प्रसारण में [उन्ही हाथ, पैर के फैलाने में] **आमासे**--आमर्श में [निश्चित शरीर के प्रदेशो के फैलाने में] **परिमासे**—परिमर्श में [सर्वशरीर के स्पर्श करने में] **कुइदे** कुत्सित मे [स्वप्न में वडवड करने में] **कक्कराइदे**—दंतकटकायित में [अतीव कर्कश शब्द करने में था निद्रा में दांतों के कटकट करने मे] **चलिदे**-चलने में [गमन के समय, शरीर की हलचल करने में] **णिसण्णे**—निषण्ण अवस्था में [बैठने में] **सयणे**--शयन में [सोने में] **उव्वट्टणे**--उद्धवन में [ये अवस्थाये निद्रा में होती है. सोकर उठने में] **परियट्टणे**-[उठकर बैठने मे और फिर सो जाने मे) ऊपर लिखी हुई क्रियाओं में, एकेन्द्रिय, दोइंद्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जोवों की **संघट्टणाए**—मेरे द्वारा परस्पर में संघर्षण करके, **संघादणाए** (एक स्थान में इकट्ठे करके) **ओद्दावणाए**-मार करके, **परिदावणाए**—प्राणो को संताप उत्पन्न करके और **विराहणाए**—प्राणो का विरह करके विराधना हुई है अर्थात् दिन में या रात्रि में, व्रतो के पालन करने में जो कोई अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार सम्भव हुआ है वह अतिक्रमादि जन्य दुष्कृत मेरे मिथ्या होवे इस प्रकार प्रतिक्रमण करता हूँ ।।२।।

३. ईर्यापथ (गमनागमन सम्बन्धी दोषों की) दूसरी आलोचना—

गद्य—पडिक्कमामि भन्ते ! इरियावहियाए, विराहणाए, उड्ढमुहं चरंतेणवा, अहोमुहं चरंतेणवा, तिरियमुहं चरंतेणवा, दिसिमुहं चरंतेणवा, विदिसिमुहं चरंतेणवा, पाणचंकमण-

दाए, वीयचंकमणदाए, हरियचंकमणदाए, उत्तिंगपणयदय-मट्टिय मक्कडयतन्तु संत्ताणचंकमणदाए, पुढविकाइयसंघ-ट्टणाए, आउकाइयसंघट्टणाए, तेऊकाइयसंघट्टणाए, वाउ-काइयसंघट्टणाए, वणप्फदिकाइयसंघट्टणाए, तसकाइय-परिदावणाए, विराहणाए, इत्थ में जो कोई इरियावहियाए अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥३॥

अर्थ—हे भगवन् ! **इरियावहियाए**—(ईर्यापथ मे) **विराहणाए**-(जो विराधना हुई है उसमे जो दोष लगा है) उसका प्रतिक्रमण (निरा-करण—विशुद्धि) करता हूँ कैसे चलते हुये विराधना की है, उसे बताते है-**उड्ढमुहचरंतेणवा** (ऊचा मुख उठाकर चलते हुये) **अहोमुहं चरंतेणवा**-(नीचा मुख झुकाकर चलते हुये) **तिरियमुहं चरंतेणवा**—तिरछा झांक कर चलते हुये **दिसिमुहं चरंतेणवा**—(चारो विदिशाओ का अवलोकन जिसमे हो जाता हो, इस प्रकार चलते हुये **विदिसिमुहं चरंतेणवा**—(चारो विदिशाओ का अवलोकन जिसमे हो जाय इस प्रकार चलते हुये) **पाणचंकमणदाए**-(विकलत्रयद्वीद्रिय, त्रीद्रिय, चतुरिन्द्रिय) प्राणधारी जीवो के ऊपर चलने से **वीयचंकमणदाए**—गेहूँ, जौ, चना आदि बीजो पर चलने से **हरियचंकमणदाए**— हरित-वनस्पतिकाय (तृण घासादि के ऊपर चलने से) **उत्तिंगपणयदयमट्टिय-मक्कडय-तंतु-संताण-चकमणदाए** (उत्तिग-क्षुम्भक, उद्देहिका (उद्देवल—ईली आदि सुकुमार) पणय (काजो) दक (उदक-जल के विकार, वर्फ, मेघादि) मृत्तिका (मिट्टी) मर्कटक (कोलिक जाति वाले) ततु, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन सत्त्वों पर चलने से, पृथ्वीकायिक जीवो का हाथ, पैर आदि से संघट्टन करके, अप्कायिक (जल कायिक) जीवो का सघट्टन करके, तेजस्कायिक (अग्नि कायिक) जीवो का सघठन करके, वायु कायिक जीवो का सघट्टन करके, वनस्पति कायिक जीवों का सघट्टन करके तथा त्रस कायिक जीवो का सघट्टन करके **परिदावणाए**—परितापन (प्राणों को संताप उत्पन्न करके **विराहणाए**—

प्राणों का विरह करके विराधना करके, अनेक प्रकार की पीड़ा देकर, जो कोई भी मेरे व्रत आदि के विषय में दैवसिक (रात्रिक) अतिचार या अनाचार हुआ है उस अतिचारादि सम्बन्धी दुष्कृत (पाप दोष) मेरे मिथ्या होवे, इस प्रकार मैं प्रतिक्रमण करता हूं ॥३॥

(४) मलमूत्रादि के क्षेपण सम्बन्धी दोषों को आलोचना —

गद्य—पडिक्कमामि भन्ते ! उच्चार – पस्सवण – खेल – सिंहाण वियडि - पइट्ठावणियाए, पइट्ठावंतेण जो कोई पाणावा, भूदा वा, जीवा वा, सत्तावा, संघट्टिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइओ) अईचारो, अणाचारो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥४॥

अर्थ—हे भगवन् उच्चार (विष्टा) पस्सवण प्रस्रवण (मूत्र) खेल- क्ष्वेल (थूकना) सिंहाण—सिंहाणक (नाक का मल) वियडि विकृति (पसीना आदि) इनके क्षेपण करने में जो दोष लगा है उसका प्रति क्रमण करता हूं। इनका निक्षेपण करते हुए मैने जो कोई भी विकलत्रय प्राण वनस्पति कायिक भूत पंचेंद्रिय जीव और पृथ्वी, अप, तेज, वायु रूप सत्त्व इनका संघर्षण किया है, संघात किया है अथवा मारा है अथवा सताप पहुँचाया है, इन सब मलमूत्र आदि के करने मे मेरे जो कोई भी व्रतो के विषय में दैवसिक (रात्रिक) अतिचार अथवा अनाचार प्रादुर्भूत हुआ है वह अतिचारादि सम्बन्धी दुष्कृत (पाप–दोष मेरे मिथ्या होवे (निष्फल होवे) इस प्रकार मैं अपने दोषों का प्रति क्रमण करता हूं ॥ ४ ॥

[५] एषणा [भोजन सम्बन्धी] दोषों को आलोचना—

गद्य-पडिक्कमामि भन्ते ! अणेसणाए, पाणभोयणाए, पणयभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, आहाकम्मेण वा, पच्छाकम्मेण वा, पुराकम्मेणवा, उद्दिट्ठयडेण वा, णिद्दिट्ठयडेण वा, दयसंसिट्ठयडेण वा, रससंसिट्ठयडेण वा, परिसाद

णियाए, पइट्ठावणियाए, उद्देसियाए, णिद्देसियाए, कीदयडे, मिस्से, जादे, ठविदे, रइदे, अणसिट्ठे, बलिपाहुडदे, पाहुडदे, घट्टिदे, मुच्छिदे, अइमत्तभोयणाए, इत्थ मे जो कोई गोयरिस्स अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥५॥

अर्थ—हे भगवन् ! **अणेसणाए**—(भोजन के अयोग्य) सावद्य (हिसा युक्त) उद्गमादि दोषो से दूषित चतुर्विध (४ प्रकार के] आहार के ग्रहण करने से जो दोष उत्पन्न हुआ है उसका मै प्रति क्रमण करता हू **पाणभोयणाए** प्राणों के अनुग्रहार्थ जो पिया जाय, उसे पान कहते है, उस स्निग्ध, रूक्ष आदि पान के भोजन से **पणयभोयणाए**— पणय भोजन फूलनयुक्त—काँजिक मथितादि भोजन के करने से अथवा वृष्य (पौष्टिक) आहार से **बीयभोयणाए**—अग्नि मे नही पके हुये गेहूँ चने आदि बीज भोजन करने से **हरियभोयणाए** हरित अर्थात् नही पके हुये पत्र, पुष्प, मूल, कोपल आदि के भोजन करने से **आहाकम्मेण वा** अधः कर्म अर्थात् षड् [जीव निकाय की विराधना से उत्पन्न] यह अध. कर्म दोष ४६ दोषो से अलग है तथा षड् काय के जीवो की विराधना से होता है अतः इसे स्वयं करना, पर के द्वारा कराना , दूसरों के किये हुये दोषो मे अनुमति देना, जीवो को पीडा देकर और उनका नाश कर, यह दोष यदि मुनि करेंगे तो उनका मुनिपना नष्ट हो जायगा, क्योंकि इसमे वैयावृत्यादिक गुण नही होने से मुनियों के लिये यह कार्य सर्वथा वर्ज्यं है, वैयावृत्यादिक से रहित और स्वत के आहार के लिये भोजन बनाना, षट् काय के जीवो के नाश होने में निमित्त है * **पच्छाकम्मेण वा**—पश्चात् कर्म अर्थात् भोजन करके मुनि के चले जाने पर फिर भोजन बनाना प्रारभ करने से **उद्दिट्ठयडेण वा**—उद्दिष्टकृत अर्थात् मुनि को ही उद्देश्यकर जो भोजन बनाया, देवता, पाखडी आदि को उद्देश्य कर जो भोजन बनाया उसके ग्रहण करने मे **णिद्दिट्ठयडेण वा**—निर्दिष्टकृत अर्थात् आपके लिये वह बनाया गया है ऐसा कहने पर आहार ग्रहण करने से **दयसंसिट्ठयडेण वा**—दया

अर्थात् अनुकम्पा पूर्वक दिये गये दान से, दूसरा अर्थ दक संमृष्टकृत पद के द्वारा बतलाया गया है कि—गृहस्थ द्वारा जलसे गीले बर्तन या गीले हाथ से दिये गये भोजन को ग्रहण करने से, **रमसंसिट्ठयडेण वा**—रजसंमृष्ट रज रूपी मल का अर्थ है कापोतलेश्यायुक्त [गृहस्थ के खोटे परिणामों से युक्त] दिये गये भोजन करने से अथवा रज का अर्थ है धूल या मिट्टी उस से युक्त बर्तन द्वारा दिये गये आहार के कारण **परिसादणियाए—परिसातनिका**-पाणिपात्र में गये हुये आहार को बार-बार डालकर भोजन करने से **पइट्ठावणियाए**—प्रतिष्ठापनिका भोजन तथा भोजन के पात्रो को एक स्थान से अन्य स्थान मे ले जाने मे अथवा आहार के उपयुक्त पात्रो को फैलाकर रख देने से **विशेप**—इन कार्यो को करते समय गृहस्थ के ईर्यापथ शुद्धि नही रहती है अत' यह दोष उत्पन्न होता हे। **उद्देसियाए** मूलाचार ग्रंथ के पृष्ट २२१ में इस पद का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है.-

---

※ **पच्छाकम्मेणवा**– क्योंकि इस दोष को करने वाला मुनि गृहस्थ होता है। पश्चात्संस्तुति दोष। आहारादि दान ग्रहण करके जो मुनि दाता की 'तू विख्यात दानपति है, तेरा दान सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ है' ऐसी स्तुति करता है। ऐसी स्तुति करने मे मुनि मे दीनता का दोष दीख पड़ता है + **पुराकम्मेणआ**--पूर्व स्तुतिदोष [दाता के आगे दान ग्रहण के पूर्व मे उस को 'तू दानियों में मुख्य है और तेरी कीर्ति जगत् मे फैल गई है ऐसा कहना; तथा जो दाता आहार देना भूल गया हो उसको 'तू पूर्वकाल में महा दानपति था, अब दान देना क्यों भूल गया है ऐसा उसको संबोधन करना तथा उसकी कीर्ति का वर्णन करना, उसे याद करना, इस प्रकार की स्तुति करने का कार्य स्तुति पाठको का है, मुनियो का नही है अत ऐसी स्तुति करना मुनियो के योग्य नही है ०**उद्धिट्ठयडेणवा**— अध' कर्म महादोष है, उसके अनन्तर औद्देशिक दोष है यद्यपि यह सूक्ष्म दोष है तो भी उसका त्याग करना चाहिये। देवताओ के लिए पाखंडी साधुओं के लिये, दीन जनो के लिये, जो आहार तैयार किया जाता है, उसे औद्देशिक आहार कहते है तथा जो कोई निर्ग्रंथ मुनि आयेंगे उनको में आहार देऊंगा ऐसे उद्देश से आहार बनाया जाता है उसको 'निर्ग्रंथ समादेश' कहते है। मुनि इस सूक्ष्म दोष को भी इस प्रकार आलोचना करते है। (मूलाचार पृष्ठ संख्या २२२)

(१) **याबानुद्देश**- जो कोई आवेंगे उन सबको मै भोजन देऊंगा ऐसा उद्देश्य-संकल्प मनमें करके जो भोजन बनाया जाता है (२)**पाखंडिसमुद्देश** जो कोई पाखंडी आवेगे उन सबको आहार देऊंगा। ऐसे उद्देश्य से बनाया गया अन्न (३) **श्रमणादेश**- जो कोई श्रवण, आजीवक, तापस, रक्तपट, परिव्राजक और छात्र, शिष्य आवेगे उन सब को मैं आहार देऊंगा ऐसे सकल्प से बनाया हुआ अन्न (४) **निर्ग्रंथसमादेश**- जो कोई निर्ग्रंथ मुनि आवेगे उनको मै आहार देऊंगा ऐसे उद्देश्य से, बनाया हुआ अन्न। तात्पर्य सामान्यों के उद्देश्य से, पाखंडियो के उद्देश्य से, श्रमणों के उद्देश कर और निर्ग्रन्थो के उद्देश कर जो अन्न बनाना वह चार प्रकार का औद्देशिक दोष होता है उसके करने से। **णिद्देसियाए**– निर्देशिका अर्थात् खुद समर्थ होकर भी आहार नही देकर दूसरे के हाथ से आहार दिलाने से। **कीदयडे**– क्रीत अथात् खरीद कर लाये हुये भोजन करने मे **विशेष**- (मूलाचार पृष्ठ २२६ के आधार पर) क्रीततर के द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद है द्रव्य के भी स्वद्रव्य और पर द्रव्य ऐसे दो भेद है। भाव के स्वभाव और परभाव ऐसे दो भेद है। गाय, भैंस, अश्व इत्यादि को 'द्रव्य' कहते है विद्या मंत्रादि को भाव कहते है। गाय, भैंस आदि को 'सचित्त द्रव्य' कहते है और ताबूल वस्त्रादिकों को 'अचित्त द्रव्य' कहते है। जव मुनि आहार के लिये श्रावक के घर पर आते है उस समय श्रावक अपना अथवा अन्य का सचित्तादि द्रव्य और ताबूलवस्त्रादिक अन्य श्रावक को देकर उससे आहार की सामग्रो कर यदि मुनिराज को आहार देगा तो क्रीत दोष उत्पन्न होता है तथा स्वमंत्र अथवा परमत्र स्व विद्या अथवा पर विद्या देकर आहार की सामग्री प्राप्त कर लेता है और यति को वह आहार यदि श्रावक देगा तो यह भी 'क्रीतदोष' कहा जाता है।

मिस्से जादे मिश्र मे (प्रासुक अन्न तैयार होने पर भी अर्थात् भात आदि अन्न प्रासुक होने पर भी पाखडियो के साथ और गृहस्थो के साथ मुनियों को जो देने का संकल्प किया जाता है ऐसा करने से (१)मुनियो का यथायोग्य आदर नही हो सकता अत. इस प्रकार के दान मे अनादर दोष उत्पन्न तथा पाखडियों के साथ (२) मुनियो के दान मे स्पर्शन दोष

उत्पन्न होता है क्योंकि पाखंडी, चाहे जहां उच्च नीच लोगों के घर मे आहार लेते है तथा पाखंडी स्वतः उच्च और नीच जाति के भी होते है अतः इनके साथ आहार लेने से मुनियों के स्पर्शन दोष होता है। (मूलाचार पृष्ठ नं० २२३) **ठविदे**- स्थापिते जिस पात्र मे आहार पकाया था, उसमें से वह आहार निकाल कर अन्य पात्र में स्थापित करके स्वगृह में अथवा परगृह में लेजाकर स्थापन करना। दाता में भय होने से, वह आहार के पदार्थ अन्य भाजन मे रखकर अपने अथवा दूसरे के घर में रखकर दान देता है अथवा उसके साथ उसके स्वजनों का विरोध होने से वह अन्य के घर मे आहार के पदार्थ रखता है अत. यह दान भय और विरोधादि दोपो से दूपित होता है। [मूलाचार पृष्ठ २२४] **रइदे**— रसना इन्द्रिय को गृद्धि करने वाले अनेक रस विशेषों के साथ रचे हुये पौष्टिक भोजन में **अणिसिट्ठे**—अनिसृष्ट अर्थात् घर के स्वामी के द्वारा मना किये हुये भोजन करने मे **वलिपाहुडदे**—यक्षनागदिक के लिए किया हुआ या लाया हुआ भोजन करने मे, **पाहुडदे**—ठहराया हुआ- निश्चित किया हुआ या लाया हुआ दिवस, पक्ष, महिना और वर्ष को बदल कर जो दान किया जाता है वह बादर प्राभृतक दोष से दूपित होता है। यह बादर प्राभृतक दोप दो प्रकार का है इसका विशेष विवरण मूलाचार पृष्ठ २२५ में देखें **घट्टिदे**—मूलाचार पृष्ठ स. २२८ के आधार से इसके देशाभिघट और मर्वाभिघट ऐसे दो भेद है:- पक्तिवद्ध दो तीन घरों मे सात घरों तक भक्त श्रावकों के द्वारा लाये हुये अन्न को ग्रहण करना योग्य है परन्तु इससे विपरीत अर्थात् अपंक्तिबद्ध ऐसे कोई भी घर अथवा पंक्ति स्थित आठवे घर हुआ अन्न, यतियों को वर्ज्य है, एक गली मे से, अथवा दूसरी गली मे, स्वग्राम से, परग्राम से, स्वदेश से और परदेश से आये हुये अन्नादि का ग्रहण करना तो निपिद्ध ही है। अन्य ग्रामादि से अन्न लाते समय, आने जाने में, अनेक जीवों को बाधा होती है अत ऐसे अन्न मुनियों को वर्ज्य माने गये है। विशेष- पडित प्रभाचन्द्र के मतानुसार घट्टिन के दो भेद किये गये हैं- तथा शुद्ध एवं अशुद्ध आहार के मिलाने पर भोजन घट्टित दूपण बतलाया गया है। **मुच्छिदे**— मूर्च्छित दशा में अर्थात् अत्यंत गृद्धता से भोजन करने में **अइमत्तभोयणाहारे**-- मात्रा से अधिक

भोजन करने में **गोयरस्स**—गोचरी (आहार) के समय, अतिचार, अनाचार से दोष लगे हों वे मेरे दुष्कृत मिथ्या होवें ।।

(६) स्वप्न सम्बंधी दोषों की आलोचना—

गद्य—पडिकम्मामि भन्ते ! सुमणिंदियाए, विराहणाए, इत्थिविरिपरियासियाए; दिट्ठिविप्परियासियाए, मणिविप्परियासियाये वचिविपरियासियाये, कायविप्परियासियाये, भोयणविप्परियासियाए, उच्चावयाए, सुमणदंसणविप्परियासियाए, पुव्वरए, पुव्वखेलिए, णाणाचिंतासु, विसोतियासु इत्थ मे जो कोई देवसियो (राईओ) अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।।६।।

अर्थ— हे भगवन् ! **सुमणिंदियाए**— स्वप्न में जो **विराहणाए**— विराधना अर्थात् विपरीत परिणति हुई, उसमें जो दोष लगे हैं, उनका परिशोधन करता हू; वह विराधना जैसी होती है वैसी दिखाते है । **पुव्वरये**— पूर्वरत **पुव्वखेलिए**— पूर्वक्रीडित **णाणाचिन्तासु**— नाना चिन्ताओ मे **इत्थिवियरियासियाए**— स्त्रीविपर्यासिका (स्त्री के विषय में विपरीतता अर्थात् सेवन नही करने पर भी, स्वप्नादि में दोष का होना **दिट्ठिविपरियासियाए**— दृष्टिविपर्यासिका (स्त्री के अवयव, मुंह इत्यादि को देखना तथा उनको नही देखने पर भी देखने की अभिलाषा होना) **मणिविप्परियासियाए**— मनविपर्यासिका (मन की विपरीतता अर्थात् स्त्री आदि के नही होने पर भी स्त्री आदि की कल्पना करना) **वचिविप्परियासियाए**— वचनविपर्यासिका (स्त्री सबधी वार्त्तालापादि के नही होने पर भी रागादि से युक्त वार्त्तालापादि करने का भाव करना **कायविप्पिरियासियाए**- (काय की विपरीतता अर्थात् गोद आदि मे स्त्री के नही होने पर भी मैं उसी अवस्था में स्थित हूं; ऐसा विचार करना) **भोयणविप्परियासियाए**— भोजन विपर्यासिका (भोजन की विपरीतता अर्थात् भोजन नहीं करते हुये भी, मैं भोजन करता हूं इस प्रकार की

विपरीत धारणा) उच्चावयाए— उच्च्यावजात मे स्त्री के राग से वीर्य के स्खलन को संस्कृत में 'उच्च्याव' कहते है उसके कारण होने वाला दोष सुमणदंसणविप्परियासियाए – स्वप्नदर्शनविपर्यासिका (दर्शन के कारण भोजनादि मे विपरीतता होना विसोतियासु— स्वप्न से इन्द्रियाँ जिसमे उपहन (नष्ट) हो जाती है उस स्वप्नेद्रिय की विराधना रूप विपरीत परिणति के होने पर जो दोष सभव हुआ है, उसमे मेरे जो कोई दिन में [रात्रिमें] अतिचार और अनाचार हुआ है, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

(७) विकथा सम्बंधी दोषों की आलोचना—

गद्य—पडिक्कमामि भन्ते ! इत्थीकहाए, अत्थकहाए, रायकहाए, भत्तकहाए, चोरकहाए, वेरकहाए, परपासंडकहाए, देसकहाए, भासकहाए, अकहाए विकहाए, निठुल्लकहाए, परपसुण्ण-कहाए, कन्दप्पियाए, कुक्कुच्चियाए, डंबरियाए, मोक्खरि-याए, अप्पपसंसणदाए, परपरिवादणाए, परदुगन्छणदाए, परपीडाकराए, सावज्जाणुमोयणियाए, इत्थ मे जो कोई देवसियो (राईओ) अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥८॥

अर्थ— हे भगवन् ! इन विकथाओ के कारण में जो मेरे व्रताचरणों में अतिचारादि दोष उपार्जित हुये है; उनका मै प्रतिक्रमण करता हूं, मैं उन्हे दूर कर, अपने चरित्र को उज्वल करता हूं । इत्थिकहाए—स्त्रीकथा स्त्रियों के वदन, नयन, नाभि, नितव आदि अगो के विशेष वर्णन रूप कथा मे अत्थकहाए-- अर्थकथा—धन के उपार्जन रक्षण आदि वचन रूप कथा में भत्तकहाए-- भोजन कथा—भक्त अर्थात् भोजन के विशेष रूप का वर्णन करने वाली कथा में रायकहाए—राजकथा राज्य तथा राजा से संबन्ध रखने वाली कथा में चोरकहाए— चौर कथा चौरो की कथा में वेरकहाए— वैर विरोध की कथा में परपासंडकहाए— परपाषंडिकथा पर अर्थात परिव्राजक, वदक, त्रिदण्डी आदि पाखण्डियों के चिन्ह वाली कथा मे ।

देसकहाए— कर्णाट, लाट आदि देश सम्बन्धी तथा ग्राम नगरादि की भी देश कथा में ही ली जाती है। **भासकहाए**— अठारह देशों में होने वाली भाषा सबधी कथा। **अकहाये**– अकथा [तप, स्वाध्यायादि से रहित असंवद्ध प्रलाप रूप कथा] **विकहाये**–विकथा [राग, भोग, त्याग, अर्थादि के वर्णन रूप विकथा मे] **निठुल्लकहाये**–निष्ठुरकथा [कठोर अर्थात् तर्जना, भयकर मर्मभेदी वचनादि युक्त कथा **परपेसुण्णकहाये**— परपैशून्यकथा [दूसरो के दोषों को परोक्ष में प्रकट करने वाली कथा] **कंदप्पियाये**— कंदर्पिका [कदर्प अर्थात् राग के उद्रेक से हसी से मिले हुये अशिष्ट वचनों के प्रयोग वाली कथा] **कुक्कुच्चियाये**– कौत्कुचिका [कदर्प से युक्त अव्यक्त; हृदय कण्ठ या शब्द को प्रकट करने वाली कथा] **डंबरियाये**– डंबरिका डवर अर्थात् विरह कलहादि से युक्त कथा] **मोक्खरियाये**— मौखरिकी [धृष्टता युक्त बहुत प्रलाप कपने वालीकथा] **अप्पपसंसणदाये**-आत्मप्रशसनता [अपने आपके गुणो की स्वय प्रशसा करने वाली बात] **परपरिवादणाये**– परपरिवादनता [दूसरों के दोषो को प्रकट करने वाली कथा] **परदुगंछणदाये**– परजुगुप्सनता [दूसरों के आगे दुष्ट भावो से दूसरो पर घृणा प्रकट करने वाली बात] **परपीडाकराये**- परपीडाकरा [दूसरो को पीडा पहुंचाने वाली बात] **सावज्जाणुमोयणियाए**— सावद्यानुमोदिका [हिसादिका अनुमोदन करने वाली] इन उक्त प्रकार की विकथाओं में मेरे जो कोई दैवसिक [रात्रिक] अतिचार, अनाचार हुआ है वह अतिचारादि सवंधी दुष्कृत मेरे मिथ्या होवे ॥७॥

(८) अशुभ आर्त्तध्यानादि तथा कषायादि दोषों की आलोचना—

गद्य—पडिक्कमामि भन्ते! अट्टज्झाणे, रुद्दज्झाणे, इहलोयसण्णाओ, परलोयसण्णाओ, आहारसण्णाओ, भयसण्णाओ, मेहुणसण्णाओ, परिग्गहसण्णाओ. कोहसल्लाओ, माणसल्लाओ मायासल्लाओ, लोहसल्लाओ, पेम्मसल्लाओ, पिवाससल्लाओ,

णियाणसल्लाए, मिच्छादंसणसल्लाए, कोहकसाए, माण-
कसाए, मायाकसाए लोहकसाये, किरहलेस्सपरिणामे,
णीललेस्सपरिणामे, काउहेस्सपरिणामे, आरम्भपरिणामे,
परिग्गहपरिणामे, पडिसयहिलासपरिणामे, मिच्छादंसण-
परिणामे, असंजमपरिणामे, पावजोगपरिणामे, कायसु-
हाहिलासपरिणामे, सद्देसु, रूवेसु, गन्धेसु, रसेसु, फासेसु,
काइयाहिकरणियाए, पदोसियाए परदावणियाए,
पाणाइवाइयासु, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राईओ)
अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥८॥

अर्थ— हे भगवन्! इन आर्त्तध्यान आदि के करने में दोष हुये उनका मैं प्रतिक्रमण अर्थात् निराकरण करता हूं १. आर्त्तध्यान २. रौद्रध्यान ३. इहलोकसंज्ञा ४. परलोकसज्ञा ५. आहारसंज्ञा ६. भयसज्ञा ७. मैथुनसंज्ञा ८. परिग्रहसज्ञा ९. क्रोध शल्य १०. मानशल्य ११. मायाशल्य १२. लोभ शल्य १३. प्रेमशल्य १४. पिपासाशल्य १५. निदानशल्य १६. मिथ्यादर्शन शल्य १७. क्रोधकपाय १८. मानकपाय १९. मायाकपाय २०. लोभकपाय २१. कृष्णलेश्यापरिणाम २२. नीललेश्यापरिणाम २३. कापोतलेश्यापरिणाम २४. आरंभपरिणाम २५. परिग्रहपरिणाम २६. प्रतिश्रयाभिलापपरिणाम प्रतिश्रयअर्थात् मठादि में मूर्च्छादि के परिणाम २७. मिथ्यादर्शनपरिणाम २८. असंयमपरिणाम २९. पापयोग्यपरिणाम ३०. कायसुखाभिलापपरि-णाम ३१. शब्द ३२. रूप ३३. गन्ध ३४. स्पर्श ३५. कायिकाधिकरणिकी शरीर के आधार से होने वाली हिंसायुक्त क्रिया ३६. प्रादोपिकी (दुष्ट, मन, वचन सम्बन्धी क्रिया ३७. पारिद्रावणिकी (द्रवण का मतलब है दुःख या क्षोभ को उत्पन्न करना, सब तरह से दूसरों को दुख उत्पन्न करने वाली क्रिया ३८. (प्राणों के वियोग के रने वाली क्रिया) इन आर्त्तध्यान को आदि लेकर प्राणातिपातिका क्रिया पर्यंत मे मेरे जो कोई दिन मे या (रात्रि में) अतिचार या अनाचार हुआ वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ॥८॥

एकादि ३३. संख्या पर ध्यान रखते हुये दोषों को आलोचना—

गद्य–पडिक्कमामि भन्ते ! एक्के भावे अणाचारे, वेसु रायदोसेसु, तीसु दंडेसु, तीसु गुत्तीसु, तीसु गारवेसु, चउसु कसाएसु, चउसु सण्णासु, पंचसु महव्वएसु, पंचसु समिदीसु, छ सु जीवणिकाअेसु, छ सु आवासअेसु, सत्तसु भअेसु, अट्ठसु मअेसु, णवसु बंभचेरगुत्तीसु, दसविहेसु समण धम्मेसु, अेयारसविहेसु; उवासयपडिमासु, बारहविहेसु भिक्खुपडिमासु, तेरसविहेसु किरियाट्ठाणेसु, चउदसविहेसु भूदगामेसु, पण्णरसविहेसु पमायट्ठाणेसु, सोलहविहेसु पवयणेसु, सत्तारसविहेसु असंजमेसु, अट्ठारसविहेसु असंपराअेसु, उणवीसाअे णाहज्झाणेसु, वीसाअे असमाहिट्ठाणेसु, अेक्कवीसाअे सबलेसु, बावीसाअे परीसहेसु; तेवीसाअे सुद्दयडज्झाणेसु, चउवीसाअे अरहंतेसु. पणवीसाअे भावणासु, पणवीसाए किरियाट्ठाणेसु, छव्वीसाए पुढवीसु, सत्तावीसाए अणगारगुणेसु, अट्ठावीसाए आयारकप्पेसु, एउणतीसाए पावसुत्तपसंगेसु, तीसाए मोहणीठाणेसु एकत्तीसाए कम्मविवाएसु, बत्तीसाए जिणोवएसेसु, तेतीसाए अच्चासणदाए, संखेवेण जीवाण अच्चासणदाए, अजीवाण अच्चासणदाए, णाणस्स अच्चासणदाए, दंसणस्स अच्चासणदाए, चरित्तस्स अच्चासणदाए, तवस्स अच्चासणदाए, वीरियस्स अच्चासणदाए, तं सव्वं पुव्वं दुच्चरियं गरहामि, आगामेसीएसु पच्चुप्पण्णं इक्कंतं पडिक्कमामि, अणागयं पच्चक्खामि अगरहियं गरहामि, अणिंदियं णिंदामि, अणालोचियं आलोचेमि, आराहणमब्भुट्ठेमि, विराहणं पडिक्कमामि, इत्थं मे जो कोई देवसिओ (राईओ) अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ६ ॥

अर्थ-- हे भगवन् ! एक अनाचार, परिणाम, दो रागद्वेष परिणाम, तीसु दंडेसु -(दुष्ट मन, वचन एवं काय जीव को दंड देते रहते हे अत इनसे सम्बंध रखने वाले दोषों में) तीसु गुत्तीसु (तीन गुप्तियों में) तीसु गारवेसु ऋद्धिगौरव, रसगौरव तथा स्वाद गौरव या शब्द गौरव इन तीनों मे चउसु कसाएसु (क्रोध, मान, माया, लोभ इन ४ कषायोंमें--चउसु सण्णासु (आहार, भय मैथुन और परिग्रह, इन ४ संज्ञाओं में) - पंचसु महव्वयेसु पाँच महा व्रतोंमें पंचसु समिदीसु-(पाँच समितियों मे) छसु जीवणिकाएसु (पांच स्थावर तथा एक त्रस. इन ६ जीवों के समुदायों मे) छसु-आवासएसु (समता चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छ ह आवश्यकों मे) सत्तसु भएसु इसलोकभय, परलोकभय, अ त्राण [अरक्षा] भय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय, अकस्मात्भय इन सात भयों में अट्ठसु मअेसु (विज्ञानमद, आज्ञामद, ऐश्वर्यमद, कुलमद, वलमद, तपमद, रूपमद और जातिमद, इन सात आठ प्रकार के मदों में णवसु बंभचेरगुत्तीसु (१ तिर्यंच २ मनुष्य और ३ देवियों में मन, वचन तथा काय से विषय का सेवन करना अथवा स्त्री समान्य जाति का मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से विषय का सेवन करने मे) दससु समणधम्मेसु [उत्तम क्षमादि १० प्रकार के धर्मो मे] एयारसविहेसु उवासयपडिमासु (श्रावक की ग्यारह प्रकार की प्रतिमाओ मे] बारह विहेसु भिक्खु पडिमासु [उत्तम संहनन वाले मुनियो की बारह प्रकार की प्रतिमाओ में] तेरस विहेसु किरिया ट्ठाणेसु (पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति रूप १३ प्रकार की क्रियाओ में) चउदसविहेसु भूदगामेसु (बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनीपंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय सात युगल, पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से १४ प्रकार के जीव समासों में पण्णरस विहेसु पमायट्ठाणेसु (५ इंद्रिय ४ विकथा ४ कषाय १ निद्रा १ स्नेह इन पन्द्रह प्रकार के प्रमादो में सोलस विहेसु पवयणेसु विभक्ति, काल, लिंग,

वचनादि की अपेक्षा कहे गये १६ प्रकार के प्रवचनों में **सत्तारसविहेसु असंजमेसु** हिंसादि पांच प्रकार के पापो में, पांच प्रकार की इंद्रियो की प्रवृत्ति मे, चार प्रकार की कषायो मे तथा मन, वचन काय की कुचेष्टा रूप १७ प्रकार असयमो मे **अट्ठारसविहेसु असपंरायेसु** सम अर्थात् समीचीन (श्रेष्ठ प्रधान आय अर्थात् पुण्य का आगमन जिनसे होता है उन्हे "सम्पराय" कहते है इसके निषेध करने वाले साधनोको असंपरायिक कहते है वे निम्न लिखित १८ प्रकार के है :— उत्तमक्षमादि १० प्रकार के धर्म, ईर्यादि ५ प्रकार की समिति तथा मन, वचन काय रूप गुप्ति का पालन नही करना इस प्रकार ये अठारह प्रकार के असंयमों में **उणवीसाओ णाहज्झाणेसु** १९ प्रकार के नाथाध्ययन अर्थात् निम्न लिखित धम कथाओ मे।

१९ प्रकार के नाथाध्ययन- धर्मकथायें—

उक्कोडणाग कुम्मंडय, रोहिणि, सिस्स, तुंब, संघादे।
मादंगि,मल्लि,चंदिम,तावद्दे दय, तिक, तलाय, किण्णेय॥ १॥
सुसुकेय, अवरकंके, णंदीफल, सुदग, णाह, मंडूके।
एत्तोय, पुंडरीगो, णाहज्झाणाणि, उगुवीसं॥ २॥

अर्थ— ये सब सम्यक् धर्म कथाये है — १. उक्कोडणाग- श्वेतहस्ती नागकुमार की कथा २. कुम्म- कूर्म कथा ३. अंडय- अण्डज कथा ५ प्रकार की (१कुक्कुट कथा २ तालपल्लिकास्थितशुक कथा ३ वेदकशुक कथा ४ अगंधनसर्प कथा ५ हंसयूथबन्धनमोचन कथा) ४. रोहिणी कथा ५. शिष्य कथा ६. तुंब- क्रोध से दिये हुये कटुतुम्बी के भोजन करने वाले मुनि की कथा ७ संघादे— समुद्रदत्तादि ३२ श्रेष्ठ पुत्रो की कथा जो सभी अतिवृष्टि के होने पर समाधि को धारण कर स्वर्ग को प्राप्त हुये। ८. मादगिमल्लि- मातंगिमल्लि कथा ९ चदिम- चन्द्रवेध कथा १०. तावद्देवप- सगरचक्रवर्त्ती की कथा ११. करकण्डु राजा की कथा १२. तलाय- वृक्ष के एक कोटर में बैठे हये तपस्वी की कथा १३. किण्णे- चावलों के मर्दन मे स्थित पुरुष की कथा १४. सुसुकेय— आराधना ग्रथ में

कही हुई सुंसुमार सरोवर संबंधी कथा १५. अवरकंके (अवरकंका नामक पत्तनपुर) में उत्पन्न होने वाले अंजन चोर की कथा १६. णंदीफल- अटवी में स्थित, बुभुक्षा से पीडित, धन्वंतरि, विश्वानुलोम और भृत्य के द्वारा लाये हुये किंपाकफलकी कथा १७. उदकनाथकथा १८. मडूककथा- जातिस्मरण होने वाले मेंढक की कथा १९. पुंडरीगो-पुडरीक नामक राजपुत्री की कथा।

अथवा

गुणजीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णाय मग्गणाओय।
एउणवीसा एदे, णाहज्झाणा मुणेयव्वा ॥१॥

अर्थ— गुणस्थान १४, जीवसमास १५, पर्याप्ति १६, प्राण १७, संज्ञा १८, मार्गणा १९. ये १९ प्रकार के नाथा-ध्यन समझने चाहिये।

अथवा

णवकेवललद्धीओ, कम्मक्खयजा हवंति दसचेव।
णाहज्झाणाएदे एउणवीसा वियाणाहि ॥ २ ॥

अर्थ—घातिया कर्म के क्षय होने वाले दस अतिशय तथा नव प्रकार की लब्धि सम्बधी जिनवाणी का यथा समय अध्ययन करना।

वीसाए असमाहिठाणेसु—रत्नत्रय का आराधन करते हुये मुनि के चित्त मे किसी प्रकार की आकुलता का नहीं होना ही समाधि है और उससे विपरीत 'असमाधि' है, उसके ये नीचे लिखे हुये २० स्थान है :—

दवदवचरं—ईर्या समिति रहित गमन करना। **अपमज्जिदं**— अपमार्जित उपकरणादि को ग्रहण करना, रखना उठाना आदि। **रादिणीयपडिहासी**-रादिणीअ अर्थात् दीक्षादि से जो ज्येष्ठ है उसका अनादर करके कथन करना। **अधिसेज्जासणं**—ज्येष्ठ के ऊपर अपना शय्या या आसन करना। **कोधी**— दीक्षा मे ज्येष्ठ के वचन पर क्रोध करना। **थेर विवादतराएय**— दीक्षा मे ज्येष्ठ मुनि आदिकों के समय, बीच में प्रविष्ट होकर वार्तालाप करना। **उवघादं**- दूसरे का तिरस्कार करके भाषण करना। **अणणुवीचि**- आगम भाषा का त्याग करके भाषण करना। **अधिकरणो** — आगम के विरोध से अपनी बुद्धि के द्वारा तत्व का कथन करना। **पिट्ठिमांसपडिणीगो**—पीठ पीछे विपरीत वचन कहना। **असमाहिकलहं**—दूसरे के आशय को

वदल कर अन्य का नाम लेकर झगड़ा पैदा करदेना। **झंझा**—थोडा झगड़ा करके रोष उत्पन्न कर देना। **सद्दकरेपढिदा**— सब लोगों की आवाज को दबा कर, उच्च ध्वनि से पढना। **एसणासमिदि**— बिना शोधे भोजन करना। **सूरप्पमाणभोजी ?** **गाणगगणिगो**— बहुत अपराध करने वाला मुनि एक गण से दूसरे गणो मे भेजदिया जाता है। **सरक्खरावादे**—धूल सहित पैरों का जल मे प्रवेश करना तथा जल से गीले पैर हो जाने पर धूल मे प्रवेश करना। **अप्पमाणभोजी**- अप्रमाण भोजन करना अर्थात् भूख से ज्यादा भोजन करना। **अकालसज्झाओ**—अकाल मे स्वाध्याय करना।

[इन बीस प्रकार के असमाधिस्थानों में]

एक्कवीसाए सबलेसु-निम्नलिखित २१ प्रकार की सबल क्रियाओं के भेद

पंचरस पंचवण्णा, दो गंधा अट्ठफासगुणभेया।
विरदिजणरागसहिदा, इगिवीसा सबलकिरियाओ॥

अर्थ— ५ प्रकार की रस सम्वन्धी ५ प्रकार की वर्ण सम्बन्धी दो प्रकार की गध सवधी तथा आठ प्रकार की स्पर्श सबंधी और २१ वीं **विरदिजणरागसहिदा**- पहले छोडे हुये अपने सबधियों के ऊपर स्नेह सहित क्रिया। **बावीसाए परीसहेसु**- वाईस परीषहो के सहन करने मे। **तेवीसाए सुद्दयडझाणेसु**— तेईस प्रकार के सूत्रकृत नामक दूसरे अंग के अधिकारो मे।

समए वेदालिंझे एत्तो उवसग्ग इत्थिपरिणामे।
णिरयंतर वीरथुदी, कुसीलपरिभासिए विरिये॥ १॥
धम्मोय अग्गमग्गे, समोवसरणं तिकालगंथहिदे।
आदा तदित्थगाथो, पुंडरिको किरियठाणेय॥ २॥
आहारय परिणामे पच्चक्खाणा णगारगुणकित्ति।
सुद अत्था णालंदे, सुद्दय झज्झाणाणि तेवीसं॥ ३॥

समए— समय अधिकार, अध्ययन काल के प्रतिपादन के द्वार से त्रिकाल स्वरूप का प्रतिपादन करता है।

वेदालिंगे—वेदालिंगाधिकार- तीन वेदों के स्वरूप का प्ररूपण करता है।

उवसग्गं-- उपसर्गका अधिकार, ४ प्रकार के उपसर्गो का निरूपण करता है।

इत्थिपरिणामे— स्त्री परिणाम का अधिकार, स्त्रियो के स्वभाव का वर्णन करता है।

णिरयंतर -नरकान्तर अधिकार, नरकादि चतुर्गतियों का वर्णन करता है।

वीरथुदी—वीर स्तुति अधिकार, २४ तीर्थङ्करो के गुण का वर्णन करता है।

कुसीलपरिभासिए—कुशील परिभाषा का अधिकार कुशीलादि ५ प्रकार के पार्श्वस्थ साधुओ का वर्णन करता है।

विरिए— वीर्याधिकार, जीवो की तरतमता से वोर्य का वर्णन करता है।

धम्मोद— धर्माधिकार, धर्म और अधर्म के स्वरूप का वर्णन करता है।

अग्ग— अग्राधिकार, श्रुत के अग्रपदो का वर्णन करता है।

मग्गो— मार्गाधिकार, मोक्ष और स्वर्ग के स्वरूप तथा कारण का वर्णन करता है।

समोवसरणं— समवसरणाधिकार, २४ तीर्थङ्करों के समवसरण का वर्णन करता है।

तिकालगंथहिदे— त्रिकालग्रंथ का अधिकार, त्रिकाल गोचर अशेष परिग्रह के अशुभ रूप का वर्णन करता है।

आदा— आत्माधिकार, जीव के स्वरूप का वर्णन करता है।

तदित्थगाथा— तदित्थगाथाधिकार वाद के मार्ग का प्ररूपण करता है।

पुंडरिका— पुंडरीक अधिकार, स्त्रियो के स्वर्गादि स्थानो मे स्वरूप का वर्णन करता है।

किरियठाणेय— क्रियास्थानाधिकार, तेरह प्रकार की क्रियाओं के स्थानों का वर्णन करता है।

आहारय परिणामे — आहारक परिणाम का अधिकार, सर्व, धान्यों के रस और वीर्य के विपाक को तथा शरीर में व्याप्त सातधातुओं के स्वरूपका वर्णन करता है।

पच्चक्खाण— प्रत्याख्यान का अधिकार, सर्वद्रव्य के विषय मे संबंध रखने वाली निवृत्तियों का वर्णन करता है।

अणगारगुणकित्ति— अनगार गुण कीर्त्तन का अधिकार, मुनियो के गुण का वर्णन करता है।

सुदा—श्रुताधिकार, श्रुत के फल का वर्णन करता है।

णालंदे— नालदाधिकार, ज्योतिषियों के पटल का वर्णन करता है।

सुद्दयडज्झाणाणि तेवीसं—सूत्रकृत अध्ययन ये २३ संख्या वाले है। द्वितीय अग मे श्रुतवर्णन के अधिकार के अन्वर्थ सज्ञा वाले है, इन के अकाल अध्ययनादि के विषय मे, मैं प्रतिक्रमण करता हूं।

चउवीसाए अरहंतेसु— २४ तीर्थङ्कर देवों की यथा काल वदनादि करना चाहिये, यदि उसका पालन नही किया हो तो उन दोषों का प्रतिक्रमण करताहूँ।

पणवीशाए भावणासु— इन २५ भाषाओ का वर्णन पीछे पृष्ठ संख्या १७५ पर दिया जा चुका है उन दोपो को मे प्रतिक्रमण करता हूँ।

पणवीसाए किरियाठाणेसु— पच्चीस क्रियाओ में क्रियाओं का वर्णन पीछे पृष्ठ सख्या १७५ पर दिया जा चुका है उनमें लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

छव्वीसाए पुढवीसु-- छव्वीस पृथ्वियो मे सौधर्म आदि मोक्ष शिला तक

गद्य–रुचिरा सोलसपडला, सत्तसु पुढवीसु होंतिपुढवीओ।
अवसप्पिणीए सुद्धा, खराय उवसप्पिणीयदु॥

१. रुचिरा नामकी एक पृथ्वी है वह भरत और ऐरावत के अवसर्पिणी काल में २. शुद्धा नामकी पृथ्वी कही जाती है और वही उत्सर्पिणी काल मे ३. खरा नाम से कही जाती है रत्नप्रभा भूमि के खर भाग में पिण्ड रूप से एक दो हजार योजन के परिणाम वाली निम्न लिखित सोलह भूमियें है.— १. चित्रापृथ्वी २. वज्रपृथ्वी ३. वैडूर्यपृथ्वी ४. लोहिताकपृथ्वी ५. मसारगंधपृथ्वी ६. गोमेधपृथ्वी ७. प्रवालपृथ्वी ८. ज्योति. पृथ्वी ९. रसांजनपृथ्वी १०.अंजनमूलपृथ्वी ११. अकपृथ्वी १२. स्फटिकपृथ्वी १३.चदन पृथ्वी १४. वर्चकपृथ्वी १५. वकुलपृथ्वी और १६. शिलामयपृथ्वी, पक भाग मे ८४ हजार योजन के परिमाण वाली पृथ्वी तथा इसी भूमि के अब्बहुल

भाग में ८० हजार योजन परिमाण वाली 'रत्नप्रभा' नामकी नरक की पृथ्वी है और आकाश के नीचे ६ नरकों की भूमिये हैं कुल मिलाकर २६ पृथ्वियां है.—

सत्तावीसाए अणगारगुणेसु २७ प्रकार के अनगार के गुण निम्न हैः— १२ भिक्षु की प्रतिमा (ये उत्तमसंहननवाले मुनियों के होती हैं) ८ प्रवचन माता (५ समिति तथा ३ गुप्तियों के पालन मे) क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेप के अभाव रूप प्रवृत्ति मे **अट्ठावीसाए आयारकप्पेसु—** (२८ प्रकार के आचार कल्प अर्थात् मुनि के मूलगुण, ५ महाव्रत ५ समिति ५ इंद्रिय निरोध ६ आवश्यक ७ विशेपगुण) **एउणतीसाए पावसुत्तपसंगेसु—** २६ प्रकार के पाप सूत्र प्रसग (अट्ठारस य पुराणो, सडग विण्णाय लोइयाणं दु वुद्धइ पंच समया, पस्वणा जासु दे लोए) इस गाथानुसार अठारह पुराण, षडंग वाली लौकिक विद्यायें और बौद्ध आदि ५ प्रकार के सिद्धांत १८+६+५ = २६ **तीसाएमोहणीठाणेसु**— तीस प्रकार के मोहनीय स्थान, क्षेत्रवास्तुआदि बहिरग परिग्रह से संबंध रखने वाला १० प्रकार का मोह, अंतरग मिथ्यात्वादि मे मोह रखने के भाव के रूप १४ प्रकार के भेद तथा पाँच इंद्रिय और छठे मन से मोह जनित संबंध रखने के कारण १०+१४+५+१ = ३० **एकत्तीसाए कम्मविवाएसु** (ज्ञानावरणादि आठों कर्म सम्बन्धी भेद—ज्ञानावरणीयके ५, दर्शनावरणीय के ६, वेदनीय के २, मोहनीय के २, (दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय)आयु के ४ नाम के २, शुभ और अशुभ) गोत्र के २. अंतराय के ५ इस तरह सब मिला कर ३१ होते है। **वत्तीसाए जिणोवएसेसु—** वत्तीस प्रकार के जिनोपदेश गाथा— **आवास्समंगपुव्वा,छव्वारस चोदसा य ते कमसो। वत्तीस इमे णियमा, जिणोवएसा मुणेयव्वा ॥१॥** अर्थ— छह आवश्यक, बारह अंग और चौदह पूर्व इस प्रकार सब मिलाकर वत्तीस होते है। **तेतीसाए अच्चासणाए—** तेतीस प्रकार की आसादना गाथा- **पंचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाय महव्वयापंच। पवयण मादु पदत्था तेतीसच्चासणा भणिया ॥ २ ॥** अर्थ— पांच प्रकार

के अस्तिकाय, छह प्रकार के जीवों के निकाय, पाच महाव्रत आठ प्रवचन माता और जीवादि नो पदार्थ सवधी अनादर की भावना ५+६+५+८+९ सब मिलाकर तेतीस असादना होती है। **संखेवेण जीवाणअच्चासणदाए**-- संक्षेप से जीवों की अत्यासादना (अवहेलना) **अजीवाण अच्चासणदाए**—अजीवो की अत्यासादना। **णाणस्सअच्चासणदाए**- ज्ञानकी अत्यासादना **दंसणस्स अच्चासणदाए**— दर्शन की अत्यासादना। **चरित्तस्स अच्चासणदाए**— चरित्र की अत्यासादना, **त [?] अच्चासणदाए** तप की अत्यासादना **वीरियस्स अच्चासणदाए** — वीर्य की अत्यासादना, इन सब में जो कुछ मन, वचन और काय से भूत काल में दुष्ट चेष्टा हुई अर्थात् जो पालने योग्य थे, उनका पालन नहीं किया, और जो पालने योग्य नही थे उनका पालन किया उस सब दुश्चरित्र की पर साक्षी से हा मैंने दुष्ट कार्य किया इत्यादि पश्चात्ताप पूर्वक गर्हा करता हूँ वर्तमान सम्बन्धी दुश्चरित्र को प्रतिक्रमण द्वारा निराकरण करता हू तथा भावी दुश्चरित्र का त्याग करता हू, अविवेक से मैने जो पहले दुश्चरित्र की गर्हा नहीं की, अब उसकी गर्हा करता हूं जिसकी आत्मसाक्षी से निन्दा नही की, उसकी निन्दा करता हू-- जिसकी पहले आलोचना नही की उनकी अब आलोचना करता हू। आराधना का (रत्नत्रयका) अनुष्ठान करता हूं रत्नत्रयकी विराधना का प्रतिक्रमण करता हू इन से जो कोई दैवसिक (रात्रिक) अतिचार, अनाचार हुआ है वही अतिचार आदि सबंधी दुष्कृत मेरे मिथ्या हो इस प्रकार अनुष्ठान योग्य अयोग्य उक्त सब में लगे दोषो का प्रतिक्रमण-- निराकरण करता हूँ।। ९ ।।

निर्ग्रन्थ पद की वाछा—

गद्य—इच्छामि भंते। इमं णिग्गंथं पावयणं अणुत्तरं, केवलियं पडिपुण्णं, णेगाइयं सामाइयं संसुद्धं, सल्लवट्टाणं, सल्लघत्ताणं, सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं, सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं, सुचरियपरिणि-

व्वाणमग्गं, अवितहं, अविसंतियवयणं, उत्तमं, तंसद्दहामि, तंपत्तियामि, तं रोचेमि, तं फासेमि, इदोत्तरं अण्णं णत्थि ण भूदं, ण भविस्सदि, णाणेणवा, दंसणेणवा, चरित्तेणवा इदोजीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायन्ति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, पडिवियाणंति, समणोमि संजदोमि,उवरदोमि, उवसंतोमि, उवहिणियडिमाणमायमोस मिच्छाणाण, मिच्छदंसण, मिच्छचरित्तं च पडिविरदोमि, सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचरित्तं च रोचेमि जं जिणवरेहिं पण्णत्तं, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राईयो) अइचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १० ॥

अर्थ—हे भगवन् ! में इस निर्ग्रन्थ लिग की इच्छा करता हूँ । यह बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित, मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् कारण निर्ग्रन्थ लिग आगम में बतलाया गया है तथा इसका विशेष प्रतिपादन निम्न रूप से किया गया है **अनुत्तर**—यह अनुत्तर है, अर्थात् इस निर्ग्रन्थ लिग से भिन्न दूसरा और कोई उत्कृष्ट मोक्ष का मार्ग नही है **केवलिं**—केवली सम्बन्धी है, **पडिपुण्णं**—परिपूर्ण है, **णेगाइयं**— नैकायिक है (परिपूर्ण रत्नत्रय के निकाय से संबंध रखने वाला है) **सामाइयं**— सामायिक रूप है (समय अर्थात् परमोदासीनता रूप अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार के हिंसादिदोषो से रहित है,) **संसुद्ध**—संशुद्ध है (अतिचार रहित आलोचनादि प्रायश्चित्त से शुद्ध है,) **सल्लघट्टाण–सल्लघत्ताणं**—शल्य घट्टक जीवो के शल्य का घातक है (शल्य अर्थात् माया मिथ्यात्व और निदान रूप कांटों से जो दुखी होते है उनके शल्य को घात करने वाला अर्थात् दूर करने वाला है । **सिद्धिमग्गं**—सिद्धि का मार्ग (स्वात्मोपलब्धि का मार्ग) **सेढिमग्गं** (श्रेणी के दो भेद है १ उपशम श्रेणी २ क्षपक श्रेणी इन दोनो श्रेणियों का मार्ग निर्ग्रन्थ लिग ही है) **खंतिमग्गं**—(शांति का मार्ग है) **मुत्तिमग्गं**-(परिग्रहत्याग रूप मुक्ति का मार्ग है) **पमुत्तिमग्गं**—(प्रकर्षरूप से मुक्ति

अर्थात् सर्वसंग का परित्याग रूप परमनिस्पृहता का मार्ग) **मोक्खमग्गं**-(वन्ध के हेतुओं का अभाव तथा निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मो के अभाव रूप मोक्ष का मार्ग) **पमोक्खमग्गं**— (मोक्ष का अर्थ एक देश अर्थात् घातिया कर्मो का नाश होने से अर्हन्त भगवन् की अवस्था और प्रमोक्ष का अर्थ है— संपूर्ण कर्मो का नाश करने से सिद्धावस्था-- यह निर्ग्रन्थ लिग दोनों ही अवस्था का कारण है) **णिज्जाणमग्गं**— यान अर्थान् संसार के पर्यटन से निकलना अर्थात् चतुर्गति के परिभ्रमण का अभाव का यह लिग मार्ग है) **णिव्वाणमग्गं**— (निर्वाण अर्थात् ससार से विरक्ति या या परम मुख यह मुनि लिग दोनो की प्राप्ति का मार्ग है) **सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं**—(शरीरसम्वन्धी तथा मन संबधी सम्पूर्ण दुखो के नाश करने का यह मुनि लिग ही मार्ग है) **सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं**— (उत्तम सामायिकादि रूप विशुद्ध चारित्र वालो के लिये यही मुनि लिंग निर्वाण का मार्ग है अर्थात् उस भव मे या दूसरे भव मे यह निर्ग्रंथलिग ही निर्वाण का परम साधक है । **अवितहं**— (अवितथ अर्थात् मोक्ष के चाहने वाले भव्य जीवों के मोक्ष के प्राप्त करने मे यह लिंग ही विसंवाद रहित, सर्वोत्तम साधन है) **अविसंतिपवयणं**— (यह मुनि लिंग ही एक ऐसा लिग है जिसको मोक्ष को चाहने वाले स्वीकार करते है तथा प्रकृष्ट सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत होने से यही निरावाध सिद्धिसुख का देने वाला है) **उत्तमं**—(उत्तम अर्थात् मोक्ष के लक्षण रूप परमपुरुषार्थ का साधक है)**तंसद्दहामि** (मैं पूर्वोक्त विशेषणो से युक्त निर्ग्रन्थलिग का श्रद्धान करता हूँ अर्थात् उसमे विपरीत अभिप्राय से रहित होता हूँ) **तं पत्तियामि**— (उसी लिग की प्रतीति करता हूं अर्थात् इसीलिंग को मोक्ष कारण रूप निर्णय करता हूं) **तं रोचेमि**— (रुचि करता हूँ अर्थात् मोक्ष का यही लिंग साक्षात् कारण है ऐसा समझकर इस लिग मे रुचि करता हूँ) **तं फासेमि**—[उसी का स्पर्श करता हूं अर्थान् मैं स्वयं मोक्ष का अर्थी होने के कारण इस लिंगका ही उसका साधन समझ कर आलिगन करता हूँ] **इदो उत्तरं**--[इस निर्ग्रन्थ लिग से श्रेष्ठ] **अण्णं**— [अन्य मोक्ष का साधक लिग वर्त्तमान काल में

भी दूसरा] णत्थि— [नही है] ण भूदं— [भूत काल में भी निर्ग्रन्थ लिंग के अतिरिक्त और कोई दूसरा लिंग मुक्ति का साधक नहीं था ण भविस्सदि— [भविष्य काल मे भी यही लिंग मुक्ति का मार्ग रहेगा] णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण वा—[उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र इसी निर्ग्रन्थ लिंग मे शोभित होते है] सुत्तेण वा — [उत्कृष्ट सर्वज्ञ प्रणीत आगम द्वारा प्रतिपादित है इसलिये भी यह निर्ग्रन्थ लिंग उत्कृष्ट है] इदोजीवा सिज्झंति—[इस निर्ग्रन्थ लिंग से मोक्षार्थी जीव अपनी आत्मा का स्वरूप प्राप्त कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते है] बुज्झंति [इस लिंग के धारण करने पर ही वीतराग भावों की वृद्धि के कारण मुनिगण जीवादि तत्वों के रहस्य को समझते है] मुंचंति—[सम्पूर्ण प्रकार के कर्मो से रहित होते है] परिणिव्वायंति— [मुक्त या कृतकृत्य हो जाते है] सव्वदुक्खाणमंतं करेंति— [शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दु खो का विनाश करते है] परिवियाणंति— [सर्व प्रकार के दु.खो का नाश कैसे हो? इसके उपाय को निर्ग्रन्थ लिंग धारी भलीभाति जानते है] समणोमि— [उसे ग्रहण कर मै श्रमण-मुनि होता हू] संजदोमि —[संयत अर्थात् प्राणी यथा इन्द्रियरूप संयम के पालन मे तत्पर होता हूं] उपरदोमि—[सर्व विषयों से उपरत अर्थात् विरक्त होता हूं] उवसंतोमि— [कही २ पर राग द्वेष भाव की कमी होने से मोह को कुछ उपशांत करता हूं] उवहि— [परिग्रह] णियडि— [निकृत अर्थात् वंचना] माणो— [मान अर्थात् गर्व] माया— [कुटिलता] मोस--[असत्यभाषण] तथा मिच्छणाण, मिच्छादंसण, मिच्छचरित्तं च पडिविरदोमि— तथा च शब्द से प्रसिद्ध मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र के प्रति विरक्त होताहूं तथा सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचरित्तं च रोचेमि— सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, और सम्यक्चारित्र में रुचि (श्रद्धान) करता हूं जं जिणवरेहिं पण्णत्तं— (जो सम्यग्ज्ञानादि, जिनेन्द्रदेव के द्वारा आगम में बतलाया गया है उसी का श्रद्धान करता हूं)

इत्थ मे जो को वि— इस में जो कोई दिनसम्बन्धी या (रात्रिसम्बन्धी) अतिचार या अनाचार के कारण दोष लगा हो तो वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ॥ १० ॥

सार्वकालिक दोषों का प्रतिक्रमण:—

गद्य—पडिक्कमामिभंते । सव्वस्स सव्वकालियाये, इरिया समिदीए, भासा समिदीए, एसणासमिदीए, आदाण-णिक्खेवणसमिदीए, उच्चारपस्सवणखेलसिंहाणयवियडिप-इट्ठावणिसमिदीए, मणगुत्तीए, वचिगुत्तीए, कायगुत्तीए, पाणादिवादादो वेरमणाए, मुसावादादो वेरमणाए, अदिण्णादाणादो वेरमणाए, मेहुणादो वेरमणाए, परिग्ग-हादो वेरमणाए, राईभोयणादो वेरमणाए, सव्वविराहणाए, सव्वधम्म अइक्कमणदाए, सव्वमिच्छा चरियाए, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राईओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ११ ॥

अर्थ— हे भगवन् ! **सव्वस्स**— (दिनमे या रात्रि में होने वाले अतिचारों की) **सव्वकालियाए**—(सार्वकालिक विशुद्धि के निमित्त) प्रतिक्रमण करता हूँ । उन्ही सार्वकालिक व्रतों को निम्न रूप से वतलाया गया है:— **इरियासमिदीए**—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणासमिति, आदान निक्षेपण समिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिहाणकविकृति, प्रतिष्ठापन समिति, मन गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति तथा **पाणादिवादादो वेरमणाए**— प्राणा तिपात (हिंसा से) विरमण, **मुसावादादो वेरमणाए**—मृषावाद (असत्य वचन से) विरमण, **अदिण्णदाणादो वेरमणाए**—अदत्तादान (चोरी) से विरमण (त्याग) **मेहुणादो वेरमणाए** मैथुन (अब्रह्म) से विरमण, **परिग्गहादो वेरमणाए**—परिग्रह (वाह्य और अभ्यन्तर) से विरमण [विरक्ति] **राईभोयणादो वेरमणाए**—रात्रि भोजन से

विरमण, सव्वविराहणाए—सब एकेंद्रियादि जीवों की विराधना से सव्वधम्म अइक्कमणदाए—सब धर्मों की अतिक्रमणता अर्थात् जो आवश्यक कार्य यथा काल बतलाये गये है उनका उल्लंघन करने से तथा सव्वमिच्छाचरित्ताए— (अज्ञान के वश से होने वाले सब मिथ्याचारित्र का दिन में या रात्रि में, अतिचार या अनाचार लगा है, उस सम्बन्धी मेरा सर्व दुष्कृत मिथ्या होवे, इस प्रकार प्रतिक्रमण करता हूं ॥ ११ ॥

वीर भक्ति कायोत्सर्ग की आलोचना—

गद्य–इच्छामि भंते। वीरभत्ति काउस्सग्गो जो मे देवसिओ (राईओ) अइचारो, अणाचारो आभोगो, काइओ, वाइओ माणसिओ, दुच्चिंतिओ, दुब्भासिओ, दुप्परिणामिओ. दुस्समणीओ, णाणे, दंसणे, चरित्ते, सुत्ते, सामाइये, पंचण्हं महव्वयाणं. पंचण्हं, समिदीणं, तिण्हंगुत्तीणं, छण्हं जीवणिकायाणं, छण्हं आवासयाणं, विराहणाए, अट्ठवि-हस्स कम्मस्स णिग्घादणाए. अण्णहा उस्सासियेणवा, णिस्ससिएणवा, खासियेणवा, छिंक्कियेणवा, जम्भाइयेण वा, सुहुमेहिंअंगचलाचलेहिं,दिट्ठिचलाचलेहिं एदेहिं सव्वेहिं असमाहि पत्तेहिं, आयरेहिं, जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासंकरेमि, तावकायं पावकम्मं.दुच्चरियं वोस्सरामि ॥१॥

अर्थ—हे भगवन्! मैं वीर भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करना चाहता हूं और उसमे मेरे जो कोई दिवस में (रात्रि मे) अतिचार, अनाचार, आभोग, अनाभोग, दुश्चरित्र लक्षण कायिक, दुर्भावित स्वरूप वाचिक एव दुश्चिंतित-, दुष्परिणामिक स्वभाव मानसिक और दु:स्वप्निक दोष हुये तथा ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में, सूत्र मे, सामायिक में, पांच महाव्रत मे, पांच समिति मे, तीन गुप्ति में, छह जीवनि काय में, और छह आवश्यक की विराधना में तथा आठ कर्म को णिग्घादणाए- निर्घातन अर्थात् नाश करने वाली क्रियाओ के प्रयत्न

करने में जो दोष लगे है तथा अन्य प्रकार से भी दोप लगे है उन सब के विनाशार्थ कायोत्सर्ग करता हूं - अन्य प्रकार के दोष कौन २ से है उन्हें आचार्य स्वयं प्रकट करते है । १. **उस्सासिदेण वा**–(उच्छ्वास से) २. **णिस्सासिदेण वा**–(निश्वास अर्थात् नेत्रों की टमकार से) ३. **खासिदेणवा**–(खांसने से) ४. **छिंकिदेणवा**– (छीकने से) ५. **जंभाइदेणवा**– ज भाई अर्थात् उवासी लेने से ६. **सुहुमेहिं अंग चलाचलेहिं** सूक्ष्म अगो के हिलाने से ७ **दिट्ठि चलाचलेहिं** नेत्रो के इधर उधर चलाने से ८. **एदेहिं सव्वेहिं** इन सब पहले कहे हुये **आयारेहिं**– कार्योसे जो कुछ भी दोष को दूर करने के लिये कायोत्सर्ग करता हूँ । **असमाहिं पत्तेहिं** धर्मध्यान और शुक्लध्यान यह समाधि कहलाती है । उससे विपरीत आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान ये दोनों असमाधि कहलाते है क्योकि ये दोनों अशुभ होने से समाधि के घातक है इनके कारण से उत्पन्न होने वाले दोपों को दूर करने के लिये **जाव अरहंताणं** जब तक एक देश से और सर्वदेश से घातिया कर्म का घात करने वाले भगवान् पंच परमेष्ठी का **भयवंताणं** सातिशय ज्ञान वाले भगवान् की **पज्जुवासं करेमि** एकाग्र विशुद्ध मनसे पर्युपासन करता हूं **ताव कायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि** तब तक पाप कर्मो के उपार्जन करने वाले दुश्चरित काय की व्युत्सर्जन (कायोत्सर्ग करता हूं ।)

गद्य–वद समिदिंदियरोधो, लोचो आवासयमचेल मण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ १ ॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता ।
एत्थपमादकदादो, अइचारादो णियत्तो हं ॥ २ ॥

गद्य–छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं ।

विशेष--उपरिलिखित गाथा का अर्थ पृष्ठ संख्या १६४ में दिया गया है ।

गद्य--अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भाव पूजावन्दनास्तवसमेतं निष्ठितकरणवीरभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

अर्थ—अब मैं सब प्रकार के अतिचारों की विशुद्धि के दिन सम्बन्धी प्रति क्रमण क्रिया में, पूर्वाचार्यों के अनुक्रम से, सम्पूर्ण कर्मों के क्षयार्थ, भाव–पूजा वन्दनास्तव युक्त, निष्ठतकरणवीरभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं।

गद्य–इति प्रतिज्ञाप्य (ऐसी प्रतिज्ञा करके)

दिवसे १०८, रात्रिप्रतिक्रमणे ५४ उच्छ्वासेषु णमो अरहंताणं इत्यादि दंडकं पठित्वा कायोत्सर्गं कुर्यात् पश्चात् थोस्सामीत्यादि चतुर्विंशतिस्तवं पठेत्।

अर्थ— दिनमें १०८ श्वासोच्छ्वास (४ वार कायोत्सर्ग का जाप्य) तथा रात्रि में ५४ श्वासोच्छ्वास (२ वार कायोत्सर्ग का जाप्य)मे "णमो अरहन्ताण इत्यादि से लेकर चत्तारिमंगल" को पूरा वोलकर अड्ढाइज्जदीवसमुद्देसु-को पूरा वोलकर तावकायं पावकम्म दुच्चरियं वोस्सरामि तक सामायिक दडक को पूरा वोलकर फिर णमोकार मत्र का जाप्य करे फिर आगे 'वीर भक्ति' पढ़े।

विशेष— जहां २७ श्वासोश्वास का वर्णन हो वहां पर एक जाप्य अर्थात् ६ वार णमोकार मंत्र का मन मे उच्चारण करे, ५४ श्वासोच्छ्वास मे दो वार णमोकार मत्र का जाप्य करे और १०८ श्वासोच्छ्वास में चार वार णमोकार मत्र का जाप्य करे। इस प्रकार आवश्यकतानुसार आठदिन का, पन्द्रह दिन का चार महिने का तथा वर्ष भर का प्रति क्रमण के समय उसी पाठ को वोल कर आलोचना करे।

१. वीर भक्ति—

श्लोक- यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद् द्रव्याणि तेषांगुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवतः, सर्वान् सदासर्वदा॥

जानीते युगपत् प्रतिक्षणमः, सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते, वीराय तस्मै नमः ॥ १ ॥

अर्थ— जो सम्पूर्ण चर+आचर द्रव्यों को, उनके सहभावी गुणों को और क्रम भावी भूत, भावी तथा वर्त्तमान सब पर्यायों को भी सदा सर्वकाल अशेप विशेषो को लिये हुये युगपत् (काल कर्म से रहित एक साथ) प्रतिक्षण जानते है इसलिये उन्हे सर्वज्ञ कहते है; उन सर्वज्ञ, महान् गुणोत्कृष्ट, अंतिम तीर्थङ्कर वीर जिनेश्वर को नमस्कार हो ॥ १ ॥

श्लोक- वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः ।
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीरायभक्त्या नमः ॥
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य वीरं तपो ।
वीरे श्रीद्युतिकांतिकीर्त्तिधृतयो, हे वीर ! भद्र त्वयि ॥२॥

अर्थ— इस श्लोक मे वीर शब्द की आठों विभक्तियों के एक वचन के प्रयोग का चमत्कार बतलाया गया है। वीर जिनेश्वर सब सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रों द्वारा पूजित है। जिनेश्वर को गणधरादि बुधजन, ससार समुद्र से पार होने के लिये आश्रय करते है, वीर जिनेश्वर ने अपने और पर के कर्मो के समूह को विनष्ट किया है। वीर भगवान् को भक्ति से सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ। वीर जिनेन्द्र से यह भव सागरसे तारने वाला अतुल तीर्थ प्रवृत्त हुआ है। वीर जिनेश्वर का बाह्य और अभ्यन्तर तप भारी दुष्कर था जो औरो में नही पाया जाता था। वीर जिन में बाह्यअभ्यंतर लक्ष्मी, शरीर की ज्योति, कान्ति, कीर्त्ति, धृति, ये सब गुण विद्यमान है; इसलिये हे वीर जिनेन्द्रदेव ! आप ही कल्याकारी है ॥२॥

श्लोक- ये वीर पादौ प्रणमंति नित्यं, ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ताः।
तेवीतशोकाहि भवंति लोके, संसारदुर्गम् विषमं तरंति ॥३॥

अर्थ— ध्यान मे एकाग्रता को प्राप्त हुये सयमसे उपलक्षित योगसे युक्त होते हुये जो भव्य पुरुष वीर भगवान् के चरणों को नित्य प्रणाम करते है वे लोक में शोक मे विमुक्त होते है और विषम संसार रूपी अटवी के पार पहुँच जाते है ॥ ३ ॥

श्लोक-व्रतसमुदयमूलः संयमस्कंधबंधो, यमनियमपयो भि र्वर्धितः
शीलशाखः । सां तिकलिकभारो गुप्तिगुप्तप्रवालो,
गुणकुसुमसुगंधिः सत्तपश्चि . त्र. ॥ ४ ॥

श्लोक-शिवसुखफलदायि यो दयाछाययोद्धः,
शुभजन पथिकानां खेदनोदे समर्थः ।
दुरितर विजतापं, प्रापयन्नंत भावं,
स भव विभवहान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्षः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसका व्रतों का समुदाय मूल अर्थात् जड है; संयम, स्कन्धबन्ध है, जो यम, नियम रूप जल से वृद्धिगत है, अट्ठारह हजार शील जिसकी शाखाये है, जिसमें समितिया रूप कलिकाये भार है, गुप्तिया प्रगल (पल्लव) है. चौरासी लाख गुण रूप पुष्पों की सुगधि है, सम्यक्त्व विचित्र पत्र हैं, जो मोक्ष रूपी फल को देने वाला है, दया रूप छाया से प्रशस्त है, भव्यजन रूप पथिको के संताप को दूर करने में समर्थ है ऐसा, पाप रूप सूर्य के संताप का अन्त अर्थात् नाश को करने वाला है वह चारित्र रूप वृक्ष हमारे संसार मे जो गत्यादि नाना भव है, उसके विनाश के लिये होवे ॥ ४-५ ॥

श्लोक-चारित्रं सर्व जिनैश्चरित प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः ।
प्रणयामि पंचभेदं, पंच मचारित्रलाभाय ॥६॥

अर्थ—सब तीर्थङ्करो ने स्वयं चारित्र का अनुष्ठान किया है और सब शिष्यों के लिये जैसा है वैसा स्पष्ट कहा है अतः सब कर्मो के क्षय के साधक पंचम यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति के लिये सामायिकादि पांच भेदों से युक्त चरित्र को मैं प्रणाम करता हूं ॥ ६ ॥

श्लोक-धर्म सर्वसुखाकरो हित करो धर्म बुधाश्चिन्वते ।
धर्मेणैव समाप्यते शीवसुखं, धर्माय तस्मै नमः ॥
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां, धर्मस्य मूलं दया ।
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मां पालय ॥ ७ ॥

अर्थ— इस श्लोक में भी 'धर्म' शब्द की आठों विभक्तियो के एक वचन का प्रयोग किया गया है। धर्म रूप चारित्र, स्वर्ग और मोक्ष संबंधी सब सुखो का आकर अर्थात् उत्पत्तिस्थान है; सब जीवो के हित का करने वाला है। चरित्र रूप इस धर्म को सभी विवेकशील तीर्थङ्कर आदि महा पुरुष भी संचित करते है, धर्म से ही मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है उस धर्म के लिये मेरा नमस्कार हो, धर्म के अतिरिक्त और कोई संसारी जीवों का उपकारक अर्थात् मित्र नही है। धर्म का मूल कारण दया है। इस प्रकार के धर्म में, मै प्रतिदिन चित्त लगाता हूं। हे धर्म, तू मेरा पालन कर ॥ ७ ॥

गद्य–धम्मोमंगलमुद्दिट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तस्सपणमंति, जस्स धम्मे सयामणो ॥८॥

अर्थ—यह चारित्र रूप धर्म, उत्कृष्ट मंगल है अर्थात् मल को गालने वाला और सुख का देने वाला है, धर्म ही नही अहिसा संयम और तप भी सर्वोत्कृष्ट मंगल है क्योंकि जिसका मन धर्म मे सदा तल्लीन है उसको देव भी नमस्कार करते है ॥८॥ अंचलिका—

गद्य—इच्छामि भंते! पडिकमणादिचारमालोचेउं, सम्मणाण-सम्मदंसण, सम्मचारित्त, तव, वीरियाचारेसु जमणियम संजमसील-मूलुत्तरगुणेसु सव्वमईचारंसावज्जजोगं पडिविरदोमि असंखेज्जलोग अज्झवसायठाणाणिअप्पसत्थजोगसण्णाणिंदियकसाय गारवकिरि-यासु मणवयणकायकरणदुप्पणिहाणाणि परिचिंतियाणि किण्हणील काउलेस्साओ विकहापलिकुंचिएण उम्मगहस्सअरदिसोयभयदुगंछ वेयणविज्भंभजंभाइआणि अट्टरुद्दसंकिलेसपरिणामदाणि अणि-हुदकरचरणमणवयणकायकरणेण अक्खित्तबहुलपरायणेणअपडि-पुण्णेण वासरक्खरावयपरिसंघायपडिवत्तियेण वा अच्छाकारिदं, मिच्छामेलिदं अण्णहादिण्णं अण्णहापडिच्छिदं आवासएसु परिही-णदाए कदो वा, कारिदोवा, कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥१॥

अंचलिका का अर्थ—हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण सम्बन्धी अतिचारो की आलोचना करना चाहता हूं, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यकचारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारो में यम, नियम, सयम, शील मूलगुण और उत्तरगुणों में जो कुछ अतिचार लगे है और जो कुछ सावद्ययोग हुआ है उससे मैं विरत होता हू। (क) असख्येय लोकाध्यवसायस्थान, अप्रशस्तयोग, संज्ञा, इंद्रिय, कषाय गारव क्रियाओं में, मन वचन काय से जो दुष्प्रणिधान परिचिंतित किये (ख) कृष्ण, नील, कापोत लेश्या, विकथा, उमग, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, विजृंभ (जंभाई) आर्त्त, रौद्र संक्लेश परिणाम परिणमित किये, (ग) अनिभृत (चचल) कर, चरण, मन वचन कायकी प्रवृत्ति करने से, (घ) इंद्रियो के विषयों में अतिप्रवृत्ति करने से (ङ) अपरिपूर्णता से (च) स्वर, व्यजन, पद और परिसंघात के बोलने में, जो अन्यथा प्रवृत्ति की, (छ) मिथ्या मेलित, आमेलित किया (ज)–अन्यथा दिया और अन्यथा स्वीकार किया (झ) आवश्यकों में हीनता स्वयं की दूसरों से कराई, किये हुए की अनुमोदना की, उसमें लगा हुआ दुष्कृत (दोष) मेरा मिथ्या हो ।।१।।

गद्य—वदसमिदिदियरोधो, लोचो आवासय मचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ।।१।।
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं ।। २ ।।

गद्य—छेदोवट्ठावणं होउमज्झं ।।

विशेष—इन दोनो गाथाओ का अर्थ पृष्ठ १६४ में प्रकाशित कर दिया गया है।

गद्य—अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमणक्रियायांकृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्म क्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं चतुर्विंशतितीर्थंङ्करभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं। (इति प्रतिज्ञाप्य) णमो अरहंताणं इत्यादि दंडकंपठित्वा कायोत्सर्गं कुर्यात् । (चतुर्विंशतिस्तवंपठेत्)

卐 चतुर्विंशति तीर्थङ्कर भक्ति 卐

गाथा—चउवीसं तित्थयरे, उसहाइवीरपच्छिमे वंदे ।
सव्वेंसगणगणहरे, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥ १ ॥

श्लोक—ये लोकेऽष्टसहस्रलक्षणधरा, ज्ञेयार्णवान्तर्गता ।
ये सम्यग्भवजालहेतुमथनाश्, चन्द्रार्कतेजोऽधिकाः ॥
ये साध्विन्द्रसुराप्सरो गणशतै, गीतप्रणुत्यार्चितास् ,
तान् देवान् वृषभादि वीरचरमान्, भक्त्या नमस्याम्यहं ।२।

श्लोक—नाभेयं देवपूज्यं, जिनवरमजितं, सर्वलोकप्रदीपं ।
सर्वज्ञं संभवाख्यं, मुनिगणवृषभं, नंदन देवदेवं ॥
कर्मारिघ्नं सुबुद्धिं वरकमलनिभं, पद्मपुष्पाभिगंधं ।
क्षांतं दांतं सुपार्श्वं, सकलशशिनिभं, चन्द्रनामानमीडे ॥३॥
विख्यातं पुष्पदन्तं, भवभयमथनं, शीतलं लोकनाथम् ।
श्रेयांसं शीलकोशं, प्रवरनरगुरुं, वासुपूज्यं सुपूज्य ॥
मुक्तं दांतेंद्रियाश्वं, विमलमृषिपतिं, सिंहसैन्यं मुनीन्द्रं ।
धर्मं सद्धर्मकेतुं शमदमनिलयं, स्तौमि शांतिं शरण्यं ॥४॥
कुन्थुं सिद्धालयस्थं, श्रमणपतिमरं, त्यक्तभोगेषु चक्रम् ।
मल्लिं विख्यातगोत्रं, खचरगणनुतं, सुव्रतं सौख्यराशिम् ॥
देवेन्द्रार्च्यं नमीशं, हरिकुलतिलकं, नेमिचन्द्रं भवान्तम् ।
पार्श्वं नागेन्द्रवंद्यं, शरणमहमितो वर्धमानं च भक्त्या ॥५॥

अचलिका —

गद्य—इच्छामि भंते ! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं पंचमहाकल्याणसंपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसयाणं,

चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं, बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहिदाणं, बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणिजइअणगारोवगूढाणं थुइसहस्सणिलयाणं, उसहाइवीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालंअच्चेमि, पूजेमि वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, वोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

गाथा—वदसमिदिंदियरोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ १ ॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
एत्थपमादकदादो; अइचारादो णियत्तो हं ॥ २ ॥

गद्य—छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं ।

विशेष—इस 'चतुर्विंशति तीर्थङ्कर भक्ति' का अर्थ पीछे दशभक्त्यादि पाठ में १६४ पृष्ठ पर दिया गया है सो वहाँ देख लेवे ।

गद्य—अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमणक्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं सकल कर्मक्षयार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण श्री सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति निष्ठितकरणभक्ति-चतुर्विंशति तीर्थङ्करभक्तीः कृत्वा तद्धीनादिक दोषविशुद्ध्यर्थं, आत्मपवित्रीकरणार्थं समाधिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

अर्थ—अब मैं सब अतिचारों की विशुद्धि के लिए दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण क्रिया में अपने किये हुये दोषों को दूर करने के लिये पूर्वाचार्यों के क्रम से, सम्पूर्ण कर्मों के नष्ट करने के लिये भावपूजा वंदना, स्तव सहित श्रीसिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, निष्ठितकरणभक्ति और चतुर्विंशतितीर्थङ्कर भक्ति को करके उसमें कमी बेशी के दोष को दूर करने के लिये तथा अपने आपको पवित्र करने के लिये समाधि भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूँ ।

इति विज्ञाप्य 'णमोअरहंताणं' इत्यादि सम्पूर्ण दंडकं पठित्वा
कायोत्सर्गं कुर्यात् । थोस्सामीत्यादि स्तव पठेत् ।

पश्चात् थोस्सामि इत्यादि ८ गाथाओं का पूर्ण पाठ कर समाधि भक्ति को बोलना प्रारम्भ करें।

#卐 [५] समाधि भक्ति 卐

गद्य—अथेष्टप्रार्थना—प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः ।

अर्थ—अथ इष्ट प्रार्थना—[१] प्रथमानुयोग [२] करणानुयोग [३] चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग को नमस्कार हो।

श्लोक—शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः, संगतिः सर्वदार्यैः ।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनं ॥
सर्वस्यापिप्रियहितवचो, भावनाचात्मतत्वे ।
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥ १ ॥

अर्थ—मेरे शास्त्रो का अभ्यास हो, जिनेन्द्र के चरणों को नमस्कार हो, आर्य [सुचरित] पुरुषो की सदा सगति हो, सदाचार परायण पुरुषों के गुणगान की कथा हो, पर के दोषों के कहने मे मौन हो, सबके लिये हित मित, प्रिय वचन हों, और अपने आत्मस्वरूप में भावना हो, मेरे मोक्ष की प्राप्ति पर्यन्त ये सब जन्म-जन्म में प्राप्त हों ॥ १ ॥

श्लोक—तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनं ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥ २ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! जब तक मुझे निर्वाण की प्राप्ति हो तब तक आपके चरण मेरे हृदय में रहे, और मेरा हृदय आपके चरणों में लीन रहें ॥ २ ॥

गाथा—अक्खरपयत्थहीणम्, मत्ताहीणं च जं भए भणियं ।
तं खमहु णाणदेव ! यं मज्झवि दुक्खक्खयं कुणउ ॥३॥

अर्थ—हे ज्ञानरूप देव! अक्षर पद और अर्थ से तथा मात्रा से हीन मैंने जो कहा हो तो, उसको आप क्षमा करें और मेरे दुःखों का क्षय करें।

आलोचना :—

गद्य—इच्छामि भंते ! समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, रयणत्तयरूवपरमप्पज्झाणलक्खण समाहिभत्तिम्, णिच्चकालंअंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणम्, जिणगुणसम्पत्ति होउमज्झं ॥५॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैंने समाधिभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया, उसकी अव मै आलोचना करना चाहता हूँ । रत्नत्रयस्वरूप और परमात्मा का ध्यानलक्षण समाधि का सर्वकाल अर्चन करता हूं, पूजन करता हू, वंदना करता हूँ, और नमस्कार करता हूं । मेरे दु.खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि का क्षय हो, सुगति में गमन हो और जिनेन्द्र के गुणों की सम्यक् [भलीभांति] प्राप्ति हो ॥

इति दैवसिक [रात्रिक] प्रतिक्रमण समाप्त ॥

इसके वाद 'चतुर्दिग्वंदना' पाठ का उच्चारण करके पाक्षिक-प्रतिक्रमण' में प्रारम्भ में ही दिये गये पाठानुसार लघुसिद्ध भक्ति, लघु श्रुतभक्ति तथा तथा चारित्रभक्ति पूर्वक आचार्य की भक्ति करना आवश्यक हैं ।

अथ चतुर्दिग्वंदना

श्लोक—प्राग्दिग्विदिगंतरे, केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः ।
ये सर्वर्द्धिसमृद्धाः, योगिगणास्तानहम् वन्दे ॥ १ ॥

अर्थ—पूर्व दिशा तथा तत्सम्वन्धी विदिशा मे जितने भी केवली भगवान्, सिद्धभगवान्, तथा सम्पूर्ण प्रकार की ऋद्धिसहित साधुगण अर्थात् योगियो का समुदाय विराजमान है उन सवको मैं वारम्वार नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

श्लोक—दक्षिण दिग्विदिगन्तरे, केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः ।
ये सर्वर्द्धिसमृद्धाः, योगिगणास्तानहम् वन्दे ॥ २ ॥

अर्थ—दक्षिण दिशा तथा तत्सम्बन्धी विदिशा में जितने भी केवली

भगवान्, सिद्धभगवान् तथा सम्पूर्ण प्रकार की ऋद्धिसहित साधुगण अर्थात् योगियों का समुदाय विराजमान है उन सबको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥

श्लोक—पश्चिमदिग्विदिगन्तरे, केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः
ये सर्वर्द्धिसमृद्धाः, योगिगणास्तानहं वन्दे ॥ ३ ॥

अर्थ—पश्चिमदिशा तथा तत्सम्बन्धी विदिशा में जितने भी केवली भगवान्, सिद्धभगवान् तथा सम्पूर्ण प्रकार की ऋद्धिसहित साधुगण अर्थात् योगियो का समुदाय विराजमान है उन सबको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

श्लोक—उत्तरदिग्विदिगन्तरे, केवलिजिनसिद्धसाधुगण देवाः।
ये सर्वर्द्धिसवृद्धाः, योगिगणास्तानहम् वन्दे ॥ ४ ॥

अर्थ—उत्तर दिशा तथा तत्सम्बन्धी विदिशा में जितने भी केवली भगवान्, सिद्धभगवान् तथा सम्पूर्ण प्रकार की ऋद्धि सहित साधुगण अर्थात् योगियों का समुदाय विराजमान है उन सबको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

पाक्षिकादिप्रतिक्रमण—विधि

गद्य—(शिष्यसधर्माणः पाक्षिकादिप्रतिक्रमेलघ्वीभिः सिद्ध-श्रुताचार्यभक्तिभिराचार्यवन्देरन्)

अर्थ—इस प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में शिष्यमुनि और साधर्मीमुनि मिल कर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्य की लघुभक्ति पढकर आचार्य की वन्दना निम्नलिखित प्रकार करें।

गद्य—नमोस्तु आचार्यवन्दनायां प्रतिष्ठापन (प्रातःकाल के समय पौर्वाण्हिक तथा सन्ध्याकाल के समय आपराण्हिक शब्द का उच्चारण करना चाहिये)। सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

अर्थ—हे भगवन् ! नमस्कार हो, आचार्यवन्दना में प्रारम्भिक प्रतिष्ठापन सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं। ऐसी प्रतिज्ञा कर ९ बार णमोकार मन्त्र का जाप्य करे तथा नीचे लिखी हुई सिद्धभक्ति पढे।

गाथा—सम्मत्तणाणदंसण, वीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलघुमव्वाबाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥ १ ॥

अर्थ—सिद्धों के सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाध ये आठ गुण होते है ॥ १ ॥

गाथा—तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्हि दंसणम्हि य सिद्धे सिरसाणमंसामि ॥ २ ॥

अर्थ—तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, संयम से सिद्ध, चरित्र से सिद्ध, ज्ञान में सिद्ध और दर्शन मे सिद्ध, इन सब सिद्धों को, मस्तक झुकाकर मै नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

विशेष—अंचलिका का अर्थ पहले लिखा जा चुका है, कई पाठों में अंचलिका का पाठ यहां उद्धृत नही किया गया है किन्तु उसे आवश्यक समझ कर दिया जा रहा है :—

अंचलिका—

इच्छामि भन्ते ! सिद्धभक्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसण, सम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढलोयमच्छयम्मिपयट्ठियाणं, तवसिद्धाणम्, णयसिद्धाणं, संजमसिद्धाणं, अतीताणागदवड्ढनाणकालत्तयसिद्धाणंसव्वसिद्धाणं सयाणिच्चकालंअंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ॥

गद्य—नमोस्तुआचार्यवंदनायां प्रतिष्ठापनश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

अर्थ—हे भगवन् ! नमस्कार हो, आचार्यवन्दना में, प्रतिष्ठापनश्रुतभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा कर ९ बार णमोकार मंत्र का जाप्य कर निम्नलिखित पाठ पढे :—

श्लोक—कोटीशतं द्वादशचैवकोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव ।
पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्य, मेतच्छ्रुतं पंचपदं नमामि ॥१॥

गाथा—अरहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथिय सम्मं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवहिं सिरसा ॥ २ ॥

अर्थ—११२ करोड ८३ लाख ५८ हजार और ५ पद प्रमाण इस श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

अर्थ—अरहत देव द्वारा अर्थरूप से कथित और गणधर देव द्वारा ग्रन्थरूप से ग्रथित श्रुतज्ञानरूप महोदधि को भक्ति से युक्त हुआ मै सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

अचलिका :—

इच्छामि भन्ते ! सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं; अंगोवंगपइण्णए, पाहुडयपरियम्मसुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेवसुत्तत्थय, थुइ, धम्मकहाइयं सुदं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहि-मरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

गद्य—नमोऽस्तु आचार्यवन्दनायांप्रतिष्ठापनाचार्यभक्तिकायो-त्सर्गं करोम्यहं ॥

अर्थ—हे भगवन् नमस्कार हो, मै आचार्यवन्दना में प्रतिष्ठापनाचार्य-भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हू, ऐसी प्रतिज्ञा कर ९ बार णमोकार मन्त्र का जाप्य कर नीचे लिखा पाठ पढे ।

श्लोक—श्रुतजलधिपारगेभ्यः, स्वपरमतविभावनापटुमतिभ्यः ।
सुचरिततपोनिधिभ्यो, नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्यः ॥ १ ॥

अर्थ—जो श्रुतसमुद्र के पारगामी है, स्वमत और परमत के विभावन (विचार करने) में चतुर है; सुचरित और तप के खजाने है और गुणो में महान् है, ऐसे गुरुओ को नमस्कार हो ॥ १ ॥

गाथा—छत्तीसगुणसमग्गे, पंचविहाचारकरणसंदरिसे ।
　　सिस्साणुग्गहकुसले, धम्माइरिये सदा वन्दे ॥ २ ॥

अर्थ—जो छत्तीस गुणों से पूर्ण है, पाच प्रकार के आचार के स्वय पालने वाले हैं तथा शिष्यों के द्वारा भी पलाने वाले है, शिष्यों का अनुग्रह करने में कुशल है, ऐसे धर्माचार्यों की मै सदा वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

गाथा—गुरुभत्तिसंजमेण य, तरन्ति संसारसायरं घोरं ।
　　छिण्णंति अट्ठकम्मं, जम्मं मरणं ण पावेंति ॥ ३ ॥

अर्थ—गुरुभक्ति करने से शिष्य, घोर संसार सागर से तिर जाते है, आठ कर्मों को छेद देते है और जन्म-मरण को प्राप्त नही होते है ।

श्लोक—ये नित्यं व्रतमन्त्रहोमनिरता, ध्यानाग्निहोत्राकुलाः ।
　　षट्कर्माभिरतास्तपोधनधनाः, साधुक्रियासाधवः ॥
　　शीलप्रावरणा, गुणप्रहरणाश्चन्द्रार्कतेजोऽधिकाः ।
　　मोक्षद्वारकपाटपाटनभटाः, प्रीणंतु मां साधवः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो प्रतिदिन व्रत, मन्त्र और होम मे निरत है, ध्यानरूप अग्नि में हवन करने वाले हैं, आवश्यकादि षट् क्रियाओ मे लीन है, तपरूप धन ही जिनके धन है, जो साधुओं की क्रियाओं का साधन करने वाले है, अठारह हजार शील ही जिनके पास ओढने का वस्त्र है, चौरासी लाख गुण ही जिनके प म शस्त्र हैं, चन्द्र और सूर्य के तेज से भी जिनका तेज अधिक है, मोक्षद्वार के कपाट पाटन-उद्घाटन करने में जो वडे भट है—योद्धा है ऐसे साधु मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

श्लोक—गुरवः पांतु नो नित्यं, ज्ञानदर्शननायकाः ।
　　चारित्रार्णवगंभीरा, मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो ज्ञान और दर्शन के नायक हैं, चारित्ररूप सागर के समान गम्भीर हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश देने वाले है, ऐसे गुरु आचार्य हमारी नित्य रक्षा करें ॥ ५ ॥

अंचलिका—

गद्य—इच्छामि भन्ते! आइरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सा-लोचेउं सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं, पंचविहाचाराणं, आयरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालनरयाणं, सव्वसाहूणं सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं, समाहि-मरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

विशेष—इसके अनन्तर इष्टदेवता महावीर स्वामी को नमस्कारपूर्वक 'समता सर्वभूतेषु' इत्यादि श्लोक को पढकर 'सिद्धानुद्धूतकर्म' इत्यादि अचलिका सहित बृहत्सिद्धभक्ति और बृहद् आलोचना सहित 'येनेन्द्रान्' इत्यादि चारित्रभक्ति को अर्हन्त भगवान् के सामने करे वह निम्नलिखित प्रकार है :—

श्लोक—नमः श्रीवर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्यादर्पणायते ॥ १ ॥

अर्थ—जिनने अपनी आत्मा से पाप-मल, जड-मूल से धो डाला है, ऐसे श्रीवर्धमान अन्तिम तीर्थङ्कर को नमस्कार हो। जिनका ज्ञान अलोक सहित तीनो लोको को दर्पण के समान आचरण करता है।

श्लोक—समता सर्वभूतेषु, संयमे शुभभावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं मतम् ॥ २ ॥

अर्थ—सब प्राणियो मे समता भाव धारण करना, संयम में शुभ-भावना होना और आर्त्त तथा रौद्र इन दोनों दुर्ध्यानो का त्याग होना ही 'सामायिक' माना गया है।

गद्य—अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं "पाक्षिक" प्रतिक्रमणक्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजा-वंदना स्तवसमेतं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

अर्थ—सब अतिचारो की[दोपो की]विशुद्धि के अर्थ, पाक्षिक(चातुर्मासिक, सांवत्सरिक) आदि प्रतिक्रमण में पूर्वाचार्यों के अनुक्रम से सम्पूर्ण कर्मों के क्षयार्थ भावपूजावन्दनास्तवसमेत सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं।

विशेष—णमो अरहंताणं इत्यादि सामायिक दंडक पढकर कायोत्सर्ग करे, फिर 'थोस्सामि' इत्यादि स्तुति पढकर अंचलिका युक्त 'सिद्धानुद्धूतकर्म' इत्यादि निम्नलिखित सिद्धभक्ति पढे।

सिद्धानुध्दूतकर्म. प्रकृतिसमुदयान्, साधितात्मस्व,भावान् ।
वन्दे सिद्धिप्रसिध्यैं, तदनुपमगुण, प्रग्रहाकृष्टितुष्टः ॥
सिद्धि, स्वात्मोपलब्धिः,प्रगुणगुणगणो,च्छादिदोषापहारा-
द्योग्योपादानयुक्त्या, दृषद् इह यथा, हेमभावोपलब्धिः ॥ १ ॥

नाभावःसिद्धिरिष्टा, न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तेः ।
अस्त्यात्मानादिबद्धः, स्वकृतजफलभुक्, तत्क्षयान्मोक्षभागी ॥
ज्ञाता द्रष्टा स्वदेह, प्रमितिरुपसमा, हारविस्तारधर्मा ।
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा, स्वगुणयुत इतो, नान्यथासाध्यसिद्धिः ॥२॥

सत्वन्तर्बाह्यहेतु, प्रभवविमलस द्दर्शनज्ञानचर्या-
सम्पद्धे तिप्रघात,क्षतदुरिततया,व्यञ्जिताचिन्त्यसारैः ॥
कैवल्यज्ञानदृष्टि,प्रवरसुखमहा, वीर्यसम्यक्त्वलब्धि ।
ज्योतिर्वातायनादि,स्थिरपरमगुणै,रद्भुतैर्भासमानः ॥ ३ ॥

जानन्पश्यन्समस्तं, सममनुपरतं संप्रतृप्यन्वितन्वन् ।
धुन्वन्ध्वान्तं नितान्तं, निचितमनुपमं, प्रीणयन्नीशभावम् ॥
कुर्वन्सर्वप्रजाना, मपरमभिभवन्, ज्योतिरात्मानमात्मा ।
आत्मन्येवात्मनासौ, क्षणमुपजनयन्, सत्स्वयंभू प्रवृत्तः ॥ ४ ॥

छिन्दन्शेषानशेषा,न्निगलबलकलींस्, तैरनन्तस्वभावै :
सूक्ष्मत्वाग्र्यावगाहा, गुरुलघुकगुणैः क्षायिकैः शोभमानः ॥

अन्यैश्चान्यव्यपोह,प्रवणविषयसं,प्राप्तलब्धिप्रभावैः ।
रूर्ध्वंव्रज्यास्वभावात्,समयमुपगतो, धाम्नि सन्तिष्ठतेऽग्र्ये ॥ ५ ॥

अन्याकाप्तिहेतु,र्न च भवति परो, येन तेनाल्पहीनः ।
प्रागात्मोपात्तदेह,प्रतिकृतिरुचिरा,कार एव ह्यमूर्त्तः ॥
क्षुत्तृष्णाश्वासकास,ज्वरमरणजरा,निष्टयोग प्रमोह ।
व्यापत्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः, कोऽस्य सौख्यस्य माता ॥ ६ ॥

आत्मोपादानसिद्धं, स्वयमतिशयव,द्वीतबाधं विशालं ।
वृद्धिह्रासव्यपेतं, विषयविरहितं, निःप्रतिद्वन्द्वभावम् ॥
अन्यद्रव्यानपेक्षं, निरुपममितं, शाश्वतं सर्वकालं ।
उत्कृष्टानन्तसारं, परमसुखमतस्,तस्य सिद्धस्यजातम् ॥ ७ ॥

नार्थः क्षुत्तृट्विनाशाद्,विविधरसयुतै,रन्नपानैरशुच्या ।
नास्पृष्टेर्गन्धमाल्यै,र्नहि मृदुशयनै,र्ग्लानिनिद्राद्यभावात् ॥
आतंकार्तेरभावे,तदुपशमनसद्भेषजानर्थतावद् ।
दीपानर्थक्यवद्वा,व्यपगततिमिरे, दृश्यमाने समस्ते ॥ ८ ॥

तादृक्सम्पत्समेता,विविधनयतपः, संयमज्ञानदृष्टि ।
चर्या सिद्धाः समन्तात्, प्रविततयशसो, शिवदेवाधिदेवाः ॥
भूता भव्या भवन्तः, सकलजगति ये, स्तूयमाना विशिष्टैः ।
तान्सर्वान्नौम्यनंतान्,निजिगमिषुररं,तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम् ॥ ९ ॥

अचलिका :—

गद्य—इच्छामि भंते ! सिद्धिभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउ, सम्मणाणसम्मदंसण,सम्मचारित्तजुत्ताण,अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुण-सपण्णाण उढ्ढलोमयत्थयम्मि पयट्ठियाण, तवसिद्धाणं, णयसिद्धाण, संजम-सिद्धाण,चरित्तसिद्धाण,अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाण, सव्वसिद्धाण, सया णिच्चकाल अचेमि, पूजेमि,वन्दामि,णमंस्सामि, दुक्खक्खओ,कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमण, समाहिमरण, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

गद्य—अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिक (चातुर्मासिक, सांवत्सरिकादि) प्रतिक्रमणक्रियायां कायोत्सर्गं करोम्यहं ।।

विशेष—णमोअरहंताणं आदि सम्पूर्ण दंडक पाठ को पढकर फिर ६ वार णमोकार मन्त्र का जाप्य करे फिर 'थोस्सामि' आदि स्तव को पढकर निम्नलिखित चारित्रभक्ति का पाठ करे।

चारित्र भक्ति

येनेन्द्रान्भुवनत्रयस्य विलसत्,केयूरहारांगदान् ।
भास्वन्मौलिमणिप्रभाप्रविसरोत्तुंगोत्तमाङ्गान्नतान् ।।
स्वेषां पादपयोरुहेषु मुनयश्,चक्रुः प्रकामं सदा ।
वंदे पंचतयं तमद्य निगदन् , नाचारमभ्यर्चितम् ।। १ ।।

अर्थव्यंजनतद्द्वयाविकलता, कालोपधाप्रश्रयाः ।
स्वाचार्याद्यनपन्हवो बहुमतिश्,चेत्यष्टधा व्याहृतम् ।।
श्रीमज्ज्ञातिकुलेन्दुना भगवता, तीर्थस्य कर्त्राऽञ्जसा ।
ज्ञानाचारमहं त्रिधा प्रणिपता,म्युद्धूतये कर्मणाम् ।। २ ।।

शंकादृष्टिविमोहकांक्षणविधि,व्यावृत्तिसन्नद्धतां,
वात्सल्यं विचिकित्सना,दुपरतिं, धर्मोपबृंहक्रियाम् ।
शक्त्या शासनदीपनं हितपथाद्,भ्रष्टस्य संस्थापनम्,
वन्दे दर्शनगोचरं सुचरितं मूर्ध्ना नमन्नादरात् ।। ३ ।।

एकान्ते शयनोपवेशनकृतिः, सन्तापनं तानवम्,
संख्यावृत्तिनिबन्धनामनशनं, विष्वाणमर्द्धोदरम् ।
त्यागं चेन्द्रियदन्तिनो मदयतः, स्वादो रसस्यानिशम्,
षोढा बाह्यमहं स्तुवे शिवगति, प्राप्त्यभ्युपायं तपः ।। ४ ।।

स्वाध्यायः शुभकर्मणश्च्युतवतः, संप्रत्यवस्थापनम्,
ध्यानं व्यापृतिरामयाविनि गुरौ, वृद्धे च बालेयतौ ।

कायोत्सर्जनसत्क्रिया विनय इत्,येवं तपः षड्विधं ।
वन्देऽभ्यंतरमन्तरंगबलवद्वि,द्वेषिविध्वंसनम् ॥ ५ ॥

सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः, श्रद्धानमर्हन्मते,
वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि, स्वस्य प्रयत्नाद्यतेः ।
या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा, लघ्वी भवोदन्वतो,
वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं, वन्दे सतामर्चितम् ॥ ६ ॥

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनो, भाषानिमित्तोदयाः,
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः, पंचव्रतानीत्यपि ।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरं नमामो वयम् ॥ ७ ॥

आचारं सहपंचभेदमुदितं, तीर्थं परं मंगलं,
निर्ग्रंथानपि सच्चरित्रमहतो, वन्दे समग्रान्यतीन् ।
आत्माधीनसुखोदयामनुपमां, लक्ष्मीमविध्वंसिनी,
मिच्छन्केवलदर्शनावगमन, प्राज्यप्रकाशोज्वलाम् ॥ ८ ॥

अज्ञानाद्यदवीवृतं नियमिनोऽवर्त्तिष्यहं चान्यथा,
तस्मिन्नर्जितमस्यति प्रतिनवं, चैनो निराकुर्वति ।
वृत्ते सप्ततयीं निधिं सुतपसा, मृद्धिं नयत्यद्भुतं ।
तन्मिथ्या गुरुदुष्कृतं भवतु मे, स्वं निंदितो निंदितम् ॥ ९ ॥

संसारव्यसनाहति प्रचलिता, नित्योदयप्रार्थिनः,
प्रत्यासन्नविमुक्तयः सुमतयः, शांतैनसः प्राणिनः ।
मोक्षस्यैव कृतं विशालमतुलं, सोपानमुच्चैस्तराम्,
आरोहन्तु चरित्रमुत्तममिदं, जैनेन्द्रमोजस्विनः ॥ १० ॥

अंचलिका—

इच्छामि भन्ते ! चरित्तभत्तिकाउसग्गो कओ, तस्स आलोचेउं । सम्मणाणजोयस्स सम्मत्ताहिट्ठियस्स सव्वपहाणस्स णिव्वाणमग्गस्स कम्मणिज्जरफलस्स खमाहारस्स पंचमहव्वयसपण्णस्स तिगुत्तिगुत्तस्स पचसमिदिजुत्तस्स णाणज्झाणसाहणस्स समया इव पवेसयस्स सम्मचारित्तस्स सया अचेमि, पूजेमि, वन्दामि, णमंस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

बृहद् आलोचना

विशेष—श्री गौतमस्वामी मुनियों के दुष्षमकाल में दुष्ट परिणामादि द्वारा प्रतिदिन उपार्जित पंचाचार गोचर अतिचार की विशुद्धि के लिये दिनों की गणनापूर्वक आलोचनालक्षण उपाय दिखाते हुये कहते है ।

गद्य—इच्छामि भन्ते ! अट्ठमियम्मि आलोचेउं अट्ठण्हं दिवसाणं, अट्ठण्हं राईणं, अब्भंतरादो पंचविहोआयारो, णाणायारो, दंसणायारो, वीरियायारो, तवायारो, चरित्तायारोचेदि ॥ १ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार और चारित्राचार, इस प्रकार पांच प्रकार का आचार है । आठ दिन और आठ रात्रि के भीतर जो ज्ञानादिक में अतिचार लगा है उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

गद्य—इच्छामि भन्ते ! पक्खियम्मि आलोचेउं, पण्णरसण्हं दिवसाणं, पण्णरसण्णंराईणं, अब्भंतराओ पंचविहो आयारो, णाणायारो, दंसणायारो, चरित्तायारो, तवायारो, वीरियायारो चेदि ॥ २ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! पाक्षिक में या दिनगणना की अपेक्षा १५ दिन या और १५ रात्रि के भीतर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार और चारित्राचार इस प्रकार पांच प्रकार के आचार में अतिचार लगा है उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूं ॥ २ ॥

गद्य—इच्छामि भन्ते ! चउमासयम्मि आलोचेउं, चउण्हं मासाणं, अट्ठण्हं पक्खाणं, विसुत्तरसयदिवसाणं, वीसुत्तरसयराईणं,

अब्भंतराओ पंचविहोआयारो,णाणायारो,दंसणायारो,चरित्तायारो, वीरियायारो चेदि।

अर्थ—हे भगवन् ! चार महीनो मे या आठ पक्ष या एक सौ बीस दिन और एक सौ बीस रात के भीतर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इस प्रकार पाँच प्रकार के आचार में अतिचार लगा है उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूँ ॥ ३ ॥

गद्य—इच्छामि भन्ते ! संवच्छरियम्मि आलोचेउं वारसण्हं मासाणं चउवीसण्हं पक्खाणं, तिण्ह छावट्ठिसयदिवसाणं, छावट्ठि-सयराईणं,अब्भंतराओ पंचविहोआयारो:-णाणायारो दंसणायारो, चरित्तायारो, तवायारो, वीरियायारो चेदि ॥ ४ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! वर्ष भर मे या बारह मास, चौबीस पक्ष, तीन सौ छयासठ दिन और तीन सौ छयासठ रात के भीतर ज्ञानाचार, तपाचार और वीर्याचार, इस प्रकार पाच प्रकार के आचार में अतिचार लगा है उसकी आलोचना करना चाहता हू ॥ ४ ॥

गद्य—तत्थ णाणायारो:-काले, विणये, उवहाणे, वहुमाणे तहेव अणिण्हवणे,विंजणअत्थ,तदुभये चेदि,णाणायारो अट्ठविहो परिहाविदो, से अक्खरहीणं वा, सरहीणं वा, पदहीणं वा,विंजण-हीणं वा, अत्थहीणं वा, गंथहीणं वा, थयेसु वा, थुईसु वा, अत्थक्खाणेसु वा, अणियोगेसु वा,अणियोगद्दारेसु वा,अकाले वा, सज्झाओ कदोवा,कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो, काले वा परिहाविदो, अच्छाकारिदं, मिच्छामेलिदं, आमेलिदं वा, मेलिदं, अण्णहा दिण्णं,अण्णहापडिच्छिदं,आवासएसु परिहीणदाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १ ॥

अर्थ—उस पाच प्रकार के आचार में पहला ज्ञानाचार है उसके १ मति-ज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मन·पर्ययज्ञान और ५. केवलज्ञान इस प्रकार ज्ञान के पाच भेद होते हुये भी यहा पर श्रुतज्ञान का ही ग्रहण है,

क्योंकि उसी का कालादि आठ प्रकार से आचरण सम्भव है। श्रुतज्ञानाचार आठ प्रकार का है । १. सन्ध्या, सूर्य का या चन्द्र का ग्रहण, उल्कापात (वज्रपात या तारो का टूटना) आदि अकालो को छोडकर गोसर्गिक, प्रादोषिक कालों मे शास्त्र का पठन-पाठन, श्रवण (सुनना) श्रावण (सुनाना) चिन्तवन, परिवर्त्तन, व्याख्यानादि करना **कालाचार** है। २ पर्यंकादि सुखासनो से बैठकर कायिक, (कार्य सम्बन्धी) वाचिक (वचन सम्बन्धी) शुद्ध परिणामो से पठन-पाठन आदि करना **विनयाचार** है। ३. अवग्रह (नियम) विशेष पूर्वक पठन-पाठनादि करना **उपधानाचार** है। ४. गन्ध पुष्प आदि अष्ट द्रव्य पूजा और सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और गुरुभक्ति रूप भावपूजा पूर्वक पठन (पढना) एवं पाठन (पढाना) आदि करना **बहुमानाचार** है। ५. जिस गुरु से पढा है उस गुरु का नाम न छिपाकर उसी का नाम कहना या जिस शास्त्र को पढकर ज्ञानी हुआ है उसे न छिपाकर उसी शास्त्र का नाम बताना **अनिन्हवाचार** है। ६. वर्ण, पद, वाक्य की शुद्धिपूर्वक शास्त्रो का पठन-पाठनादि **व्यजनाचार** है। ७ अर्थ के अनुकूल पठन-पाठनादि करना **अर्थाचार** है। ८ तथा शब्द और अर्थ की शुद्धिपूर्वक पठन-पाठनादि करना **उभयाचार** है। १ काल, २. विनय, ३. उपधान ४. बहुमान, ५. अनिन्हव, ६ व्यंजनशुद्ध, ७ अर्थशुद्ध, ८. उभयशुद्ध इस प्रकार ८ प्रकार का ज्ञानाचार है उसका अनेक तीर्थङ्कर देवो के गुणो का वर्णन करने वाले स्तवनों में, एक तीर्थङ्कर के गुणो का वर्णन करने वाली स्तुतियों में चारित्र और पुराण रूप अर्थाख्यानों में, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगो में, कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोग द्वारों में, (क) स्वरहीन (ख) सुबन्तातिङन्तपद से हीन, (ग) ककारादि व्यजन हीन, (घ) अर्थहीन (ङ) वाक्य, अधिकारादि रहित, ग्रन्थहीन, पठन-पाठनादि करके परिहापन किया (आवश्यकता में कमी की) सन्ध्या, ग्रहण, उल्कापातादि अस्वाध्याय काल में आगम (सिद्धान्त) का स्वाध्याय किया, कराया और दूसरे को करते हुये की अनुमोदना की, आगम मे विहित (बतलाये हुये) गोसर्गिकादिकाल मे स्वाध्याय नही किया बिना विचारे श्रुत का जल्दी-जल्दी उच्चारण किया, किसी अक्षर या शब्द को किसी अविद्यमान अक्षर या शब्द के साथ मिलाया, शास्त्र के अन्य अवयव को किसी अन्य अवयव के साथ जोडा, उच्चध्वनियुक्त पाठ को नीचध्वनि वाले पाठ के साथ और नीचध्वनियुक्त पाठ

को उच्चध्वनि वाले पाठ के साथ जोडकर पढा, अन्यथा कहा, अन्यथा ग्रहण किया, छह आवश्यको मे उनके कालानुसार अनुष्ठान कर, परिहोनता [कमी] करके ज्ञानाचार का परिहापन किया उस ज्ञानाचार परिहापन सम्बन्धी मेरे दुष्कृत में विफलता हो।

गद्य—दंसणायारो अट्ठविहो:—गाथा–णिस्संकिय, णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठीय, उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा चेदि ॥ १ ॥ अट्ठविहो परिहाविदो, संकाए, कंखाए, विदिगिंच्छाए, अण्णदिट्ठी पसंसणदाए, परपाखंडपसंसणदाए, अणायदणसेवणदाए, अप्पवच्छल्लदाए, अप्पहावणदाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २ ॥

अर्थ—दर्शनाचार के निम्नलिखित आठ भेद है:–१. नि शकित २. नि कांक्षित, ३. निर्विचिकित्सत्व, ४ अमूढदृष्टित्व, ५ उपगूहन, ६ स्थितिकरण ७. वात्सल्य और ८ प्रभावना। जिनोक्त तत्व मे यह इस प्रकार है या अन्य प्रकार है ऐसी शका न करना यह **नि.शंकिताचार** है। इसलोक मे धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्ण वैभव की और परलोक मे, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, राजा-महाराजा आदि पदो की तथा एकातवाद से दूषित पर-मतो की आकाक्षा न करना **निष्कांक्षिताचार** है। मुनियो के अंग, मल आदि में ग्लानि न करना **निर्विचिकित्साचार** है। लौकिक आचार, वैदिकआचार और अन्य कुमतो मे तथा अन्य मिथ्या देवो मे मोह [राग] न करना **अमूढदृष्टित्वाचार** है। किसी कारण से सम्यग्दृष्टियो मे उत्पन्न हुए दोषो का प्रच्छादन करना [ढकना] या प्रकट न करना **उपगूहनाचार** है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से चलचित्त हुये व्यक्तियो को फिर से उनमे स्थिर करना **स्थितीकरणाचार** है। साधर्मी जनो मे गोवत्सलवत् (गाय जैसे अपने बछड़े से प्रेम करती है उस प्रकार) स्नेह करना **वात्सल्याचार** है। और विशिष्ट स्नपन (महाभिषेक) पूजा, दान, तप आदि के द्वारा तथा विद्यामन्त्रों के द्वारा जिन शासन का माहात्म्य प्रकट करना **प्रभावनाचार** है। इन आठ अंगो से विपरीत निम्न दोष है इस प्रकार अष्टविधआचार जिनोक्त तत्व यथार्थ प्रतिपादित रूप से है या नही ऐसी आशका से, इस व्रत, तप, धर्म के माहात्म्य से मुझे अमुक फल प्राप्त हो ऐसी आगामी भोगो में **कांक्षा**

[वाञ्छा से]अशुचि और रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर में ३ विचिकित्सा [जुगुप्सा-ग्लानि] से, ४, मिथ्यामतों की प्रशंसा से, ५. परपाखण्डियों की प्रशंसा से, ६. छह अनायतनों की सेवा से, ७. साधर्मीजन में प्रीति न करने से और ८, अभिषेकादि द्वारा जिन शासन का माहात्म्य प्रकट न करके जो परिहापन [खण्डन] किया है उस दर्शनाचार के परिहापन सम्बन्धी मेरे दुष्कृत मिथ्या होवे ।। २ ।।

गद्य—तवायारो बारसविहो, अब्भंतरो छव्विहो, बाहिरो, छ व्विहो चेदि, तत्थ बाहिरो अणसणं, आमोदरियं, वित्तिपरिसंखा, रसपरिचाओ, विवित्तसयणासणं चेदि तत्थ अब्भंतरो, पायच्छित्तं, विणओ, वेज्जावच्चं, सज्झाओ, झाणं,विउसग्गो चेदि । अब्भंतरं बाहिरं बारसविहं तवोकम्मं ण कदं, पडिक्कंतं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।। ३ ।।

अर्थ—तप आचार बारह प्रकार का है अर्थात् छह बाह्य तपाचार और छह आभ्यतरतपाचार । उनमें से बाह्य तपाचार के निम्नलिखित ये छह भेद हैं—१. अनशन [उपवास], २. अवमौदर्य [भूख से कम खाना] ३. वृत्तिपरिसंख्यान [अटपटी आदि नियम लेकर भोजन के लिए जाना] ४. रस परित्याग दूध, दही, घी, मीठा, तेल, नमक, इन छह रसों में शक्त्य-नुसार त्याग करना, ५. शरीर परित्याग [आतापनादि द्वारा कायक्लेश] ६. विविक्तशय्यासन (निर्जन भूमि मे तथा फलक, तृण काष्टादि पर शयन करना) इसी तरह आभ्यतर तपाचार के भी निम्नलिखित छह भेद हैं— १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३ वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. व्युत्सर्ग, उक्त बारह प्रकार का तप, कर्म, परिषह आदिको से पीडित होकर मैंने नहीं किया किन्तु परीषह आदि से पीडित होकर छोड दिया । उस बारह प्रकार के तपाचार के परिहापन सम्बन्धी दुष्कृत में विफलता होवे ।। ३ ।।

गद्य—वीरियायारो पंचविहो परिहाविदो,वरवीरियपरिक्कमेण, जहुत्तमाणेण, बलेण, वीरियेण, परिक्कमेण, णिगूहियं, तवोकम्मं ण कमं णिसण्णेण पडिक्कतं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।। ४ ।।

अर्थ—पाच प्रकार के वीर्याचार का परिहापन किया। तपश्चरण करने मे सामर्थ्य प्रकट करना वीर्याचार है, सामर्थ्य को छिपा लेना परिहापन है। १. वरवीर्य परिक्रम, २. यथोक्तमान, ३. बल, ४. वीर्य और ५. पराक्रम ये पाच वीर्य के भेद है। उन्ही का विशेष वर्णन निम्नलिखित है—वीर्य के पराक्रम [उत्साह] का नाम **वीर्यपराक्रम** है, उत्कृष्ट वीर्य को **पराक्रम** कहते है इस श्रेष्ठ वीर्य पराक्रम से अनशनादि तप करना चाहिये। आगम में मान [परिमाण] से तप करना कहा गया है उसी परिमाण से तप करना **यथोक्तमान** वीय कहलाता है। आगम में सिक्थ ग्रास की विधि या चन्द्रायणव्रत की विधि जिस परिमाण से कही गई है अथवा कायोत्सर्ग करने को विधि कहीं ९ बार कही छत्तीस बार पंच नमस्कार मन्त्र का जाप्य देने रूप कही गई है वहा उसी परिमाण से उसी रूप तप करना चाहिये। आहारादि अन्य **शारीरिक बल** और स्वाभाविक आत्म सामर्थ्य अर्थात् **आत्मशक्ति के अनुसार तप** करना चाहिये। आगम में व्रत पालन का जो उत्कृष्ट क्रम कहा गया है जैसे—मूल गुणो का अनुष्ठान करने वाले को उत्तर गुणो का अनुष्ठान करना चाहिये न कि विपरीत, इसका नाम **पराक्रमवीर्य** है। उक्त पांच प्रकार के वीर्याचार को प्रकट करने वाले मुनि के द्वारा, जब तप किया जाता है तब पाच प्रकार का वीर्याचार अनुष्ठित पालन किया हुआ होता है और जब परीषह आदि से पीडित होकर उस प्रकार के तप का अनुष्ठान नही किया जाता है किन्तु परीषह आदि-से पीडित होकर तपकर्म त्याग दिया जाता है तब तप करने मे वीर्य के होते हुए भी वह वीर्य अप्रकटित [छिप] जाता है, इस प्रकार का वीर्याचार परिहापित [खण्डित] होता है। इसलिये उस वीर्य परिहापन सम्बन्धी मेरे दुष्कृत मिथ्या होवे ॥ ८ ॥

चारित्राचार तथा प्रथम अहिंसामहाव्रत के दोषों की आलोचना

गद्य—चरित्तायारो तेरसविहो परिहाविदो:-पंचमहव्वयाणि, पंच समिदीओ, तिगुत्तिओ चेदि, तत्थ पढमं महव्वद पाणादिवादादो वेरमणं, से पुढविकाइया जीवा, असंखेज्जा संखेज्जा, आउकाइयाजीवा असंखेज्जासंखेज्जा, तेउकाइयाजीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वाउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाइयाजीवा अणंताणंता

हरिया, बीया, अंकुरा, छिराणा, भिराणा, तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदोवा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमरिणदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ५ ॥

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार का चारित्राचार होता है, वह मुझसे उपरिलिखित किसी भी प्रकार से खडित हुआ हो या दोष लगा हो तो वह सब दोष मेरा मिथ्या हो।

विशेष—अवशिष्ट सम्पूर्ण पदों के अर्थ दैवसिक प्रतिक्रमरण के पृष्ठ सख्या १७० पर पढ लेवे।

गद्य—बेइंदिया जीवा, असंखेज्जासंखेज्जा, कुक्खि किमि संख-खुल्लय, वराडय, अक्खरिट्ठ-गंडवाल-संबुक-सिप्पि-पुलविकाइया तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमरिणदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

विशेष—इसका अर्थ दैवसिक प्रतिक्रमरण के पृष्ठ १७० पर देखें।

गद्य—तेइंदिया जीवा, असंखेज्जासंखेज्जा, कुन्थुदेहिय-विंछिय-गोभिंद-गोजुव-मक्कुण-पिपीलियाइया एदेसिं उद्दावणं, परि दावणं, विराहणं, उवघादोकदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमरिणदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

विशेष—इसका अर्थ दैवसिक प्रतिक्रमरण के पृष्ठ १७१ पर देखे।

गद्य—चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, दंसमसय-मक्खिय-पयंग-कीड-भमर-महुयर-गोमक्खिया, तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणमरिणदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

विशेष—इसका अर्थ दैवसिक प्रतिक्रमरण के पृष्ठ १७१ पर देखें।

गद्य—पंचिदियाजीवा असंखेज्जासंखेज्जा, अंडाइया, पोदाइया, जराइया, रसादिया, संसेदिमा, सम्मुच्छिमा, उब्भेदिमा, उववादिमा,

अवि चउरासीदिजोणी पमुह सदसहस्सेसु, एदेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उदघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १ ॥

विशेष—इन सबका अर्थ दैवसिक प्रतिक्रमण के पृष्ठ १७१ पर देखे ।

द्वितीय सत्यमहाव्रत के दोषों की आलोचना

गद्य—आहावरे दुव्वेमहव्वदे मुसावादादो वेरमणं से कोहेण वा, माणेण वा, माएण वा, लोहेण वा, राएण वा, दोसेण वा, मोहेण वा, हस्सेण वा, भएण वा, पमादेण वा, पेम्मेण वा, पिवासेण वा, लज्जेण वा, गारवेण वा, अणादरेण वा, केणावि कारणेण जादेण वा, सव्वो मुसावादो भासिओ, भासाविओ, भासिज्जंतो विसमणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २ ॥

अर्थ—अब अन्य दूसरे महाव्रत मे मृषावाद [असत्य बोलने से] विरमण होना चाहिये, वह मृषावाद, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, राग से, द्वेष से, मोह से, हास्य से, भय से, प्रमाद से, प्रेम [स्नेह] से, पिपासा, [विषय सेवन की वृद्धि से] लज्जा से, गारव [महत्त्वाकाक्षा] से से और भी किसी कारण से किसी भी तरह का अल्प असत्य भी स्वय बोला हो, दूसरे से [बडा बनने की वाछा से] बुलाया हो तथा बोलते हुये अन्य की अनुमोदना की हो तो उस मृषाचारादि भाषण सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।। २ ।।

तीसरे अचौर्यमहाव्रत के दोषों की आलोचना

गद्य—आहावरे तव्वे महव्वदे अदिण्णदाणादो वेरमणं, से गामे वा, णयरे वा, खेडे वा, कव्वडे वा, मडंबे वा, मंडले वा, पट्टणे वा, दोणमुहे वा, घोसे वा, आसमे वा, सहाए वा, संवाहे वा, सण्णिवेसे वा, तिणं वा, कट्ठं वा, वियडिं वा, मणिं वा, एवमाइयं अदत्तं गिण्हियं, गेण्हावियं, गेण्हिज्जंतं समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ३ ॥

अर्थ—अन्य तृतीय महाव्रत में उस वस्तु के स्वामी या अन्य किसी के द्वारा विना दी हुई वस्तु के आदान [ग्रहण] से विरक्त होना चाहिये। उस ग्राम में, नगर में, खेट में, मंडकर्वट में, मंडव में, मंडल मे, पट्टन मे, द्रोणमुख में, घोप में, आश्रम मे, सभा में, संवाह में, सन्निवेश में, इन स्थानों में कही भी तृण, काष्ठ विकृति [गोमयादि] और मणि इत्यादि अल्पमूल्य वाली या वहुमूल्य वाली विना दी हुई वस्तु मैने स्वय ग्रहण की हो, दूसरे से ग्रहण कराई हो, और ग्रहण करते हुए की अनुमोदना की हो तो उस अदत्तादान सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ३ ॥

चतुर्थ ब्रह्मचर्यमहाव्रत के दोषों की आलोचना

गद्य—आहावरे चउत्थे महव्वदे मेहुणादो वेरमणं, से देविएसु वा, माणुसिएसु वा, तेरिच्छियेसु वा, अचेयणियेसु वा, मणुण-मणुणेसु रूवेसु, मणुणामणुणेसु सद्दुदेसु, मणुणामणुणेसु गधेसु, मणुणामणुणेसु रसेसु, मणुणामणुणेसु फासेसु, चक्खिंदियपरिणामे, सोदिंदियपरिणामे, घाणिंदियपरिणामे, जिब्भिंदियपरिणामे, फासिंदियपरिणामे, णोइंदियपरिणामे, अगुत्तेण, अगुत्तिंदियेण, णवविहं वंभचरियं ण रक्खियं, ण रक्खावियं, ण रक्खिज्जंतोवि समणुमणिणदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ४ ॥

अर्थ—चौथे ब्रह्मचर्यमहाव्रत मे, मैथुन से विरक्त होना चाहिये, उसका यह अतिचार है—देवियों के, मानुषियो के, तिर्यचणियों के और अचेतन कृत्रिम स्त्रियों की प्रतिकृतियों के मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप में, मनोज्ञ-अमनोज्ञ गंध में, मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस मे और मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श मे जो कि क्रमश: चक्षु इन्द्रिय, कर्ण इन्द्रिय, जिह्वा इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय के विपय और हैं तथा जो नो इन्द्रिय अर्थात् मन के भी अनियत विपय हैं उनमे मन, वचन, काय का सवरण न कर और अपनी इन्द्रियों को वश में न रखकर जो मैंने नव प्रकार के ब्रह्मचर्य की स्वय रक्षा न करते हुये भी अनुमोदना की हो, उस नव विध ब्रह्मचर्य के आरक्षण सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

परिग्रह महाव्रत के दोषों की आलोचना

गद्य—आहावरे पंचमे महव्वदे परिग्गहादो वेरमणं, सो वि परिग्गहोदुविहो, अब्भंतरोबाहिरो चेदि,तत्थ अब्भंतरो परिग्गहो-णाणावरणीयं, दंसणावरणीयं,वेयणीयं, मोहणीयं, आउग्गं,णामं, गोदं, अंतरायं चेदि, अट्ठविहो तत्थ बाहिरो परिग्गहो उवयरण. भंड-फलह-पीढ-कमंडलु, संथार, सेज्ज-उवसेज्ज-भत्त-पाणादिभेएण, अणेयविहोदएण परिग्गहेण अट्ठविहं कम्मरयं बद्धं, वद्धावियं, वद्धज्जंतंपि समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ५ ॥

अर्थ—पञ्चम परिग्रह त्याग महाव्रत में परिग्रह से विरमण करना चाहिये। वह परिग्रह भी दो प्रकार का है, अभ्यंतर और बाह्य। उसमें से आभ्यतंर परिग्रह १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण ३. वेदनीय, ४, मोहनीय ५. आयु, ६, नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय इस प्रकार आठ प्रकार का है। दूसरा बाह्य परिग्रह उपकरण, ज्ञानोपकरण [पुस्तकादि] और संयमो-करण [पिच्छिकादि] भांड अर्थात् औषध, तेल आदि के पात्र फलक पापों से रहित शयन करने के लिये फड, पीठ (बैठने का विस्तर) कमंडलु, संस्तर (काष्ठ, तृण आदि सम) शय्या (वसतिका) उपशय्या (देवकुलिका आदि) भक्त, [ओदनादि] पान (दुग्धतक्रादि) इत्यादि-रूप अनेक प्रकार का है। इस उक्त प्रकार के बाह्याभ्यंतर परिग्रह से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशादि भेदो से विभक्त आठ प्रकार के कर्मरज को मैंने स्वयं बांधा हो, अन्य से बधवाया हो और बांधते हुये अन्य की अनुमोदना की हो, उस बाह्याभ्यंतर परिग्रह से उपार्जित मेरा दुष्कृत मिथ्या, हो ॥ ५ ॥

छठा अणुव्रत, रात्रि भोजन सम्बन्धी दोषों की आलोचना

गद्य—आहावरे छट्ठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणं, से असणं, पान, खादियं, रसाइयं चेदि चउव्विहो आहारो से। तित्तो वा, कडुओ वा, कसाइलो वा, अभिलो वा, महुरो वा, लवणो वा, दुच्चिंतिओ, दुब्भासिओ;दुप्परिणामिओ,दुस्समिणीओ, रत्तीए,भुत्तो, भुंजावियी, भुंजिज्जंतो वा,समणुमण्णिदो,तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥

अर्थ—पांच महाव्रतों से जुदा छट्ठा अणुव्रत रात्रि भोजन से विरमण है, प्राणातिपातादिक की तरह इसमें पूर्णरूप से विरति का अभाव है-इसलिये अणुव्रत कहा है क्योंकि इस रात्रि भोजन विरमण व्रत में रात में ही भोजन का त्याग होता है, दिन में नही होता। दिन में यथाकाल भोजन में प्रवृत्ति सम्भव है इसलिए अणुव्रत है, वह रात्रि भोजन विरमण व्रत, भात-दाल आदि असन, दूध, छाछ, जलादि पान मोदकादि खाद्य, रुच्युत्पादक, सुपारी, इलायची आदि स्वाद्य, इस प्रकार चार प्रकार का है, उक्त चार प्रकार का आहार तिक्त (चरपरा) कटुक (कडवा) कषाय (कसायला) आमिल [खट्टा] मधुर (मीठा) और लवण (खारा) रूप होता है। वह खानें-पीने योग्य न होते हुयें भी रात्रि में खाने-पीने योग्य चिंतवन किया गया, अयोग्य भी आहार खावें, ऐसा कहा गया हो, अयोग्य आहार को भी खाने के लिये काय (शरीर) से स्वींकारता दी गई हो और दुःस्वप्नित अर्थात् स्वप्न में खाया, इस प्रकार रात्रि में स्वयं खाया हो, खिलाया हों, या खाने की अनुमोदना की हो इससे सम्वन्ध रखने वाला मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ६ ॥

पांच समिति के अन्तर्गत ईर्या समिति सम्बन्धी दोषों की आलोचना

गद्य—पंच समिदीओ ईरियासमिदी, भासासमिदी, एसणासमिदी, आदाणणिक्खेवणसमिदी,उच्चार पस्सवण खेल सिंहाणय-वियडिय पइट्ठावणसमिदी चेदि। तत्थ इरियासमिदी पुव्वुत्तर दक्खिण पच्छिम चउदिसिविदिसासु विहरमाणेण जुगंतरदिट्ठिणा दट्ठव्वा, डवडवचरिचाए, पमाददोसेण पाण-भूद-जीव-सत्ताणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ७ ॥

अर्थ—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उच्चार-प्रस्रवण-क्ष्वेल-सिंहाण-विकृति-प्रतिष्ठापनिका समिति इस प्रकार समितियां पांच हैं। उनमें से १. ईर्यासमिति, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम इन चार दिशाओं और वायव्य, ईशान, नैऋत्य और आग्नेय इन चार विदिशाओ में विहार करते हुये को चार हाथ प्रमाण सामने की भूमि

देखकर चलना चाहिये किन्तु प्रमादवश जल्दी-जल्दी ऊपर मुख करके इधर-उधर गमन करने के कारण विकलेंद्रिय प्राणियों का, वनस्पतिकायिक भूतों [जीवों] का, और पृथ्वीकायिकादि वायुकायिक पर्यन्त के चार सत्वों का घात मैंने स्वयं किया हो, या अन्य से कराया हो और करते हुते अन्य की अनुमोदना की हो, वह उपघात सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।। ७ ।।

भाषा समिति सम्बन्धी दोषों की आलोचना

गद्य—तत्थ भापा समिदी, कक्कसा, कडुया, परुसा, निट्ठुरा, परकोहिणी, मज्झंकिसा, अईमाणिणी, अणयंकरा, छेयंकरा, भूयाणवहंकरा चेदि दसविहा भासा, भासिया, भासाविया, भासिज्जंतोवि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।। ८ ।।

अर्थ—उनमें भापा समिति दश प्रकार है ।—उन दश प्रकारों को निम्नलिखित रूप मे दिखाते है :—१. कक्कसा (तू मूर्ख है, कुछ नही जानता इत्यादि रूप सन्तापजनक कर्कश भाषा हैं) २. कडुया [तू जाति हीन हैं, अधर्मी [पापी] हैं इत्यादि रूप से उद्वेग उत्पन्न करने वाली कटुक भाषा है) ३. परुसा [तू अनेक दोषो से दूषित हैं इस प्रकार मर्म भेदने वाली परुष (कठोर) भापा हैं] ४. णिट्ठुरा [तुझे मारूंगा, तेरा सिर काट लूंगा इस प्रकार की निष्ठुर भापा है] ५. परकोहिनी (तेरा तप किसी काम का नही, तू निर्लज्ज है, इस तरह की दूसरो को रोष उपजावने वाली परकोपिनी भाषा है) ६. मज्झंकिसा (ऐसी निष्ठुर भाषा जो हड्डियों का मध्य भाग भी छेद दे वह 'मध्यकृशा' भाषा है) ७. अइमाणिणी [अपना महत्व ख्यापन करने वाली अर्थात् अपनी प्रशसा करने वाली और दूसरों की निंदा करने वाली अतिमानिनी भाषा है] ८ अणयकरा (समान स्वभाव वालो मे द्वैधीभाव [द्वेषभाव] पैदा कर देने वाली या मित्रो मे परस्पर विद्वेष (विरोध) करा देने वाली अनयकरी भाषा है) ९. छेयकरा (वीर्य, शील और गुणों को जड मूल से विनाश कर देने वाली अथवा असद्भूत दोषो का उद्भावन [प्रकट] करने वाली छेदक भाषा है) और १०. भूयाणवहकरा (प्राणियो के प्राणों का वियोग कर देने वाली 'वधकरी' भाषा है) इस प्रकार की भाषा मैंने स्वयं बोली हो, दूसरों से बुलाई हो और बोलतें हुये दूसरे की मैने अनुमोदना की हो, उस दश प्रकार की भाषा सम्बन्धी मेरी दुष्कृत मिथ्या हो ।। ८ ।।

भोजन सम्बन्धी दोषों की आलोचना

गद्य—तत्थ एसणासमिदी आहाकम्मेण वा, पच्छाकम्मेण वा, पुराकम्मेण वा, उद्दिट्ठयडेण वा, णिद्दिट्ठयडेण वा, कीडयडेण वा, साइया, रसाइया, सइङ्गला, सधूमिया, अइगिद्धीए, अग्गिवछण्हं जीवणिकायाणं, विराहणं, काऊण अपरिसुद्धम्, भिक्खं, अण्णं पाणं आहारादियं, आहारियं, आहारादियं आहारिज्जंतंवि समणु-मण्णिदो तस्स मिच्छ मे दुक्कडं ॥ ६ ॥

अर्थ—उनमें उद्गमादि दोषों से रहित निरवद्य आहार ग्रहण करना 'एषणा समिति' है और जी उद्गमादि दोषों से युक्त अशुद्ध आहार है, उसे मुनियों को ग्रहण नहीं करना चाहिये, आहार में अशुद्धता सम्बन्धी दोष कैसे होता है वह बतलाते हैं:—**आहाकम्मेण वा** अर्थात् पृथ्वी आदि छह जीवनिकाय की विराधना करके बनाये गये आहार से **पच्छाकम्मेण वा** पश्चात् कर्म अर्थात् भोजन करके मुनि के चले जाने पर फिर भोजन बनाना प्रारम्भ करने से **पुराकम्मेण वा** पुराकर्म अर्थात् मुनि ने भोजन किया नही उसके पहले भोजन बनाना प्रारम्भ करने से **उद्दिट्ठयडेण वा** **उद्दिष्टकृत** अर्थात् मुनि को ही उद्देश्यकर जो भोजन बनाया, देवता पाखंडी आदि को उद्देश्य कर जो भोजन बनाया, उसके ग्रहण करने से **णिद्दिट्ठयडेण वा** निर्दिष्टकृत अर्थात् आपके लिये यह बनाया गया है ऐसा कहने पर आहार ग्रहण करने से **कीडयडेण वा** क्रीतकृत दोष के दो भेद हैं—१. द्रव्यक्रीतकृत और २. भावक्रीतकृत। मुनियों को चर्यामार्ग द्वाराआते दखकर अपने अथवा दूसरों के गाय, भैंस, बैल आदि चेतन द्रव्यो को अथवा सुवर्ण आदि अचेतन द्रव्यों को बेचकर भोजन सामग्री लाना और भोजन तैयार कर मुनियो को देना [क] द्रव्यक्रीतकृत है तथा अपनी या दूसरे की प्रज्ञप्ति आदि विद्याएं या चेटिका आदि मन्त्र देकर भोजन सामग्री लाना और उससे भोजन बनाकर मुनीश्वरों को देना [ख] **भावक्रीय कृतदोष** है दोनों प्रकार के क्रीतकृत इत्यादि दोषों से युक्त **साइया** [स्वादिष्ट] **रसाइया** [रसीले] सइङ्गाला [अत्यासक्ति से गृहित] **सधूमिया** [दातार आदि की निंदा करते हुये] **अइगिद्धीए** [आहार आदि में विशेष आहार की प्राप्ति

की [लालसा पूर्वक] अग्गिव (अग्नि की तरह) छण्हं जीवणिकायाणं, विराहणं काऊण — छह जीवनिकायो की विराधना करके अपरिसुद्धं अयोग्य भिक्खं (भिक्षा में) अन्न, पान, रूप आहार ग्रहण स्वयं किया हो, दूसरे को कहकर आहार ग्रहण कराया हो और दूसरे को आहार करते हुये अनुमोदना की हो, उस सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ९ ॥

आदान निक्षेपण समिति सम्बन्धी दोषों की आलोचना-

गद्य—तत्थ आदावण णिक्खवणसमिदी चक्कलं वा, फलहं वा, पोथयं वा, कमण्डलं वा, वियडिं वा, मणिं वा, एवमाइयं उवयरणं, अप्पडिलहिऊणगेण्हंतेण वा, ठवंतेण वा, पाण-भूद-जीव-सत्ताणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो वा, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १० ॥

अर्थ—उन पाच समितियो मे चतुर्थ आदान निक्षेपण समिति मे चक्कल, फलक, [पाट] पुस्तक, कमडलु, विकृति और मणि इत्यादि उपकरण पिच्छी द्वारा प्रतिलेखन न करके उठाते हुए और धरते हुये मैने प्राण, भूत, जोव और सत्व का उपघात स्वयं किया हो, या कराया हो, अथवा करते हुये की मैंने अनुमोदना की हो तो उससे सम्बन्ध रखने वा मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ १० ॥

प्रतिष्ठापन समिति सम्बन्धी दोषों की आलोचना-

गद्य—उच्चार—पस्सवण—खेल—सिंहाणय—वियडि—पइट्ठावणिया-समिदी, रत्तीए वा, वियाले वा, अचक्खुविसये, अवत्थंडिले, अब्भोवयासे, सणिद्धे, सवीए, सहरिए, एवमाइएसु, अप्पासुगट्ठाणेसु, पइट्ठावंतेण, पाण—भूद—जीव-सत्ताणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ११ ॥

अर्थ—उच्चार, प्रस्रवण, क्ष्वेल, सिंहानक, विकृति इन चीजो के त्यागने में प्राणियो की पीडा के परिहार में यत्न करना आवश्यक है, उनमे प्रवर्त्तमान

मैंने प्रमादवश **रत्तीये** [रात मे],**वियाले** सन्ध्या के समय **अचक्खुविसये अवत्थंडिले** चक्षु मे देखने में न आवे ऐसे संस्कार किये हुये या न किये हुये अप्रासुक उच्चभूमि प्रदेश में, संस्कार न किये हुये नीच अप्रासुक भूमि प्रदेश में **अब्भोवयासे** [अभ्रावकाश-यानी वृक्षादि से अप्रच्छादित अप्रासुक खुले स्थान में यह उपलक्षण रूप हैं, इससे वृक्षादिक से प्रच्छादित अप्रासुक स्थान का भी ग्रहण होता है उसमें **सणिद्धे** स्निग्ध (गीले) प्रदेश में, **सबीये** [बीज-युक्त] **सहरिए** [हरितकाय युक्त] भूमि प्रदेश में इस प्रकार के **अप्पासु-पट्ठाणेसु** अप्रासुक प्रदेशों में मलमूत्रादि का उत्सर्जन [क्षेपण] करते हुए मैंने प्राण, भूत, जीव और सत्वों का उपघात किया हो, दूसरे से कराया हो, और अन्य की अनुमोदना की हो, तो उससे सम्बन्ध रखने वाला मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ११ ॥

तीन गुप्ति के अन्तगत मनगुप्ति सम्बन्धी दोषों की आलोचना

गद्य—तिण्णिगुत्तीओः—मणगुत्तीओ, वचि गुत्तिओ, काय-गुत्तीओ चेदि,तत्थ मणगुत्ती अट्टे झाणे,रुद्दे झाणे,इहलोयसण्णाए, आहारसण्णाए, मेहुणसण्णाए, परिग्गहसण्णाए, एवमाइयासु जा मणगुत्ती ण रक्खिया, ण रक्खाविया, ण रक्खिज्जंतपि समणुम-णिणदो. तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १२ ॥

अर्थ—मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इस प्रकार तीन गुप्तिया हैं। मन, वचन और काय इन तीन योगों के प्रचार के सम्यक् निग्रह करने को गुप्ति कहते है। उनमें अशुभ परिणामों को रोकना मनगुप्ति है। उस मनगुप्ति का **अट्टेझाणे** [आर्त्तध्यान में] **रुद्देझाणे** [रौद्रध्यान में] **इहलोयसण्णाए** इस लोक सम्बन्धी और **परलोयसण्णाए** परलोक सम्बन्धी **आहारसण्णाए** [आहार संज्ञा में] **भयसण्णाए** [भय सज्ञा में] **मेहुणसण्णाए** [मैथुन सज्ञा में] **परिग्गहसण्णाए** [परिग्रह सज्ञा में] मैंने संरक्षण न किया हो अन्य से संरक्षण न कराया हो और संरक्षण न करने की अनुमोदना की हो उससे सम्बन्ध रखने वाला मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ १२ ॥

वचनगुप्ति सम्बन्धी दोषों की आलोचना

गद्य—तत्थ वचिगुत्ती:-इत्थिकहाए,अत्थकहाए,भत्तकहाए, रायकहाए, चोरकहाए वेरकहाए, परपासंडकहाए, एवमाइयासु जा वचिगुत्ती ण रक्खिया, ण रक्खाविया ण रक्खिज्जंतं पि समणु-मण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १३ ॥

अर्थ—गृहस्थो जैसी व्यर्थ भाषा का रोकना या मौन धारण करना वचनगुप्ति है—**इत्थिकहाए** [स्त्री कथा मे] **अत्यकहाए** [धनोपार्जन संबधो कथा मे] **भत्तकहाए** (भोजन कथा में) **रायकहाए** [राज कथा मे] **चोर-कहाए** (चोर कथा मे) **वेरकहाए** (वैर कथा मे) **परपासडकहाए** [पर-पाखडियो की कथा मे] तथा इसी प्रकार की अन्य कथाओ मे जो वचनगुप्ति की रक्षा न की हो, न दूसरे से कराई हो तथा रक्षा नही करते हुये की अनुमोदना की हो उस सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।। १३ ।।

कायगुप्ति सम्बन्धी दोषों की आलोचना

गद्य—तत्थ कायगुत्तिः—चित्तकम्मेसु वा, पोत्तकम्मेसु वा, कट्ठकम्मेसु वा, लेप्पकम्मेसु वा, एवमाइयासु जा कायगुत्तो ण रक्खिया, ण रक्खाविया ण रक्खिज्जंतं पि समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १४ ॥

अर्थ—अपने हाथ पैर आदि की यथेष्ट प्रवृत्ति रोकना कायगुप्ति है। तथा चित्रादि स्त्रियो के रूप आदि मे अपने हाथ, पैरों का रक्षण करना कायगुप्ति है। चेतन स्त्री के रूपादिक मे तो ब्रह्मचर्य के कारण से ही काय का गोपन (छिपाना) स्वयं सिद्ध है, अचेतन के विषय में किस-किस में काय का गोपन [रक्षण] करना चाहिये यह बताते है —**चित्तकम्मेसु** (चित्र अर्थात् स्त्री की फोटो आदि मे) **पोत्तकम्मेसु** [पुस्तकर्म में] **कट्ठकम्मेसु** काष्ठ की बनी हुई पुत्तलिका आदि मे, **लेपकम्मेसु** या लेपकर्म सम्बन्धी स्त्रियों के रूप आदि मे जो मैंने स्वय कायगुप्ति का सरक्षण नहीं किया, न दूसरे से कराया और न दूसरे की सरक्षण सम्बन्धी अनुमोदना ही की, तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।। १४ ।।

आलोचनाओं का उपसहार तथा फलाकांक्षा सबंधी विवेचन-

गद्य—णवसु बंभचेरगुत्तीसु, चउसु सण्णासु, चउसु पच्चएसु, दोसु अट्टरुद्दसंकिलेसपरिणामेसु, तीसुअप्पसत्थसंकिलेसपरिणामेसु, मिच्छाणाण, मिच्छादंसण, मिच्छा चरित्तेसु, चउसु उवसग्गेसु, पंचसु चरित्तेसु, छ सु जीवणिकाएसु, छ सु आवासएसु, सत्तसु, भयेसु, अट्ठसु सुद्धीसु,(णवसु वंभचेरगुत्तीसु)दससु समणधम्मेसु, दससु धम्मज्झाणेसु, दससु मुंडेसु,बारसेसु संजमेसु, वावीसाए परीसहेसु,पणवीसाए भावणासु पणवीसाए किरियासु, अट्ठारस सीलसहस्सेसु चउरासीदिगुण सयसहस्सेसु, मूलेगुणेसु, उत्तरगुणेसु, अट्ठमियम्मि,पक्खियम्मि, चउमासियम्मि,संवच्छरयम्मि, अइक्कमो, वदिक्कमो, अईचारो, अणाचारो, आभोगो. अणाभोगो जो तं पडिक्कमामि, मए पडिक्कंतं तस्स मे सम्मत्तमरणं, समाहिमरणं, पंडियमरणं, वीरियमरणं, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं,समाहिमरणं,जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥ १५ ॥

अर्थ—णवसु बभचेरगुत्तीसु (नव प्रकार ब्रह्मचर्य गुप्ति मे) चउसु सण्णासु (चार सज्ञाओं मे) चउसु पच्चएसु [कर्मबन्ध के कार कारण मिथ्यात्वादि प्रयत्नो मे]दोसु अट्टरुद्दसकिलेसपरिणामेसु (आर्त्त रौद्र रूप सक्लेस परिणामो में) तीसु अप्पसत्थसंकिलेसपरिणामेसु (माया, मिथ्या, निदानरूप तीन अप्रशस्तपरिणामों में) मिच्छाणाण, मिच्छादसण, मिच्छाचरित्तेसु (मिथ्या ज्ञान,मिथ्यादर्शन और मिथ्या चारित्र में) चउसु उवसग्गेसु (चार उपसर्गो में) पञ्चसुचरित्तेसु (पाच सामायिक चारित्रो मे) छसु जीवणिकाएसु (छह जीवनिकायों में) छसु आवासयसु (छह आवश्यकों में) सत्तसु भयेसु (सात भयों में) अट्ठसु सुद्धिसु (आठ प्रकार की शुद्धियो में) णवसु वंभचेर गुत्तिसु [नव ब्रह्मचर्य गुप्तियों मे] दससु समणधम्मेसु [दश प्रकार के श्रमण धर्मो मे] दससु धम्मज्झाणेसु [दश प्रकार के धर्म ध्यानो मे]

दससु मुंडेसु (दश प्रकार के मुंडों में) **बारसेसु संजमेसु** (बारह प्रकार के सयमो मे) **बावीसाए परीसहेसु** [बाईस प्रकारकी परीषहोमे] **पणवीसाए भावणासु** (पच्चीस प्रकार की भावनाओं में) **पणवीसाए किरियासु** (पच्चीस प्रकार की क्रियाओ में) **अट्ठारससीलसहस्सेसु** (अठारह हजार शीलो मे) **चउरासीदिगुणसयसहस्सेसु** (चौरासी लाख उत्तर गुणो में) **मूलगुणेसु उत्तरगुणेसु** (अट्ठाईस प्रकार के मूल गुणो में तथा उत्तरगुणों मे भी) विधि निषेध स्वरूप [करनेके योग्य कार्य और छोडनेके योग्य] यत्याचारों मे आठ दिनोका, पन्द्रह दिनोका, चौमासे का और वर्ष भर के अनुष्ठानो में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, आभोग और अनाभोग ये जो दोष हुआ हो उसका प्रतिक्रमण-निराकरण करता हू। दोषरहित मुझे किन फलो की प्राप्ति हो उसको बतलाते हुए कहते है कि सम्यक्त्व मरण, समाधिमरण, पडितमरण, वीर्यमरण, दु:खक्षय (दुखों का नाश) कर्मक्षय (कर्मो का नाश) बोधिलाभ [रत्नत्रय की प्राप्ति] सुगतिगमन [अच्छी गति में गमन और जिनेन्द्र गुणों की प्राप्ति हो।

विशेष १—इनका विशेष विबरण दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत १७६ पृष्ठ पर देखें।

विशेष २.—[सिर्फ आचार्य '**णमो अरहंताणं**' इत्यादि पांच पदों का उच्चारण कर कायोत्सर्ग करके 'थोस्सामि' इत्यादि पढकर सिद्धभक्ति के लिए तवसिद्धे अंचलिका सहित गाथा पढकर फिर पूर्वोक्त विधि करके 'प्रावृट्-काले सविद्युत्' इत्यादि अचलिका युक्त योगिभक्ति पढकर **इच्छामि भंते ! चरित्तायारो तेरसविहो** इत्यादि पांच दडक पढकर तथा **वदसमिदिंदिय** इत्यादि छेदोवट्ठावण होउ मज्झ पर्यन्त तीन बार पढकर अपने देव के आगे आलोचना करे और दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त ग्रहण कर 'पंचमहाव्रत' इत्यादि पाठ तीन बार पढकर योग्य शिष्यादिकों को प्रायश्चित्त देकर देव के लिए गुरुभक्ति करे उसके बाद फिर आचार्य सहित शिष्य मुनि और साधर्मी मुनि आचार्य के आगे इसी पाठ को पढकर प्रतिक्रमण भक्ति करे वह सब निम्न प्रकार है:—

लघु-सिद्धभक्ति

गद्य—नमोऽस्तु सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

अर्थ—हे भगवन्! नमस्कार हो, मै सब अतिचारों की विशुद्धि के लिये सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं।

विशेष—'णमो अरहंताणं' इत्यादि पांच पदों को ९ वार बोलकर कायोत्सर्ग करे। फिर थोस्सामि इत्यादि पढकर सिद्धभक्ति पढे।

गाथा—सम्मत्तणाण दंसण, वीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वावाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥ १ ॥
तवसिद्धे णयसिद्धे, संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मिय, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥ २ ॥

गद्य—इच्छामि भन्ते! सिद्धभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सा लोचेउं, सम्मणाण, सम्मदंसण, सम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्म विप्पमुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं, संजयसिद्धाण चरित्तसिद्धाणं, अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं, सया णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, वोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

विशेष—इन दोनो गाथाओं का अर्थ पृष्ठ संख्या २२४ तथा अंचलिका अर्थ १६९ पृष्ठ पर लिखा जा चुका है वहां देखे।

लघु योगिभक्ति

गद्य—नमोऽस्तु सर्वातिचार विशुद्ध्यर्थं मालोचना योगिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

विशेष—[ऐसा प्रतिज्ञापन करके 'णमो अरहंताणं' आदि पंच पदो का ९ बार उच्चारण करके 'थोस्सामि' इत्यादि पढकर योगिभक्ति पढें]।

श्लोक—प्रावृट्काले सविद्युत्, प्रपतितसलिले, वृक्षमूलाधिवासाः ।
हेमन्ते रात्रिमध्ये, प्रतिविगतभयाः, काष्ठवत्त्यक्तदेहाः ॥
ग्रीष्मे सूर्यांशुतप्ता, गिरिशिखरगताः, स्थानकूटान्तरस्थास्
ते मे धर्मं प्रदद्युर्मुनिगणवृषभा, मोक्षनिःश्रेणिभूताः ॥१॥

अर्थ—जिसमें विद्युत् की चमचमाहट हो रही है और पानी मूसलाधार पड रहा है, ऐसे वर्षाकाल में जो वृक्षों के मूल में निवास करते है। हेमन्त ऋतु में रात्रि के मध्य में भय से रहित होकर जिन्होंने काष्ठ के समान अपना देह त्याग रक्खा है और जो ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों से तप्त पर्वतों के शिखरों पर, सूर्य के सम्मुख ध्यान धरते है, वे मोक्ष की नि.श्रेणी-भूत मुनिगण वृषभ मुझे धर्म देवें ॥ १ ॥

गाथा—गिम्हे गिरिसिहरत्था, वरिसायाले रुक्खमूलरयणीसु ।
सिसरे वाहिरसयणा, ते साहू वंदिमो णिच्चं ॥ २ ॥

अर्थ—जो ग्रीष्म में पर्वत शिखर पर स्थिर होकर ध्यान धरते है, वर्षाकाल मे रात दिन वृक्षों के मूल मे कायोत्सर्ग से खडे रहते है और शिशिर ऋतु मे रात्रि के समय नदियों के किनारे पर खुले आकाश में सोते है, उन महान् साधुओं का नित्य वदना करता हूं ॥ २ ॥

श्लोक—गिरिकन्दरदुर्गेषु, ये वसन्ति दिगम्बराः ।
पाणिपात्रपुटाहारास् ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो दिगम्बर साधु पर्वत की कन्दरा रूप दुर्गों में बसते है, पाणि-पात्र के पुट में [हाथ में ही] आहार लेते है, वे साधु उत्कृष्ट मोक्षगति को प्राप्त करते है ॥ ३ ॥

गद्य—इच्छामि भन्ते ! योगिभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्दे सु, पण्णारसकम्मभूमिसु आदावण-रुक्खमूलअब्भोवासठाणमोण वीरासणेक्कपासकुक्कुडासणचउ छ-पक्ख खवणादिजोगजुत्ताणं सव्वसाहूणं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ—हे भगवन् ! योगिभक्ति से सम्बन्धित कायोत्सर्ग मैंने किया, अब उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूं। अढाई द्वीप, दो समुद्र और पन्द्रह कर्मभूमियों में, (क) आतापनयोग (ख) वृक्षमूलयोग (ग) अभ्रावकाश योग [घ] स्थान [ङ] वीरासन [च] मौन [छ] एक पार्श्व [ज] कुक्कुटआसन [झ] चतुर्थ (ञ) पक्ष उपवासादि योगों से युक्त सब साधुओं की अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वंदना करता हूं, नमस्कार करता हूं, मेरे दुखों का क्षय हो, बोधि का लाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र के गुणों की प्राप्ति हो ॥

आलोचना —

गद्य—इच्छामि भन्ते ! चरित्तायारो तेरसविहो परिहाविदो, पंचमहव्वदाणि पंचसमिदीओ तिगुत्तीओ चेदि। तत्थ पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं,से पुढवीकाइया जीवा असखेज्जासंखेज्जा, आउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, तेउकाइया जीवा असंक्खेज्जासंखेज्जा, वाउकाइया जीवा असंक्खेज्जासंक्खेज्जा, वणप्फदिकाइया जीवा अणंताणंता,हरिया बीया अंकुरा छिण्णा भिण्णा, एदेसिं उद्दावणं परिदावणं, विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।१।

गद्य—वेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा कुक्खि, किमि, संख खुल्लय-वराडय-अक्ख-रिट्ठ-गंडवाल-संबुक्क-सिप्प, पुलविकाइया एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २ ॥

गद्य—तेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा कुन्थु, देहिय, विंछियगोभिंद,गोजुव,मक्कुण,पिपीलिया, एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो, कदो वा, कारिदो वा,कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ३ ॥

गद्य—चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा दंस, मसय, मक्खियपयंग, कीड, भमर, महुयर, गोमक्खिया, एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ४ ॥

गद्य—पंचिंदिया जीवा संखेज्जासंखेज्जा अंडाइया पोदाइया जराइया रसाइया संसेदिमा सम्मुच्छिमा उब्भेदिमा उववादिमा अविचउरासीदिजोणि,पमुहसदसहस्सेसु, एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो, कदो वा, कारिदो वा,कीरंतो वा,समणुमण्णिद तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ५ ॥

श्लोक—वद, समिदिंदियरोधो, लोचो आवासय, मचेल मण्हाणं।
खिदिसयण, मदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ १ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तो हं ॥ २ ॥
छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं ॥३॥
प्रायश्चित्तशोधनरसपरित्यागः क्रियते।

पंचमहाव्रत–पंचसमिति–पंचेन्द्रियरोध-लोचषडावश्यक-क्रिया दयोऽष्टाविंशतिमूलगुणाः, उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मः, अष्टादशशील–सहस्राणि, चतुरशीति, लक्षगुणाः त्रयोदशविधं चारित्रं, द्वादश-विधं तपश्चेति सकलसम्पूर्णं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधु–साक्षिकं सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु ॥३॥

卐 निष्ठापनाचार्य भक्ति 卐

अथ नमोऽस्तु श्रीनिष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् –

अर्थ—नमस्कार हो, निष्ठापनाचार्य भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूँ।
विशेष–यह प्रतिज्ञा कर ९ वार णमोकार मत्रका जाप्य करे, फिर भक्ति पढे

श्रुतजलधिपारगेभ्यः स्वपरमतविभावनापटुमतिभ्यः ।
सुचरिततपोनिधिभ्यो नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्यः ॥१॥
छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसंदरिसे ।
सिस्साणुग्गहकुसले धम्माइरिए सदा वंदे ॥२॥
गुरुभत्तिसंजमेण य, तरंति संसारसायरं घोरं ।
छिण्णंति अट्ठकम्मं जन्मणमरणं, ण पावेंति ॥३॥
ये नित्यं व्रतमंत्रहोम निरता ध्यानाग्निहोत्राकुलाः
षट्कर्माभिरतास्तपोधनधनाः साधुक्रियासाधवः ।
शीलप्रावरणा गुणप्रहरणाश्चन्द्रार्कतेजोऽधिका
मोक्षद्वारकपाटपाटनभटाः प्रीणन्तु मां साधवः ॥४॥
गुरवः पांतु नो नित्यं ज्ञानदर्शननायकाः ।
चारित्रार्णवगम्भीरा मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥५॥

गद्य—इच्छामिभंते पक्खियम्मि (चउमासियम्मि, संवच्छरियम्मि) आलोचेउं, पंचमहव्वयाणि तत्थ पढमं महव्वदं पाणादिवादादो वेरमणं विदियं महव्वदं मुसावादादो वेरमणं, तिदियंमहव्वदं अदिण्णदाणादो वेरमणं, चउत्थं महव्वदं मेहुणादो वेरमणं, पंचमं महव्वदंपरिग्गहादो वेरमणं, छट्ठं अणुव्वदं राईभोयणादो वेरमणं, तिसु गुत्तीसु णाणेसु, दंसणेसु, चरित्तेसु, बावीसाए परिसहेसु, पणवीसाए भावणासु, पणवीसाए किरियासु, अट्ठारससीलसहस्सेसु, चउरासीदिगुणसयसहस्सेसु बारसण्हं संजमाणं, बारसण्हं तवाणं, बारसण्हं अंगाणं, तेरसण्हं चरित्ताणं चउदसण्हं पुव्वाणं, एयारसण्हं पडिमाणं, दसविहमुंडाणं, दसविहसमणधम्माणं, दस-विहधम्मज्झाणाणं, णवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, णवण्हं णोकसायाणं,

सोलसण्हं कसायाणं, अट्ठण्हं कम्माणं, अट्ठण्हं पउयणमाउयाणं, सत्तण्हं भयाणं सत्तविहसंसाराणं, छण्हं जीवणिकायाणं, छण्हं आवासयाणं, पंचण्हं इंदियाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हम् समिदीणं, पंचण्हं चरित्ताणं, चउण्हम् सण्णाणं, चउण्हं पच्चयाणं, चउण्हं उवसग्गाणं, मूलगुणाणं, उत्तरगुणाणं, अट्ठण्हम् सुद्धीणं, दिट्ठियाए, पुट्ठियाए, पदोसियाए, से कोहेण वा, माणेण वा, माएण वा, लोहेण वा, रागेण वा, दोसेण वा, मोहेण वा हस्सेण वा, भएण वा, पदोसेण वा, पमादेण वा. पिम्मेण वा, पिवासेण वा, लज्जेण वा, गारवेण वा, एदेसिं अच्चासणदाए, तिण्हं दंडाणं, तिण्हं लेस्साणं. तिण्हं गारवाणं, तिण्ह अप्पसत्थसंकिलेस.परिणामाणं दोण्हं अट्टरुद्दसंकिलेस.परिणामाणं. मिच्छणाण-मिच्छदंसणं-मिच्छचरित्ताणं, मिच्छत्तपाउग्गं, असंजमपाउग्गं, कसायपाउग्गं, जोगपाउग्गं, अप्पाउग्गसेवणदाए, पाउग्गगरहणदाए, इत्थ मे जो कोई विपक्खियम्मि (चउमासीयम्मि संवच्छरियम्मि) अदिक्कमो वदिक्कमो अइचारो अणाचारो आभोगो अणाभोगो तस्स भंते ! पडिक्कमामि पडिक्कमं.तस्स मे सम्मत्तमरणं,समाहिमरणं,पंडियमरणं, वीरियमरणं, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

वद,समिदिंदिय,रोधो लोचो आवासय.मचेल.मण्हाणं ।
खिदिसयण.मदंतवणं ठिदिभोयण,मेयभत्तं च ॥ १ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
एत्थ पमादकदादो अइचारादोणियत्तो हं ॥ २ ॥

छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं ।

गद्य–पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितिपञ्चेन्द्रियरोधलोचषडावश्यकक्रियादयो-

ऽष्टाविंशतिमूलगुणाः, उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्या-
गाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मः,अष्टादशशीलसहस्राणि,
चतुरशीति,लक्षगुणाः त्रयोदशविधं चारित्रं, द्वादशविधं तपश्चेति
सकलसम्पूर्णं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुसाक्षिकं सम्यक्त्व
पूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु ॥३॥

गद्य—अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिक (चातुर्मासिक, सांवत्स-
रिक) प्रतिक्रमण क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं
भावपूजावंदनास्तवसमेतं प्रतिक्रमणभक्तिकायोत्सर्गंकरोम्यहं ।

अर्थ—मैं सब अतिचारो की विशुद्धि के लिए पाक्षिक (चातुर्मासिक और सांवत्सरिक) प्रतिक्रमण में पूर्वाचार्यो के अनुक्रम से सकल कर्म के क्षयार्थ, भाव पूजा-वंदना-स्तवसमेत प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूँ। इस प्रकार उच्चारण कर 'णमो अरहंताणं' इत्यादिक सामयिक दण्डक पढकर ९ बार णमोकार मन्त्र का कायोत्सर्ग करे ।

गाथा—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ १ ॥

गद्य—चत्तारि मंगलं—अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं,
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंता
लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा,केवलिपण्णत्तो
धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंते सरणं
पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि साहुसरणं पव्वज्जामि
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥

गद्य—अढाइज्जदीव दो समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जाव अर-
हंताणं, भयवन्ताणं, आदियराणं, तित्थयराणं, जिणाणं,
जिणोत्तमाणं, केवलियाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं; परिणिव्वु-
दाणं, अन्तयडाणं; पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेस-

गाणं, धम्मणायगाणं, धम्मवर चाउरंग चक्क वट्टीणं, देवाहि-देवाणं; णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि किरि-यम्मं।

करेमि भंते! सामायियं, सव्वसावज्जजोगं पच्च-क्खामि, जावज्जीवं तिविहेण—मणसा, वचसा, काएण ण करेमि, ण कारेमि कीरंतं ण समणुमणामि, तस्स भंते! अइचारं पच्चक्खामि, णिंदामि गरहामि अप्पाणं, जाव अर-हंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

विशेष—यथोक्त परिकर्म के अनन्तर आचार्य 'थोस्सामि' इत्यादि आठ गाथायें पढकर गणधरवलय पढकर प्रतिक्रमण दंडक पढे—शिष्य सधर्मा उतने काल तक कायोत्सर्ग स्थित हुये प्रतिक्रमण दंडक सुनें।

गाथा—थोस्सामि हं ज्जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
एर पवरलोयमहिए; विहुयरयमले महप्पण्णे ॥ १ ॥
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तिथंकरे जिणे वन्दे।
अरहंते कित्तिस्से, चौवीसं चेव केवलिणो ॥ २ ॥
उसह मजियं च वन्दे, संभवमभिणंदणं च सुमइंच।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चन्दप्पहं वन्दे ॥ ३ ॥
सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमल मणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वन्दामि ॥ ४ ॥
कुन्थुं च जिणवरिंदं. अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं; तह पासं वड्ढमाणं च ॥ ५ ॥
एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चौवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥
कित्तिय वंदिय महिया. एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥

चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपयासंता ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

विशेष:—सामायिक दडक और चतुर्विशति स्तव दडक का अर्थ पहले पृष्ठ पर लिखा जा चुका है सो वहा देखे ।

卐 गणधरवलय 卐

जिनान् जितारातिगणान् गरिष्ठान, देशावधीन् , सर्वपरावधींश्च ।
सत्कोष्ठबीजादिपदानुसारीन्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥१॥

अर्थ—मैं चार धातिया कर्मो को कष्ट करने वाले जिनेन्द्र भगवान् गुणो से श्रेष्ठ देशावधि, सर्वावधि, परमावधिके धारक कोष्ठ ऋद्धि बीज ऋद्धि पदानुशारि ऋद्धि आदिके धारक गणधर देवो की स्तुति उनके गुणों को प्राप्त करने के लिये करता हूँ ॥ १ ॥

संभिन्नश्रोत्रान्वितसन्मुनीन्द्रान्, प्रत्येकसम्बोधितबुद्धधर्मान् ।
स्वयंप्रबुद्धांश्च विमुक्तिमार्गान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥२॥

अर्थ—सभिन्न श्रोतृत्व, प्रत्येक वुद्धि, बोधितवुद्ध, स्वयंबुद्ध, ऋद्धि के धारक गणधर देवो की स्तुति मै उनके गुणों की प्राप्ति के लिये करता हूँ ॥ २ ॥

द्विधा मनः पर्ययचित्प्रयुक्तान्, द्विपंचसप्तद्वयपूर्वसक्तान् ।
अष्टाङ्गनैमित्तिक,शास्त्रदक्षान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥३॥

अर्थ—दो प्रकार के मनः पर्यय ज्ञानधारी दश पूर्व, चौदह पूर्व के धारक, अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता गणधरों की स्तुति उनके गुणको प्राप्त करने के लिये करता हूं ॥ ३ ॥

विकुर्वणाख्यर्द्धिमहाप्रभावान्, विद्याधरांश,चारणऋद्धिप्राप्तान् ।
प्रज्ञाश्रितान्नित्यखगामिनश्च, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥४॥

अर्थ—विक्रियर्द्धि के धारक, महा प्रभावशाली चारणर्द्धि के धारक प्रज्ञावान् सदा आकाश में विहार करने वाले गणधरों की स्तुति उनके गुण प्राप्त करने के लिये करता हूं ॥ ४ ॥

आशीर्विषान् दृष्टिविषान् मुनीन्द्रा,नुग्राति.दीप्तोत्तम तप्ततप्तान् ।
महातिघोर,प्रतपः प्रसक्तान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥५॥

अर्थ—दृष्टिविष, आशोविष, ऋद्धि के धारक, उग्रतप, दीप्ततप, घोर तप आदि तप ऋद्धियो के धारक गणधरो की उनके गुण प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूँ ॥५॥

वन्द्यान् सुरैर्घोरगुणांश,च लोके, पूज्यान् बुधैर्घोरपराक्रमांश्च ।
घोरादिसंसद्,गुणब्रह्मयुक्तान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥६॥

अर्थ— देवो द्वारा वंदनीय विद्वानों द्वारा लोकमे पूज्य घोरगुण घोर पराक्रम घोरगुण ब्रह्मचर्य से युक्त गणधरो की मै उनके गुण प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूं ॥ ६ ॥

आमर्द्धिखेलर्द्धिप्रजल्लविट्प्र. सर्वर्द्धि;प्राप्तांश,च व्यथादि,हंतृन् ।
मनोवचःकायबलोपयुक्तान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥७॥

अर्थ—आमर्द्धि, खेलर्द्धि, जल्लर्द्धि, विडर्द्धि सर्वर्द्धिके धारक, मनोबल, वचनबल, और कायबल ऋद्धि से संयुक्त गणधर देवों की स्तुति मैं उनके से गुण प्राप्त करने के लिये करता हूँ ॥७॥

सत्क्षीरसर्पि र्मधुरामृ,तर्द्ध न्, यतीन् वराक्षीण,महानसांश,च
प्रवर्धमानांस्त्रि.जगत्प्रपूज्यान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै ॥८॥

अर्थ—क्षीरस्रावी, घृतस्रावी, मधुरस्रावी और अमृतस्रावी ऋिद्धि के धारक, अक्षीण संवास और अक्षीण महानस ऋद्धियों से सुशोभित तीन जगत के पूज्य गणधरों की स्तुति मैं उनके से गुण प्राप्त करने के लिये करता हू ॥ ८ ॥

सिद्धालयान् श्रीमहतोऽतिवीरान्, श्रीवर्द्धमानर्द्धि,विबुद्धिदक्षान् ।
सर्वान्मुनीन् मुक्तिवरा,नृषीन्द्रान्; स्तुवे गणेशानपितद्गुणाप्त्यै॥६॥

अर्थ—सिद्धालय में विराजमान, अतिमहान्, अतिवीर, वर्धमान विविध विशुद्ध ऋद्धियों से युक्त मुक्ति के वरण करने वाले समस्त ऋषि गण और गणधर देवों को मैं उनके से गुण प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हू ॥ ६ ॥

नृसुरखचरसेव्या, विश्वश्रेष्ठर्द्धिभूपा,
विविधगुणसमुद्रा, मारमातङ्गसिंहाः ।
भवजलनिधिपोता, वन्दिता मे दिशन्तु,
मुनिगणसकलाः श्रीसिद्धिदाः सदृपीन्द्रा ॥१०॥

अर्थ—मनुष्य, देव, विद्याधरों से पूज्य, समस्त श्रेष्ठ ऋद्धियों से भूषित विविध गुणों के समुद्र, कामदेवरूपी हस्ती के लिए सिंह के समान पराक्रमी, संसार समुद्र को पार करने के लिए जहाज के समान, समस्त ऋषीश्वर वन्दना किये गये सिद्ध पद को देने वाले हो ॥ १० ॥

प्रतिक्रमण दंडक

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥

विशेष:—श्री गौतम स्वामी दैवसिक आदि प्रतिक्रमणों से जो दोष निराकृत नही हो सके है उनके भी निराकरण करने के लिये बृहत् प्रतिक्रमण लक्षण रूप उपाय को करते हुये मंगलमय इष्ट देवता को नमस्कार करते हुये कहते है.—

गद्य–१. णमो जिणाणं २. णमो ओहिजिणाणं ३. णमो परमोहिजिणाणं ४. णमो सव्वोहिजिणाणं ५. णमो अणंतोहिजिणाणं ६. णमो कोट्ठबुद्धीणं ७. णमो बीजबुद्धीणं ८. णमो पादाणुसारीणं ९. णमो संभिण्णसोदाराणं १०. णमो सयंबुद्धाणं ११. णमो पत्तेयबुद्धाणं १२. णमो बोहियबुद्धाणं १३. णमो उजुमदीणं १४. णमो विउलमदीणं १५. णमो दसपुव्वीणं १६. णमो चउदसपुव्वीणं १७. णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं १८. णमो विउव्वइड्ढियत्ताणं १९. णमो विज्जाहराणं २०. णमो चारणाणं २१. णमो पण्णसमणाणं २२. णमो आगासगामीणं २३. णमो आसीविसाणं २४. णमो दिट्ठविसाणं २५. णमो उग्गतवाणं

२६. णमो दित्ततवाणं २७. णमो तत्ततवाणं २८. णमो महातवाणं २६. णमो घोर तवाणं ३०. णमो घोर गुणाणं ३१. णमो घोरपरक्कमाणं ३२. णमो घोरगुणबंभयारीणं ३३. णमो आमोसहिपत्ताणं ३४. णमो खेल्लोसहिपत्ताणं ३५. णमो जल्लोसहिपत्ताणं ३६. णमो विप्पोसहिपत्ताणं ३७. णमो सव्वोसहिपत्ताणं ३८. णमो मणबलीणं ३६. णमो वचिबलीणं ४०. णमो कायबलीणं ४१. णमो खीरसवीणं ४२. णमो सप्पिसवीणं ४३. णमो महुरसवीणं ४४. णमो अमियसवीणं ४५. णमो अक्खीणमहाणसाणं ४६. णमो वड्ढमाणाणं ४७. णमो सिद्धायदणाणं ४८. णमो भयवदो-महदि-महावीर वड्ढमाणबुद्धिरिसीणो चेदि ।

गाथा—जस्संतियं धम्मपइं णियच्छे, तस्संतियं वेणइयं पउंजे ।
काएण वाचा मणसावि णिच्चं, सक्कारएतं सिरिपंचमेण ॥१॥

अर्थ— (१) सर्व मुनीद्रो को नमस्कार हो (२) देशावधि मुनीद्रों को को नमस्कार हो (३) परमावधि मुनीन्द्रों को नमस्कार हो (४) सर्वावधि मुनीन्द्रो को नमस्कार हो (५) अनंतावधि (केवल ज्ञानी) मुनीन्द्रों को नमस्कार हो (६) जैसे कोठे मे, कोठे के स्वामी द्वारा सुरक्षित और अलग अलग रखे हुये धान्यों का अवस्थान रहता है उसी तरह जिनकी बुद्धि में अवधारित ग्रन्थ और अर्थों का तप के महात्म्य से अलग अलग अविनष्ट अवस्थान रहता है, वे कोष्ठ के समान बुद्धिवाले मुनीन्द्र होते हैं, उनकोष्ठ बुद्धि के धारक मुनीन्द्रों को नमस्कार हो (७) जैसे उपजाऊ क्षेत्र में बोया गया एक भी बीज, कालादिक की सहायता पाकर अनेक बीज—प्रद होता है उसी तरह एक पद के ग्रहण से अनेक पदार्थों की प्रतिपत्ति जिस बुद्धि में हो वह बीज बुद्धि है । वह बीज बुद्धि, तपके माहात्म्य से जिनके हो वे बीज बुद्धि धारक मुनीन्द्र होते हैं, उन बीज बुद्धि मुनीन्द्र देवों को नमस्कार हो । (८) आदि अन्त जहां तहां के एक पद के ग्रहण से समस्त ग्रन्थार्थका अवधारण जिस बुद्धि में हो जाय वह पदानुसारिणी बुद्धि है, वह

पदानुसारिणी बुद्धि तप के महात्म्य से जिनके होती है उन पदानुसारि बुद्धि के धारक मुनीन्द्रों को नमस्कार हो (९) बारह योजन लंबे और नव योजन चौडे चक्रवर्ती के स्कन्धावार (छावनी) के मनुष्य, घोड़े, ऊंट, हाथी आदि से उत्पन्न अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक परस्पर विभिन्न-श्रोत्र ऋद्धि होती हैं, वह ऋद्धि तप के प्रभाव से जिनके होती है वे सभिन्न श्रोतृ ऋद्धि के धारक मुनीश्वरों को नमस्कार हो (१०) वैराग्य का किंचित् कारण, देखकर और परोपदेश की कोई अपेक्षा न रखकर स्वयं ही जो वैराग्य को प्राप्त होते हैं, वे स्वयम्बुद्ध कहलाते है। उन 'स्वयम्बुद्ध' मुनीश्वरो को नमस्कार हो (११) जो परोपदेश के विना किसी एक निमित्त से वैराग्य को प्राप्त होते है, जैसे नीलाजना के विलय से (अन्तर्धान हो जाने से) वृषभादिक आदिनाथ भगवान् आदि उन 'प्रत्येकबुद्ध' जिनों को नमस्कार हो (१२) जो भोगों में आसक्त महानुभाव अपने शरीर आदि में अशाश्वत रूप देकर वैराग्य को प्राप्त होते है वे भी 'वोधित बुद्ध' मुनीश्वर कहलाते हैं उन्हे मेरा नमस्कार हो (१३) ऋजुमति मन: पर्यय ज्ञानी मुनीश्वरो को नमस्कार हो (१४) विपुलमति ज्ञानी मुनीन्द्रो को मेरा नमस्कार हो। (१५) 'अभिन्न दश पूर्वधारक' मुनीश्वरों का मेरा नमस्कार हो (१६) 'उत्पादादि चतुर्दश पूर्व धर' मुनीश्वरों को मेरा नमस्कार हो (१७) अंग, स्वर, व्यजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न, अंतरिक्ष, इन आठ निमित्तो को हृदय में रखकर जो जीवो के शुभ-अशुभ को जानते है, वे अष्टांग निमित्तों में कुशल होते हैं, उन अष्टाग निमित्त में कुशल मुनीन्द्रों को मेरा नमस्कार हो। (१८) विकुर्वण ऋद्धि को प्राप्त मुनीश्वरों को मेरा नमस्कार हो। [१९] अंग, पूर्व, वस्तु, प्राभृत आदि सर्व विद्याओं के आधार भूत विद्याधर मुनीश्वरों को नमस्कार हो। [२०] जल, जंघा, तंतु, फल, बीज, आकाश और श्रेणी पर अप्रतिहत चलने में कुशल आठ प्रकारके चारण ऋद्धि धारी मुनीश्वरों को मेरा नमस्कार हो। [२१] जो औत्पत्तिकी, वैनयिकी कर्मजा और पारिणामिकी इस प्रकार चार प्रकार की प्रतिज्ञाओं के धारक हैं उन प्रज्ञाश्रवण मुनीश्वरों को नमस्कार हो। [२२] आकाशगामी ऋद्धि के धारक मुनीश्वरों को नमस्कार हो। [२३] अविद्यमान अर्थ का चाहना 'आशिष' है। आशिष जिनका विष है आशीविष श्रमण होते हैं अथवा जिनका आशिष अमृत है वे भी आशी-

विष श्रमण होते हैं उन्हें नमस्कार हो, वे किसी को कह दें कि मरजाओ तो वह मर जावे, यदि वे किसी को कह दे कि विष रहित हो जावो तो वह जीव विष रहित हो जावे, यद्यपि वे मुनि ऐसा करते नहीं है परन्तु तप के प्रभाव से प्राप्त शक्ति का प्रदर्शन है [२४] जिन मुनियों की दृष्टि ही विष रूप होती है या जिनकी दृष्टि हो अमृत रूप होती है वे 'दृष्टि-विष' होते है उन 'दृष्टि-विष' मुनीश्वरों को नमस्कार हो। [२५] जो पचमी षष्टमी और चतुर्दशी मे से किसी भी दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर लेते है पश्चात् दो या तीन दिन तक आहार न मिलने पर भी उन दिनोकाउसी प्रकार निर्वाह करते हैं, ऐसे साधु उग्र-तप वाले होते हैं उन 'उग्र तपस्वी' साधुओ को नमस्कार हो। [२६] चतुर्थ, षष्ठ आदि उपवासों के करने पर भी जिनके शरीर का तेज, बल, तप जनितलब्धि के माहात्म्य से प्रतिदिन शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह बढता जाता है वे 'दीप्ततप' साधु होते हैं उन्हें नमस्कार हो। [२७] जिनके अग्नि मे सतप्त लोहे पर पतित जल कणिका समान ग्रहण किये हुये चतुर्विध आहार का शोषण हो जाने के कारण नीहार नही होता है वे 'तप्त तप' होते हैं उन तपस्वी साधुओं को नमस्कार हो [२८] जो पक्ष, मास, उपवासादिक के अनुष्ठान मे तत्पर है, और जो महातप ऋद्धि के धारक होते हैं अथवा अणिमादि आठ गुणों से युक्त हैं, जल चारणादि आठ प्रकार के चारण गुणों से अलकृत हैं, स्फुरायमान शरीर प्रभा वाले है वे सब विद्याओं के धारक तथा मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ज्ञानों मे तीन लोक के व्यापार को जानने वाले हैं वे मुनि महातप ऋद्धि के धारक होते हैं उन्हें मेरा नमस्कार हो, [२९] जो हिंसक सिंह, शार्दूल आदि से आकुल, पर्वतों के गह्वर आदि में प्रचुरतर शीत, वात, आतप, दंश मशक आदि से युक्त भयानक श्मशानों में जाकर ध्यान करते हैं और दुर्द्धर उपसर्गों के सहन करने में तत्पर हैं वे 'घोर तप के धारक' होते हैं; उन घोर तप के धारक तपस्वियों को मेरा नमस्कार हो, [३०] जिनके गुणों का चिन्तवन करना भी जन साधारण के लिये अशक्य है ऐसे घोर गुणों के धारी मुनीश्वरों को नमस्कार हो। [३१] अत्यन्त भयंकर रोग से पीडित और महाभयंकर एकांत स्थान में रहते हुये भी जो मुनिगण स्वीकृत तप योगों की वृद्धि में ही सदा तत्पर रहते हैं वे 'घोर पराक्रम नामक ऋद्धि' के धारक हैं, उन तपस्वियों को नमस्कार हो।

[३२] बहुत काल से जो अस्खलित ब्रह्मचर्य के धारक है, और प्रकृष्ट चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जिनके समस्त दुःस्वप्न नष्ट हो गये हैं, वे 'घोर ब्रह्मचर्य ऋद्धि के धारक' हैं, उनको नमस्कार हो [३३] आम अर्थात् अपक्वआहार, वह ही जिनके औषधपने को प्राप्त है, उन आमौषधि प्राप्त मुनीश्वरो को नमस्कार हो। [३४] क्ष्वेल नाम निष्ठीवन लार, नासिका मल आदिका है; वह क्ष्वेल ही जिनका औषधि पने को प्राप्त है वे 'क्ष्वेलौषधि प्राप्त' कहे जाते हैं, उन योगियों को मेरा नमस्कार हो [३५] सारे शरीर के मल को जल्ल (प्रस्वेद-पसीना) कहते है, वही जिनका औषधि पने को प्राप्त हो जाता है, उन 'जल्लौषधि प्राप्त' मुनियो को मेरा नमस्कार हो। [३६] विप्पुड् नाम ब्रह्मविन्दु अर्थात् वीय का है, वह वीर्य ही जिनका औषधिपने को तप के प्रभ व से प्राप्त हो जाता है, उन 'विप्पुडौषधि' प्राप्त योगियों को मेरा नमस्कार हो। 'विडोसहिपत्ताण' ऐसा भी पाठ है, उसका अर्थ जिनका विष्टा ही औषधि रूप को प्राप्त हो गया है उन विष्ठौषधि-प्राप्त योगियो को मेरा नमस्कार हो। [३७] सर्व अर्थात् रस, रुधिर, माम, मेद, अस्थि (हड्डी) मज्जा, शुक्र फुफ्फुस, मूत्र, पित्त, आन्त, नख, केश इत्यादि सब जिनके औषधि रूप को प्राप्त हो गए है, उन 'सर्वौषधि-प्राप्त' योगियोको मेरा नमस्कार हो। [३८] बारह अङ्गों मे बतलाये गये, त्रिकाल गोचर, अनत अर्थ पर्यायों तथा व्यंजन पर्यायों से युक्त छह द्रव्यों को निरंतर चिन्तवन करने पर भी, खेद को प्राप्त न होना, 'मनबल' है, यह मनबल जिनके है, उनको मनबली कहते है, उन मनबली योगियों को मेरा नमस्कार हो। [३९] बारह अङ्गों का कई बार परि-वर्तन (पाठ) करके भी जो खेद को प्राप्त नहीं होना, वह वचन बल कहलाता है, तप के महात्म्य से उत्पादित वचन बल वाले 'वचन-बली' कहलाते हैं उन वचन-बली ऋषियों को नमस्कार हो। [४०] जो तीनों भवनों को हाथ की अगुली से उठाकर अन्य स्थान में रखने में समर्थ हैं उनकी काय बली संज्ञा है, उन कायबली योगियों को नमस्कार हो। [४१] क्षीर अर्थात् दुग्धस्राव अथवा स्वाद जिनके है वे क्षीरस्रावी या क्षीरस्वादी होते हैं भोजन के समय उनके हाथ में रक्खे हुये कुत्सित अशन भी तप के माहात्म्य से क्षीर रूप परिणत हो जाता है या उसमें क्षीर जैसा स्वाद आने लगता है वे क्षीर स्रावी होते हैं, उन क्षीर-स्रावी योगियोंको नमस्कार

हो। (४२) सर्पि का अर्थ घृत है, घृतस्रावी या घृतस्वादी मुनियों को नमस्कार हो, (४३) मधुर शब्द से मधुर रस का ग्रहण होता है, जो हाथ में रखे हुए सब आहारों को गुड, खाड, शर्करा के स्वाद स्वरूप से परिणमन करने में समर्थ है वे 'मधुर स्रावी, मधुरस्वादी' योगीश्वर होते हैं उनको नमस्कार हो (४४) जिनके हाथों को प्राप्त हुआ आहार अमृत के स्वाद स्वरूप से परिणत होता है वे 'अमृत--स्रावी या अमृत–स्वादी' मुनीश्वर होते है उनको मेरा नमस्कार हो (४५) जिनका महानस (रसोई घर) अक्षीण है वे 'अक्षीणमहानस' होते हैं। जिस भोजन से आहार निकाल कर उन ऋद्धिधारक मुनियों को दियाजाता है, वह भोजन चक्रवर्त्ती के स्कंधावार को (सारी सेना को) जिमा देने पर भी वृद्धि विशेष के कारण उस दिन सूर्यास्त तक क्षीण नही होता है, वे 'अक्षीण महानस' होते हैं अथवा अक्षीण महानस शब्द देश वाचक है,इसलिये उससे वसति-- अक्षीण का भी ग्रहण होता है दोनों ही का अर्थ कहा है कि जिसके भात, घृत या भिगोया हुआ अन्न परोस लेने पश्चात् चक्रवर्त्ति के स्कंधावार को देने पर भी समाप्त नही होता है,वह अक्षीण महानस ऋद्धि धारक कहलाता हैं. जिस के चार हाथ प्रमाण भी गुफा में रहने पर चक्रवर्ती का सैन्य भी उस गुफा मे रह सकता है वह अक्षीणावास रिद्धि धारक होता है उन अक्षीण महानस व अक्षीणा वास योगीश्वरों को नमस्कार हो। [४६] णमो वड्ढमाणाण—इस पद का विशेष अर्थ ४८ के अर्थ से जानना चाहिये ऐसे योगियों को नमस्कार हो। [४७] णमो सिद्धायदणाणं— सिद्धो के निर्वाण स्थानो को नमस्कार हो अथवा सर्व-सिद्ध इस वचन से पूर्व में कहे हुए समस्त मुनीश्वरों या योगियों का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनों से पृथक भूत दश सिद्ध और सर्वसिद्ध पाये नही जाते, सब सिद्धों के जो आयतन वे सर्व सिद्धायतन हैं। इससे कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिनगृहों का और जिन प्रतिमाओ के निलयो का ईषत्प्राग्भार, ऊर्जयन्त, चपा, पावानगरादि सब निषेधिकाओ का ग्रहण होता है उन सब जिनायतनों को नमस्कार हो। [४८] **णमो भयवदो महदिमहावीर वड्ढमाणबुद्धिरिसीणो चेदि**—इसका विवरण जो आगे दिया गया है वह क्रम से ऋषि, बुद्ध, वर्धमान, महावीर, महतिमहावीर के अनुसार दिया गया है। सहजात विशिष्ट मत्यादि ज्ञानत्रय के धारक, अथवा पूजा के

अतिशय को प्राप्त भगवान् महावीर, वर्धमान, बुद्ध और ऋषिको नमस्कार हो। ये सब अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान के नाम है क्योंकि ऋषि, प्रत्यक्षवेदी या ऋद्धिधारक का नाम है, भगवान् महावीर प्रत्यक्ष वेदी भी थे और ऋद्धि धारक भी थे, इसलिये वे **ऋषि** थे हेय और उपादेय के विवेक से सम्पन्न को बुद्ध कहते है। भगवान् हेयोपादेय के विवेक से सम्पन्न होने के कारण **'बुद्ध'** थे। भगवान् के गर्भावतारादि के समय इन्द्रो ने उनके माता-पिता की बड़ी भारी पूजा की, रत्नो की वृष्टि की और अपनी भा ऋद्धि, वृद्धि आदि देख कर बन्धुजनों ने भगवान् का **वर्धमान** यह नाम रख दिया। भगवान् के जन्माभिषेक के समय भगवान् का शरीर छोटा था, उसे देख कर इन्द्र को आशंका उत्पन्न हो गई कि इतने वड़े २, १००८ कलशो का जल यह शरीर कैसे सहन कर सकेगा। उस समय भगवान् ने, इन्द्र की आशंका दूर करने के लिये तथा अपनी सामर्थ्य प्रकट करने के लिये अपने पैर के अगूठे से सुमेरुगिरि को हिला दिया। इस कारण इन्द्र ने भगवान् का **'वीर'** यह नाम करण दिया। कुमार काल में क्रीडा के समय खेलते हुए, सगम देव ने अपने विमान की गति के स्खलन हो जाने से, भय उत्पन्न करने के लिए महान् फटाटोप से युक्त, भयानक सर्प का रूप धरकर, विक्रिया से सारे वृक्ष को वेष्टित कर लिया, भगवान् उससे डरे नहीं वे उस सर्प के मस्तक पर पैर रखकर वृक्ष पर से उतर गये। इस कारण संगम देव ने भगवान् का **'महावीर'** यह नाम रख दिया। भगवान् जप तप धारण कर वाराणसी में कायोत्सर्ग में स्थित थे, तव रुद्रदेव ने ध्यान से विचलित करने के लिये महान् उपसर्ग किया। उस उपसर्ग को जीत लेने के कारण रुद्रदेव ने उनका नाम **महति महावीर** रखा। यहा पर **चेदि** इस च से भगवान् में उक्त नामों का समुच्चय किया गया। इति शब्द यहां पर प्रकार अर्थ में आया है। इस प्रकार वाले, इष्ट देवता के रूप में, शास्त्र के प्रारम्भ में, स्तवन करने योग्य हैं। यह 'चेदि' का अर्थ है, यह शब्द और पाठों में भी है वहा भी इसका अर्थ प्रकरण के अनुसार समुच्चय वाचक लेना चाहिये। सभी चतुर्विंशति तीर्थङ्कर स्तुति करने योग्य हैं फिर भी ग्रन्थ कर्त्ता गणधर देवने भगवान् वर्द्धमान जिनेश्वर की स्तुति क्य की, इसका उत्तर ऐसी आशंका होने पर कहते हैं। जिन भगवान् के

समीप, मैं धर्म के मार्ग मे नियम से प्राप्त हुआ हूं, उन भगवान् के समीप काय, वचन और मन से सर्वकाल विनय प्रयुक्त करता हूँ। विनय ही प्रयुक्त नही करता हूं किन्तु जिस जानुद्वय (दो घुटनो के बीच में) और करद्वय में (दोनों हाथों के बोच में) पांचवां सिर है उससे सत्कार करता हूँ; नमस्कार करता हूं यही अर्थ इस अंतिम गाथा मे प्रकट किया गया है ॥१॥

विशेष:—इस प्रकार गणधरवलय नामक प्रतिक्रमण सम्बन्धी मंगल दंडक समाप्त हुआ।

श्री गौतमस्वामी अपनी परम्परा प्रकट करते हुये कहते है कि—

गद्य—सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदो महदिमहावीरेण, महाकस्सवेण, सव्वण्हुणा, सव्वलोगदरसिणा, सदेवासुरमाणुसस्स, लोयस्स, आगदि-गदि-चवणोववादं, बंधं-मोक्खं, इड्ढिं, ठिदिं, जुदिं, अणुभागं, तक्कं, कलं, मणोमाणसियं भूतं कयं पडिसेवियं, आदिकम्मं अरुहकम्मं, सव्वलोए, सव्वजीवे, सव्वभावे, सव्वं समंजाणंता, पस्संता, विहरमाणेण, समणाणं, पंचमहव्वदाणि, राईभोयणवेरमणं छट्ठाणि, सभावणाणि, समाउगपदाणि, सउत्तरपदाणि, सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि। तंजहा

अर्थ—**सुदं मे आउस्संतो** हे आयुष्मान् भव्यो ! **इह खलु सदेवासुरमाणुसस्स लोयस्स** इस भरत क्षेत्र मे देव, असुर और मनुष्यो सहित प्राणिगण की **आगदि** (अन्य स्थान से यहा आना) **गदि** यहा से अन्य गति में जाना) **चवणोववादं** (च्यवन और उपपाद अर्थात् च्युत होना और जन्म लेना **बंधं** (कर्मों का बंध) **मोक्खं** (कर्मों का छुटकारा) **इड्ढिं** (ऋद्धि) **ठिदिं** (स्थिति) **जुदिं** (द्युति-चमक) **अणुभागं** (कर्मों के फल देने कासामर्थ्य) **तक्कं** (तर्क शास्त्र) **कलं** बहत्तर कला या गणित विद्या) **मणो** (परकीय चित्त) **माणसियं** [मन की चेष्टा] **भूतं** [पूर्वअनुभूत] **कयं** [पूर्वकृत] **पडिसेवियं** [पुन सेवित], **आदिकम्मं** [कर्मभूमि के अनुप्रवेश

में प्रथमतः प्रवृत्त असि, मसि, कृष्यादिक कर्म] अरुहकम्मं [अकृत्रिम द्वीप समुद्रादि का प्रकट कर्म] इनको सव्वलोए [तीन सो तेतालीस रज्जुप्रमाण सर्वलोक में] और सव्वजीवे [सब जीवों को] सव्वभावे [सब भावों और सब पर्यायों को] समंजाणंता [एक साथ जानते हुये] पस्संता [देखते हुये] विहरमाणेण [विहार करते हुये] इह खलु समणेण भयवदो महदि महावीरेण, महाकस्सवेण, सव्वण्हुणा, सव्वलोगदरसिणा [काश्यपगोत्रीय श्रमण, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महति महावीर अंतिम तीर्थङ्कर देखने] समावणाणि [पच्चीस भावनाओं सहित] समाउगपदाणि [मातृका पदों सहित] सउत्तरपदाणि [उत्तर पदो सहित] राईभोयणवेरमणछट्ठाणि रात्रि भोजन विरमण है छटा अणुव्रत जिनमें ऐसे पांच महाव्रत रूप समीचीन धर्मों का उपदेश दिया है, वह मैंने उनकी दिव्यध्वनि से सुना है। उन उक्त विशेषणों से युक्त विशिष्ट महाव्रतों का स्वरूप जैसा भगवान् ने क्रम से कहा है वैसा ही ग्रन्थकार प्रतिपादन करते हैः—

गद्य—पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिएमहव्वदे मुसावादादो वेरमणं, तिदिए महव्वदे अदिण्णदा णादो वेरमणं, चउत्थे महव्वदे मेहुणादो वेरमणं, पंचमे महव्वदे परिग्गहादो वेरमणं,छट्ठे अणुव्वदे राईभोयणादो वेरमणंचेदि।

अर्थ—प्रथम महाव्रत में प्राणों के प्रतिपात (व्यपरोपण) से विरमण, दूसरे महाव्रत में मृषावाद से विरमण, तीसरे महाव्रत में अदत्तादान से विरमण, चौथे महाव्रत मे मैथुन से विरमण और पाचवें महाव्रत में परिग्रह से विरमण, तथा छठे अणुव्रत मे रात्रि भोजन से विरमण करना चाहिए। उनमें से भगवान् द्वारा उपदिष्ट पहले महाव्रत में अनुष्ठाता मुनि के लिए, साकल्य से (सम्पूर्ण रूप से) विरति दिखाते हुए कहते हैं—

गद्य—तत्थ पढमे महव्वदे सव्वं भंते ! पाणादिवादं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा, वचिया, काएण, से एइन्दिया वा, वेइंदिया वा, तेइंदिया वा, चउरिंदिया वा, पंचिंदिया वा, पुढ-

विकाइए वा, आउकाइए वा, तेउकाइए वा, वाउकाइए वा, वणप्फदिकाइए वा, तसकाइए वा, अंडाइए वा, पोदाइए वा, जराइए वा, रसाइए वा, संसेदिमे वा, सम्मुच्छिमे वा, उब्भेदिमे वा, उववादिमे वा, तसे वा, थावरे वा, वादरे वा, सुहुमे वा, पाणे वा, भूदे वा, जीवे वा, सत्ते वा, पज्जत्ते वा, अपज्जत्ते वा, अविचउरासीदिजोणिपमुहसदसहस्सेसु, णेव सयं पाणादिवादिज्ज, णोअण्णेहिं पाणे अदिवादावेज्ज, अण्णेहिं पाणे आदिवादिज्जंतोवि ण समणुमणेज्ज तस्स भंते । अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि गरहामि अप्पाणं वोसरामि, पुव्विंचणं भंते ! जंपि मए रागस्सवा, दोसस्सवा, मोहस्सवा, वसंगदेण सयं, पाणे अदिवादाविदे, अण्णेहिं पाणे अदिवादाविदे अण्णेहिं पाणे अदिवादिज्जंते वि समणुमण्णिदे तं पि इमस्स णिग्गंथस्स पावयणस्स, अणुत्तरस्स, केवलियस्स, केवलिपण्णत्तस्स, धम्मस्स, अहिंसालक्खणस्स, सच्चाहिट्ठियस्स, विणयमूलस्स, खमाबलस्स, अट्ठारससीलसहस्सपरिमंडियस्स, चउरासीदिगुणसयसहस्स विहूसियस्स, णववंभचेरगुत्तस्स, नियतिलक्खणस्स, परिचायफलस्स, उवसमपहाणस्स, खंतिमग्गदेसयस्स, मुत्तिमग्गपयासयस्स, सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स. से कोहेण वा, माणेण वा, माएण वा, लोहेण वा, अण्णाणेण वा. अदंसणेण वा, अविरियेण वा, असंयमेण वा, असमणेण वा, अणहिगमणेण वा, अभिमंसिदाएण वा, अवोहिदाएण वा. रागेण वा, दोसेण वा, मोहेण वा, हस्सेण वा, भयेण वा, पदोसेण वा, पमादेण वा. पेम्मेण वा, पिवासेण वा, लज्जेण वा, गारवेण वा अणादरेण वा. केणविकारणेण जादेण वा, आलसदाए, कम्मभारिगदाए, कम्मगुरुगदाए, कम्मदुच्चरिदाए, कम्मपुरुक्कडदाए, तिगारवगुरुगदाए. अवहुसुददाए. अविदिदपरमट्ठदाए. तं सव्वंपुव्वं दुच्चरियं गरिहामि, आगमेसिं च अपच्चक्खियं पच्चक्खामि, अणालोचियं

आलोचेमि, अणिंदियं णिंदामि, अगरहियं गरहामि, अपडिक्कंतं पडिक्कमामि, विराहणं वोस्सरामि, आराहणं अब्भुट्ठेमि, अणाणं वोस्सरामि, सण्णाणं अब्भुट्ठेमि, कुदंसणं वोस्सरामि सम्मदंसणं अब्भुट्ठेमि, कुचरियंवोस्सरामि सुचरियं अब्भुट्ठेमि; कुतवंवोस्सरामि, सुतवंअब्भुट्ठेमि; अकरणिज्जं वोस्सरामि, करणिज्जं अब्भुट्ठेमि, अकिरियं वोस्सरामि. किरियंअब्भुट्ठेमि, पाणादिवादं वोस्सरामि, अभयदाणं अब्भुट्ठेमि, मोसं वोस्सरामि, सच्चं अब्भुट्ठेमि; अदत्तादाणं वोस्सरामि, दिण्णंकप्पणिज्जं अब्भुट्ठेमि; अबंभं वोस्सरामि, बंभचरियं अब्भुट्ठेमि. परिग्गहं वोस्सरामि, अपरिग्गहं अब्भुट्ठेमि; राईभोयणं वोस्सरामि, दिवाभोयणमेगभत्तं पच्चुप्पण्णं फासुगं अब्भुट्ठेमि; अट्टरुद्दज्झाणं वोस्सरामि, धम्मसुक्कज्झाणं अब्भुट्ठेमि, किण्हणीलकाउलेस्सं वोस्सरामि, तेउपम्मसुक्कलेस्सं अब्भुट्ठेमि, आरंभं वोस्सरामि, अणारंभं अब्भुट्ठेमि, असंजमं वोस्सरामि. संजमं अब्भुट्ठेमि; सग्गंथं वोस्सरामि. णिग्गंथं अब्भुट्ठेमि; सचेलं वोस्सरामि. अचेलंअब्भुट्ठेमि. अलोचं वोस्सरामि, लोचं अब्भुट्ठेमि. ण्हाणं वोस्सरामि. अण्हाणं अब्भुट्ठेमि; अखिदिसयणं वोस्सरामि. खिदिसयणं अब्भुट्ठेमि, दंतवणं वोस्सरामि. अदंतवणं अब्भुट्ठेमि, अट्ठिदिभोयणंवोस्सरामि. ठिदिभोयणमेकभत्तं अब्भुट्ठेमि, अपाणि पत्तं वोस्सरामि. पाणिपत्तं अब्भुट्ठेमि । कोहं वोस्सरामि, खंतिं अब्भुट्ठेमि । माणं वोस्सरामि. मद्दवं अब्भुट्ठेमि, मायं वोस्सरामि, अज्जवं अब्भुट्ठेमि, लोहं वोस्सरामि, संतोसं अब्भुट्ठेमि, अतवं वोस्सरामि. दुवादसविहतवोकम्मं अब्भुट्ठेमि, मिच्छत्तं परिवज्जामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि. असीलं परिवज्जामि, सुसीलं उवसंपज्जामि णिसल्लं उवसंपज्जामि; अविणयं परिवज्जामि, विणयं उवसंपज्जामि. अणाचारं परिवज्जामि. आचारं उवसंपज्जामि. उम्मग्गं

परिवज्जामि जिणमग्गं उवसंपज्जामि, अखंतिं परिवज्जामि, खंतिं उवसंपज्जामि, अगुत्तिं परिवज्जामि, गुत्तिं उवसंपज्जामि, अमुत्तिं परिवज्जामि, सुमुत्तिं उवसंपज्जामि, असमाहिं परिवज्जामि, सुसमाहिं उवसंपज्जामि. ममत्तिं परिवज्जामि, णिममत्तिं उवसंपज्जामि, अभावियं भावेमि, भावियं ण भावेमि, इमं णिग्गंथं पव्वयणं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, णेगाइयं, सामाइयं, संसुद्धं, सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताणं, सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं, पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं, सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं, जत्थ ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुंचंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तं सद्दहामि, तं पत्तियामि, तं रोचेमि, तं फासेमि, इदो उत्तरं अण्णंणत्थि, ण भूदं, ण भवं, ण भविस्सदि, णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण वा, सुत्तेण वा, सीलेण वा, गुणेण वा, तवेण वा, णियमेण वा, वदेण वा, विहारेण वा, आलएण वा, अज्जवेण वा, लाहवेण वा, अण्णेण वा, वीरिएण वा, समणोमि, संजदोमि, उवरदोमि, उवसंतोमि, उवधि-णियडि-माण-माया-मोस-मूरण-मिच्छाणाण-मिच्छादंसण, मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि । सम्मणाण-सम्मदंसणं-सम्मचरित्तं च रोचेमि, जं जिणवरेहि पण्णत्तो जो मए देवसिय-राइय-पक्खिय-चउम्मासिय-संवच्छरिय) इरियावहि केस लोचाइचारस्स, संथारादिचारस्स, पंथादिचारस्स, सव्वादिचारस्स, उत्तमट्ठस्स, सम्मचरित्तं च रोचेमि, पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं; उवट्ठावण मंडले, महत्थे, महागुणे, महाणुभावे, महाजसे, महापुरिसाणुचिण्हे, अरहंत-सक्खियं, सिद्धसक्खियं, साहुसक्खियं, अप्पसक्खियं, परसक्खियं, देवतासक्खियं, उत्तमट्ठम्मि "इदं मे महव्वदं, सुव्वदं, दढव्वदं

होउ, णित्थारयं, पारयं, तारयं, आराहियं, चावि ते मे भवतु" ॥३॥

गद्य—"प्रथमं महाव्रतं सर्वेषां व्रत धारिणां सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं, सुव्रतं, समारूढं ते, मे भवतु" ॥३॥

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥३॥

विशेष:— "———" चिन्ह तथा ३ के अंक से सूचित पदो का तीन वार उच्चारण करना चाहिये ।

अर्थ—उक्त प्रकारके पच महाव्रतो में हे भगवन् ! सव स्थूल और सूक्ष्म प्राणातिपात का जीवन--पर्यन्त तीन प्रकार मन, वचन और काय से परित्याग करता हूं । उस प्रथम महाव्रत--सम्बंधी जो प्राणो के व्यपरोपण (घात) का त्याग है, वह त्याग किन में करना चाहिये सो कहते है— एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पांच इन्द्रिय तथा पृथ्वी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक और त्रसकायिक, अण्डायिक, पोतायिक, जरायिक, रसायिक, सस्वेदिम, सम्मूच्छिम, उद्भेदिम और उपपादिम त्रस और स्थावर, बादर और सूक्ष्म, प्राण, भूत, जीव और सत्व, पर्याप्त और अपर्याप्त तथा चौरासी लाख योनि के प्रमुख जोव, इन सब जीवों मे स्वयं प्राणो का अतिपात (घात) न करे, न अन्य से प्राणों का अतिपात (घात) करावे और न प्राणो का अतिपात करते हुये अन्यो को अनुमोदना करे । हे भगवन् ! उस प्रथम महाव्रत सम्बन्धी अतिचार का प्रतिक्रमण (निराकरण) करता हू । अपनी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं, हे भगवन् ! पूर्व (अतीत) कालमें उपार्जित अतिचारों का त्याग करता हूँ । जो भी मैंने राग, द्वेष, और मोह के वशीभूत होकर स्वय प्राणों का अतिपात किया है, दूसरों से प्राणों का अतिपात कराया है और प्राणों के अतिपात करते हुये अन्य की अनुमोदना की है, उन सबका मैं त्याग करता हू । यह जो निर्ग्रन्थ रूप है, पावन है अथवा प्रवचन में प्रतिपादित है, इससे भिन्न और कोई उत्कृष्ट नही है, यह केवलिप्रणीत है, अहिंसा लक्षण का धारक है, सत्य से अधिष्ठित है, विनय का मूल है, क्षमा से वलिष्ठ है, अठारह हजार शीलो से परिमंडित है, चौरासी लाख उत्तरगुणों से अलंकृत है, नवप्रकार के ब्रह्मचर्यसे सुरक्षित

है, विषयो की व्यावृत्ति से लक्षित है, बाह्याभ्यतर परिग्रह के त्याग का फल है, क्रोधादिक के त्याग का प्रधान कारण है, परम क्षमा के मार्ग का अर्थात् इष्ट और अनिष्ट मे समभाव का उपदेशक है, मुक्ति अर्थात् कर्मों की एक देश निर्जरा के उपाय का प्रकाशक है, सिद्धि अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा या अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति का मार्ग यथाख्यात चारित्र का परम-प्रकर्ष है ऐसे इस निर्ग्रन्थ धर्म का क्रोध, मान, माया, लोभ, अज्ञान, अदर्शन, अवीर्य, (शक्तिका अभाव) असंयम,धर्म मे अश्रद्धान, अप्रतिग्रहण, अविचार, अबोध, राग, द्वेष, मोह हास्य, भय, प्रद्वेष, प्रमाद, प्रेम, विषयों की अति-गृद्धि, लज्जा, गारव, आलस्य, कर्मो का बोझ, प्रदेशो की बहुलता, कर्मो की शक्ति का बाहुल्य, कर्मो की दुश्चारित्रता, कर्मो की अत्यन्त तीव्रता, तीन गौरवो की उत्कटता, अल्पश्रुतता, (सकलशास्त्रो मे अप्रवीणता) परमार्थ के ज्ञान का अभाव, इन सब कारणों से पूर्व, दुश्चरित्र की गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ, प्रतिक्रमण से निराकरण करता हूँ आगामी अत्यक्त दुश्चरित्र का प्रत्याख्यान द्वार से निराकरण करता हूं क्योंकि आगामी दुश्चरित्र का निराकरण प्रतिक्रमण से नहीं होता, इसका कारण यह है कि कृत दोषो के निराकरण करने में ही प्रतिक्रमण का सामर्थ्य है, इसलिए भावी दोषो के कारण, रागद्वेष आदि की उत्पत्ति का निराकरण प्रत्याख्यान से होता है। अनालोचित की आलोचना करता हू, अनिन्दित की निन्दा करता हूँ, अगर्हित की गर्हा करता हूँ, जिसका प्रतिक्रमण अभी तक मैंने नही किया है उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। विराधना अर्थात् रत्नत्रय के विषय मे, मन, वचन और काय से की गई सावद्यवृत्ति (दोष युक्त प्रवृत्ति) का त्याग करता हू, रत्नत्रय की आराधना अर्थात् रत्नत्रय के विषय में मन, वचन और काय से निरवद्यवृत्ति (निर्दोष प्रवृत्ति का) अनु-ष्ठान करता हूं। मिथ्या मति, श्रुत, अवधि स्वरूप अज्ञान का त्याग करता हू और मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय, केवलज्ञान स्वरूप सम्यग्ज्ञान का अनुष्ठान करता हूँ। विपरीताभिनिवेश (विपरीत अभिप्राय) स्वरूप कुदर्शन (मिथ्यादर्शन) का त्याग करता हूँ तत्वार्थश्रद्धान लक्षण सम्यग्दर्शन का अनुष्ठान करता हूँ। मिथ्यारूप चारित्र का त्याग करता हूँ और सामा-यिकादि सम्यक् रूप चारित्र का अनुष्ठान करता हूँ। पचाग्नि-साधनादि कुतप का त्याग करता हूँ और बाह्याभ्यंतरादि सुतप का अनुष्ठान करता

हूं, अव्रतादि अकृत्य का त्याग करता हूं और पालन करने योग्य अहिंसादि व्रत का अनुष्ठान करता हूं। प्राणों के व्यपरोपण (घात) का त्याग करता हुं और अभयदान का अनुष्ठान करता हूं। मृषावाद (असत्य) का त्याग करता हूं और सत्य का अनुष्ठान करता हूं। अदत्तादान (चोरी) का त्याग करता हूं और दिये हुये योग्य (अचौर्य) का अनुष्ठान करता हूं। अब्रह्म (कुशील) का त्याग करता हू और ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करता हूं। परिग्रह का त्याग करता हूं और अपरिग्रह का अनुष्ठान करता हूं। रात्रि भोजन का त्याग करता हूं और यथाकाल प्राप्त, प्राशुक, एकभुक्त भोजन का दिन मे अनुष्ठान करता हूं। आर्त्तरौद्र ध्यान का त्याग करता हूं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का अनुष्ठान करता हू। जीव को पाप कर्म से लिप्त करने वाली कृष्ण, नील और कापोत लेश्या का त्याग करता हूं और जीव को पुण्य कर्मसे लिप्त करने वाली पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या का अनुष्ठान करता हूं। असि, मसि, कृष्यादि व्यापार का त्याग करता हू और असि, मसि, कृष्यादि व्यापार के अभाव का अनुष्ठान करता हूं। असंयम का त्याग करता हूं और सयम का अनुष्ठान करता हूं। सग्रन्थ का त्याग करता हू और निर्ग्रन्थ का अनुष्ठान करता हूं। चेल अर्थात् वस्त्र का त्याग करता हूं और उससे विपरीत अचेल का अनुष्ठान करता हूं। अलोच का त्याग करना हूं और लोच का अनुष्ठान करता हूं। स्नान का त्याग करता हू और अस्नान का अनुष्ठान करता हूं। पलंग आदि पर शयन का त्याग करता हूं और भूमि आदि पर शयन करने का अनुष्ठान करता हू। दांतोन करने का त्याग करता हूं और दातोन नही करने का अनुष्ठान करता हूं। बैठकर भोजन करने का त्याग करता हू और एक बार खडे होकर भोजन करने का अनुष्ठान करता हूं। पात्र में भोजन करने का त्याग करता हूं और पाणिपात्र में (हाथ मे ही) भोजन करने का अनुष्ठान करता हूं। क्रोध कषाय का त्याग करता हूं और क्षमा धारण करता हू। मानकपाय का त्याग करता हूं और मार्दव गुण को धारण करता हूं। माया का त्याग करता हूं और आर्जव गुण को धारण करता हू। परिग्रह में गृद्धि स्वरूप लोभ का त्याग करता हूं और शौच (संतोष) गुण को धारण करता हू। अतप का त्याग करता हूं और बारह प्रकार के तप का अनुष्ठान करता हूं। मिथ्यात्व का परित्याग करता

हूँ और सम्यक्त्व गुण को स्वीकार करता हू। व्रत के विघातक (नष्ट करने वाले) अशील का परिवर्जन (त्याग) करता हू और व्रत परिरक्षक सुशील को प्राप्त करता हूं। सशल्य पने का त्याग करता हूं और निशल्य रूप का अनुष्ठान करता हूं। अविनय का त्याग करता हूं और विनय को प्राप्त होता हू। अनाचार का त्याग करता हूँ और आचार को स्वीकार करता हूँ। एकात वादियों के द्वारा कल्पित उन्मार्ग का त्याग करता हूँ। और स्वर्ग अथवा मोक्ष को देने वाले जिन मार्ग को स्वीकार करता हूँ। अक्षाति (सहन नही करने की आदत छोडता हूँ और सहन शीलता को अपनाता हूँ। अगुप्ति का त्याग करता हूँ और रत्नत्रय का सरक्षण करने वाली गुप्ति की स्वीकार करता हूँ। अमुक्ति का त्याग करता हूँ और एकदेश या सर्व देश से कर्मो की निर्जरा करने वाली सुमुक्ति को स्वीकार करता हूँ। धर्मध्यान और शुक्लध्यान को समाधि कहते हैं, उसके अभाव को असमाधि कहते हैं उस असमाधि का परित्याग करता हूँ और सुसमाधि को धारण करता हूँ। शरीरादिक मे ममत्व का त्याग करता हूँ और निर्ममत्व को धारण करता हूँ। अनादि से ससार में परिभ्रमण करते हुये मैंने जिनका कभी भी भावन अर्थात् अभ्यास नही किया है उसका भावन अर्थात् अभ्यास करता हूँ। अनादि से संसार में जिन मिथ्यादर्शन आदि का सर्वदा भावन अर्थात् अभ्यास करता रहा हूँ उस मिथ्यात्व का भावन अर्थात् अभ्यास वद करता हूँ और इस निर्ग्रन्थ लिग का श्रद्धान करता हू इसको प्राप्त करता हूं, इसमें रुचि करता हूँ, इसी का सदा स्पर्श करता हूं, यह निर्ग्रन्थ लग सी मोक्ष मार्ग के रूप में आगम मे प्रतिपादित किया है, इस निर्ग्रन्थलिंग से ऊचा अन्य कोई लिंग नही है जो मोक्ष का मार्ग है यह निर्ग्रन्थ लिग केवलि-प्रणीत है या केवलि-संबंधी है, अयोग केवली मे यह निर्ग्रन्थ लिंग सम्पूर्ण कर्मो काक्षय का हेतु होने से परिपूर्ण है, परिपूर्ण रत्नत्रय रूप निकाय मे उत्पन्न हुआ है इसलिये नैकायिक है। अथवा एक प्रकार की नही किन्तु अद्वितीय है एकत्व या परमोदासीनता या सर्वसावद्ययोग की व्यावृत्ति का समय है, उसमें जो हो या वह जिसका प्रयोजन हो उसे सामायिक कहते है अत. यह निर्ग्रन्थ लिंग एकत्व या परम उदासीनता या सार्वसावद्ययोग से व्यावृत्ति रूप है। संशुद्ध है अर्थात् निरतिचार निर्दोष है। अथवा आलोचनादि प्रायश्चित्तों से विशुद्ध

है । माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से पीडित जीवों के इन तीनों शल्यो का नाश करने वाला है, सिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि अथवा अथवा बुद्धि, तप, लब्धि आदि ऋद्धि की प्राप्ति का मार्ग है, प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी रूप निर्जरा का कारण है । अथवा उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी में आरोहण का कारण है, उत्तम क्षमा का मार्ग है, सर्व सग के परित्याग का कारण है, अर्हन्त अवस्था रूप एकदेश से कर्म के क्षय का कारण है, सिद्धावस्था रूप सर्व देश से कर्म के क्षय का मार्ग है, चतुर्गति में परिभ्रमण रूप संसार से निकालने का उपाय है, ससार का अभाव या परमसुख का मार्ग है, शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दु:खों की हानि का मार्ग है, सामायिकादि विशुद्ध चरित्र के धारक पुरुषों के परिनिर्वाण का मार्ग है, क्योकि यह निर्ग्रन्थ लिंग अपने धारकों को उसी भव में या द्वितीयादि भवों में मोक्ष प्राप्त करा देता है, इस प्रकार का यह निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) लिंग है जिसमें स्थित मोक्षार्थी जोव सिद्धि को अर्थात् स्वात्मोपलंभ को और लब्ध्याधि ऋद्धियों को प्राप्त करते है, जीवादि तत्वों के यथावत् स्वरूप को जानते है; क्योंकि निर्ग्रन्थ लिगके होने पर ही जीवादि तत्वों का ज्ञान जिसका कारण है ऐसी बुद्धि आदि लब्धियो का होना सम्भव है, इसी लिंग के द्वारा सब कर्मो से विशुद्ध होते है अथवा इसी लिग से सुखी या कृतकृत्य होते है तथा शारीरिक, मानसिक आदि सर्व दु:खों का अत (विनाश) करते है इस प्रकार उक्त निर्ग्रन्थ लिग से उत्कृष्ट मोक्ष का साधक अन्य लिग वर्त्तमान काल मे नही है, न अतीत (भूतकाल) मे हुआ है, न समीपवर्त्ती वर्त्तमान काल में सभावना है और न आगे अनंत काल में होगा । ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सूत्र, शील, गुण, तप नियम, व्रत, विहार [आचरण] आलय (निर्दोष स्थान] आर्जव और लाघव इससे और इन उक्त प्रकारों से तथा अन्य किसी प्रकार से कोई भी इस निर्ग्रन्थ लिग से उत्कृष्ट अधिक बढकर लिग नहीं है, न भूतकाल में था और न भविष्य काल में होगा । इस प्रकार के निर्ग्रन्थ लिग मे स्थित हुआ मैं श्रमण होता हूं । प्राणीन्द्रिय सयम में तत्पर सयत होता हूं । विषयों से उपरत विरक्त होता हूं और किसी भी विषय में रागद्वेष के अभाव से उपशान्त होता (सोता) हूं । उपधि, बिकृति वंचना माया कुटिलता मृषा से रहित होता हुआ मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र से

प्रतिविरत होता हूं और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र में रुचि करता हूं। महार्थ, महागुण, महानुभाव, महायश, महापुरुषानुचिन्ह, ऐसे प्रथम अहिंसामहाव्रत लक्षण व्रतारोपण होने पर श्रमण होता हूं जिन्हे उत्कृष्ट तीर्थङ्कर देवप्रणीत आगमन में प्रतिपादित, प्राणातिपातसे विरमण स्वरूप, यह मेरा महाव्रत अरहंत साक्षिक, सिद्धसाक्षिक, साधुसाक्षिक, आत्मसाक्षिक, परसाक्षिक और देवतासाक्षिक है, अर्थात् इन सबको साक्षीभूत करके मेरे द्वारा जो व्रतग्रहण किया गया है वह महाव्रत, सुव्रत, अखंडव्रत होवे तथा दुःख रूप दुस्तर दुर्ग से निस्तारक, संसार समुद्र में पडने वाले जीवों का पालक अथवा संसार समुद्र के पार पहुंचाने वाले होने के कारण, संसार रूप महार्णव से उत्तारक और अनंत चतुष्टय की प्राप्ति रूप मोक्ष का आराधक साधु होवे, इस प्रकार के प्रथम महाव्रत के आरोपण कर लेने पर सम्पूर्ण अतिचारो दोषों की विशुद्धि के लिये दैवसिक(रात्रिक) पाक्षिक चातुर्मासिक, सांवत्सरिक इस प्रकार काल नियम से जो कोई अतिचार लगा है, उस सबकी विशुद्धि के लिये मैं प्रतिक्रमण करता हुं तथा ईर्यापथ गमन द्रव्य के शलोच, द्रव्यमार्ग रूप सब द्रव्य, सब द्रव्यों के सम्बन्ध में नियम से जो कोई अतिचार उत्पन्न हुआ है, उस सब की विशुद्धि के लिये प्रतिक्रमण किया जाता है। पहला महाव्रत सब व्रत धारी प्राणियो के सम्यक्त्व पूर्वक उत्तमव्रत रूप, अखंडव्रत रूप हे भगवान् जो आप के उपस्थित है वही मेरे भी होवे ॥ १ ॥

द्वितीय सत्य महाव्रत सम्बन्धी प्रतिक्रमण

गद्य—आहावरे विदिए महव्वदे सव्वं भंते ! मुसावादं पच्चक्खामि, जावज्जीवं तिविहेण मणसा, वचिया, काएण, से कोहेण वा, माणेण वा, माएण वा, लोहेण वा, रागेण वा, दोसेण वा, मोहेण वा, हस्सेण वा, भयेण वा, पदोसेण वा, पमादेण वा, पिम्मेण वा, पिवासेण वा, लज्जेण वा, गारवेण वा, अणादरेण वा, केणवि कारणेण जादेण वा, णेव सयं मोसं भासेज्ज, ण अण्णेहिं मोसं भासाविज्ज, अण्णेहिं मोसं भासि-

ज्जंत पि ण समणुमणिज्ज तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, वोस्सरामि पुव्विचणं भंते ! जं पि मए रागस्स वा, दोसस्स वा, मोहस्स वा, वसंगदेण, सयं मोसं भासियं; अण्णेहि मोसं भासावियं, अण्णेहिं मोसं भासिज्जंतं पि समणुमणिणदं, इमस्स णिग्गंथस्स पवयणस्स, अणुत्तरस्स, केवलियस्स, केवलिपण्णत्तस्स, धम्मस्स, अहिंसालक्खणस्स, सच्चाहिट्ठियस्स, विणयमूलस्स, खमावलस्स, अट्ठारस सीलसहस्सपरिमंडियस्स, चउरासीदि गुण सयसहस्स विहूसियस्स, णवमु वंभचेर, गुत्तस्स, णियदि लक्खणस्स, परिचागफलस्स, उवसमपहाणस्स, खंतिमग्गदेसयस्स, मुत्तिमग्गपयासयस्स, सिद्धमग्गपज्जवसाहणस्स से कोहेण वा, माणेणं वा, माएण वा, लोहेण वा, अण्णाणेण वा, अदंसणेण वा, अविरिएण वा, असंयमेण वा, अगमणेण वा, अणहिगमणेण वा, अभिगंसिदाएण वा, अवोहिदाएण वा, रागेण वा, दोसेण वा, मोहेण वा, हस्सेण वा, भएण वा, पदोसेण वा, पमादेण वा, पेम्मेण वा, पिवासेण वा, लज्जेण वा, गारवेण वा, अणादरेणवा, केणवि कारणेण जादेण वा, आलसदाए, कम्मभारिगदाए, कम्मगुरुगदाए, कम्मदुच्चरियदाए, कम्मपुरुक्कडदाए, तिगारवगुरुगदाए, अवहुसुददाए, अविदिदपरमट्ठदाए, तं सव्वं पुव्वं दुच्चरियं गरिहामि आगमेसिंच, अपच्चक्खियं पच्चक्खामि, अणालोचियं आलोचेमि, अणिंदियं णिंदामि, अगरहियं गरहामि, अपडिक्कंतं पडिक्कमामि, विराहणं वोस्सरामि, आराहणं अब्भुट्ठेमि, अणणाणं वोस्सरामि, सण्णाणं अब्भुट्ठेमि, कुदंसणं वोस्सरामि सम्मदंसणं अब्भुट्ठेमि, कुचरियंवोस्सरामि सुचरियं अब्भुट्ठेमि; कुतवंवोस्सरामि, सुतवंअब्भुट्ठेमि; अकरणिज्जं वोस्सरामि, करणिज्जं अब्भुट्ठेमि, अकिरियं वोस्सरामि, किरियंअब्भुट्ठेमि, पाणादिवादं वोस्सरामि,

अभयदाणं अब्भुट्ठेमि, मोसं वोस्सरामि, सच्चं अब्भुट्ठेमि, अदत्ता-दाणं वोस्सरामि, दिण्णंकप्पणिज्जं अब्भुट्ठेमि; अबंभं वोस्सरामि, बंभचरियं अब्भुट्ठेमि, परिग्गहं वोस्सरामि, अपरिग्गहं अब्भुट्ठेमि; राईभोयणं वोस्सरामि, दिवाभोयणमेगभत्तं पच्चुप्पण्णं फासुगं अब्भुट्ठेमि; अट्टरुद्दज्झाणं वोस्सरामि, धम्मसुक्कज्झाणं अब्भुट्ठेमि; किण्हणीलकाउलेस्सं वोस्सरामि, तेउपम्मसुक्कलेस्सं अब्भुट्ठेमि, आरंभं वोस्सरामि, अणारंभं अब्भुट्ठेमि, असंजमं वोस्सरामि. संजमं अब्भुट्ठेमि; सग्गंथं वोस्सरामि. णिग्गंथं अब्भुट्ठेमि; सचेलं वोस्सरामि, अचेलं अब्भुट्ठेमि. अलोचं वोस्सरामि, लोचं अब्भुट्ठेमि. ण्हाणं वोस्सरामि, अण्हाणं अब्भुट्ठेमि; अखिदिसयणं वोस्सरामि, खिदिसयणं अब्भुट्ठेमि, दंतवणं वोस्सरामि, अदंतवणं अब्भुट्ठेमि, अट्ठिदिभोयणं वोस्सरामि, ठिदिभोयणमेगभत्तं अब्भुट्ठेमि, अपाणि-पत्तं वोस्सरामि. पाणिपत्तं अब्भुट्ठेमि, कोहं वोस्सरामि, खंतिं अब्भु-ट्ठेमि, माणं वोस्सरामि मद्दवं अब्भुट्ठेमि, मायं वोस्सरामि अज्जवं अब्भुट्ठेमि, लोहं वोस्सरामि. संतोसं अब्भुट्ठेमि. अतवं वोस्सरामि, दुवादसविह तवोकम्मं अब्भुट्ठेमि. मिच्छत्तं परिवज्जामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, असीलं परिवज्जामि, सुसीलं उवसंपज्जामि; ससल्लं परिवज्जामि, णिसल्लं उवसंपज्जामि, अविणयं परिवज्जामि, विणयं उवसंपज्जामि, अणाचारं परिवज्जामि, आचारं उवसंपज्जामि, उम्मग्गं परिवज्जामि जिणमग्गं उवसंपज्जामि अखंतिं परिवज्जामि, खंतिं उवसंपज्जामि, अगुत्तिं परिवज्जामि, गुत्तिं उवसंपज्जामि, अमुत्तिं परिवज्जामि, सुमुत्तिं उवसंपज्जामि, असमाहिं परिवज्जामि, सुसमाहिं उवसंपज्जामि, ममत्तिं परिवज्जामि, णिममत्तिं उवसं-पज्जामि, अभावियं भावेमि, भावियं ण भावेमि, इमं णिग्गंथं पव्वयणं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, णेगाइयं, सामाइयं,

संसुद्धं, सल्लघट्टाणं सल्लथत्ताणं, सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं,पमुत्तिमग्गं. मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं, सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं, जत्थ ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुंचंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तं सद्दहामि, तं पत्तियामि. तं रोचेमि, तं फासेमि. इदो उत्तरं अण्णं णत्थि, ण भूदं, ण भवं, ण भविस्सदि, णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण वा, सुत्तेण वा. सीलेण वा, गुणेण वा, तवेण वा, णियमेण वा, वदेण वा, विहारेण वा, आलएण वा, अज्जवेण वा, लाहवेण वा, अण्णेण वा, वीरिएण वा, समणोमि, संजदोमि, उवरदोमि. उवसंतोमि, उवधि-णियडि-माण-माया-मोस-मूरण-मिच्छणाण-मिच्छादंसण, मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि। सम्मणाण-सम्मदंसण, सम्मचरित्तं च रोचेमि जं जिणवरेहिं पण्णत्तो इत्थं जो मए देवसिय-राइय-पक्खिय (चउमासिय, संवच्छरिय) इरियावहि केसलोचाइचारस्स, संथारादिचारस्स पंथादि चारस्स सव्वातिचारस्स, उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्तं च रोचेमि, विदिए महव्वदे मुसावादादोवेरमणं, उवट्ठाणमंडले, महत्थे, महागुणे, महाणुभावे,महाजसे, महापुरिसाणुचिण्हे, अरहंतसक्खियं. सिद्धसक्खियं,साहुसक्खियं, अप्पसक्खियं, परसक्खियं, देवतासक्खियं, उत्तमट्ठम्मि "इदं मे महव्वदं, सुव्वदं, दढव्वदं होदु, णित्थारयं, पारयं, तारयं, आराहियं, चावि ते मे भवतु" ॥३॥

"द्वितीयं महाव्रतं सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु" ॥३॥

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥३॥

अर्थ—हे भगवन् ! प्रथम महाव्रत से भिन्न द्वितीय मृषात्याग महाव्रत में स्थूल और सूक्ष्म सब मृषावाद का जीवन पर्यन्त तीन प्रकार अर्थात् मन, वचन और काय से त्याग करता हू । इस मृषावाद विरति लक्षणवाले द्वितीय महाव्रत मे क्षतिकारक (हानि करने वाले) क्रोध से, मानसे, माया से, लोभ से, राग से, द्वेष से, मोहसे, हास्यसे, भयसे, प्रद्वेषसे, प्रमादसे, प्रेम से, पिपासा से, लज्जा से, गारव से, अनादर से, और उक्त कारणोंके अतिरिक्त अन्य किसी कारण उत्पन्न दोष से, न स्वय असत्य बोले, न अन्य से असत्य बुलावे,और न असत्य बोलने वाले अन्य की अनुमोदना ही करे । हे भगवन्! इस द्वितीय महाव्रत सम्बन्धी अतिचार का प्रतिक्रमण (निराकरण,विशुद्धि) करता हूं । स्व साक्षी पूर्वक अपनी निंदा करता हूँ,पर गुरु आदि की साक्षी पूर्वक अपनी गर्हा करता हूँ और हे भगवन् ! पूर्वकाल मे उपार्जित अतिचार का भी त्याग करता हूँ जो भी मैंने राग,द्वेष और मोह के वश होकर स्वयं असत्य भाषण किया है, अन्य से असत्य भाषण कराया है, और असत्य भाषण करते हुये को अनुमोदना की है उस सबका परित्याग करता हू । जो निर्ग्रन्थ रूप है, वह परम-पावन है, ज्ञान, वैराग्य से युक्त है, महापुरुषो द्वारा कथित है, आगम मे कहा गया है, अनुत्तर (सब से श्रेष्ठ) है, केवली से सम्बन्धित है, केवली-प्रणीत अहिंसा लक्षण वाला है, सत्य से अधिष्ठित है, विनय का मूल है, क्षमा से उपन्वित (युक्त) है, अठारह हजार शीलो से परिमंडित (भूषित) है, चौरासी लाख उत्तर गुणों से अलंकृत है, नव प्रकार के ब्रह्मचर्य से सुरक्षित है, नियति अर्थात् विषयों की व्यावृत्ति मे लचित है, बाह्याभ्यतर परिग्रह के त्याग का फल है, क्रोधादि का अभाव जिसका प्रधान कारण है, परम क्षमा के मार्ग अर्थात् इष्ट, और अनिष्ट मे समभाव का उपदेशक है, मुक्ति अर्थात् एकदेश कर्मनिर्जरा के मार्ग का प्रकाशक है, सिद्धि अर्थात् परिपूर्ण कर्म निर्जरा या अनत चतुष्टय की प्राप्ति का उपाय है, यथाख्यात चारित्र का पर्यवसान अंत हैं, ऐसे इस निर्ग्रन्थ सत्य धर्म का क्रोध, मान, माया, लोभ, अज्ञान, अदर्शन, अवीर्य, असंयम, धर्म के विषय मे अश्रद्धान, अप्रतिग्रहण, अविचार, अबोध, राग, द्वेष, मोह, हास्य, भय, प्रद्वेष, प्रमाद, प्रेम, विषयो-की अतिगृद्धि, लज्जा, गारव, आलस्य, अविवेक, कर्मभार , कर्मप्रदेशो का बाहुल्य, कर्मशक्ति का बाहुल्य, कर्मों की दुश्चरित्रता, कर्मों की अत्यन्त तीव्रता, तीनों गारवों की

उत्कटता, अल्पश्रुतता पारमार्थिक ज्ञान का अभाव, इन सब उक्त कारणों ने पूर्व दुश्चरित्र की गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हा करता हूँ, और प्रतिक्रमण द्वारा निराकरण करता हूं प्रत्युत्पन्न दुश्चरित्र का भी प्रतिक्रमण द्वारा निराकरण करता हूँ तथा आगामी अत्यक्त दुश्चरित्र का प्रत्याख्यान द्वारा निराकरण करता हूँ। अनालोचित की आलोचना करता हूँ। अनिन्दित की निंदा करता हूँ, अगर्हित की गर्हा करता हूँ, जिसका प्रतिक्रमण मैंने अब तक नही किया है, उसका प्रतिक्रमण करता हू, रत्नत्रय के विषय मे मन वचन कायकृत सावद्यविरति रूप विराधना को त्यागता हूं और रत्नत्रय के विषय मे निरवद्य मन, वचन, काय की वृत्ति रूप आराधन का अनुष्ठान करता हूँ। अज्ञान का त्याग करता हूँ और सम्यग्ज्ञान का अनुष्ठान करता हूँ। कुदर्शन को त्यागता हूँ और सम्यग्दर्शन को धारण करता हूं। मिथ्याचारित्र का व्युत्सर्जन करता हूँ (त्यागकरता हूँ और सम्यक्चारित्र का अनुपालन करता हू। कुतप का त्याग करता हूं और सुतप का अनुष्ठान करता हूं। अकरणीय का त्याग करता हूँ और करणीय का अनुष्ठान करता हूँ। अकरण जो करने योग्य नही है उस का त्याग करता हू और करण [सानुष्ठान] का अनुष्ठान करता हूँ। प्राणव्यपरोपण [घात] का त्याग करता हूं और अभयदान का अनुष्ठान करता हूं। मृषा [असत्य] का त्याग करता हूं और और सत्य का अनुष्ठान करता हूं। अदत्त के आदान [ग्रहण] का त्याग करता हूँ और योग्य दत्त का अनुष्ठान करता हूँ। अब्रह्म का त्याग करता हूँ और ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करता हू। परिग्रह का त्याग करता हू और अपरिग्रह का अनुष्ठान करता हूँ। रात्रि—भोजन का त्याग करता हूं और यथा काल प्राप्त, प्रासुक, दिवा भोजन, एक भुक्त का अनुष्ठान करता हूं। चार प्रकार के आर्त्तध्यान तथा चार प्रकार के रौद्रध्यानों का त्याग करता हूँ और उनके स्थान पर चार प्रकार के धर्मध्यानो का और चार प्रकार के शुक्ल ध्यानों का अनुष्ठान करता हूं। चारों प्रकार के आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान और धर्मध्यान का विवरण पीछे लिखा जा चुका है किन्तु शुक्लध्यान के ४ भेदों का विवरण नही लिखा गया था सो निम्न प्रकार से जान लेवें शुक्लध्यान के ४ भेद हैं:—१ पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रति पाति व व्युपरत क्रियानिवर्त्ति १. पृथक्त्व वितर्क-जिसमे वितर्क और विचार दोनो हों उसे पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान, कहते है, यह मन वचन और

काय इन तीन योगों के धारण करने वाले जीवों के होता है यह गुणस्थान ८ से ११ तक होता है (२) एकत्ववितर्क—जो केवल वितर्क सहित हो, यह तीन योगों में से किसी एक योग के धारक के होता है तथा यह १२ वें गुणस्थान वाले मुनि के ही होता है । (३) सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति—यह सूक्ष्मकाय योग के आलम्बन से होता है यह १३ वें गुण-स्थान के अंतिम भाग में होता है । (४) व्युपरक्रियानिवर्त्ति—इसमें आत्म प्रदेशों मे परिस्पन्द पैदा करने वाली श्वासोच्छ्वास आदि समस्त क्रियाएं निवृत्त हो जाती है, रुक जाती है यह चौथा शुक्लध्यान योग रहित चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगी जीवों के ही होता है । कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं का त्याग करता हूँ और पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्या का अनुष्ठान करता हूं, आरम्भ का त्याग करता हूँ और अनारंभ का अनुष्ठान करता हूं । असंयम का त्याग करता हूं और संयम का अनुष्ठान करता हूं । सग्रन्थ का त्याग करता हूं और निर्ग्रन्थ का अनु-ष्ठान करता हूं । चेल (वस्त्र) का त्याग करता हू और अचेलका अनुष्ठान करता हूं । अलोच का त्याग करता हूँ और लोच का अनुष्ठान करता हूं । स्नान का त्याग करता हू और अस्नान का अनुष्ठान करता हू । अक्षिति-शयन (पलगादि पर शयन करना) का त्याग करता हू । और क्षितिशयन भूमि आदि के शयन का अनुष्ठान करता हूं । दन्तवन का त्याग करता हूं अदन्तवन का अनुष्ठान करता हू । अस्थिति भोजन का त्याग करता हूं और एक बार स्थिति भोजन का अनुष्ठान करता हू । पात्र मे भोजन करने का त्याग करता हूँ और करपात्र में भोजन करने का अनुष्ठान करता हू । क्रोध का त्याग करता हूं और क्षमा धारण करता हूं । मान का त्याग करता हू और मार्दव धर्म को धारण करता हूं । माया का त्याग करता हूं और आर्जव धर्म को धारण करता हूँ । लोभ का त्याग करता हूं और शौच सन्तोष को धारण करता हूँ । कुतप का त्याग करता हूं और सुतप का अनुष्ठान करता हूं । मिथ्यात्व का त्याग करता हूँ और सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ । कुशील का त्याग करता हूँ और सुशील का पालन करता हूं । शल्यों का परिवर्जन करता हू और निःशल्य को अपनाता हूँ । अविनय का परिवर्जन करता हूँ और विनय का पालन करता हू । अनाचार का परिवर्जन करता हू और आचार का पालन करता हूँ । उन्मार्ग का

परिवर्जन करता हूं और सन्मार्ग को स्वीकार करता हूं। अशान्ति का परिवर्जन करता हूं और शांति को धारण करता हू। अगुप्ति का परिवर्जन करता हूं और गुप्ति का स्वागत करता हूं। अमुक्ति का परिवर्जन करता हूं और मुक्ति का स्वागत करता हूं। असमाधि का त्याग करता हूं और सुसमाधि को धारण करता हूं। ममत्व का त्याग करता हूं और निर्ममत्व को धारण करता हूं। अभावित—जिसकी भावना नही की ऐसे सम्यग्दर्शनादि की भावना करता हूं और जिन मिथ्यादर्शनादि की भावना भाता रहा हूं उन मिथ्यात्वादि की भावना का त्याग करता हूं यह आगे कहे जाने वाले विशेषण से विशिष्ट निर्ग्रन्थ लिग प्रवजन अर्थात् दीक्षाग्रहण रूप है अथवा आगमन में मोक्ष का मार्गत्व रूप से प्रतिपादित है अर्थात् आगम में यह कहा गया है कि यह निर्ग्रन्थ लिग मोक्ष--प्राप्ति का उपाय है। इस निर्ग्रन्थ लिग से उत्कृष्ट अन्य कोई लिग नहीं है अतः 'अनुत्तर' है, केवली द्वारा प्रणीत है या केवली से संबंध रखता है, परिपूर्ण है, क्योंकि अयोग केवली में यह निःशेष कर्मो के क्षय का हेतु होने से सम्पूर्ण है। परिपूर्ण रत्नत्रय निकाय मे उत्पन्न हुआ है इस लिये नैकायिक है। परम उदासीनता या सर्वसावद्य व्यावृत्ति रूप है, निरतिचार है, अथवा आलोचनादि प्रायश्चित्तों से विशुद्ध अतः सशुद्ध है। शल्यत्रय से पीडित जीवो के उन शल्यों का नाशक है, पूर्वोक्त सिद्धि का मार्ग है। पूर्वोक्त श्रेणियों का मार्ग है। उत्तम क्षमा का कारण है, मुक्ति अर्थात् सर्व संग के परित्याग का कारण है, अर्हन्तावस्था रूप मोक्ष और सिद्धावस्था रूप प्रमोक्ष का कारण है, ससार से निकलने का मार्ग है, निर्वाण अर्थात् परमसुख का मार्ग है, सव दुःखों को हानि का मार्ग है। सुचरित के धारक पुरुषों के परिनिर्वाण का मार्ग है। इस निर्ग्रन्थ लिंग में स्थित, मुक्ति के चाहने वाले जीव, स्वात्मोपलंभ और लब्धि आदि ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं। जीवादि तत्वों का स्वरूप यथावत् जानते हैं, सर्व कर्मो से विमुक्त होते हैं, सुखी अथवा कृतकृत्य होते हैं, सव दुःखों का अन्त करते हैं, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त उस निग्रन्थ लिग का मैं श्रद्धान करता हूं जानता हूं, रुचि करता हूं और उसका अनुष्ठान करता हूं, इस उक्त प्रकार निर्ग्रन्थ लिंग से उत्कृष्ट मोक्ष का साधक अन्य लिग वर्तमान काल में नहीं है, भूतकाल में भी इस से उत्कृष्ट कोई लिग नहीं हुआ, समीपवर्ती वर्तमान काल में भी नही है

और आगे अनंत काल में भी नहीं होगा, तात्पर्य यह है कि किसी काल में किसी गुणविशेष को लेकर अन्य लिंग,उस निर्ग्रन्थ लिंगसे उत्कृष्ट लिंग नहीं है, उसी गुण विशेष को दिखाते हुये कहते हैं:—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सूत्र आगम, अठारह हजार शील, चौरासी लाख उत्तर गुण, तप, नियम, व्रत, विहार, आलय, आर्जव लाघव ये सब गुण इसी निर्ग्रथ लिग में समाविष्ट होते है। इस प्रकार निर्ग्रंथ लिग में स्थित हुआ मैं श्रमण तपस्वी होता हुं प्राणी सयम और इंद्रिय सयम में तत्पर संयत होता हुं विषयों से विरक्त होता हूं, सब तरह के विषयो में, रागद्वेष से रहित उपशांत होता हूं उपधि, निकृति, माया, और मृषा को नष्ट करता हुआ, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, और मिथ्याचारित्र से विरत होता हूं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में रुचि करता हूं, इससे महान् मोक्ष लक्षण अर्थ (प्रयोजन) प्राप्त होता है, इससे महान्, अनत ज्ञानादि गुण होते हैं, इससे महान् दुर्गतिगमन का अभाव होता है तथा संसार का विच्छेद होता है इस लिंग के धारी भव्य प्राणी का तीन लोकों में बड़ा अद्भुत माहात्म्य होता है, यह लिग, तीर्थकरादि महान् पुरुषो के द्वारा अनुष्ठित है। इस प्रकार जो कि तीर्थंकर देवों के द्वारा प्रतिपादित है, वह द्वितीय सत्य महाव्रतारोपण मेरे अर्हन्त की साक्षी से, सिद्धों की साक्षी से सिद्धों की साक्षी से, साधुओं की साक्षी से आत्म साक्षी से, परसाक्षी से और सब देवताओं की साक्षी से सुव्रत, अखंडव्रत होवे तथा यही महाव्रत, निस्तारक, पारक, तारक, और आराधक होवे। दूसरा महाव्रत सब व्रतधारी प्राणियों में सम्यक्त्व पूर्वक उत्तम व्रतरूप, दृढ, अखंड व्रतरूप समारूढ जो आपमें है। वही मुझे भी प्राप्त हो, इस प्रकार के द्वितीय महाव्रत के आरोपण करने पर सब अतिचारों की विशुद्धि के लिये, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, (चातुर्मासिक और सांवत्सरिक) इस प्रकार काल के नियम से जो कोई अतिचार हुआ है उस सबकी विशुद्धयर्थ तथा ईर्यापथ, केशलोच, मार्गइत्यादि द्रव्यों के सम्बन्ध में नियम से जो कोई अतिचार हुआ है उस सबकी विशुद्धयर्थ प्रतिक्रमण करता हूं।

—:*:—

तृतीय सत्यं महाव्रत सम्बन्धी प्रतिक्रमण

गद्य—आधावरे तदिये महव्वदे सव्वं भंते ! अदत्तादाणं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा. वचिया. काएण. से देसे वा, गामे वा. णगरे वा. खेडे वा. कव्वडे वा. मंडवे वा. पट्टणे वा. दोणमुहे वा. घोसे वा. आसणे वा. सहाए वा.संवाहे वा. सण्णिवेसे वा. तिणं वा. कट्ठं वा. वियडिं वा. मणिं वा. खेत्ते वा. खले वा. जले वा. थले वा. पहे वा. उप्पहे वा. रण्णे वा. अरण्णे वा. णट्ठ वा. वा. पमुट्ठं वा. पडिदं वा. अपडिदं वा सुणिहिदं वा. दुण्णिहिदं वा. अप्पं वा. वहुं वा, अणुयं वा, थूलं वा, सचित्तं वा, अचित्त वा, मज्झत्थं वा, वहित्थं वा, अवि दंतंतरसोहणणिमित्तं णेव सयं अदत्तं गेण्हिज्जा, णो अण्णेहिं अदत्तं गेण्हाविज्ज, अण्णेहिं अदत्तं गेण्हिज्जंतं पि ण समणुमणिज्ज, तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, वोस्सरामि पुव्विचणं भंते ! जं पि मए रागस्स वा, दोसस्स वा, मोहस्स वा, वसंगदेण सयं अदत्तं गेण्हिदं अण्णेहि अदत्तं गेण्हाविदं अण्णेहिं अदत्तं गेण्णिज्जंतं पि सम्मणुमण्णिदो.तं पि इमस्स णिग्गंथस्स, पवयणस्स, अणुत्तरस्स, केवलियस्स, केवलिपण्णत्तस्स, धम्मस्स, अहिंसालक्खणस्स, सच्चाहिट्ठियस्स, विणयमूलस्स, खमाबलस्स, अट्ठारस सीलसहस्सपरिमंडियस्स, चउरासीदिगुणसयसहस्स—विहूसियस्स, णवबंभचेरगुत्तस्स, णियदिलक्खणस्स, परिचाग—फलस्स, उवसमपहाणस्स, खंतिमग्ग देसियस्स, मुत्तिमग्ग-पयासयस्स, सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स से कोहेण वा; माणेण वा. माएण वा. लोहेण वा. अण्णाणेण वा. अदंसणेण वा. अविरिएण वा. असंयमेण वा. असमणेण वा. अणहिगमणेण वा.

अभिमंसिदाएण वा. अवोहिदाएण वा. रागेण वा. दोसेण वा.मोहेण वा. हस्सेण वा. भएण वा. पदोसेण वा. पमादेण वा. पेम्मेण वा. पिवासेण वा. लज्जेण वा. गारवेण वा. अणादरेणवा.केणवि कारणेण जादेण वा. आलसदाए. कम्मभारिगदाए. कम्मगुरुगदाए. कम्मदुच्चरियदाए. कम्मपुरुक्कडदाए, तिगारवगुरुगदाए, अवहुसुददाए. अविदिदपरमट्ठदाए. तं सव्वं पुव्वं दुच्चरियं गरिहामि आगमेसिच्च. अपच्चक्खियं पच्चक्खामि. अणालोचियं आलोचेमि, अणिंदियं णिंदामि, अगरहियं गरहामि, अपडिक्कंतं पडिक्कमामि, विराहणं वोस्सरामि, आराहणं अब्भुट्ठेमि, अणाणं वोस्सरामि, सणाणं अब्भुट्ठेमि कुदंसणं वोस्सरामि, सम्मदंसणं अब्भुट्ठेमि,कुचरियंवोस्सरामि, सुचरियं अब्भुट्ठेमि; कुतवंवोस्सरामि सुतवंअब्भुट्ठेमि, अकरणिज्जं वोस्सरामि, करणिज्जं अब्भुट्ठेमि, अकिरियं वोस्सरामि, किरियंअब्भुट्ठेमि, पाणादिवादं वोस्सरामि, अभयदाणं अब्भुट्ठेमि. मोसं वोस्सरामि, सच्चं अब्भुट्ठेमि, अदत्तादाणं वोस्सरामि, दिण्णंकप्पणिज्जं अब्भुट्ठेमि; अवंभं वोस्सरामि, वंभचरियं अब्भुट्ठेमि. परिग्गहं वोस्सरामि, अपरिग्गहं अब्भुट्ठेमि; राईभोयणं वोस्सरामि, दिवाभोयणमेगभत्तं पच्चुप्पणं फासुगं अब्भुट्ठेमि; अट्टरुद्दज्झाणं वोस्सरामि, धम्मसुक्कज्झाणं अब्भुट्ठेमि; किण्हणीलकाउलेस्सं वोस्सरामि, तेउपम्मसुक्कलेस्सं अब्भुट्ठेमि, आरंभं वोस्सरामि, अणारंभं अब्भुट्ठेमि, असंजमं वोस्सरामि. संजमं अब्भुट्ठेमि; सग्गंथं वोस्सरामि. णिग्गंथं अब्भुट्ठेमि; सचेलं वोस्सरामि, अचेलं अब्भुट्ठेमि. अलोचं वोस्सरामि, लोचं अब्भुट्ठेमि. ण्हाणं वोस्सरामि, अण्हाणं अब्भुट्ठेमि; अखिदिसयणं वोस्सरामि, खिदिसयणं अब्भुट्ठेमि, दंतवणं वोस्सरामि, अदंतवणं अब्भुट्ठेमि, अट्ठिदिभोयणं वोस्सरामि, ठिदिभोयणमेगभत्तं अब्भुट्ठेमि, अपाणि-

पत्तं वोस्सरामि. पाणिपत्तं अब्भुट्ठेमि, कोहं वोस्सरामि, खंतिं अब्भुट्ठेमि. माणं वोस्सरामि मद्दवं अब्भुट्ठेमि, मायं वोस्सरामि. अज्जवं अब्भुट्ठेमि, लोहं वोस्सरामि, संतोसं अब्भुट्ठेमि. अतवं वोस्सरामि, दुवादस विह तवोकम्मं अब्भुट्ठेमि, मिच्छत्तं परिवज्जामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, असीलं परिवज्जामि, सुसीलं उवसंपज्जामि, ससल्लं परिवज्जामि, णिसल्लं उवसंपज्जामि, अविणयं परिवज्जामि, विणयं उवसंपज्जामि. अणाचारं परिवज्जामि. आचारं उवसंपज्जामि, उम्मग्ग परिवज्जामि जिणमग्गं उवसंपज्जामि अखंतिं परिवज्जामि, खंतिं उवसंपज्जामि, अगुत्तिं परिवज्जामि, गुत्तिं उवसंपज्जामि, अमुत्तिं परिवज्जामि, सुमुत्तिं उवसंपज्जामि, असमाहिं परिवज्जामि, सुसमाहिं उवसंपज्जामि, ममत्तिं परिवज्जामि, णिममत्तिं उवसंपज्जामि. अभावियं भावेमि, भावियं ण भावेमि. इमं णिग्गंथं पव्वयणं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं. णेगाइयं, सामाइयं, संसुद्धं; सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताणं. सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं, पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं. पमोक्खमग्गं. णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं, सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं, जत्थ ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुंचंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तं सद्दहामि, तं पत्तियामि. तं रोचेमि, तं फासेमि, इदो उत्तरं अण्णं णत्थि ण भूदं, ण भवं, ण भविस्सदि, णाणेण वा, दंसणेण वा. चरित्तेण वा, सुत्तेण वा, सीलेण वा, गुणेण वा. तवेण वा, णियमेण वा, वदेण वा, विहारेण वा, आलएण वा, अज्जवेण वा. लाहवेण वा, अण्णेण वा, वीरिएण वा समणोमि, संजदोमि, उवरदोमि, उवसंतोमि, उवधि-णियडि-माण-माया-मोस-मूरण-मिच्छाणाण-मिच्छादंसण, मिच्छाचरित्तं च सम्मणाण—सम्मदंसण—सम्मचरित्तं च रोचेमि, जं जिणवरेहिं

पण्णत्तो, इत्थ जो मए देवसिय (राइय–पक्खिय–चउमासिय संव-च्छरिय इरियावहि केशलोचारइचास्स संथारादिचारस्स पंथादि-चारस्स सव्वादिचारस्स, उत्तमट्ठस्स सम्मंचरित्तं च रोचेमि, विदिए महव्वदे मुसावादादोवेरमणं, उवट्ठाणमंडले, महत्थे, महागुणे, महाणुभावे, महाजसे, महापुरिसाणुचिण्हे, अरहंतसक्खियं. सिद्ध-सक्खियं, साहुसक्खियं, अप्पसक्खियं, परसक्खियं. देवतासक्खियं, उत्तमट्ठम्मि "इदं मे महव्वदं, सुव्वदं, दढव्वदं होदु, णित्थारयं, पारयं, तारयं. आराहियं. चावि ते मे भवतु" ॥३॥

"तृतीयं महाव्रतं सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु" ॥३॥

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥३॥

अर्थ— हे भगवन् ! द्वितीय सत्य महाव्रत के अनतरं उनसे अपर तृतीय अचौर्य महाव्रत में स्थूल और सूक्ष्म अदत्तादान का जीवन पर्यन्त त्रिविध मन, वचन और काय से प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूं । अदत्तादान से विरति स्वरूप उस तृतीय महाव्रत की क्षति की कारिता से सन्निहित ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मडंब, मंडल, पट्टन, द्रोणमुख, घोष, आसन, सभा, सवाह, और सन्निवेश इन जनपद समूह के आश्रय भूत प्रदेशों में तथा खेत खलियान, जल, मार्ग, उन्मार्ग और अरराय इन स्थानों में नष्ट, प्रमुष्ट पतित, अपतित, सुनिहित, दुर्निहित, अल्प, बहु, सूक्ष्म, स्थूल, सचित्त, अचित्त घर में स्थित, घर से बाहर स्थित. दन्तान्तर शोधन मात्र भी. तृण. कांष्ट विकृति. मणि, अल्पमूल्य और बहुमुल्यवान अदत्त वस्तु न तो स्वयं ग्रहण करे. न अन्य से ग्रहण करावे और न अदत्त को ग्रहण करते हुये अन्य की अनुमोदना ही करे, हे भगवन् ! मैं इस तृतीय महाव्रत के अतिचार को त्यागता हूँ, अपनी निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ, और पूर्वकाल में उपार्जित अतिचार का व्युत्सर्जन करता हूँ । हे भगवन् ! जो भी मैंने, राग के

द्वेष के और मोह के वशीभूत होकर अदत्त [बिना दी हुई] वस्तु ग्रहण की है, अन्य से अदत्त वस्तु ग्रहण कराई है और अदत्त वस्तु को ग्रहण करते हुये अन्य की अनुमोदना की है, उसका भी त्याग करता हू । जो निर्ग्रन्थ है, प्रवचन मे प्रतिपादित है, अनुत्तर है केवली सम्वन्धी है, केवली प्रणीत है, अहिसा लक्षण वाला है, सत्य से अधिष्ठित है, विनय का मूल है, क्षमा वल वाला है, अठारह हजार शीलो के भेदो से भूपित है, चौरासी लाख उत्तर गुणों से विभूपित है, नव ब्रह्मचर्य के भेदो से रक्षित है, नियति अर्थात् विपयों के त्याग से लक्षित है, परित्याग का फल है, उपशम प्रधान है, शाति के मार्ग का उपदेशक है, मुक्ति के मार्ग का प्रकाशक है, सिद्धि मार्ग की प्राप्ति का साधन है, ऐसे निग्रन्थ धर्म का तथा पूर्वपद में द्वितीय के स्थान पर तृतीय महाव्रत समझ लेना चाहिये ।

विशेषः—कोहेण वा, माणेण वा, इत्यादि से लेकर अंत तक का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये ।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत का प्रतिक्रमण

गद्य—आधावरे चउत्थे महव्वदे सव्वं भंते ! अवंभं पच्चक्खामि, जावज्जीवं तिविहेण मणसा, वचिया, काएण. से देविएसु वा. मणुसिएसु वा. तिरिच्छएसु वा. अचेयणिएसु वा. कट्ठकम्मेसु वा. चित्तकम्मेसु वा. पोतकम्मेसु वा. लेपकम्मेसु वा. लयकम्मेसु वा. सिलाकम्मेसु वा. गिहकम्मेसु वा. भित्तिकम्मेसु वा. भेदकम्मेसु वा. भंडकम्मेसु वा. धादुकम्मेसु वा .दंतकम्मेसु वा. हत्थसंघट्टणदाए. पादसंघट्टणदाए. पुग्गलसंघट्टणदाए. मणुणामणुणेसु सद्देसु. मणुणामणुणेसु रूवेसु. मणुणामणुणेसु गंधेसु. मणुणामणुणेसु रसेसु मणुणामणुणेसु फासेसु. सोदिंदियपरिणामे. चक्खिंदिय-परिणामे. घाणिंदियपरिणामे. जिब्भिदिएपरिणामे. फांसिंदिय-परिणामे. णोइन्दियपरिणामे. अगुत्तेण. अगुत्तिन्दिएण. णेव सयं अवंभं सेविज्ज, णो अण्णेहिं अवंभं सेवाविज्ज, णो अण्णेहिं

अबंभं से विज्जंतं पि समणुमणिज्ज तस्सभंते ! अइचारं पडिक-
मामि. णिंदामि गरहामि अप्पाणं. वोस्सरामि पुव्विचरणं भंते !
जंपिमए रागस्स वा. दोसस्स वा. वसंगदेण सयं अबंभं सेवियं.
अण्णेहिं अबंभं सेवावियं अण्णेहिं अबंभं सेविज्जतं पि समणुम-
ण्णिदं तं पि इमस्स णिग्गंथस्स, पवयणस्स. अणुत्तरस्स, केवलि-
पण्णत्तस्स. धम्मस्स. अहिंसालक्खणस्स. सच्चाहिट्ठियस्स. विणय-
मूलस्स. खमाबलस्स. अट्ठारस सीलसहस्सपरिमंडियस्स. चउरासी-
दिगुणसयसहस्स विहू सियस्स. णवमु बंभचेरगुत्तस्स. णियदिल-
क्खणस्स. परिचागफलस्स. उवसमपहाणस्स खतिमग्गदेसयस्स.
मुत्तिमग्गपयासयस्स. सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स से कोहेण वा;
माणेण वा. माएण वा. लोहेण वा. अण्णाणेण वा. अदंसणेण वा.
अविरिएण वा. असंयमेण वा. असमणेण वा. अणहिगमणेण वा
अभिगंसिदाएण वा. अबोहिदाएण वा. रागेण वा. दोसेण वा. मोहेण
वा. हस्सेण वा. भएण वा. पदोसेण वा. पमादेण वा. पेम्मेण वा.
पिवासेण वा. लज्जेण वा. गारवेण वा. अणादरेणवा. केणवि कार-
णेण जादेण वा. आलसदाए. कम्मभारिगदाए. कम्मगुरुगदाए.
कम्मदुचरियदाए. कम्मपुरक्कडदाए, तिगारवगुरुगदाए, अवहु-
सुददाए. अविदिदपरमट्ठदाए. तं सव्वं पुव्वं दुच्चरियं गरि-
हामि आगमेसिंच. अपच्चक्खियं पच्चक्खामि. अणालोचियं
आलोचेमि, अणिंदियं णिंदामि, अगरहियं गरहामि, अपडिक्कंतं
पडिक्कमामि, विराहणं वोस्सरामि, आराहणं अब्भुट्ठेमि, अण्णाणं
वोस्सरामि, सण्णाणं अब्भुट्ठेमि, कुदंसणं वोस्सरामि, सम्मदंसणं
अब्भुट्ठेमि, कुचरियंवोस्सरामि, सुचरियं अब्भुट्ठेमि; कुतवंवोस्सरामि
सुतवंअब्भुट्ठेमि, अकरणिज्जं वोस्सरामि, करणिज्जं अब्भुट्ठेमि,
अकिरियं वोस्सरामि, किरियंअब्भुट्ठेमि, पाणादिवादं वोस्सरामि,

अभयदाणं अब्भुट्ठेमि, मोसं वोस्सरामि, सच्चं अब्भुट्ठेमि, अदत्ता-दाणं वोस्सरामि, दिएणंकप्पणिज्जं अब्भुट्ठेमि; अबंभं वोस्सरामि, बंभचरियं अब्भुट्ठेमि, परिग्गहं वोस्सरामि, अपरिग्गहं अब्भुट्ठेमि; राईभोयणं वोस्सरामि, दिवाभोयणमेगभत्तं पच्चुप्पणं फासुगं अब्भुट्ठेमि; अट्टरुद्दज्भाणं वोस्सरामि, धम्मसुक्कज्भाणं अब्भुट्ठेमि, किण्हणीलकाउलेस्सं वोस्सरामि, तेउपम्मसुक्कलेस्सं अब्भुट्ठेमि, आरंभं वोस्सरामि, अणारंभं अब्भुट्ठेमि, असंजमं वोस्सरामि. संजमं अब्भुट्ठेमि; सग्गंथं वोस्सरामि. णिग्गंथं अब्भुट्ठेमि; सचेलं वोस्सरामि, अचेलं अब्भुट्ठेमि. अलोचं वोस्सरामि, लोचं अब्भुट्ठेमि. रहाणं वोस्सरामि, अण्हाणं अब्भुट्ठेमि; अखिदिसयणं वोस्सरामि, खिदिसयणं अब्भुट्ठेमि, दंतवणं वोस्सरामि, अदंतवणं अब्भुट्ठेमि, अट्ठिदिभोयणं वोस्सरामि. ठिदिभोयणमेगभत्तं अब्भुट्ठेमि, अपाणि-पत्तं वोस्सरामि. पाणिपत्तं अब्भुट्ठेमि, कोहं वोस्सरामि, खंतिं अब्भु-ट्ठेमि, माणं वोस्सरामि मद्दवं अब्भुट्ठेमि, मायं वोस्सरामि. अज्जवं अब्भुट्ठेमि, लोहं वोस्सरामि, संतोसं अब्भुट्ठेमि. अतवं वोस्सरामि, दुवादस विह तवोकम्मं अब्भुट्ठेमि, मिच्छत्तं परिवज्जामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, असीलं परिवज्जामि. सुसीलं उवसंपज्जामि; ससल्लं परिवज्जामि, णिसल्लं उवसंपज्जामि. अविणयं परिवज्जामि, विणयं उवसंपज्जामि, अणाचारं परिवज्जामि, आचारं उवसंपज्जामि, उम्मग्गं परिवज्जामि जिणमग्गं उवसंपज्जामि अखंतिं परिवज्जामि, खंतिं उवसंपज्जामि. अगुत्तिं परिवज्जामि, गुत्तिं उवसंपज्जामि, अमुत्तिं परिवज्जामि, सुमुत्तिं उवसंपज्जामि, असमाहिं परिवज्जामि, सुसमाहिं उवसंपज्जामि, ममत्तिं परिवज्जामि, णिममत्तिं उवसं-पज्जामि, अभावियं भावेमि, भावियं ण भावेमि, इमं णिग्गंथं पव्वयणं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, णेगाइयं, सामाइयं,

संसुद्धं, सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताणं, सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं,पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं, सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं, जत्थ ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुंचंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तं सद्दहामि, तं पत्तियामि, तं रोचेमि, तं फासेमि, इदो उत्तरं अण्णं णत्थि ण भूदं, ण भवं, ण भविस्सदि, णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण वा, सुत्तेण वा, सीलेण वा, गुणेण वा, तवेण वा, णियमेण वा, वदेण वा, विहारेण वा, आलएण वा, अज्जवेण वा, लाहवेण वा, अण्णेण वा, वीरिएण वा समणोमि, संजदोमि, उवरदोमि, उवसंतोमि, उवधि-णियडि-माण-माया-मोस-मूरण-मिच्छणाण-मिच्छादंसण, मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि, सम्मणाण—सम्मदंसण—सम्मचरित्तं च रोचेमि, जं जिणवरेहिं पण्णत्तो,इत्थ जो मए देवसिय(राइय-पक्खिय-चउमासिय-संवच्छरिय)इरियावहि केशलोचाइचारस्स संथारादिचारस्स पंथादिचारस्स सव्वादिचारस्स, उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्तं च रोचेमि, चउत्थे महव्वदे अबंभादो वेरमणं, उवट्ठावणमंडले, महत्थे, महागुणे, महाणुभावे,महाजसे, महापुरिसाणुचिण्हे, अरहंतसक्खियं. सिद्धसक्खियं,साहुसक्खियं, अप्पसक्खियं, परसक्खियं. देवतासक्खियं, उत्तमट्ठम्मि "इदं मे महव्वदं, सुव्वदं, दिढव्वदं होदु, णित्थारयं; पारयं, तारयं, आराहियं, चावि ते मे भवतु" ॥३॥

"चतुर्थं महाव्रतं सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु" ॥३॥

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥३॥

अर्थ—हे भगवन् ! तृतीय महाव्रत के अनतर चौथे महाव्रत में सब चेतन और अचेतन अब्रह्म (कुशील) का प्रत्याख्यान करता हूँ। उस चतुर्थ महाव्रत के विनाश के कारण देवी, मानुषी और तिर्यंचनी इन चेतन स्त्रियों के अंग, उपांगों से तथा काष्ठ निर्मित, वस्त्र निर्मित, लेप अर्थात् पुतलिका आदि मृत्तिका निर्मित लयन, कर्म, भित्ति पर निर्मित कैंची आदि से वस्त्र आदि को कतर कर निर्मित, गजदन्त पर उकेर कर निर्मित, देवी आदि के अचेतन रूपादिक से हाथों का सघर्षण, पैरो का सघर्षण, शरीर के अन्य अवयवों का संघर्षण, होने पर श्रोत्र इन्द्रिय के विषय मनोज्ञ और अमनोज, स्त्री आदि के रूपों में, श्रोत्र इन्द्रिय सम्बन्धा विकृत परिणाम, चक्षु इन्द्रिय के विषय मनोज्ञ-अमनोज स्त्री के रूपों मे, चक्षु इन्द्रिय सम्बन्धी विकृत परिणाम, नासिका इन्द्रिय का विषय मनोज्ञ-अनमोज स्त्रियो के गन्ध में,नासिका इंद्रिय सम्वन्धी विकृत परिणाम, रसना इंद्रिय के विषय कमनीय, अकमनीय स्त्रियों के वदन रसादिक में जिह्वा इद्रिय संबन्धी विकृत परिणाम, स्पर्शन इद्रिय के विषय मनोहर-अमनोहर स्त्रियों के स्पर्श में, स्पर्शनेंद्रिय सम्वन्धी विकृत परिणाम होने पर न स्वयं अब्रह्म सेवन करे, न अन्य से अब्रह्म सेवन करावे, और न अन्य द्वारा अब्रह्म सेवन करते हुये की अनुमोदना करे, हे भगवन् ! उस चतुर्थ महाव्रत के अतिचार का निराकरण करता हूँ निंदा करता हूं और अपनी गर्हा करता हूँ। पुरातन (भूतकालीन) अतिचार का व्युतसर्जन करता हूं, हे भगवन् ! जो भी मैंने राग, द्वेष और मोह के वशीभूत होकर स्वयं अब्रह्म सेवन किया है, अन्य से अब्रह्म सेवन कराया है, अन्य द्वारा अब्रह्म सेवन करते हुये की अनुमोदना की है उसका भी त्याग करता हूँ।

विशेष—उक्त विशेषणों से विशिष्ट धर्म का, क्रोध आदि आगे का शेष विषय पहले के ममान ही समझना चाहिये तथा तृतीय के स्थान पर चतुर्थ महाव्रत को समझना चाहिये।

पंचम परिग्रह त्याग महाव्रत का प्रतिक्रमण

गद्य—आधावरे पंचमे मंहव्वदे सव्वदे सव्वं भंते ! दुविहं परिग्गहं पच्चक्खामि तिविहेण मणसा. वचिया. काएण। सो परिग्गहो दुविहो अब्भिंतरो बाहिरो चेदि । तत्थ अब्भिन्तरं परिग्गहं—

गाथा—मिच्छत्तवेयराया तहेव हस्सादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरं गंथा ॥१॥

गद्य—तत्थ बाहिरं परिग्गहं, से हिरण्णं वा, सुवण्णं वा, धणं वा, खेत्तं वा, खलं वा, वत्थुं वा, पवत्थुं वा, कोसं वा, ठारंगा. पुरं वा, अंतउरं वा, बलं वा, वाहणं वा, सयडं वा, जाणं वा, जपाणं वा, जुग्गं वा, गद्दियं वा, रहं वा, सदणं वा, सिवियं वा. दासी-दासगोमहिसगवेडयं. मणिमोत्तियमंखसिप्पिपवालयं मणिभाजणं वा. सुवण्णभाजणं वा. रजतभाजणं वा. कंसभाजणं वा. लोह-भाजणं वा. तंबभाजणं वा. अंडजं वा. बोंडजं. रोमजं. वक्कजं वा. चम्मजं वा. अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, सचित्तं वा. अचित्तं वा, अमुत्थं वा, वहित्थं वा, अविशालग्गकोडिमित्तंपि णेव सयं असमणपाउग्गं, परिग्गहं, गिण्हिज्जणो, अण्णेहिं असमणपाउग्गं परिग्गहं गेण्हाविज्ज. णो अण्णेहिं असमण पाउगं परिग्गहं गिण्हिज्जंतं पि समणुमणिज्ज तस्स भंते ! अइचारं पडिकमामि. णिदामि गरहामि अप्पाणं. वोस्सरामि पुव्विचणं भंते ! जंपि मए रागस्स वा. दोसस्स वा. मोहस्स वा, वसंगदेण सयं असमणपाउग्गं परिग्गहं गिण्हिज्जं. अण्णेहिं असमणपाउग्गं परिग्गहं गेण्हावियं, अण्णेहिं असमणपाउग्गं परिग्गहं गेण्हिज्जतं पि समणुमण्णिदं तं पि इमस्स णिग्गंथस्स, पवयणस्स. अणुत्तरस्स, केवलियस्स केवलि-पण्णत्तस्स. धम्मस्स. अहिंसालक्खणस्स. सच्चाहिट्ठियस्स. विणय-मूलस्स. खमाबलस्स. अट्ठारस सीलसहस्सपरिमंडियस्स. चउरासी-गुणसयसहस्स विहूसियस्स. णवसु बंभचेरगुत्तस्स. णियदिलक्खणस्स. परिचागफलस्स. उवसमपहाणस्स खंतिमग्गदेसयस्स. मुत्तिमग्गपयासयस्स. सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स से कोहेण वा;

माणेण वा. माएण वा. लोहेण वा. अण्णाणेण वा. अदंसणेण वा. अविरिएण वा. असंयमेण वा. असमणेण वा. अणहिगमणेण वा अभिमंसिदाएण वा. अवोहिदाएण वा. रागेण वा. दोसेण वा. मोहेण वा. हस्सेण वा. भएण वा. पदोसेण वा. पमादेण वा. पेम्मेण वा. पिवासेण वा. लज्जेण वा. गारवेण वा. अणादरेणवा. केणवि कारणेण जादेण वा. आलसदाए. कम्मभारिगदाए. कम्मगुरुगदाए. कम्मदुच्चरियदाए. कम्मपुरुक्कडदाए, तिगारवगुरुगदाए, अवहुसुददाए. अविदिदपरमट्ठदाए. तं सव्वं पुव्वं दुच्चरियं गरिहामि आगमेसिच. अपच्चक्खियं पच्चक्खामि. अणालोचिय आलोचेमि. अणिंदियं णिंदामि, अगरहियं गरहामि, अपडिक्कंतं पडिक्कमामि, विराहणं वोस्सरामि, आराहणं अब्भुट्ठेमि, अणाणं वोस्सरामि, सणाणं अब्भुट्ठेमि. कुदंसणं वोस्सरामि. सम्मदंसण अब्भुट्ठेमि, कुचरियंवोस्सरामि. सुचरियं अब्भुट्ठेमि; कुतवंवोस्सरामि सुतवंअब्भुट्ठेमि, अकरणिज्जं वोस्सरामि, करणिज्जं अब्भुट्ठेमि, अकिरियं वोस्सरामि. किरियंअब्भुट्ठेमि, पाणादिवादं वोस्सरामि, अभयदाणं अब्भुट्ठेमि, मोसं वोस्सरामि, सच्चं अब्भुट्ठेमि, अदत्तादाणं वोस्सरामि, दिण्णंकप्पणिज्जं अब्भुट्ठेमि; अवंभं वोस्सरामि, वंभचरियं अब्भुट्ठेमि. परिग्गहं वोस्सरामि, अपरिग्गहं अब्भुट्ठेमि; राईभोयणं वोस्सरामि, दिवाभोयणमेगभत्तं पच्चुप्पण्णं फासुगं अब्भुट्ठेमि; अट्टरुद्दज्झाणं वोस्सरामि, धम्मसुक्कज्झाणं अब्भुट्ठेमि; किण्हणीलकाउलेस्सं वोस्सरामि, तेउपम्मसुक्कलेस्सं अब्भुट्ठेमि, आरंभं वोस्सरामि, अणारंभं अब्भुट्ठेमि, असंजमं वोस्सरामि. संजमं अब्भुट्ठेमि; सग्गंथं वोस्सरामि. णिग्गंथं अब्भुट्ठेमि; सचेलं वोस्सरामि. अचेलं अब्भुट्ठेमि. अलोचं वोस्सरामि, लोचं अब्भुट्ठेमि. ण्हाणं वोस्सरामि, अण्हाणं अब्भुट्ठेमि; अखिदिसयणं वोस्सरामि,

खिदिसयणं अब्भुट्ठेमि, दंतवणं वोस्सरामि, अदंतवणं अब्भुट्ठेमि, अट्ठिदिभोयणं वोस्सरामि, ठिदिभोयणमेगभत्तं अब्भुट्ठेमि, अपाणिपत्तं वोस्सरामि. पाणिपत्तं अब्भुट्ठेमि, कोहं वोस्सरामि, खंतिं अब्भुट्ठेमि, माणं वोस्सरामि मद्दवं अब्भुट्ठेमि, मायं वोस्सरामि, अज्जवं अब्भुट्ठेमि, लोहं वोस्सरामि, संतोसं अब्भुट्ठेमि, अतवं वोस्सरामि, दुवादस विह तवोकम्मं अब्भुट्ठेमि, मिच्छत्तं परिवज्जामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, असीलं परिवज्जामि. सुसीलं उवसंपज्जामि, ससल्लं परिवज्जामि, णिसल्लं उवसंपज्जामि, अविणयं परिवज्जामि, विणयं उवसंपज्जामि. अणाचारं परिवज्जामि, आचारं उवसंपज्जामि, उम्मग्गं परिवज्जामि जिणमग्गं उवसंपज्जामि अखंतिं परिवज्जामि, खंतिं उवसंपज्जामि, अगुत्तिं परिवज्जामि, गुत्तिं उवसंपज्जामि, अमुत्तिं परिवज्जामि, सुमुत्तिं उवसंपज्जामि, असमाहिं परिवज्जामि, सुसमाहिं उवसंपज्जामि, ममत्तिं परिवज्जामि, णिममत्तिं उवसंपज्जामि, अभावियं भावेमि, भावियं ण भावेमि, इमं णिग्गंथं पव्वयणं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, णेगाइयं, सामाइयं, संसुद्धं, सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताणं, सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं, पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं, सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं, जत्थ ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुंचंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तं सद्दहामि, तं पत्तियामि, तं रोचेमि, तं फासेमि, इदो उत्तरं अण्णं णत्थि ण भूदं, ण भवं, ण भविस्सदि, णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण वा, सुत्तेण वा, सीलेण वा, गुणेण वा, तवेण वा, णियमेण वा, वदेण वा, विहारेण वा, आलएण वा, अज्जवेण वा, लाहवेण वा, अण्णेण वा, वीरिएण वा समणोमि, संजदोमि, उवरदोमि, उवसंतोमि, उवधि-णियडि-

माण-माया-मोस-मूरण-मिच्छाणाण-मिच्छादंसण, मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि । सम्मणाण-सम्मदंसण. सम्मचरित्तं च रोचेमि. जं जिणवरेहिं पण्णत्ते इत्थ जो मए देवसिय-राइय-पक्खिय(चउमासिय, संवच्छरिय) इरियावहि केसलोचाइचारस्स-संथाराइचारस्स. पंथाइचारस्स, सव्वाइचारस्स, उत्तमट्ठस्स सम्मंचरित्तं रोचेमि। पञ्चमे महव्वदे परिग्गहादो वेरमणं. उवट्ठावणमंडले महत्थे. महागुणे, महाणुभावे. महापुरिसाणुचिण्हे, अरहंतसक्खियं, सिद्धसक्खियं, साहुसक्खियं. अप्पसक्खियं. परसक्खियं देवतासक्खियं.उत्तमट्ठम्हि "इदं मे महव्वदं. सुव्वदं. दिढव्वदं होदु, णित्थारयं,पारयं, तारयं, आराहियं, चावि ते मे भवतु" ॥३॥

"पंचमं महाव्रतं सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं समारूढं ते मे भवतु" ॥३॥

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥३॥

अर्थ—चतुर्थ महाव्रत के अनतर अन्य पंचम महाव्रत में हे भगवन् ! सब द्विविध परिग्रह का त्रिविधमन, वचन और काय से प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ। वह परिग्रह दो प्रकार का है आभ्यन्तर और वाह्य, उनमे १. आभ्यतर परिग्रह मिथ्यात्व, तीन वेद (पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसंकवेद) ६ हास्यादिक दोष (१) हास्य [२] रति [३] अरति [४] भय [५] शोक [६] जुगुप्सा और ४ कषाय [क्रोध, मान, माया, लोभ] ये सब मिलकर अंतरंग परिग्रह हैं तथा बाह्य परिग्रह हिरण्य, सुवर्ण, गवादि-धन व्रीहि आदि धान्य, सस्य की उत्पत्तिस्थान, क्षेत्र खलियान, वास्तु प्रवास्तु, कोश (भंडागार) कुठार, पुर, अन्तः पुर १. हस्ती, (हाथी) अश्व, (घोड़ा) ३.रथ,४. पदाति (पैदल)यह चतुरंग सैन्यवल हस्ती,अश्व,आदि वाहन शकट [वैलगाडी] यान [पालकी] युग्य, जपान, युग, गड्डिय, रथ, स्यन्दन, शिविका, दासी, दास, गो, महिषी, भेड. मणि, मौक्तिक, शंख, सीप, प्रवाल, मणि-

भाजन, सुवर्णभाजन, रजतपात्र, कांस्यभाजन, लोहभाजन, ताम्रभाजन, अंडज [रेशम] वोंडज [कपास का वस्त्र] रोमज वस्त्र [ऊन का वस्त्र] वल्कज [छाल का वस्त्र] चर्मज [चमड़े का कपड़ा] अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त, यह सब बाह्य परिग्रह है. इतना नही किन्तु ज्ञान तथा संयम के उपकरण [अश्रयण योग्य] वस्तु के सिवाय बाह्य परिग्रह भेड के बच्चे के बाल की अग्रकोटि बराबर भी स्वयं ग्रहण न करे, न दूसरे से ग्रहण करावे, और न उस अन्य से ग्रहण करते हुये की अनुमोदना ही करे, हे भगवन्! पचम महाव्रत सम्बन्धो अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूं, अपनी निंदा करता हूं और गर्हा करता हूं। भूत-कालीन अतिचार का व्युत्सर्जन [त्याग] करता हूं। हे भगवन्! जो भी मैंने राग, द्वेष और मोह के वश होकर अश्रयण प्रायोग्य परिग्रह स्वयं ग्रहण किया है, अन्य से कराया है, ग्रहण करते हुये अन्य को अच्छा माना है, उसका मै परित्याग करता हू। (शेष पहले की तरह समझना चाहिये)

छठे अणुव्रत रात्रिभोजन का प्रतिक्रमण

गद्य—आधावरे छट्ठे अणुव्वदे सव्वं भंते! राईभोयणं पच्चक्खामि; जावज्जीवं, तिविहेण, मणसा, वचिया, काएण, से असणं वा, पाणं वा. खादियं वा, कडुयं वा, कसायं वा, आमिलं वा, महुरं वा, लवणं वा, अलवणं वा, सचित्तं वा, अचित्तं वा, तं सव्वं चउव्विहं आहारं, णेव सयं रत्तिं भुंजिज्ज, णो अण्णेहि रत्तिं भुंजाविज्ज, णो अण्णेहिं रत्तिं भुंजिज्जंतं पि समणुमणिज्ज, तस्स भंते! अइचारं पडिक्कमामि. णिंदामि गरहामि अप्पाणं. वोस्सरामि पुव्विचरणं भंते! जं पि मए रागस्स वा. दोसस्स वा. मोहस्स वा, वसंगदेण चउव्विहो आहारोसयं रत्तिं भुत्तो, अण्णेहिं रत्तिं भुंजाविदो, अण्णेहिं रत्तिं भुंजिज्जंतो वि समणुमण्णिदो, तं पि इमस्स णिग्गंथस्स, पवयणस्स. अणुत्तरस्स, केवलियस्स केवलिपण्णत्तस्स. धम्मस्स. अहिंसालक्खणस्स. सच्चा-

हिट्ठियस्स. विणयमूलस्स. खमाहलस्स. अट्ठारस सीलसहस्सपरिमंडियस्स.चउरासीगुणसयसहस्स विहूसियस्स. णवसु वंभचेरगुत्तस्स. णियदिलक्खणस्स. परिचागफलस्स. उवसमपहाणस्स खंतिमग्गदेसयस्स.मुत्तिमग्गपयासयस्स.सिद्धमग्गपज्जवसाहणस्स से कोहेण वा,माणेण वा. माएण वा. लोहेण वा. अण्णाणेण वा.अदंसणेण वा. अविरिएण वा. असंयमेण वा. असमणेण वा. अणहिगमणेण वा अभिसंसिदाएण वा. अवोहिदाएण वा. रागेण वा. दोसेण वा.मोहेण वा. हस्सेण वा. भएण वा. पदोसेण वा. पमादेण वा. पेम्मेण वा. पिवासेण वा. लज्जेण वा. गारवेण वा. अणादरेणवा.केणवि कारणेण जादेण वा. आलसदाए. कम्मभारिगदाए. कम्मगुरुगदाए. कम्मदुचरियदाए. कम्मपुरक्कडदाए, तिगारवगुरुगदाए, अवहुसुददाए. अविदिदपरमट्ठदाए. तं सव्वं पुव्वं दुचरियं गरिहामि आगमेसिच. अपच्चक्खियं पच्चक्खामि. अणालोचियं आलोचेमि, अणिंदियं णिंदामि, अगरहियं गरहामि, अपडिक्कंतं पडिक्कमामि, विराहणं वोस्सरामि, आराहणं अब्भुट्ठेमि, अण्णाणं वोस्सरामि, सण्णाणं अब्भुट्ठेमि, कुदंसणं वोस्सरामि. सम्मदंसणं अब्भुट्ठेमि.कुचरियंवोस्सरामि, सुचरियं अब्भुट्ठेमि; कुतवंवोस्सरामि सुतवं अब्भुट्ठेमि, अकरणिज्जं वोस्सरामि. करणिज्जं अब्भुट्ठेमि; अकिरियं वोस्सरामि, किरियं अब्भुट्ठेमि, पाणादिवादं वोस्सरामि, अभयदाणं अब्भुट्ठेमि, मोसं वोस्सरामि, सच्चं अब्भुट्ठेमि, अदत्तादाणं वोस्सरामि, दिण्णंकप्पणिज्जं अब्भुट्ठेमि; अवभं वोस्सरामि, वंभचरियं अब्भुट्ठेमि, परिग्गहं वोस्सरामि. अपरिग्गहं अब्भुट्ठेमि; राईभोयणं वोस्सरामि दिवाभोयणमेगभत्तं पच्चुप्पण्णं फासुगं अब्भुट्ठेमि; अट्टरुद्दज्झाणं वोस्सरामि, धम्मसुक्कज्झाणं अब्भुट्ठेमि; किण्हणीलकाउलेस्सं वोस्सरामि, तेउपम्मसुक्कलेस्सं अब्भुट्ठेमि.

आरंभं वोस्सरामि, अणारंभं अब्भुट्ठेमि, असंजमं वोस्सरामि. संजमं अब्भुट्ठेमि; सगंथं वोस्सरामि. णिग्गंथं अब्भुट्ठेमि; सचेलं वोस्सरामि, अचेलं अब्भुट्ठेमि अलोचं वोस्सरामि, लोचं अब्भुट्ठेमि ण्हाणं वोसरामि, अण्हाणं अब्भुट्ठेमि; अखिदिसयणं वोस्सरामि, खिदिसयणं अब्भुट्ठेमि, दंतवणं वोस्सरामि; अदंतवणं अब्भुट्ठेमि, अट्ठिदिभोयणं वोस्सरामि, ठिदिभोयणमेगभत्तं अब्भुट्ठेमि, अपाणिपत्तं वोस्सरामि. पाणिपत्तं अब्भुट्ठेमि, कोह वोस्सरामि, खंतिं अब्भुट्ठेमि, माणं वोस्सरामि मद्दवं अब्भुट्ठेमि, मायं वोसरामि, अज्जवं अब्भुट्ठेमि, लोहं वोस्सरामि, संतोसं अब्भुट्ठेमि, अतवं वोस्सरामि, दुवादस विह तवोकम्मं अब्भुट्ठेमि. मिच्छत्तं परिवज्जामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, असीलं परिवज्जामि, सुसीलं उवसंपज्जामि; ससल्लं परिवज्जामि, णिसल्लं उवसंपज्जामि, अविणयं परिवज्जामि, विणयं उवसंपज्जामि, अणाचारं परिवज्जामि, आचारं उवसंपज्जामि, उम्मग्गं परिवज्जामि जिणमग्गं उवसंपज्जामि. अखंतिं परिवज्जामि, खंतिं उवसंपज्जामि, अगुत्तिं परिवज्जामि, गुत्तिं उवसंपज्जामि, अमुत्तिं परिवज्जामि, सुमुत्तिं उवसंपज्जामि, असमाहिं परिवज्जामि, सुसमाहिं उवसंपज्जामि ममत्तिं परिवज्जामि, णिममत्तिं उवसंपज्जामि, अभावियं भावेमि, भावियं ण भावेमि, इमं णिग्गंथं पव्वयणं, अणुत्तरं, केवलियं पडिपुण्णं, णेगाइयं, सामाइयं, संसुद्धं, सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताणं सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं, पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, सव्वदुक्खपरिहाणिमग्ग, सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं, जत्थ ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुंचंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तं सद्दहामि, तं पत्तियामि, तं रोचेमि, तं फासेमि, इदो उत्तरं अण्णं णत्थि ण भूदं, ण भवं, ण भवि-

स्सादि, णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण वा, सुत्तेण वा, सीलेण वा, गुणेण वा, तवेण वा, णियमेण वा, वदेण वा, विहारेण वा आलएण वा, अज्जवेण वा, लाहवेण वा, अण्णेण वा, वीरिएण वा समणोमि, संजदोमि, उवरदोमि, उवसंतोमि, उवधि-णियडि-माण-माया-मोस-मूरण-मिच्छाणाण-मिच्छादंसण, मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि । सम्मणाण-सम्मदंसण, सम्मचरित्तं च रोचेमि, जं जिणवरेहिं पण्णत्ते इत्थ जो मए देवसिय-राइय-पक्खिय (चउमासिय, संवच्छरिय) इरियावहि केसलोचाइचारस्स-संथाराइचारस्स, पंथादि-चारस्स, सव्वाइचारस्स, उत्तमट्ठस्स सम्मचरित्तं च रोचेमि । छट्ठे अणुव्वदे राईभोयणादो वेरमणं, उवट्ठावण मंडले, महत्थे, महागुणे, महाजसे, महाणुभावे, महापुरिसाणुचिण्हे, अरहंतसक्खियं, सिद्ध-सक्खियं, साहुसक्खियं, अप्पसक्खियं, परसक्खियं देवतासक्खियं, उत्तमट्ठम्हि "इदं मे महव्वदं, सुव्वदं, दिढव्वदं होदु, णित्थारयं, पारयं, तारयं, आराहियं, चावि ते मे भवतु" ॥३॥

"षष्ठं अणुव्रतं सर्वेषां व्रतधारिणां सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं समारूढं ते मे भवतु" ॥३॥

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥३॥

अर्थ—छठे अणुव्रत में हे भगवन् ! सब रात्रिभोजन का त्रिविध मन, वचन, काय से प्रत्याख्यान करता हूं । उस रात्रिभोजन विरमण नामक छठे अणुव्रत की क्षति के कारण असन, पान खाद्य, स्वाद, कटुक, कषाय, आमिल [खट्टा] मधुर [मीठा] लवण, [खारा] अलवण सचित्त और अचित्त इस सम्पूर्ण चतुर्विध आहार को मैं स्वयं रात्रि में नहीं खाऊंगा, न अन्य को रात्रि में खिलाऊंगा और न रात्रि में खाते हुये अन्य का अनु-मोदन ही करूंगा । हे भगवन् ! रात्रि भोजन त्याग नामक छठे अणुव्रत के

अतिचार का प्रतिक्रमंण करता हूं, अपनी निंदा और अपनी गर्हा करता हूं। जो भी मैंने राग, द्वेष, और मोहवश चार प्रकार का आहार रात्रि में स्वयं खाया है, दूसरे से रात्रि में खिलाया है और रात्रि में खाते हुये अन्य का अनुमोदन किया है। उसका भी व्युत्सर्जन करता हूं। (शेष पहले की तरह) समझें।

—:※:—

चूलिका

गाथा—चूलियंतु पवक्खामि, भावणा पंचविंसदी।
पंच पंच अणुण्णादा, एक्केक्कम्हि महव्वदे ॥१॥

अर्थ—उक्त और अनुक्त अर्थ का चिन्तन करना चूलिका है, उस को अब कहता हूं उसमें पच्चीस भावनाए हैं जो कि एक२ महाव्रत में पाच २ स्वीकार की गई है॥ १॥

गाथा—मणगुत्तो वचिगुत्तो, इरिया-कायसंयदो।
एसणासमिदि संजुत्तो, पढमं वदमस्सिदो ॥२॥

अर्थ—मन से गुप्त, वचन से गुप्त गमन करते समय काय से प्राणियों की पीडा के परिहार में तत्पर तथा एषणा समिति से संयुक्त होता हूं। अन्यत्र भावना कही गई हैं यहांउन भावनाओं से सहित व्यक्ति कहा गया है जो कि अभिन्न होने से भावना ही है क्योकि भावनाओं से युक्त व्यक्ति के ही अहिंसा व्रत निर्मल होता है॥ २।

गाथा—अकोहणो अलोहो य, भयहस्सविवज्जिदो।
अणुवीचिभासकुसलो, विदियं वदमस्सिदो ॥३॥

अर्थ—क्रोध से रहित, लोभ से रहित, भय से वर्जित, हास्य से वर्जित और आगमानुकूल बोलने में कुशल होऊं। ये पाँच सत्य महाव्रत की भावनाएं है। इनसे युक्त के सत्यमहाव्रत निर्मल होता है॥ ३॥

गाथा—अदेहणं भावणं चा वि, उग्गहं या परिग्गहे ।
संतुट्ठो भत्तपाणेसु, तिदियं वदमस्सिदो ॥४॥

अर्थ—तृतीय अचौर्यव्रत के आश्रित मैं. पांच भावनाओ में तत्पर होता हूँ। वे भावनायें निम्न लिखित है,—(१)अदेहन अर्थात् कर्मवश जो मैंने देह का उपाजन किया है, वह ही मेरे धन है, अन्य परिग्रह नहीं है, ऐसी भावना भाता हूं यहां पृषोदरादि इत्यादि वाक्य से ध का लोप होकर अदेहधन के स्थान में अदेहन बन गया है, देह में हो अशुचित्व, अनित्यत्व आदि भावना है, उसको भी भाता हूं। परिग्रह में अवग्रह अर्थात् निवृत्ति की भावना भाता हू। भक्त, पान आदि चतुर्विध आहार मे सन्तुष्ट अर्थात् गृद्धि-रहित होता हूँ, इन भावनाओ को भाने वाले के तीसरा महाव्रत निर्मल होता है ॥ ४ ॥

गाथा—इत्थिकहा इत्थि संसग्ग, हासखेडपलोयणे ।
णियमम्मि ट्ठिदो णियतो, य चउत्थं वदमस्सिदो ॥५॥

अर्थ—मैथुन से विरती लक्षण चतुर्थ ब्रह्मव्रत को मैं आश्रित हुआ हूं, मैं स्त्री कथा, स्त्री ससर्ग, स्त्रियों के साथ हास्य विनोद, स्त्रियों के साथ क्रीडन, और उनके मुखादि अंगों का रागभाव से अवलोकन, इन सब ब्रह्म-चर्य के विघातको में चूंकि नियम से स्थित हूं इसलिये निवृत्त होता हू। इन भावनाओ से चतुर्थ व्रत निर्मल होता है ॥ ५ ॥

गाथा—सचित्ताचित्तदव्वेसु, वज्झब्भंतरेसु य ।
परिग्गहादो विरदो, पंचमं वदमस्सिदो ॥६॥

अर्थ—परिग्रह से विरति लक्षण पंचम व्रताश्रित मैं दासी, दास आदि सचित्त द्रव्य में और धन-धान्य आदि अचित द्रव्य में तथा वस्त्र आभरण आदि बाह्य द्रव्य में और ज्ञानावरणादि आभ्यंतर द्रव्य में तथा गृह, क्षेत्र आदि अन्य सब परिग्रह से विरत होता हूं। इस प्रकार की पांच भावनाओं को भाने वाले के परिग्रह विरति व्रत निर्मल ठहरता है। (ये पांचों व्रत प्रतिज्ञारूप हैं क्योंकि अभिसंधि पूर्वक किया हुआ नियम व्रत होता है, ऐसा कहा गया है) ॥६॥

गाथा—धिदिमंतो खमाजुत्तो, झाणजोगपरिट्ठिदो ।
परीसहाण उरं देत्तो, उत्तमं वदमस्सिदो ॥७॥

अर्थ—उत्तम व्रत (प्रतिज्ञा) आश्रित वही होता है जो धृतिमान्, संतुष्ट इस लोक और परलोक की आकांक्षा से रहित है, उत्तम क्षमा-युक्त है, ध्यान योग मे सब ओर से स्थित है, और परीषहों को सहन करता है ।७।

गाथा—जो सारो सव्वसारेसु, सो सारो एस गोयम ।
सारं झाणंति णामे ण, सव्वं बुद्धेहिं देसिदं ॥८॥

अर्थ—जगदन्तवर्ती सब वस्तुओ में सार व्रत है उनमें भी हे गोतम ! ध्यान ही श्रेष्ठ सार है क्योंकि 'सार ध्यान' इस नाम से सब बुद्धों (सर्वज्ञो) ने ध्यान को सार कहा है ।

गद्य—इच्चेदाणि पंच महव्वयाणि राईभोयणादो वेरमणछट्ठाणि सभावणाणि समाउग्गपदाणि सउत्तरपदाणि सम्मं धम्मं अणुपालइत्ता समणा भयवंता णिग्गंथादोओण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति, परिणियंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति परिविज्जाणंति ।

अर्थ—इस प्रकार भावनाओं सहित, अष्ट प्रवचन मातृकाओ सहित और उत्तर पदों सहित, रात्रि भोजन से विरमण षष्ठ ये सब महान् हैं । जो सम्यक् धर्म है उनका अनुपालन कर श्रमण निर्ग्रन्थत्व पने से सिद्ध स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त होते हैं, हेयोपादेय विवेक से सम्पन्न बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, ससार से पार होते हैं, सब दुःखों का अन्त करते हैं और परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥८॥

गद्य—तजहा— वह नीचे लिखे अनुसार है :—

गाथा—पाणादिवादं च हि मोसगं च, अदत्त मेहुण्ण परिग्गहं च ।
वदाणि सम्मं अणुपालइत्ता, णिव्वाणमग्गं विरदा उवेंति ॥१॥

अर्थ—प्राणातिपात (हिंसा), मृषा, अदत्तग्रहण, मैथुन और परिग्रह इन पांचों का त्याग कर और इनसे विपरीत व्रतों का अनुपालन कर विरत मुनि, निर्वाण के मार्ग को प्राप्त होते हैं ॥१॥

गाथा—जाणि काणि वि सल्लाणि, गरहिदाणि जिणसासणे ।
ताणि सव्वाणि वोसरित्ता, णिसल्लो विहरदे सया मुणी ॥२॥

अर्थ—जिन शासन में जो कोई भी मिथ्यात्वादि व क्रोधादि शल्य गर्हित कहे गये हैं, उन सबको त्याग कर निशल्य होते हुए मुनि सर्वकाल विहार करते है ॥२॥

गाथा—उप्पण्णाणुप्पणा माया अणुपुव्वं सो णिहंतव्वा ।
आलोयण पडिक्कमणं, णिंदण गरहणदाए ॥३॥

अर्थ—मन, वचन और काय की कुटिलता का नाम माया है। उत्पन्न अथवा अनुत्पन्न उभय प्रकार की माया का मुनिजन क्रमशः आलोचना, प्रतिक्रमण, निंदा और गर्हणता कारणों से हनन (नाश) करें। तात्पर्य जो जो माया, जब २ उत्पन्न हो, तब-तब उस उस माया का उक्त कारणों से विनाश किया जाय ॥३॥

गाथा—अब्भुट्ठिदकरणदाए, अब्भुट्ठिददुक्कडणिराकरणदाए ।
भवं भावपडिक्कमणं, सेसा पुण दव्वदो भणिदा ॥४॥

अर्थ—जिस काल में माया उत्पन्न हो, उसी काल में उसको आलोचना द्वारा नष्ट करना चाहिये। यह भाव प्रतिक्रमण कहा गया है क्योंकि भाव का अर्थात् माया परिणति का ही, निराकरण होता है, इसलिये भाव प्रतिक्रमण है। अवशिष्ट शब्दोच्चारण मात्र रूप द्रव्य प्रतिक्रमण है ॥४॥

गाथा—एसो पडिक्कमणविही, पण्णतो जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
संजमतवट्ठिदाणं, णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥५॥

अर्थ—यह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की प्रतिक्रमण की विधि, संयम और तप में आरूढ निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए सब तीर्थङ्करों ने कही है, न कि केवल वर्द्धमान स्वामी ने ही ॥५॥

गाथा—अक्खरपयत्थहीणं, मत्ताहीणं च जं भवे एत्थ ।
तं खमउ णाण देवय, देउ समाहिं च बोहिं च ॥६॥

अर्थ—अक्षर, पद और अर्थ से हीन तथा मात्रा से हीन यहां पर जो हो उसे हे ज्ञान देव, (सरस्वती देवी) क्षमा करो, मुझे समाधि और बोधि दो ॥६॥

गाथा—काऊण णमोक्कारं, अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
आइरिय-उवज्झायाणं, लोयम्मि य सव्वसाहूणं ॥७॥

अर्थ—लोकवर्ती सब अरहंतों को, सब सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायो को और सब साधुओं को नमस्कार करके

गद्य—इच्छामि भंते ! पडिकमणमिदं, सुत्तस्स मूलपदाणं, उत्तर-पदाणमच्चासणदाए । तंजहा

अर्थ—हे भगवन् ! सूत्र-(आगम) के मूलपदों की और उत्तरपदों की अवहेलना (अनादर) होने पर जो कोई दोष उत्पन्न हुआ है, उस दोष के निराकरण करने की इच्छा करता हू । तद्यथा इसके द्वारा वही कहते है.—

पदादि की अवहेलन संबंधी प्रतिक्रमण

गद्य—णमोक्कारपदे, अरहंतपदे, सिद्धपदे, आइरियपदे, उवज्झायपदे, साहूपदे. मंगलपदे, लोगोत्तमपदे, सरणपदे, सामाइयपदे, चउवीसतित्थयरपदे, वंदणपदे, पडिक्कमणपदे, पच्चक्खाण-पदे, काउसग्गपदे, असीहियपदे, निसीहियपदे, अंगंगेसु पुव्वं-गेसु, पइण्णएसु, पाहुडेसु, पाहुडपाहुडेसु, कदकम्मेसु वा, भूद-कम्मेसु वा, णाणस्स, अइक्कमणदाए, दंसणस्स अइक्कमणदाए, चरित्तस्स अइक्कमणदाए, तवस्स अइक्कमणदाए, वीरियस्स अइक्कमणदाए, से अक्खरहीणं वा, पदहीणं वा, सरहीणं वा, वंजणहीणं वा, अत्थहीणं वा, गंथहीणं वा, थएसु वा, थुईसु वा, अइक्खाणेसु वा, अणियोगेसु वा; अणियोगद्दारेसु वा, जे भावा पण्णत्ता, अरहंतेहिं, भयवंतेहिं, तित्थयरेहिं, आदियरेहिं, तिलो-गणाहेहिं, तिलोगबुद्धेहिं, तिलोगदरसीहिं. ते सद्दहामि, ते पत्ति-यामि, ते रोचेमि, ते फासेमि, ते सद्दहंतस्स, ते पत्तयंतस्स, ते रोचयन्तस्स,ते फासयंतस्स,जो मए देवसिओ, राईओ, पक्खिओ

(चउमासियो, संवच्छरिओ) अदिक्कमो, वदिक्कमो, अइचारो, अणाचारो, आभोगो, अणाभोगो, अकाले सज्झाओ कओ, काले वा परिहाविदो, अत्थाकारिदं, मिच्छामेलिदं, वा मेलिदं, अण्णहा दिण्णं, अण्णहापडिच्छिदं, आवासयेसु पडिहीणदाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

अर्थ—'णमो अरहंताणं' इत्यादि पंच नमस्कार पद, अर्हन्तपद, सिद्ध पद, आचार्य पद, उपाध्याय पद, साधु पद, चत्तारि मंगलं इत्यादि मंगल पद, चत्तारि लोगोत्तमा इत्यादि लोकोत्तम पद, चत्तारि सरणं पव्वज्जामि इत्यादि सरण पद करेमि भन्ते सामाइयं' इत्यादि सामायिक पद, उसहमजियं च वंदे' इत्यादि चतुर्विंशति तीर्थंकर पद, सिद्धानुद्धूत' इत्यादि और 'जयति भगवान्' इत्यादि वन्दनापद पडिकमामि भन्ते इत्यादि प्रतिक्रमण पद, भन्ते पच्चक्खामि इत्यादि प्रत्याख्यान पद, नव संख्या प्रमाण पच नमस्कार का उच्चारण लक्षण, तथा अट्ठारह, सत्ताईस, छत्तीस, एक सौ आठ इत्यादि संख्या लक्षण कायोत्सर्ग पद, असहिय निसहियपद, इन सब पदो में अवहेलना होने पर, तथा आचरणादि अंग पद अंगोके अधिकार पद,सख्या आदि अगांगपद,उत्पाद पूर्वादि पूर्वांग,वस्तुप्रभृति पूर्व पूर्वांग, प्रकीर्णक, प्राभृत, प्राभृत-प्राभृत, पूर्वक्त षडावश्यकादि कर्म अथवा शुभ और अशुभ मन, वचन और काय के व्यापार अथवा उसके कारण से होने वाले पुण्य, पापकर्म, रूप कृतकर्म भूत, अविद्यमान और वर्तमान में उक्त षडावश्यक कर्म इन उक्त सब मे उत्पन्न दोष का प्रतिक्रमण करने की इच्छा करता हूं तथा ज्ञान की अवहेलना, दर्शनकी अवहेलना,चारित्र की अवहेलना, तपकी अवहेलना और वीर्यकी अवहेलना सम्बन्धी दोषका प्रतिक्रमण करता हूं; तथा अनेक तीर्थङ्करो के गुणों का वर्णन करने वाले स्तवों में, एक तीर्थंकर के गुण वर्णन करने वाली स्तुतियों में, चरित-पुराण प्रतिबद्ध अर्थाख्यानों में, करणानुयोगादि अनुयोगों में और कृतिवेदनादि चौबीस अनुयोग द्वारों में. अक्षर हीन. पद हीन, स्वर हीन. अर्थ हीन और ग्रन्थहीन. दोष का प्रतिक्रमण करने की इच्छा करता हूं। अर्हन्त, भगवान्, तीर्थंकर

त्रिलोकनाथ ने जो जीवादि पदार्थ आगम में प्रतिपादन किये हैं, उनका श्रद्धान करता हूँ, प्राप्त करता हूँ, रुचि करता हूँ, विश्वास करता हूं, उनका श्रद्धान करने वाले, प्राप्त करने वाले, रुचि करने वाले, विश्वास करने वाले जो मेरे दैवसिक, (रात्रिक) पाक्षिक (चातुर्मासिक, सांवत्सरिक) अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, आभोग, अनाभोग, दोष लगा; अकाल में स्वाध्याय किया, स्वाध्याय काल में स्वाध्याय नही किया। सहसा किया, विना विचारे जल्दी २ उच्चारण किया, मिथ्या (अविद्यमान) के साथ मिलाया, अन्य अवयव को अन्य अवयव के साथ जोड़कर पद्य, उच्चध्वनि युक्त का, नीच ध्वनि से और नीच ध्वनि युक्त पाठ को उच्चध्वनि से पढा, अन्यथा कहा; अन्यथा ग्रहण किया अर्थात् सुना, आवश्यको में परिहीनता की, इन सब दोषो से उत्पन्न मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

तिथि, मास वर्षादि के अन्तर्गत दोषों का प्रतिक्रमण :—

गद्य—अह पडिवादाए, विदिए; तदिये, चउत्थीए, पंचमीए, छट्ठीए, सत्तमीए, अट्ठमीए; णवमीए, दसमीए, एयारसीए, बारसीए, तेरसीए; चउद्दसीए, पुण्णमासीए, पण्णरस दिवसाणं, पण्णरसराईणं,छउण्हं मासाणं, अट्ठण्हं पक्खाणं; वीसुत्तरसयदिवसाणं. बीसुत्तरसय-राईणं, बारसण्हं, मासाणं चउवीसण्हं पक्खाणं, तिण्हं छावट्ठिसयदिवसाणं, तिण्हं छावट्ठिसयराईणं, पंचवरिसादो परदो अब्भिंतरदो वा दोण्हं-अट्टरुद्दसंकिलेसपरिणामाणं, तिण्हं-अप्पसत्थ संकिलेसपरिणामाणं, तिण्हं दंडाणं, तिण्हं लेस्साणं, तिण्हं गुत्तीणं, तिण्हं गारवाणं,तिण्हं सल्लाणं, चउण्हं सण्णाणं, चउण्हं कसायाणं, चउण्हं उवसग्गाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हं इंदियाणं, पंचण्हं समिदीणं, पंचण्हं चरित्ताणं; छण्हं आवासयाणं. सत्तण्हं भयाणं सत्तविहसंसाराणं, अट्ठण्हं मयाणं, अट्ठण्हं सुद्धीणं, अट्ठण्हं कम्माणं, अट्ठण्हं पवयणमाउयाणं, णवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, णवण्हं णोकसायाणं, दसविहमुंडाणं,

दसविहसमण धम्माणं, दसविहधम्मज्झाणाणं, बारसण्हं संजमाणं, बारसण्हं तवाणं, वारसण्हं अंगाणं तेरसण्हं किरियाणं, चउदसणं पुव्वाणं, पण्णरसण्हं पमायाणं, सोलसण्हं कसायाणं, पणवीसाए किरियासु, पणवीसाए भावणासु, वावीसाए परिसहेसु, अट्ठारसीलसहस्सेसु, चउरासीदिगुणसयसहस्सेसु, मूल गुणेसु, उत्तरगुणेसु अदिक्कम्मो, वदिक्कम्मो, अइचारो, अणाचारो, आभोगो, अणाभोगो, तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि. पडिक्कंतं कदो वा कारिदो वा. कीरंतो वा समणुमण्णिदं तस्स भंते! अइचारं पडिक्कमामि. णिंदामि गरहामि अप्पाणं. वोस्सरामि जाव अरहंताणं. भयवंताणं. णमोक्कारं करेमि. पज्जुवासं करेमि. ताव कायं. पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥१॥

अर्थ—प्रतिपदा, द्वितोया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णमासी इन प्रत्येक दिनो में, एक पक्ष के पन्द्रह दिन और पन्द्रह रात्रि में(चार मासके आठ पक्ष, एक सो वीस दिन और एक सो वीस रात्रि, तथा एक वर्ष के बारह मास.चौवीस पक्ष,तीन सो छयासठ दिन और तीन सो छयासठ रात्रि में तथा युग प्रतिक्रमण के पांच वर्ष से परे और भीतर पूर्वोक्त आर्त्तरौद्रध्यान रूप संक्लेश परिणाम, माया मिथ्या और निदान रूप अप्रशस्त सक्लेश परिणाम, अप्रशस्त मन, वचन और काय नामक तीन दंड, कृष्ण, नील और कापोत ये तोन अशुभ लेश्या, तीन गुप्ति, तीन गारव, तीन शल्य, चार संज्ञा, चार कपाय, चार उपसर्ग, पांच प्रत्यय, पांच इन्द्रिय, पांच समिति, पांच चारित्र, छह आवश्यक, सात भय, सप्त विध संसार, आठ मद, आठ शुद्धि, आठ कर्म, आठ प्रवचन मातृका, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति, नव नोकषाय दश मुंड, दश श्रमण धर्म, दश धर्मध्यान, बारह संयम, बारह तप, बारह अंग, तेरह क्रिया, चौदह पूर्व, पन्द्रह प्रमाद, सोलह कषाय, पच्चीस क्रिया, पच्चीस

भावना, बावीस-परिषह, अठारह हजार शील चौरासी लाख उत्तरगुण,मूल गुण और उत्तरगुण ये. कितने ही आचरण ऐसे है जो जानने योग्य हैं, और कितने ही आचरण ऐसे है जो पालने योग्य है, जानने योग्य का पालन किया और पालने योग्य का पालन नही किया अतः विधिरूप और निषेध स्वरूप आचरणो में अतिक्रम (मन की शुद्धता की हानि) व्यतिक्रम (विषय सेवन की अभिलाषा) अतिचार (व्रत का एकदेश खडन) अनाचार (व्रतभङ्ग) आभोग (पूजा, सत्कार, महत्व की अभिलाषा से अतिप्रकट रूप से अनुष्ठान करना) और अनाभोग (लज्जा आदि के वश किसी को प्रकट न होने पावे, इस प्रकार छिपकर अनुष्ठान करना) ये दोष लगे। हे भगवन्! अतिचार (दोष) का प्रतिक्रमण करता हूँ, अपनी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, बुरे कर्मो को छोडता हूं, जब तक भगवान् अरहत की पर्युपासना करता हूँ, तब तक पाप कर्म स्वरूप और दुश्चरित्र रूप काय से ममत्त्व त्यागता हूं।

श्रावक के १२ व्रतों के अन्तर्गत ५ अणुव्रतों का वर्णन

गद्य—पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदि महावीरेण. महाकस्सवेण. सव्वण्हाणेण. सव्व-लोयदरसिणा. सावयाणं. सावियाणं. खुड्डयाणं. खुड्डीयाणं. कार-णेण. पंचाणुव्वदाणि. तिण्णि गुणव्वदाणि. चत्तारि सिक्खाव-दाणि. बारसविहं गिहत्थधम्मं. सम्मं उवदेसियाणि तत्थ--इमाणि पंचाणुव्वदाणि--पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं. विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्तादाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदार-संतोसपरदार गमणवेरमणं, कस्स य पुणु सव्वदो विरदी पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकदपरिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।

अर्थ—हे आयुष्मानो. मैंने (गौतम ने) महाकश्यप गोत्रीय. सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् से श्रावक. श्राविका. क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओंके कारण

से पांच अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म सुना है उसमें ये नीचे लिखे हुये पांच अणुव्रत है:—पहले अणुव्रत में स्थूल प्राणातिपात से विरमण है. दूसरे अणुव्रत में स्थूल मृषावाद से विरमण है तीसरे अणुव्रत में स्थूल अदत्तादान से विरमण है. चौथे अणुव्रत में स्वदार सतोष है तथा परदार गमन से विरमण है और पांचवे अणुव्रत में स्थूल इच्छाकृत परिमाण है ये पांच अणुव्रत है ।

तीन गुणव्रतों का वर्णन :—

गद्य—तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविधअणत्थ-दंडादो वेरमणं. तदिए गुणव्वदे भोगोपभोगपरिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि ।

अर्थ—उनमे ये तीन गुणव्रत है —उनमे पहला गुणव्रत (दिग्व्रत) दिशा और विदिशा का प्रत्याख्यान है, दूसरे गुणव्रत (अनर्थ दडव्रत) मे विविध अनर्थ दडों से विरमण है और तीसरे गुणव्रत (भोगोपभोग परि-माणव्रत) मे, भोग और उपभोग वस्तुओं का परिसंख्यान (गणना) है ये तीन गुणव्रत है ।

चार शिक्षाव्रतों का वर्णन :—

गद्य—तत्थ इमाणिचत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामा-इयं, विदिए पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं, तिदियं अब्भोवस्साणं चेदि ।

अर्थ—उनमें ये चार शिक्षाव्रत है, उनमें पहले में, सामायिक, दूसरे में प्रोपधोपवास, तीसरे मे अतिथिसंविभाग और चौथे शिक्षाव्रत में अंतिम सल्लेखना—पूर्वक मरण (और तीसरा अभ्रावकाश का है) (खुले मैदान में सरदी तथा गरमी और वर्षा सम्बन्धी कष्टों को सहन करना)

गद्य—से अभिमद जीवाजीव-उवलद्धपुण्णपाव-आसव-बंध-संवर-णिज्जर-मोक्खमहि कुसले धम्माणुरावरत्तो पि मांणुरागरत्तो

अट्ठिमज्जाणुरायरत्तो, मुच्छिजदट्ठे, गिहिदट्ठे विहिदट्ठे, पालिदट्ठे, सेविदट्ठे, इणमेव णिग्गंथपावयणे अणुत्तरे सेअट्ठे, सेवणुट्ठे।

अर्थ—वह बारह प्रकार का श्रावक का व्रत भी जब तक निर्दोष सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होगी तब तक विधिपूर्वक नहीं पल सकता अतः जीवादिक सप्त तत्वों का तथा पुण्य और पाप युक्त नव पदार्थों का समीचीन श्रद्धान होना अत्यन्त आवश्यक है, वही गृहस्थ आगे लिखे हुये निःशंकितादि सम्मक्त्व के आठ अगों का पालन कर सकेगा जिसका अपने ग्रहण किये हुये व्रतों की ओर तथा मुनिव्रत की ओर पूर्ण आस्था, श्रद्धा एवं बहुमान है।

गाथा—णिस्संकिय णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछी य अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ट्ठिदिकरणं, वच्छल्लपहावणा य वे अट्ठ ॥१॥

अर्थ—(१) निःशंकित (२) निष्कांक्षित (३) निर्विचिकित्सा [४] अमूढ़दृष्टि [५]उपगूहन [६] स्थितिकरण [७] वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अग हैं।

गद्य—सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि; तिण्णि गुणव्वदाणि; चत्तारि सिक्खावदाणि, बारसविहिं गिहत्थधम्ममणुपालइत्ता—

अर्थ—सब ये पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षावत मिल कर बारह प्रकार गृहस्थ धर्म का अनुपालन करके [निम्न लिखित ग्यारह प्रतिमाओ का पालन करने का अभ्यास करे]

गाथा—दंसण वय सामाइय; पोसह सचित्त राइभत्तेय।
बंभारंभ परिग्गह; अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदोय ॥१॥

अर्थ—(१) दर्शन प्रतिमा [२] व्रतप्रतिमा [३] सामायिक प्रतिमा [४] प्रोषध प्रतिमा [५] सचित्तविरमण प्रतिमा [६] रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा [७] ब्रह्मचर्य प्रतिमा [८] आरंभत्याग प्रतिमा [९] परिग्रह त्याग प्रतिमा (१०) अनुमतित्याग प्रतिमा और उद्दिष्टत्याग ये देशव्रत के ग्यारह स्थान है।

गाथा—महु मंस मज्ज जूआ, वेसादिविवज्जणासीलो ।
पंचाणुव्वयजुत्तो, सत्तेहिं सिक्खावयेहिं संपुण्णो ॥२॥

अर्थ-मधु, मांस, मद्य, जूआ, वेश्या व्यसनादि का त्यागी, पाच अणुव्रतो से और सात शीलो से परि पूर्ण श्रावक होता है ।

निर्दोष श्रावक के व्रत पालन करने का फल

गद्य—जो एदाइं वदाइं धरेइ, साविया सिवियाओ वा खुड्डय खुड्डियाओ या, अट्ठदहभवण—वासिय—वाण-वितर-जोइ-सिय. सोहम्मीसाणदेवीओ वदिकमित्त उवरिम अण्णदर महड्ढि-यासु देवेसु उववज्जंति ।

अर्थ—जो श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका, इन व्रतों को धारण करते हैं, वे दश भवनवासी आठ वाण व्यन्तर, पांच ज्योतिषी और सौधर्म ईशान स्वर्ग की देवियो का व्यतिक्रम कर (उल्लंघन कर अर्थात् इन तीन स्थानों में नही जाकर) उपरिम अन्यतर महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं ।

गद्य—तंजहा—सोहम्मीसाण-सणक्कुमार-माहिंद-बंभ--बंभुत्तर-लांतव-कापिट्ठ—सुक्क—महासुक्क—सतार-सहस्सार-आणत-पाणत—आरण-अच्चुत कप्पेसु उववज्जंति ।

अर्थ—यही बताते हैं—सौधर्म ईशान कल्प, सनत्कुमार-महेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव कापिष्ठ कल्प, शुक्र-महाशुक्र कल्प, सतार सहस्रार आनत-प्राणत, आरण और अच्युत कल्प में उत्पन्न होते हैं ।

गाथा—अडयंवरसत्थधरा, कडयंगदवद्धनउडकयसोहा ।
भासुरवरबोहिधरा, देवा य महड्ढिया होंति ॥१॥

अर्थ—अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम वस्त्र, एवं आभूषणों को धारण करने वाले तथा उज्ज्वल तर अवधिज्ञान को धारण करने वाले महान् ऋद्धि वाले देव होते हैं ।

गद्य—उक्कस्सेण दो तिण्ण भवगहणाणि, जहण्णे सत्तट्ठभव-गहणाणि तदो समणुसुत्तादो सुदेवत्तं, सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था, पच्छा णिग्गंथा होऊण सिज्झंति, बुज्झंति, मुंचंति, परिणिव्वाणयंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। जाव अरहंताणं भयवंताणं णमोकारं करेमि पज्जुवासं करेमि, तावकायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

अर्थ—ऐसे देदीप्यमान ज्ञान के धारक महर्द्धिक देव होते हैं। जो उत्कर्षपने से दो तीन भव ग्रहण करते हैं जघन्य से सात आठ भवग्रहण करते हैं पश्चात् वे सुमनुष्यत्व से सुदेवत्व, सुदेवत्व से सुमनुष्यत्व को, उससे साइहत्थ (अहमिन्द्र) पश्चात् निर्ग्रन्थ मुनि होकर सिद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं और परिनिर्वाण को प्राप्त होने है और सब दुःखों का अत करते हैं। मैं जब तक अर्हन्त भगवानो को नमस्कार करता हूँ, पर्युपासन करता हूं तब तक पापोपार्जक दुश्चरित्र काय का व्युत्सर्जन करता हूँ।

विशेष—अनन्तर साधु 'थोस्सामि' इत्यादि दंडक पढकर आचार्य के साथ 'वदसमिदिंदिय' इत्यादि पढकर वीर-स्तुति करें।

वीर भक्ति

गद्य-सर्वातिचार विशुद्ध्यर्थं पाक्षिक (चातुर्मासिक सांवत्सरिक) प्रतिक्रमण क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजा वन्दना-स्तवसमेतं-निष्ठितकरणवीरभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

विशेषः—इस प्रकार उच्चारण कर "णमो अरहंताणं" इत्यादि दडक पढकर पाक्षिक प्रतिक्रमण में ३०० उच्छ्वास तथा चातुर्मासिक व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में ४०० उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करके 'थोस्सामि' इत्यादि दंडक पढें। फिर 'चन्द्रप्रभंचन्द्रमरीचिगौरं' इत्यादि स्वयं पढकर 'यः सर्वाणि चराचराणि' इत्यादि अंचलिका युक्त वीर-भक्ति पढकर 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढें।

श्लोक—चंद्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं, चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कांतम्।
वंदेऽभिवंद्यं महतामृषीन्द्रं, जिनं जितस्वांतकषायबंधं ॥१॥

अर्थ—चंद्रमा की किरणों के समान शुक्ल, जगती तल पर मानों द्वितीय कमनीय चंद्रमा, महान् इन्द्रादि द्वारा अभिवन्द्य, ऋषियों के स्वामी जिनने अपने आभ्यन्तर क्रोधादि कषाय बंध जीत लिया है, ऐसे अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनको वंदना करता हूं ॥१॥

श्लोक—यस्यांगलक्ष्मीपरिवेश भिन्नं, तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्।
ननाश बाह्यं बहुमानसं च, ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य की किरणों से अंधकार, छिन्न-भिन्न होकर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् चन्द्रप्रभ के शरीर की प्रकृष्ट कांति के मंडल से बाह्य अंधकार और ध्यान रूप दीपक के अतिशय प्रकाश से ज्ञानावरण कर्म के उदय से जन्य, अनेक प्रकार का आभ्यंतर अज्ञानांधकार नष्ट हुआ।

श्लोक—स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः।
प्रवादिनो यस्यमदार्द्रगंडा, गजा यथा केसरिणोनिनादैः ॥३॥

अर्थ—अपने पक्ष की श्रेष्ठता के मद से चूर चूर हुये प्रवादी [अन्य मती] भगवान् चंद्रप्रभ के वचन रूप सिंहनादों मे मदरहित हो गये। जिस प्रकार कि मद के झरने से आर्द्र कपोल-वाले हाथी, सिंह की गर्जना से, मद रहित हो जाते हैं ॥३॥

श्लोक—यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः, पदं बभूवाद्भुतकर्म तेजाः।
अनंतधामाक्षरविश्वचक्षुः, समस्तदुःखक्षयशासनश्च ॥४॥

अर्थ—जिनका संपूर्ण प्राणियों को मोह से छुडाकर, प्रबुद्ध अर्थात् जागृत कराने में, निमित्तभूत तेज था। जिनका, अनंत धाम केवलज्ञान, विश्व में अविनश्वर चक्षु था, जिनका धर्म शासन मोक्ष देने वाला था, ऐसे जो चन्द्रप्रभ भगवान्, वे सर्व लोक में परमात्म पद को प्राप्त हुये थे ॥४॥

श्लोक—सचंद्रमा भव्यकुमुद्वतीनां, विपन्नदोषाभ्रकलंकलेपः।
व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः, पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे ॥५॥

अर्थ—भव्य जन रूपी कुमोदिनी को प्रफुल्लित करने वाले चंद्रमा, आत्मा के अनंत ज्ञानादि स्वरूप के प्रच्छादक अज्ञानादि दोष रूप मेघ और कलंक रूप उपलेप अर्थात् आवरण से रहित, वस्तु के स्वरूप को प्रति पादन करने वाली दिव्यध्वनि को रचना रूप किरणों के समुदाय से सुव्यक्त ऐसे वे कर्मफल से विशुद्ध भगवान् चन्द्रप्रभ मेरा मन, कर्ममल से विशुद्ध करे ॥५॥

— वीर भक्ति —

श्लोक—यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद्, द्रव्याणि तेषां गुणान्,
पर्यायानपि भूतभाविभवतः, सर्वान् सदा सर्वदा ।
जानीते युगपत् प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते, वीराय तस्मै नमः ॥१॥
वीरःसर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्म निचयो, वीराय भक्त्या नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृतमतुलं, वीरस्य वीरं तपो,
वीरेश्रीद्युति-कांति-कीर्त्ति-धृतयो हे वीर ! भद्रं त्वयि ॥२॥
ये वीरमादौ प्रणमंति नित्यं ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ताः ।
ते वीतशोका हि भवंति लोके, संसारदुर्गं विषम तरंति ॥३॥
व्रतसमुदयमूलः संयमस्कंधबंधो,
यमनियमपयोभिर्वर्धितः शीलशाखः ।
समितिकलिकभारो, गुप्तिगुप्तप्रवालो,
गुणकुसुमसुगंधिः, सत्तपश्चित्रपत्रः ॥४॥
शिवसुखफलदायी, यो दयाछायोद्घः,
शुभजनपथिकानां, खेदनोदे समर्थः ।
दुरितरविजतापं, प्रापयन्नन्तभावं,
सभवविभवहान्यै, नोऽस्तु चारित्रवृक्षः ॥५॥
चारित्रं सर्वजिनैश्चरितं प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः ।
प्रणमामि पंचभेदं, पंचमचारित्रलाभाय ॥६॥

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं. धर्माय तस्मै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां, धर्मस्यमूलं दया,
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म । मां पालय ॥७॥

गाथा—धम्मो मंगलमुद्दिट्ठं, अहिंसा संयमो तवो ।
देवा वि तस्स पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥८॥

अचलिका —

गद्य—इच्छामि भंते ! पडिक्कम्मणादिचारमालोचेउं, सम्मणाण-सम्मदंसण-सम्मचरित्त-तव वीरियाचारेसु, यम-नियम-संजम-शील-मूलुत्तरगुणेसु. सव्वमईचारं ,सावज्जजोगं, पडिविरदोमि, असंखेज्जलोग अज्झवसायठाणाणि, अप्पसत्थजोगसण्णाणिंदियकसायगारवकिरियासु, मणवयणकायकरणदुप्पणिहाणि, परिचिंतियाणि. किण्हणीलकाउलेस्साओ. विकहापालिकुंचिएण, उम्मग हस्स-रदि-अरदि सोय-भय-दुगंछवेयणविज्जंभ जंभाईआणि, अट्टरुद्दसंकिलेसपरिणामाणि. परिणामिदाणि, अणिहदकरचरणमणवयणकायकरणेण, अक्खित्तबहुलयरायणेण, अपडिपुण्णेण वासक्खरावय संघायपडिवत्तिएण अच्छाकारिदं, मिच्छामेलिदं, आमेलिदं, वा मेलिदं अण्णहादिण्णं, अण्णहा पडिच्छदं, आवसएसु परिहीणदाए, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

गाथा—वदसमिदिंदियरोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदि भोयणमेय भत्तं च ॥१॥

एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
एत्थ पमादकदादो, अइयारादो णियत्तोऽहं ॥२॥

गद्य—छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं ।

विशेष—इसका अर्थ दैवसिक प्रतिक्रमण में २१४ से २१८ तक में लिखा जा चुका है अतः वहां पर देखें ।

शांति चतुर्विंशति स्तुति

गद्य—अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थम् पाक्षिक (चातुर्मासिक, सांवत्सरिक) प्रतिक्रमण क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकलकर्मक्षयार्थं, भावपूजावंदनास्तवसमेतं, शांतिचतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं ।

विशेष—'अथ सर्वातिचार विशुद्धचर्थम्' इत्यादि प्रतिज्ञा का पूर्ववत् उच्चारण कर 'णमो अरहताणं' इत्यादि दडक पाठ पढकर ६ बार णमोकार मन्त्र पढे । "थोस्सामि" इत्यादि दडक पाठ पढकर 'विधाय रक्षां' इत्यादि शांति कीर्त्तना और अंचलिका युक्त चतुर्विशति तीर्थङ्कर कीर्त्तना और 'वद समिदि दियरोधो' इत्यादि पाठ सूरि और सयत पढे ।

शांति कीर्त्तना

श्लोक—विधायरक्षां परतः प्रजानां, राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः ।
व्यधात्पुरस्तात् स्वत एव शांति मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशांतिं ॥१॥

अर्थ—अनुपम पराक्रम वाले जो भगवान् शांतिनाथ, प्रथम षट्खड के अधिपति होकर, चिरकाल तक शत्रुओं से प्रजा की संरक्षा करके पश्चात् वेही दयामूर्ति शांतिनाथ, सब पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाले मुनि होकर, परोपदेश के विना स्वयं ही, अपने और प्रजा के पाप की शान्ति करने वाले हुये है ॥१॥

श्लोक—चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण, जित्वानृपः सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय, महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥२॥

अर्थ—जो राजा शातिनाथ, गृहस्थावस्था में, शत्रुओ को भय उपजाने वाले चक्र से, सब राजाओ के समूह को जीतकर, मुनि अवस्था में गर्भी

व्रतारादि कल्याण कों के धारक थे वे ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूप समाधि चक्र के द्वारा, दुर्जय मोह सैन्य को जीतने वाले हुये हैं ॥२॥

श्लोक—राजश्रिया राजसु राजसिंहो, रराज यो राजसु भोगतंत्रः ।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो, देवासुरोदारसभे रराज॥३॥

अर्थ—जो राजसिंह श्री शांतिनाथ, राज्यावस्था में राजाओ के उत्तम भोगों मे लीन हुये थे राज्य लक्ष्मी से सुशोभित हुये थे वेही फिर अरहंत अवस्था में आत्म स्वरूप में लीन होकर देव और असुरो की समवशरणवर्ती उदार सभा में आठ प्रातिहार्य और समवशरण रूप बाह्य लक्ष्मी से और अनंतज्ञानादि रूप आभ्यन्तर लक्ष्मी सेभी सुशोभित हुये है ॥३॥

श्लोक—यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं, मुनौ दयादीधितिधर्मचक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्रांजलिदेवचक्रं, ध्यानोन्मुखे ध्वंसिकृतांतचक्रम्॥४॥

अर्थ—जिन शांतिनाथ के राजा होने पर, सामने अन्य राजाओ का चक्र(समूह)हाथों की अंजुली जोडे हुये हुये खडारहा, और सकलार्थ साक्षात् कारी मुनि होने पर, दया रूप किरणो वाला, धर्म चक्र आगे २ चलता था। पूज्य अर्हन्त पद की प्राप्ति होने पर, देवो का चक्र, हाथ जोडे हुये, बार२ शिर झुकाकर, खडा रहता था और चतुर्थ व्युपरीति क्रिया निवृत्ति-नामक शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होने पर अवशिष्ट चार अघातिया कर्मोका नाश होगया था।

श्लोक-स्वदोषशान्त्यावहितात्मशांतिः.शांतेर्विधाता शरणं गतानां।
भूयाद्भवक्लेश भयोपशान्त्यै.शांतिर्जिनो मे भगवाञ्छरण्यः॥५॥

अर्थ—जिन्होने अपनी आत्मा में स्थिर रागादिभावों की शान्ति करके, अपनी शांति की; ऐसे संसार-समुद्र से पार होने के लिये, शरण को प्राप्त हुये, भव्यजीवो की शांति के करने वाले, वे कर्म रूप अरातियों के (शत्रुओं के)विजेता भगवान्, शरण-भूत, शांति जिन, मेरे भव क्लेश और भय की उपशांति के लिये होवें ॥५॥

चतुर्विंशति स्तुति

गाथा—चउवीसे तित्थयरे, उसहाइवीरपच्छिमे वंदे ।
सव्वेसिं गुणगणहर, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥१॥

श्लोक–ये लोकेऽष्टसहस्रलक्षणधरा, ज्ञेयार्णवान्तर्गता:, ये सम्यग्भवजालहेतुमथनाश्चन्द्रार्क तेजोऽधिका: । ये साध्विन्द्रसुराप्स-रोगणशतैर्गीतप्रणुत्यार्च्चितास्, तान् देवान् वृषभादिवीरचरमान् भक्त्या नमस्याम्यहं ॥२॥ नाभेयं देवपूज्यं, जिनवरमजितं, सर्व-लोकप्रदीपं, सर्वज्ञं संभवाख्यं मुनिगणवृषभं, नन्दनं देवदेवम् । कर्मारिघ्नं, सुबुद्धिं, वरकमलनिभं, पद्मपुष्पाभिगन्धम्, क्षान्तं दांतं सुपार्श्वं, सकलशशिनिभं, चंद्रनामानमीडे ॥३॥ विख्यातं पुष्पदंतं, भवभयमथनं, शीतलं लोकनाथम्, श्रेयांसं शीलकोषं, प्रवरनरगुरुं, वासुपूज्यं सुपूज्यम् । मुक्तं दांतेन्द्रियाश्वं, विमलमृषिपतिं सिंहसेन्यं, मुनीन्द्रम् धर्मं सद्धर्मकेतुं, शमदमनिलयं स्तौमि शान्तिं शरण्यम् ॥४॥ कुंथुं सिद्धालयस्थं, श्रमणपतिमरं त्यक्तभोगेषु चक्रम्, मल्लिं विख्यातगोत्रं, खचरगणनुतं सुव्रतं सौख्यराशिम् । देवेंद्राच्र्यं नमीशं हरिकुलतिलकं, नेमिचंद्रं भवांतं, पार्श्वं नागेंद्रवंद्यं शरणमहमितो वर्धमानंच भक्त्या ॥५॥

गद्य-इच्छामि भंते ! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सा-लोचेउं, पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसहिदाणं चउवीस-अतिसयविसेससंजुत्ताणं बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहिदाणं, बल-देव-वासुदेव-चक्कहर-रिसि-मुणि-जइ-अणगारोव-गूढाणं, थुइसहस्स-णिलयाणं, उसहाइवीरपच्छिम-मंगल-महापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहि-लाहो सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

गाथा–वदसमिदिंदियरोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।

खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥१॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।

एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं ॥२॥

गद्य–छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं । विशेष–इनका अर्थ पहले दिया गया है ।

चारित्रालोचनासहिता बृहदाचार्यभक्ति :—

गद्य-अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं चारित्रालोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं—

विशेष:—यहां पर भी निम्नलिखित दंडक पाठ को पूरा पढ़कर आचार्यभक्ति को पढ़कर आगे लघु चरित्रालोचना का पाठ करे:—

गाथा—"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥१॥

गद्य-चत्तारिमंगलं. अरिहंतामंगलं, सिद्धामंगलं, साहूमंगलं, केवलिपण्णत्तोधम्मोमंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धालोगुत्तमा साहूलोगुत्तमा केवलिपण्णत्तोधम्मोलोगुत्तमो, चत्तारिसरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणंपव्वज्जामि ।

गद्य—अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्दे सु पण्णारस कम्मभूमीसु जाव अरहंताणं, भयवंताणं, आदियराणं, तित्थयराणं. जिणाणं, जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं. परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसगाणं, धम्मणायगाणं; धम्मवरचाउरंगचक्कवट्टीणं, देवाहिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं. चरित्ताणं, सदा करेमि किरियम्मं । करेमि भंते! सामायियं सव्वसावज्जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवं तिविहेण मणसा, वचसा, कायेण, ण करेमि, ण कारेमि, अण्णं कीरंतंण समणुमणामि, तस्स भंते! अइचारं पच्चक्खामि, णिंदामि, गरहामि. अप्पाणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं, दुच्चरियं वोस्सरामि ।

विशेष—यहां पर ९ बार णमोकार मंत्र का जाप्य करना चाहिये ।

गाथा—थोस्सामिहं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।

णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।

अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥२॥

उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥
सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयलसेयं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥
कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तहपासं वड्ढमाणं च ॥५॥
एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चौवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥
चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियं पयासंता ।
सायरमिव गंभीरा सिद्धासिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

सिद्धगुणस्तुतिनिरतानुद्धूतरुषाग्निजालबहुलविशेषान् ।
गुप्तिभिरभिसंपूर्णान्मुक्तियुतः सत्यवचनलक्षितभावान् ॥१॥
मुनिमाहात्म्यविशेषाज्जिनशासनसत्प्रदीपभासुरमूर्तीन् ।
सिद्धिं प्रपित्सुमनसोबद्धरजोविपुलमूलघातनकुशलान् ॥२॥
गुणमणिविरचितवपुषः षड्द्रव्यविनिश्चितस्य धातॄन्सततम् ।
रहितप्रमादचर्यान्दर्शनशुद्धान् गणस्य संतुष्टिकरान् ॥३॥
मोहच्छिदुग्रतपसः, प्रशस्तपरिशुद्धहृदयशोभनव्यवहारान् ।
प्रासुकनिलयाननघानाशाविध्वंसिचेतसो हतकुपथान् ॥४॥
धारितविलसन्मुण्डान्, वर्जितबहुदंडपिंडमंडलनिकरान् ।
सकलपरीषहजयिनः, क्रियाभिरनिशं प्रमादतः परिरहितान् ॥५॥
अचलान् व्यपेतनिद्रान् स्थानयुतान्कष्टदुष्टलेश्याहीनान् ।
विधिनानाश्रितवासा, नलिप्तदेहान्विनिर्जितेंद्रियकरिणः ॥६॥

अतुलानुत्कुटिकासान्विविक्तचित्तानखंडितस्वाध्यायान् ।
दक्षिणभावसमग्रान् व्यपगतमदरागलोभशठमात्सर्यान् ॥७॥
भिन्नार्त्तरौद्रपक्षान् सभावित धर्मशुक्लनिर्मलहृदयान् ।
नित्यं पिनद्धकुगर्तान् पुण्यान् गण्योदयान् विलीनगारवचर्यान् ॥८॥
तरुमूलयोगयुक्तानवकाशातापयोगरागसनाथान् ।
बहुजनहितकरचर्या,नभयाननघान्महानुभावविधानान् ॥९॥
ईदृशगुणसंपन्नान्युष्मान् भक्त्या विशालया स्थिरयोगान् ।
विधिनानारतमग्र्यान् मुकुलीकृतहस्तकमलशोभितशिरसा ॥१०॥
अभिनौमि सकलकलुषप्रभवोदयजन्मजरामरणबंधनमुक्तान् ।
शिवमचलमनघमक्षय,मव्याहतमुक्तिसौख्यमस्त्विति सततम् ॥११॥

लघु चारित्रालोचना

गद्य—इच्छामि भंते । चरित्तायारो तेरसविहो पारिहाविदो. पंचमहव्वदाणि. पंचसमिदीओ. तिगुत्तीओ चेदि । तत्थ पढमे महव्वदे-पाणादिवादादो वेरमणं, से पुढविकाइया जीवा असंखेज्जा संखेज्जा. आउकाइया जीवा असंखेज्जा संखेज्जा. तेउकाइया जीवा असंखेज्जा संखेज्जा. वाउकाइया जीवा असंखेज्जा संखेज्जा, वणप्फदिकाइया जीवा अणंताणंता. हरिया, बीया, अंकुरा, छिण्णा भिण्णा. तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं. उवघादो कदो वा.कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

गद्य—बे इंदिया जीवा असंखेज्जा संखेज्जा, कुक्खि-किमी-संख-खुल्लय-वराडय अक्ख-रिट्ठ-बाल-संबुक्क--सिप्पि--पुलविकाइया, तेसिं उद्दावणं परिदावणं.विराहणं, उवघादो कदो वा. कारिदो वा, कीरंतो वा. समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥२॥

गद्य—तेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा. कुंथु-देहिय-विछिय-गोभिंद गोजव मक्कुणपिपीलियाइया, तेसिं उद्दावणं परि-

परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥३॥

गद्य—चउरिंदिया जीवा; असंखेज्जा संखेज्जा, दंसमसय-मक्खिय-पयंग-कीड-भमर-महुयर-गोमच्छियाइया तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥४॥

गद्य—पंचिन्दिया जीवा असंखेज्जा संखेज्जा. अंडाइया, पोदाइया, जराइया, रसाइया, संसेदिमा, सम्मुच्छिमा, उब्भेदिमा, उववादिमा, अविचउरासीदिजोणीपमुह सदसहस्सेसु, एदेसिं, उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥५॥

अंचलिका—इच्छामि भंते। काओसग्गोकओ तस्सालोचेउं. सणाण-सम्मदंसण-सम्मचारित्तजुत्ताणं, पंचविहाचाराणं, आइरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं. णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होऊ मज्झं।

गाथा—वद समिदिंदियरोधो लोचो आवासय मचेल मण्हाणं।
खिदिसयण मदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥१॥

एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं ॥२॥

गद्य—छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं ॥

विशेष—इन सबका अर्थ पहिले दिया जा चुका है।

बृहदालोचन सहित आचार्य मध्यम भक्ति

गद्य—सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं बृहदालोचनाचार्यभक्तिं कायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

अर्थ—सब अतिचारों की विशुद्धि के लिए बृहत् आलोचना और आचार्य-भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग मैं करता हूँ:—

विशेष—इस प्रकार उच्चारण कर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दंडक पाठ पढकर ९ बार णमोकार मन्त्र का कायोत्सर्ग करे और 'थोस्सामि' इत्यादि दंडक पाठ को पढकर 'देस-कुल जाइ सुद्धा' इत्यादिक मध्यमाचार्य नुति और हे भगवन्, पाक्षिकादि प्रतिक्रमण मे आलोचना चाहता हूँ इच्छामि भंते इत्यादि बृहदालोचना को पाक्षिक मे पाक्षिक आलोचना, चातुर्मास मे पाक्षिक तथा चातुर्मासिक दोनो,पाठों को पढे तथा सावत्सरिक प्रतिक्रमण में तीनो आलोचना के पाठो को पढे, वे पाठ आगे मूल मात्र दिये जा रहे हैं।

गाथा—देसकुलजाइसुद्धा, विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता ।
तुम्हं पायपयोरुह, मिहमंगलमत्थु मे णिच्चं ॥१॥

अर्थ—जो आर्य, देश, पितृवशकुल और मातृवश, जाति इन तीनों से शुद्ध है तथा विशुद्ध मन,विशुद्धवचन और विशुद्ध काय से सयुक्त है, ऐसे आचार्यों के चरण-कमल मेरे लिये नित्य मंगल रूप हों ॥१॥

गाथा—सगपरसमयविदण्हू, आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता ।
सुसमत्था जिणवयणे, विणये सत्ताणुरूवेण ॥२॥

अर्थ—जो आगमन और हेतुओं से, जीवादि पदार्थों को जानकर, स्वमत और परमत का विचार करने वाले है, जिन वचन में प्रतिपादित अर्थ के समर्थन में और सत्वानुरूप से विनय करने में अच्छी तरह समर्थ है ॥२॥

गाथा—बालगुरुवुड्ढसेहे, गिलाणथेरे य खमण संजुत्ता ।
वट्टावयगा अण्णे, दुस्सीले चावि जाणित्ता ॥३॥

अर्थ— जो साधु बाल हैं, बडे हैं, बूढे है, शिक्षक है, ग्लान है, स्थविर हैं, तथा दु शील है उन सब को, उस रूप में जान कर उन सभी को सन्मार्ग में प्रवर्त्ताने वाले है ।।३।।

गाथा-वयसमिदिगुत्तिजुत्ता, मुत्तिपहे ठाविया पुणो अण्णे ।
अज्झावयगुणणिलये, साहुगुणेणावि संजुत्ता ॥४॥

अर्थ—जो व्रत, समिति और गुप्ति से युक्त है और अन्य जनों को मुक्ति के मार्ग में स्थापित करने वाले है, उपाध्याय के पच्चीस गुणोके निलय (स्थान) है, तथा साधुओ के अट्ठाईस मूल गुणो से भी सयुक्त है ।।४।।

गाथा-उत्तमखमाए पुढवी, पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा ।
कम्मिंधणदहणादो, अगणी वाऊ असंगादो ॥५॥

अर्थ—आचार्य उत्तम क्षमा से युक्त हैं, इसलिये पृथ्वी के समान हैं, निर्मल भाव वाले है, इस लिये स्वच्छ जल के सदृश है, कर्मरूप इंधन का दहन करने वाले हैं, इसलिये अग्नि के समान है, निष्परिग्रही हैं, इसलिय वायु के समान है ।।५।।

गाथा-गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा ।
एरिसगुणणिलयाणं, पायं पणमामि सुद्धमणो ॥६॥

अर्थ—आकाश के समान निरुपलेप है (इसलिय आकाश के समान है) वे मुनियों में श्रेष्ठ आचार्य, सागर के समान क्षोभरहित हैं, इस प्रकार के गुणो के निलय (स्थान) आचार्यों के चरणो को शुद्ध मन होकर प्रणाम करता हूँ ।।६।।

गाथा-संसार काणणे पुण, बंभममाणेहिं भव्वजीवेहिं ।
णिव्वाणस्स हु मग्गो, लद्धो तुम्हं पसाएण ॥७॥

अर्थ—संसार रूपी वन में बार २ भ्रमण करने वाले, भव्य जीवों ने आप के प्रसाद से निर्वाण का मार्ग पाया है ।।७।।

गाथा-अविसुद्धलेस्स रहिया, विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा ।
रुद्दट्टे पुण चत्ता, धम्मे सुक्के व संजुत्ता ॥८॥

अर्थ—जो कृष्णादि अशुभ लेश्याओं से रहित हैं, जो पीतादि शुभ लेश्याओं से परिणत हैं, अतएव शुद्ध हैं। संसार के कारण रौद्र और आर्त्त-ध्यानों से त्यक्त हैं (रहित हैं) तथा मोक्ष के हेतु, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में लीन हैं ॥८॥

गाथा—उग्गहईहावाया, धारणगुणसंपदेहिं संजुत्ता।
सुत्तत्थभावणाए, भावियमाणेहिं वंदामि ॥९॥

अर्थ—जो श्रुतार्थ भावना के आविर्भावक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा गुण रूप संपदा से संयुक्त हैं, उन आचार्यों की वन्दना करता हूं ॥९॥

गाथा—तुम्हं गुणगणसंथुदि, अजाणमाणेण जो मया वुत्तो।
देउ मम बोहिलाहं, गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्चं ॥१०॥

अर्थ—हे आचार्य भगवन्! आप के गुणों की स्तुति मुझ अज्ञ ने जो की है, वह गुरु भक्ति से युक्त स्तुति, मुझे प्रतिदिन बोधि लाभ (रत्नत्रय की प्राप्ति रूप गुण को) देवे ॥१०॥

बृहदालोचना

गद्य—इच्छामि भंते! पक्खियम्मि आलोचेउं, पण्णरसण्हं दिवसाणं, पण्णरसण्हं राईणं, अब्भिंतरदो पंचविहो आयारो-णाणायारो, दंसणायारो, तवायारो, वीरियायारो चरित्तायारो चेदि।

अर्थ—हे भगवन्! पक्षभर में या दिन गणना से पन्द्रह दिन और पन्द्रह रात्रि के भीतर, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तप आचार, वीर्याचार और चारित्राचार इस प्रकार पांच प्रकार के आचार में मेरे जो अतिचार संभव हुआ है, उसकी मैं आलोचना करना चाहता हूं॥

गद्य—इच्छामि भंते! चउमासिम्मि आलोचेउं, चउण्हं मासाणं, अट्ठण्हं पक्खाणं, वीसुत्तरसयदिवसाणं, वीसुत्तरसयराईणं, अब्भिंतरदो पंचविहो आयारो—णाणायारो, दंसणायारो, तवायारो, वीरियायारो, चरित्तायारो चेदि।

अर्थ—हे आचार्य भगवन्! इन चार महिनों में, या आठ पक्ष, एक सो बीस दिन और एक सो बीस रात्रि के भीतर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार और चारित्राचार इस प्रकार पाँच प्रकार के आचार में जो अतिचार (दोष) संभव हुआ है, उसकी आलोचना करता हूँ।

गद्य–इच्छामि भंते! संवच्छरियं आलोचेउं, बारेसण्हं मासाणं, चउवीसण्हं पक्खाणं, तिण्णिछावट्ठिसयदिवसाणं, तिण्हछावट्ठिसयराईणं, अब्भिंतरदो पंचविहो आयारो-णाणायारो, दंसणायारो तवायारो, वीरियायारो, चरित्तायारो चेदि।

अर्थ—हे आचार्य भगवन्! सांवत्सरिक या मास, पक्ष, दिन, रात्रि गणना की अपेक्षा बारह मास, चौबीस पक्ष, तीनसो छयासठ दिन और तीन सो छयासठ रात्रि के अभ्यंतर ज्ञानाचार, दर्शनाचार तपाचार वीर्याचार और चारित्राचार, इस प्रकार के आचार में जो मेरे अतिचार लगा हो, उसकी आलोचना करता हू॥

गद्य–तत्थ णाणायारो काले विणये उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे, वंजण अत्थ तदुभये चेदि, तत्थ णाणायारो अट्ठविहो परिहाविदो से अक्खरहीणं वा सरहीणं वा वंजणहीणं वा पद-हीणं वा अत्थहीणं वा गंथहीणं वा थएसु वा थुएसु वा अट्ठक्खा-णेसु वा अणियोगेसु वा अणियोगद्दारेसु वा अकाले सज्झाओ कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो काले वा परिहा-विदो अत्थाकारिदं वा मिच्छामेलिदं वा आमेलिदं वा मेलिदं वा अण्णहादिण्णं अण्णहापडिच्छदं आवासएसु परिहीणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं। गद्य–दंसणायारो, अट्ठविहोः—

गाथा–णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिंगिछा अमूढदिट्ठीय।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल पहावणा चेदि॥१॥

गद्य–अट्ठविहो परिहाविदो संकाए कंखाए विदिगिंछाए

अण्णदिट्ठिपसंसणदाए परपाखंडपसंसणदाए अणायदणसेवणदाए अवच्छल्लदाए अप्पहावणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

गद्य—तवायारो वारसविहो, अब्भंतरो छव्विहो वाहिरो छव्विहो चेदि, तत्थ वाहिरो अणसणं आमोदरियं वित्तिपरिसंखा रसपरिच्चाओ सरीरपरिच्चाओ विवित्तसयणासणं चेदि, तत्थ अब्भंतरो पायच्छित्तं विणओ वेज्जावच्चं सज्झाओ झाणं विउस्सग्गो चेदि । अब्भंतरं वाहिरं वारसविहं तवोकम्मं ण कदं णिसण्णेण पडिक्कंतं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

गद्य—वीरियायारो पंचविहो परिहाविदो वरवीरियपरिक्कमेण जहुत्तमाणेण वलेण वीरिएण परिक्कमेण णिगूहियं तवोकम्मं ण कयं णिसण्णेण पडिक्कंतं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

गद्य—इच्छामि भंते ! चरित्तायारो तेरसविहो परिहाविदो पंच महव्वदाणि पंचसमिदीओ तिगुत्तीओ चेदि । तत्थ पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं. से पुढविकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, आउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा तेउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वाउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाइया जीवा अणंताणंता हरिया, वीया, अंकुरा, छिण्णा, भिण्णा. एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वाकारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

गद्य—वेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा कुक्खि-किम्मि-संख-खुल्लय-वराडय-अक्ख-रिट्ठ-गंडवाल-संवुक-सिप्पि-पुल-विकाइया, तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

गद्य—तेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा कुंथु-देहिय-विंछिय-गोभिंद-गोजुव-मक्कुण-पिपीलियाइया, तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा दंसमसय-पयंगकीड-भमर-महुयर गोमच्छियाइया तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पंचिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा अंडाइया-पोदाइया-जराइया-रसाइया संसेदिमा-सम्मुच्छिमा-उब्भेदिमा-उववादिमा अवि चउरासीदिजोणीपमुहसदसहस्सेसु, एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मि च्छा मे दुक्कडं।

गाथा—वदसमिदिंदियरोधो लोंचो आवासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥१॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तोऽहं ॥२॥

गद्य—छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं॥

विशेष—इन सब का अर्थ पृष्ठ सख्या २३३ से २३९ तक लिखा जाचुका है।

क्षुल्लकालोचनासहिता क्षुल्लकाचार्य भक्तिः—

गद्य—अथसर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं क्षुल्लकालोचनाचार्य भक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

अर्थ—सब अतिचारों की विशुद्धि के लिए क्षुल्लक आलोचना और आचार्य भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग मैं करता हूं।

विशेष—इस प्रकार उच्चारण कर पूर्ववत् 'णमो अरहंताणं' समस्त दंडक पाठ की क्रिया करके नव वार णमोकार मंत्र का जाप्य करे कायोत्सर्ग करे 'थोस्सामि' दंडक का पाठ पढे उसके बाद नीचे लिखा हुआ 'प्राज्ञः प्राप्त समस्त—' इसे आदि लेकर 'श्रुतजलधि' इत्यादि मोक्षमार्गोपदेशका पर्यंत आचार्य भक्ति आचार्य सहित सब संयत पढें। वह इस प्रकार हैं:—

श्लोक—प्राज्ञः, प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः, प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः, प्रतिभापरः प्रशमवान्, प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः, प्रभुः परमनो,हारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां, गणी गुणनिधिः, प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥१॥

अर्थ—जो प्राज्ञ बुद्धिमान् हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रों का रहस्य प्राप्त किया है, जिनके समक्ष लोक की स्थिति स्पष्ट है जिनकी लौकिक आशा नष्ट हो गई है प्रतिभाशाली हैं, कषाय भाव से रहित उपशम भाव वाले हैं, प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न करने से पहले ही जो उसका उत्तर सोच रखते हैं, जो प्रश्नों को सहन करने वाले है, समर्थ है, पर के मन को हरण करने वाले है, पराई निंदा से रहित है, गुण निधि है, जिनके वचन स्पष्ट और मधुर हैं, ऐसा गणी आचार्य धर्मकथा कहने वाला होता है अथवा ऐसा गणी धर्म कथा कहे ॥१॥

श्लोक—श्रुत,मविकलं, शुद्धा वृत्तिः, परप्रतिबोधने,
परिणति,रुरू,द्योगो, मार्ग; प्रवर्त्तनसद्विधौ।
बुधनुति,रनुत्सेको लोक;ज्ञता मृदुता,ऽस्पृहा,
यतिपति,गुणा, यस्मिन्,नन्ये, च सोऽस्तु गुरुः सताम्॥२॥

विशेष—यह हरिणी छन्द है इसके प्रत्येक चरण में ६, ४ तथा ७ अक्षरो पर विराम करना चाहिये।

अर्थ—जिसका श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) निःसन्देह परिपूर्ण है, जिसकी मन, वचन और काय की प्रवृत्ति शुद्ध निर्दोष है, औरों को बोध कराने में जिसकी परिणति है; सन्मार्गकी प्रवृत्ति कराने की प्रशस्त विधि में जिनका भारी उद्योग है; जो अपने से बड़ों का विनय करने वाला है, अहंकार

रहित है, जिसमें लोकज्ञता है, मृदुता (कोमलता) है, जो स्पृहा से रहित है, जिसमें और भी अन्य अनेक यतिपतियों के गुण हैं वह सज्जन पुरुषों का गुरु होता है।

श्लोक–श्रुतजलधिपारगेभ्यः, स्वपरमतविभावनापटुमतिभ्यः।
सुचरिततपोनिधिभ्यो, नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्यः ॥३॥
छत्तीसगुणसमग्गे, पंचविहाचारकरणसंदरिसे,
सिस्साणुग्गहकुसले, धम्माइरिए सदा वंदे ॥४॥
गुरुभत्तिसंजमेण य, तरंति संसारसायरं घोरं।
छिण्णंति अट्ठकम्मं, जम्मणमरणं ण पावेंति ॥५॥
ये नित्यं व्रतमंत्रहोमनिरता, ध्यानाग्निहोत्राकुला,
षट्कर्माभिरतास्तपोधनधनाः, साधुक्रियासाधवः।
शीलप्रावरणा गुणप्रहरणाश्चन्द्रार्कतेजोधिकाः,
मोक्षद्वारकपाटपाटनभटा प्रीणंतु मां साधवः ॥६॥
गुरवः पांतु नो नित्यं, ज्ञानदर्शननायकाः।
चारित्रार्णवगंभीरा, मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥७॥

विशेषः—तीसरे से ७ वें श्लोक का अर्थ २२५-२२६ पृष्ठपर लिखा जा चुका है, अतः वहां देखे। आलोचना—

गद्य–इच्छामि भंते! आइरियभत्ति काउसग्गो कओ! तस्सालोचेउं, सम्मणाण-सम्मदंसण सम्मचारित्तजुत्ताणं, पंचविहाचाराणं, आयरियाणं, आयारादि सुदणाणोवदेसयाणं, उवज्झायाणं तिरयणगुणपालणरयाणं, सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।

गाथा–वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥१॥

एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं ॥

गद्य—छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं ।

अर्थ—हे भगवन् ! आचार्य भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग, मैंने किया, उसकी आलोचना करना चाहता हूं । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र से युक्त पांच प्रकार के आचार को पालने वाले आचार्यों को, आचारादि श्रुतज्ञान के उपदेशक उपाध्यायों की और तीन रत्नरूप गुण के पालन में अनुरक्त सर्वसाधुओं की नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ और नमस्कार करता हूँ, दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, वोधि का लाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधि पूर्वक मरण और जिनेन्द्र के कैवल्यादि गुणों की सप्राप्ति मेरे हो ।

विशेष—उक्त दोनों गाथाओं का अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है ।

गद्य—अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिक (चातुर्मासिक,सांवत्सरिक) प्रतिक्रमण क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकलकर्मक्षयार्थं, भावपूजावंदनास्तवसमेतं सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति-प्रतिक्रमणभक्ति, निष्ठितकरणवीरभक्ति-शांतिचतुर्विंशति तीर्थङ्करचारित्रालोचनाचार्य बृहदालोचनाचार्य क्षुल्लकलोचनाचार्यभक्तिं, कृत्वा तद्धीनाधिकत्वादिदोषविशुद्ध्यर्थं समाधिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ॥१॥

अर्थ—सब अतिचारों से विशुद्धि के लिये पाक्षिक (चातुर्मासिक, सांवत्सरिक) प्रतिक्रमण क्रिया मे पूर्वाचार्यों के क्रम से सपूर्ण कर्मों के क्षय करने के निमित्त भावपूजा, वन्दना, स्तव सहित सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति, निष्ठित करण वीर भक्ति, शांति चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, चारित्रालोचना सहित बृहदाचार्य भक्ति, बृहदालोचनासहित, मध्याचार्य भक्ति और क्षुल्लकालोचनाचार्य भक्ति करके उनमें हीनाधिकत्वादि दोषों की विशुद्धि के लिये, समाधि भक्ति सम्बन्धी मैं कायोत्सर्ग करता हूँ । (ऐसा उच्चारण करके पूर्ववत् 'णमो अरहंताणं' आदि दंडक पाठ पढकर नव वार णमोकार मंत्र का उच्चारण करना चाहिये तथा 'थोस्सामि' इत्यादि आठ गाथाओं के दंडक को पढकर नीचे लिखी इष्ट प्रार्थना, आचार्य सहित सब साधुओं को पढना चाहिये ।

अर्थ—अपने परिणामों की विशेष शुद्धि के लिये पहले प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग को नमस्कार करके आचार्य अपनी भावना को निम्नश्लोकों के द्वारा प्रकट करते हैं:—

गद्य—अथेष्ट प्रार्थना—प्रथमं, करणं, चरणं; द्रव्यं नमः

अर्थ—हे भगवन् ! समाधिभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया उसकी मैं आलोचना करता हूं रत्नत्रय रूप परमात्मा का ध्यान-लक्षण समाधि भक्ति की नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूं, वंदना करता हूं, नमस्कार करता हूं, मेरे दुःखो का नाश हो, कर्मो का क्षय हो, बोधि रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो, जिनेन्द्र भगवान के गुणों की प्राप्ति हो।

श्लोक—शास्त्राभ्यासो, जिनपतिनुतिः, संगतिः सर्वदार्यैः,
सदुवृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो, भावना चात्मतत्वे,
सम्पद्यन्तां, मम भवभवे, यावदेतेऽपवर्गः ॥१॥
तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनं ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥२॥
अक्खरपयत्थहीणं, मत्ताहीणं च जं मए भणियं ।
तं खमहु णाणदेव य, मज्झवि दुक्खक्खयं कुणउ ॥३॥

अंचलिका—इच्छामि भंते ! समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, रयणत्तयरूवपरमप्पज्झाणलक्खणसमाहिभत्तीए, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ॥

विशेष—समाधि भक्ति के अनन्यर प्रारम्भ में पृष्ठ नं० २२३ में प्रकाशित लघु सिद्धभक्ति लघुश्रुतभक्ति तथा लघु आचार्यभक्ति अंचलिका सहित २२७ पृष्ठतक पढकर साधु आचार्य वंदना करें।

❀ पाक्षिक प्रतिक्रमण समाप्त ❀

दीक्षा–नक्षत्राणि :—

श्लोक–प्रणम्य शिरसा वीरं, जिनेन्द्रममलव्रतम् ।
दीक्षा ऋक्षाणि वक्ष्यन्ते सतां शुभ फलाप्तये ॥१॥

अर्थ—निर्मल व्रत के धारी महावीर भगवान् को प्रणाम करके सज्जनों को शुभ फल की प्राप्ति के लिये दीक्षा ग्रहण करने के योग्य नक्षत्रों का वर्णन निम्न प्रकार किया जायगा ।

श्लोक–भरण्युत्तरफाल्गुन्यौ मघाचित्राविशाखिकाः ।
पूर्वाभाद्रपदा भानि रेवती मुनि-दीक्षणे ॥२॥

अर्थ—मुनि दीक्षा के उपयुक्त निम्नलिखित ग्रह बतलाये गये हैं.—भरणी, उत्तराफाल्गुनी, मघा, चित्रा, विशाखा, पूर्वभाद्रपदा तथा रेवती ये सात नक्षत्र दीक्षा के लिये शुभ हैं ।

श्लोक–रोहिणी चोत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपत्तथा ।
स्वातिः कृत्तिकया सार्धं, वर्ज्यते मुनिदीक्षणे ॥३॥

अर्थ—मुनि की दीक्षा मे निम्न लिखित नक्षत्र वर्जित है:—रोहिणी, उत्तराषाढा, उत्तरांभाद्रपद, स्वाति, कृत्तिका ये पाच नक्षत्र दीक्षा ग्रहण करने मे वर्जित हैं ।

श्लोक–अश्विनी-पूर्वाफाल्गुन्यौ, हस्तस्वात्यनुराधिकाः ।
मूलं तथोत्तराषाढा श्रवणः शतभिषक्तथा ॥४॥
उत्तरा भाद्रपच्चापि दशेति विशदाशयाः ।
आर्यिकाणां व्रते योग्यान्युपन्ति शुभहेतवः ॥५॥

अर्थ—निम्न लिखित १० नक्षत्र आर्यिकाओं के व्रत ग्रहण करने के लिये उत्तम माने गये हैं:—अश्विनी, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, अनु-राधा, मूल, उत्तराषाढा, श्रवण, शतभिक और उत्तराभाद्रपद ।

श्लोक–भरण्यां कृत्तिकायां च पुष्ये श्लेषार्द्रयोस्तथा ।
पुनर्वसौ च नो दद्यु रार्यिकाव्रतमुत्तमाः ॥६॥

अर्थ—भरणी, कृत्तिका, पुष्य, आश्लेषा, आर्द्रा और पुनर्वसु नक्षत्र में आर्यिकाओं को दीक्षा नहीं देनी चाहिये ।

श्लोक–पूर्वाभाद्रपदा मूलं, घनिष्ठा च विशाखिका ।
श्रवणश्चैषु दीक्ष्यन्ते, क्षुल्लकाः शल्यवर्जिताः ॥७॥

अर्थ—पूर्वाभाद्रपदा, मूल, घनिष्ठा, विशाखा और श्रवण नक्षत्रों में शल्य से रहित क्षुल्लक दीक्षित किये जाते है अर्थात् क्षुल्लक दीक्षा के लिये ऊपर लिखे हुये नक्षत्र शुभ है ।

॥ इति दीक्षा नक्षत्र पटलं ॥

दीक्षा ग्रहण क्रिया :–

श्लोक–सिद्धयोगि बृहद्भक्ति पूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम् ।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म, क्षम्यतां सिद्धभक्तितः ॥

गद्य–१. अथ दीक्षा ग्रहण क्रियायां—सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोमिः—('सिद्धानुद्धूत' इत्यादि यह भक्ति पृष्ठ १२ से चालू है वहां से पढ लेनी चाहिये)

२. अथ दीक्षा ग्रहण क्रियायां——योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि (जातिजरोरुरोगइत्यादि पृष्ठ ५८ से चालू है वहां से पढ लेनी चाहिये)

गद्य–अनंतरं लोचकरणं, नामकरणं, नाग्न्यप्रदानं, पिच्छप्रदानंच ।

अर्थ—इसके बाद लोच करना, नाम बदलना, नग्नताधारण करना तथा पीछी ग्रहण करना ।

गद्य–अथ दीक्षानिष्ठापनक्रियायां–सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं । दीक्षा धारण करने के बाद सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करता हूं । दीक्षादानोत्तरकर्त्तव्यम्–दीक्षा को ग्रहण करने के बाद की क्रिया ।

श्लोक—व्रतसमितीन्द्रियरोधाः, पंच पृथक् क्षितिशयो रदाघर्षः ।
स्थितिसकृदशन लुञ्चावश्यकषट्के विचेलताऽस्नानम् ॥
इत्यष्टविंशति मूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते ।
संक्षेपेण सशीलादीन्. गणी कुर्यात्प्रतिक्रमम् ॥

अर्थ—उस दीक्षित में पांच व्रत, पांच समिति, पाच इन्द्रियनिरोध, क्षितिशयन, (भूमि पर सोना) अदन्तधावन, स्थिति भोजन (खड़े होकर भोजन करना) सकृद्भुक्ति (एक बार भोजन करना) लोच, छह आवश्यक, अचेलता (नग्नता) और अस्नान इन अट्ठाईस मूल गुणो को संक्षेप से चौरासी लाख गुणो तथा अठारह हजार शीलो के साथ २ स्थापित कर दीक्षादाता आचार्य उसी दिन व्रतारोपण प्रतिक्रमण करे । यदि लग्न ठीक न हो तो कुछ दिन ठहर कर भी प्रतिक्रमण कर सकता है ।

— लोचक्रिया —

श्लोक—लोचो द्वित्रिचतुर्मासै.र्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।
लघु प्राग्भक्तिभिः कार्यः, सोपवासप्रतिक्रमः ॥१॥

अर्थ—दूसरे, तीसरे या चौथे महीने मे लाच करना चाहिये । दो महीने में लोच करना, उत्कृष्ट. तीन महीने मे मध्यम और ४ महीने मे जघन्य माना गया है इस लोच को उपवास पूर्वक और प्रतिक्रमण सहित लघु सिद्धभक्ति और लघुयोगिभक्ति पढकर प्रतिष्ठापन और लघुसिद्धभक्ति पढ कर निष्ठापन करना चाहिये ।

अथ लोच प्रतिष्ठापनक्रियायां—सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि ।
(तवसिद्धे इत्यादि)

अथ लोच प्रतिष्ठापन क्रियायां——योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि इसके बाद अपने हाथ से भी लोच कराया जा सकता है ।

अथ लोच निष्ठापन क्रियायां——सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि (तवसिद्धे इत्यादि) पीछे प्रतिक्रमण करना चाहिये ।

बृहद्दीक्षाविधि
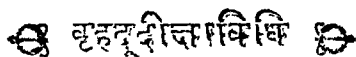
गद्य—पूर्वदिने भोजनसमये भाजनतिरस्कारविधिं विधाय.

आहारं गृहीत्वा, चैत्यालये आगच्छेत् । ततो बृहत्प्रत्याख्यान-प्रतिष्ठापने सिद्धयोगिभक्ती पठित्वा गुरुपार्श्वे प्रत्याख्यानं सोपवासं गृहीत्वा आचार्य-शांति समाधिभक्तीः पठित्वा गुरोः प्रणामं कुर्यात् ।

अथदीक्षादाने दीक्षादातृजना शांतिक,गणधरवलयपूजादिकं यथाशक्ति कारयेत् । अथ दाता तंस्नानादिकं कारयित्वा, यथा-योग्यालङ्कारयुक्तं महामहोत्सवेन चैत्यालये समानयेत् । स देव-शास्त्रगुरुपूजां विधाय वैराग्यभावनापरः सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरो रग्रे तिष्ठेत् ।

ततो गुरोरग्रे संघस्याग्रे, दीक्षायै च यांचां कृत्वा, तदाज्ञया सौभाग्यवती स्त्री विहित स्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वदिशाभिमुखः पर्यंकासनं कृत्वा आसते, गुरुश्चोत्तराभिमुखो भूत्वा संघाष्टकं संघं च परिपृच्छ्य लोचं कुर्यात् ।

अर्थ—पूर्व दिन मे, भोजन के समय, भाजन के तिरस्कार की विधि (बर्त्तनो को छोड़ने की क्रिया करके) तथा खड़े होकर आहार हाथ में लेकर, चैत्यालय मे आवे । उसके बाद बृहत्प्रत्याख्यान के प्रतिष्ठापन करने के लिये सिद्ध और योगिभक्ति को पढे । इसके बाद गुरु के पास जाकर उपवास सहित प्रत्याख्यान को ग्रहण करके आचार्यभक्ति, शांति भक्ति और समाधि भक्ति को पढकर गुरु को नमस्कार करना चाहिये ।

इसके बाद दीक्षा देने के विधान मे, दीक्षा को दिलाने वाले (माता पिता आदि) तथा क्षुल्लकादि की दीक्षा मे इन्द्र-इन्द्राणी आदि गणधर वलय पूजादिक को यथा शक्ति करावें । इसके बाद दीक्षा दिलाने वाले (माता पितादि) दीक्षित को स्नान आदि कराके, यथायोग्य अलंकार से युक्त करके बहुत उत्सव के साथ चैत्यालय में लावें । वह दीक्षित देव, शास्त्र और गुरु की पूजा करके, वैराग्य भावना में तत्पर होकर, सब कुटिम्बी जनो से तथा अन्य जनों से क्षमा याचना करके गुरु के सन्मुख स्थित होवे । इसके बाद गुरु के आगे तथा सघ के सन्मुख दीक्षा देने के लिये याचना करे । गुरु की आज्ञा के अनुसार, सौभाग्यवती स्त्री के द्वारा

किये गये साथिये के ऊपर श्वेतवस्त्र को ढककर वहां पूर्व दिशा में पद्मासन से बैठे और गुरु उत्तर दिशा की ओर मुंह करके संघ से पूंछकर लोच की क्रिया करे।

अथ तद्विधि :-

गद्य—वृहद्दीक्षायां लोचस्वीकारक्रियायां पूर्वाचार्येत्यादिकमुच्चार्य सिद्ध-योगिभक्तिं कृत्वा—

अर्थ—बड़ी दीक्षा के समय लोच को स्वीकार करने की क्रिया मे पूर्वाचार्य' आदि का उच्चारण करके सिद्धभक्ति और योगिभक्ति को करके:-

मंत्र—ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्य तेजो मूर्तये श्री शांतिनाथाय शांतिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय, सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशाय ओं हां हीं हूं हौं हः अ सि आ उ सा अमुकस्य (दीक्षित व्यक्ति का नाम) सर्व शांतिं कुरु कुरु स्वाहा ॥ इत्यनेन मंत्रेण गंधोदकादिकं त्रिवारं मंत्रयित्वा शिरसि निक्षिपेत् । शांतिमंत्रेण गंधोदकं त्रिः परिषिंच्य मस्तकं वाम हस्तेन स्पृशेत् । ततो दध्यक्षतगोमय-दूर्वा-कुरान् मस्तके वर्धमानमंत्रेण निक्षिपेत् ॥

अर्थ—ऊपर लिखे हुये शांति मत्र से, गधोदक को तीन बार मत्रित करके दीक्षित के शिर पर निक्षेपण करे। इसके बाद मस्तक को बाये हाथ से स्पर्श करे। इसके बाद दही, अक्षतादि को दीक्षित के मस्तक पर आगे लिखे हुए 'वर्धमान' मत्र को पढकर निक्षेपण करे।

मंत्र—ॐ नमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्स चक्क जलंतं गच्छइ आयासं, पायालं, लोयाणं, भूयाणं, जये वा विवादे वा थंभणे वा, रणंगणे वा रायंगणे वा, मोहणे वा, सव्वजीवसत्ताणं, अपराजिदो भवदु रक्ख रक्ख स्वाहा—वर्धमान मंत्रः ।

गद्य—ततः पवित्रभस्मपात्रं गृहीत्वा "ओं णमो अरहंताणं" रत्नत्रयपवित्रीकृतोत्तमांगाय, ज्योतिर्मयाय, मतिश्रुतावधिमनः

पर्यय केवलज्ञानाय, अ सि आ उ सा स्वाहा इदं मंत्रं पठित्वा शिरसि कर्पूरमिश्रितं भस्म परिक्षिप्य "ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं अ सि आ उ सा स्वाहा," अनेन प्रथमं केशोत्पाटनं कृत्वा पश्चात् ओं ह्रां अर्हद्भ्यो नमः, ओं ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः, ओं ह्रूं सूरिभ्यो नमः, ओं ह्रौं पाठकेभ्योनमः. ओं ह्रः सर्वसाधुभ्योनमः इत्युच्चरन् गुरुः स्वहस्तेन पंचवारान् केशान् उत्पाटयेत्। पश्चादन्यः कोऽपि लोचावमाने बृहद्दीक्षायां लोचनिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्येत्यादिकं पठित्वा सिद्धभक्तिं कुर्यात्। ततः शीर्षं प्रक्षाल्य गुरुभक्तिं कृत्वा, वस्त्राभरण यज्ञोपवीतादिकं परित्यज्य तत्रैवावस्थाप्य दीक्षां याचयेत्। ततो गुरुः शिरसि श्रीकारं लिखित्वा "ओं ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा ह्रीं स्वाहा" अनेन मंत्रेण जाप्यं१०८ दद्यात्। ततो गुरुस्तस्यांजलौ केशरकर्पूरश्रीखंडेन श्रीकारं कुर्यात्।

अर्थ—इसके बाद पवित्र भस्म (राख) के पात्र को लेकर "ओं णमो अरहंताणं' इत्यादि मत्र को पढकर शिर पर कपूर से मिली हुई भस्म को डालकर 'ओ ह्री श्री' इस मंत्र को पूरा पढकर पहले केशों को उखाडे पीछे 'ओ ह्रां' आदि मंत्र को पूर्ण पढते हुये गुरु अपने हाथ से पाच बार केशो को उखाड़े इसके बाद कोई भी लोच के अन्त में 'बृहद्दीक्षा में लोच निष्ठापन क्रिया में पूर्वाचार्य आदि पाठ को पढकर सिद्धभक्ति को करे, इसके बाद सिर को धोकर, गुरु को नमस्कार कर, वस्त्राभूषणादि को छोडकर, वही ठहर कर दीक्षा के लिये गुरु से याचना करे। फिर गुरु के सिर पर 'श्रीकार लिखकर' ओं ह्री अर्हं आदि मत्र का १०८ बार जाप्य देने की शिष्य को आज्ञा देवे इसके बाद गुरु उस दीक्षित को अंजुलि में केशर कपूर आदि से श्रीकार लिखे। इसके आगे की क्रिया नीचे लिखे अनुसार करना चाहिये।

गद्य—श्रीकारस्य चतुर्दिक्षु—

गाथा—रयणत्तयं च वंदे चउवीसजिणं तहा वंदे।
पंचगुरूणं वंदे, चारणजुगलं तहा वंदे॥

इति पठन् अंकान् लिखेत् । पूर्वे ३, दक्षिणे २४, पश्चिमे ५, उत्तरे २ इति लिखित्वा सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्रायनमः इति पठन् तंदुलैरञ्जलिं पूर्यत्तदुपरि नालिकेरं पूगीफलं च धृत्वा सिद्धचारित्रयोगिभक्तिं पठित्वा व्रतादिकं दद्यात् ।

अर्थ—श्रीकार की चारों दिशाओं में 'रयणत्तयं' आदि गाथा को पूरा पढ़कर पूर्व दिशा में ३ (रत्नत्रय सूचक) दक्षिण में २४ (चौवीस तीर्थङ्करों का सूचक) पश्चिम में ५ (पंच परमेष्ठी-सूचक) और उत्तर में २ (दो चारण ऋद्धि के युगल का सूचक) अंक लिखें । इसके बाद सम्यग्दर्शनाय नमः आदि मंत्र का उच्चारण करते हुये चाँवलों से अंजलि को भरते हुये नारियल या सुपारी को उस पर रखकर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और योगिभक्ति को पढ़कर व्रतादिक देवे ।

विशेष—सिद्धभक्ति पृष्ठ १२ से चालू चारित्रभक्ति पृष्ठ ४६ से चालू तथा योगिभक्ति पृष्ठ ५८ से चालू है ।

तथाहि—उसे ही निम्न गाथा द्वारा आचार्य प्रकट करते हैं:—

गाथा—वदसमिदिंदियरोधो, लोचो. आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं. ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥१॥

इति पठित्वा तद्व्याख्या विधेया—कालानुसारेणेति निरूप्य पंचमहाव्रतपंचसमित्यादि पठित्वा "सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते भवतु" इति त्रीन् वारान् उच्चार्य व्रतानि दत्वा ततः शांतिभक्तिं पठेत् । ततः आशीः श्लोकं पठित्वा अंजलिस्थं तंदुलादिकं दात्रे दापयित्वा ।

अर्थ—ऊपर लिखी गाथा को पढ़कर समयानुसार उसकी व्याख्या करके तथा शिष्य को २८ मूलगुणों का स्वरूप बतलाकर सम्यक्त्वपूर्वकं आदि मंत्र को ३ बार उच्चारण करके दीक्षित को व्रतग्रहण करावे उसके बाद शांति भक्ति को पढ़े तदनंतर शुभाशीष देकर अंजलि में रक्खे हुये तंदुलादिक को दीक्षा दिलाने वाले माता पिताको दिलवा कर निम्नलिखित

षोडशसंस्कारों को आरोपण करे।

विशेष.—शांति भक्ति पृष्ठ ७५ से चालू है।

— अथ षोडश संस्कारारोपणं —

१. अयं सम्यग्दर्शनसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि मे सम्यग्दर्शन नामक प्रथम संस्कार की स्थापना होवे।

२. अयं सम्यग्ज्ञानसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि में सम्यग्ज्ञान नामक द्वितीय संस्कार की स्थापना होवे।

३. अयं सम्यक्चारित्रसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि में सम्यक्चारित्र नामक तृतीय संस्कार की स्थापना होवे।

४. अयं बाह्याभ्यंतरतपः संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि मे बाह्य तथा अभ्यन्तर १२ प्रकार के तप नामक चतुर्थ संस्कार की स्थापना होवे।

५. अयं चतुरंगवीर्यसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि मे चार प्रकार के वीर्य का संस्कार की स्थापना होवे।

६. अयं अष्टमातृमंडलसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि मे आठ प्रवचन माता (५ समिति और तीन गुप्तियो के संस्कार की स्थापना होवे।

७. अयं शुद्धयष्टकावष्टंभसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि में आठ प्रकार की शुद्धि का संस्कार की स्थापना होवे।

८. अयं अशेषपरीषहजयसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि में संपूर्ण प्रकार की परिषहो को जीतने के संस्कार की स्थापना होवे।

९. अयं त्रियोगसंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि में तीनों योगो के संगम कीं निवृत्ति शीलता संस्कार की स्थापना होवे।

१०. अयं त्रिकरणसंयमनिवृत्तिशीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

इस मुनि में तीनों प्रकार के करणों के संयन की निवृत्तिशीलता संस्कार की स्थापना होवे।

११. अयं दशासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
इस मुनि में दस प्रकार के असयम की निवृत्ति शीलता संस्कार की स्थापना होवे ।

१२. अयं चतुः संज्ञानिग्रहशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
इस मुनि में चार प्रकार की सज्ञाओ के निग्रहशीलता संस्कार की स्थापना होवे ।

१३. अयं पंचेन्द्रियजयशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
इस मुनि में पांच इन्द्रियों के जयशीलता के सस्कार की स्थापना होवे ।

१४. अयं दशधर्मधारणशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
इस मुनि मे दश प्रकार के धर्म को धारण करने के स्वभाव का सस्कार की स्थापना होवे ।

१५. अयं अष्टादशसहस्रशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
इस मुनिमें अठारह हजार शीलके सरक्षण संस्कार की स्थापनाहोवे ।

१६. अयं चतुरशीतिलक्षणसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
इस मुनि में ८४ लाख उत्तर गुणों के रक्षण का संस्कार की स्थापना होवे ।

गद्य—इति प्रत्येकमुच्चार्य शिरसि लवंगपुष्पाणि क्षिपेत् ।

अर्थ—इस प्रकार प्रत्येक मंत्र का उच्चारण करके दीक्षित के सिर पर लवंग पुष्पों का क्षेपण करे ।

गद्य—'णमो अरहंताणं' इत्यादि ॐ परमहंसाय परमेष्ठिने हंम हंस हं हां हूं हौं हीं हें हः जिनाय नमः जिनं स्थापयामि संवौषट्, ऋषि मस्तके न्यसेत् । अथ गुर्वावलीं पठित्वा, अमुकस्य अमुक-नामा त्वं शिष्य इति कथयित्वा संयमाद्युपकरणानि दद्यात् ।

अर्थ—ॐ णमो अरहंताणं ' ॐ परमहसाय इत्यादि संवौषट् तक पूर्ण मंत्र बोलकर दीक्षित के मस्तक पर हस्तादि मे आशीर्वाद देवे इसके बाद अपनी गुरु परम्परा को पढकर अमुक के तुम अमुक——— नाम वाले शिष्य हो, ऐसा कहकर संयमादि के उपकरणों को देना चाहिये ॥

गद्य—१. ॐ णमो अरहंताणं भो अन्तेवासिन् ! षड्जीव-निकायरक्षणाय मार्दवादिगुणोपेतमिदं पिच्छिकोपकरणं गृहाण गृहाणेति। २. ॐ णमो अरहंताणं, मतिश्रुतावधि मनः पर्ययज्ञानाय द्वादशांगश्रुतायनमः भो अन्तेवासिन्। इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाणेति। ३. कमंडलुं वामहस्तेन उद्धृत्य ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रयपवित्रीकरणांगाय बाह्याभ्यंतर मलशुद्धाय नमः भो अन्ते-वासिन् ! इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाणेति।

अर्थ—(१)ॐ णमो अरहंताणं' इत्यादि मत्र को बोलकर दीक्षित को पिच्छी अर्पण करे। पिच्छी देने का अभिप्राय यह है कि छह काय के जीवो की रक्षा करने के लिये तथा कोमलता आदि गुणो मे युक्त होने के कारण यह क्रिया की जाती है तथा (२) 'ॐ णमो अरहताणं' इत्यादि मत्र का उच्चारण कर के मतिज्ञानादि की प्राप्ति के लिये ज्ञान के उपकरण शास्त्र को देवे (३)ॐ णमो अरहताणं' इत्यादि मत्र को बोलकर कमडल को बाये हाथ से उठाकर शिष्य को देवे, इसका अभिप्राय यह है कि बाहर और अभ्यतर मल की शुद्धि करने के लिये यह शौच का उपकरण दिया जाता है।

गद्य—तत्पश्चात् समाधिभक्ति पठेत्। ततो नवदीक्षितो मुनिर्भक्त्या गुरुं प्रणम्य अन्यान् मुनीन् प्रणम्योपविशति यावद् व्रतारोपणं न भवति तावदन्ये मुनयः प्रतिवंदनां न ददति ततो दातृप्रमुखा जना उत्तमफलानि अग्रे निधाय तस्मै नमोऽस्त्विति प्रणामं कुर्वंति।

अर्थ – इसके पीछे समाधिभक्ति को पढना चाहिये। इसके लिये ८३ पृष्ठ देखे। इसके बाद नवदीक्षित मुनि भक्ति मे गुरु को प्रणाम करके तथा अन्य मुनियों को भी प्रणाम करके तब तक वहीं बैठता है जब तक कि व्रत का आरोपण नही होता है तब तक अन्य मुनि प्रतिवन्दना नहीं करते हैं इसके दीक्षा दिलाने वाले दातार आदि प्रमुख व्यक्ति उत्तम फलोंको आगे रख कर उन नवदीक्षित मुनि को 'नमोऽस्तु' कहकर प्रणाम करते हैं।

गद्य—ततस्तत्पक्षे द्वितीयपक्षे वा सुमुहूर्ते व्रतारोपणं कुर्यात्।

तदा रत्नत्रयपूजां विधाय, पाक्षिकप्रतिक्रमणपाठः पठनीयः, तत्र पाक्षिकनियमग्रहणसमयात् पूर्वं यदा वदसमिदीत्यादि पठ्यते तदा पूर्वव्रतादि दद्यात्। नियमग्रहणसमयं यथायोग्यं एकं तपो दद्यात् (पल्यविधानादिक्) दातृप्रभृति श्रावकेभ्योऽपि एकं-एकं तपो दद्यात् ततोऽन्ये मुनयः प्रतिवन्दनां ददति।

अर्थ—इसके पश्चात् उस पक्ष में या द्वितीय पक्ष में, या श्रेष्ठ मुहूर्त्त में व्रतारोपण करना चाहिये, उस समय रत्नत्रय की पूजा करके 'पाक्षिक प्रतिक्रमण का पाठ पढ़ना चाहिये उस समय पाक्षिक नियमो के ग्रहण करने के पूर्व 'व्रतसमिति' आदि का पाठ पढा जाता है उस समय पूर्वलिखित २८ व्रतों का आरोपण करना चाहिये तथा उस समय दीक्षित को उपवासादिक तप करने के लिये आदेश देना चाहिये तथा दीक्षा दिलाने वाले माता पितादि को भी शक्त्यनुसार व्रत देना चाहिये। इस व्रतारोपण क्रिया के बाद अन्य मुनिगण उस दीक्षित मुनि को प्रतिवन्दना करे।

अथ मुखशुद्धि मुक्तकरणे विधिः—

त्रयोदशसु पंचसु त्रिसु वा कच्चोलिकासु लवंग-एला-पूगी-फलादिकं निक्षिप्य ताः कच्चोलिकाः गुरोरग्रे स्थापयेत्। मुखशुद्धि मुक्तकरणपाठक्रियायामित्याद्युच्चार्य सिद्ध-योगि आचार्य—शांति-समाधिभक्तिर्विधाय ततः पश्चान्मुखशुद्धिं गृह्णीयात्।

॥ इति महाव्रतदीक्षा विधि ॥

क्षुल्लक दीक्षा विधि :—

अथ लघुदीक्षायां सिद्ध-योगी-शांति-समाधिभक्तीः पठेत्। "ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हम् नमः" अनेन मंत्रेण जाप्यं वार २१ अथवा १०८ दीयते।

अन्यच्च विस्तारेण लघुदीक्षाविधिः—

अथ लघुदीक्षानेतृजनः पुरुषः स्त्री वा दाता संस्थापयति। यथायोग्यमलंकृतं कृत्वा चैत्यालये समानयेत्, देवं वन्दित्वा सर्वैः

सह क्षमां कृत्वा गुरोरग्रे च दीक्षां याचयित्वा तदाज्ञया सौभाग्यवती स्त्रीविहितस्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वाभिमुखः पर्यंकासनो गुरुश्चोत्तराभिमुखः संघाष्टकं संघ च परिपृच्छ्य लोचं कुर्यात्। अथ तद्विधिः—(बृहद्दीक्षायां लोचस्वीकारक्रियायां पूर्वाचार्येत्यादिकमुच्चार्य सिद्ध-योगिभक्तिं कृत्वा—ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्त्तये शांतिनाथाय शांतिकराय सर्वविघ्नप्रणाशकाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वं क्षामडामरविनाशनाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अमुकस्य (दीक्षितस्य) सर्वं शांतिं कुरु २ स्वाहा॥

इत्यनेन मंत्रेण गन्धोदकं त्रिवारं मंत्रयित्वा शिरसि निक्षेपेत्। शांतिमंत्रेण गंधोदकं त्रिः परिषिच्य मस्तकं वामहस्तेन स्पृशेत्। ततो दध्यक्षतगोमयदूर्वांकुरान् मस्तके वर्धमानमंत्रेण निक्षिपेत्—

ॐ नमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्स चक्कं जलंतं गच्छइ आयासं पायालं लोयाणं भूयाणं जये वा, विवादे वा, थंभणे वा, रणगणे वा, रायंगणे वा, सव्वजीवमत्ताणं, अपराजिदो भवदु रक्ख रक्ख स्वाहा—वर्धमानमंत्रः। लोचादिविधिं महाव्रतवद्विधाय सिद्धभक्तिं योगिभक्तिं पठित्वा व्रतं दद्यात्।

गाथा—दंसणवयसामाइय पोसहसचित्तराइभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह अणुमणुमुद्दिट्ठदेसविरदेदे ॥१॥

गाथामिमां वारत्रयं पठित्वा व्याख्यां विधाय च गुर्वावलीं पठेत्। ततः संयमाद्युपकरणं दद्यात्।

ॐ णमो अरहंताणं (आर्य-ऐलक) क्षुल्लके वा षट्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवादिगुणोपेतमिदं पिच्छोपकरणं गृहाण गृहाणइति।

ॐ णमो अरहंताणं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाय द्वादशांगश्रुताय नमः। भो अन्ते वासिन्। इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाणेति।

कमंडलुं वामहस्तेन उद्धृत्य ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रय-पवित्रकरणाङ्गाय बाह्याभ्यंतरमलशुद्धाय नमः भो अन्तेवासिन्। इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाणेति।

※ इति लघुदीक्षाविधान समाप्तम् ※

अर्थतथा स्पष्टीकरण:—लघु क्षुल्लक दीक्षा में (१)सिद्धभक्ति (२) योगिभक्ति. (३)शांतिभक्ति तथा (४) समाधिभक्ति को पढना चाहिये दीक्षित क्षुल्लक को आगे लिखे हुये मंत्र का २१ बार १०८बार जाप्य करना चाहिये वह मंत्र यह है— ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हम् नमः"। विस्तार से लघु दीक्षा विधि निम्न प्रकार से करना चाहिये। १.सर्वप्रथम दीक्षा दिलाने वाला माता पिता की स्थापना करनी चाहिये २ दीक्षा लेने वाले पात्र को स्नानादि करा-कर श्री मंदिरजी में लावे, दीक्षित श्रीमंदिरजीमे जाकर भगवान को नमस्कार करके बाद मे आचार्य महाराज के आगे दीक्षा के लिये श्रीफलादि चढाकर प्रार्थना करे। उन आचार्य की आज्ञा मे सौभाग्यवती स्त्री (माता के द्वारा) किये हुये चावलो के स्वस्तिक पर सफेद वस्त्र को ढककर वहा पर दीक्षित को पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठावे तथा आचार्य उत्तर की ओर मुख करके बैठे। आचार्य चतुर्विध संघ से दीक्षा देने के विषय मे पूंछकर दीक्षित की निम्न प्रकार केशलोंच क्रिया करे। उस समय १. सिद्धभक्ति और २. योगिभक्ति बोलना चाहिये। ऊपर लिखे अनुसार शांति मंत्र से गंधोदक को तीन बार मंत्रित कर दीक्षित के मस्तक पर बाये हाथ मे लगावे। तदनंतर अक्षतादिक ऊपर लिखे हुये 'वर्धमान मंत्र बोलकर दीक्षित के मस्तक पर क्षेपण करे। बाद मे पवित्र भस्मपात्र को लेकर 'ओं णमो अरहंताणं' रत्न-त्रयपवित्रीकृतोत्तमांगाय, ज्योतिर्मयाय मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलज्ञानाय अ सि आ उ सा स्वाहा मंत्र को पढकर शिर पर कर्पूरमिश्रित भस्म को डालकर 'ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं अ सि आ उ सा स्वाहा' मंत्र से प्रथम केशोत्पाटन करके १. ओं ह्रां अर्हद्भ्योनम. २. ओं ह्रीं सिद्धेभ्योनमः ३. ओं ह्रू सूरिभ्यनमः ४. ओं ह्रौं पाठकेभ्योनमः ५. ओ ह्रः सर्वसाधुभ्योनम.

इन पांच मंत्रों का उच्चारण करते हुये गुरु अपने हाथ से पाच बार केशों को उखाड़े। इसके बाद पूर्वाचार्यादि पढकर लघु सिद्धभक्ति करे। इसके बाद सिर को गंधोदक से धोकर गुरु दीक्षित के मस्तक पर 'श्री' कार लिख कर 'ओं ह्रीं अर्हम् अ सिं आ उ सा ह्रीं' स्वाहा का १०८ बार जाप्य करावे। इसके बाद दीक्षित के हाथ में श्रीकार लिखकर पूर्व में ३का अक्षर, दक्षिण मे २४, पश्चिम में ५ तथा उत्तर में २ का अङ्क लिखे, इसके बाद 'सम्यग्-दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः' मत्र बोलकर दीक्षित की अजुलि में चांवल और श्रीफल तथा सुपारी रखकर १.सिद्धभक्ति २. चारित्रभक्ति और योगिभक्ति पढे इसके बाद 'दंसण वय सामाइय' आदि गाथा को तीन वार पढकर और उसका अर्थ यथासमय समझाकर १ गुर्वावली को पढकरव्रतारोपण करे तथा धर्म· सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते, धर्मेणैव समाप्यते शिवसुख धर्माय तस्मै नम·,धर्मान्नास्त्यपर· सुहृद्भव-भृतां धर्मस्य मूलं दया, धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म! मां पालय, इस श्लोक को बोलकर दीक्षित से माता की झोली मे अंजुली की सामग्री अर्पण करा देवे। इसके आगे १. पीछी २ शास्त्र और कमडलु को ऊपर लिखे हुये मत्र बोलकर ग्रहण करावे। इसके बाद दीक्षित अपने सघ मे आचार्य तथा सर्व सघ के मुनियो को नमोस्तु तथा क्षुल्लक एव ऐलक आदि को इच्छामि करे इसके बाद सारे गृहस्थ दीक्षित क्षुल्लक (ऐलक को) इच्छामि करें।

* इति क्षुल्लकदीक्षा विधान *

अथोपाध्याय [पददान] विधिः—

शुभमुहूर्ते दाता गणधरवलय + अर्चनं द्वादशाङ्गश्रुतार्चनं च कारयेत्। ततः श्रीखंडादिना रुटान् दत्वा तन्दुलैः स्वस्तिकं कृत्वा, तदुपरि पट्टकं संस्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तमुपाध्यायपदयोग्यं मुनि मासयेत्। अथोपाध्यायपदस्थापन क्रियायां पूर्वाचार्येत्याद्युच्चार्य सिद्धश्रुतभक्तिं पठेत्। तत आह्वानादि मंत्रानुच्चार्य शिरसि लवंग पुष्पाक्षतं क्षिपेत् तद्यथा—ओ ह्रौं णमो उवज्झायाणं, उपाध्यायपर मेष्ठिन् अत्र एहि एहि संवौषट आह्वाननं, स्थापनं, सन्निधीकरणं।

ततश्च "ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं, उपाध्यायपरमेष्ठिने नमः" इमं मंत्रं सहेंदुना चन्दनेन शिरसि न्यसेत् । ततश्च शान्तिसमाधि भक्ती पठेत् । ततः स उपाध्यायो गुरुभक्तिं दत्वा प्रणम्य दात्रे आशिषं दद्यादिति ।

अर्थ—शुभमुहूर्त्त में दाता, गणधरवलय की तथा द्वादशांगश्रुत की पूजा करावे । तदनतर केशरादि से छींटे देकर, चांवलों से स्वस्तिक करके तथा उसके ऊपर पाटे को बिछाकर वहां पर उपाध्याय के पद के योग्य मुनि को पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठावे और आचार्य स्वयं उत्तर की ओर मुख करके बैठे । इसके बाद "उपाध्याय पद की स्थापन क्रिया में पूर्वाचार्यादि गद्य को पूरा बोल कर सिद्धभक्ति तथा श्रुतभक्ति को पढ़े । इसके बाद ऊपर लिखे हुये 'आह्वानन मत्र को पढकर उपाध्याय के शिर पर लोंग पुष्प और अक्षत को क्षेपण करे इसके बाद ॐ ह्रौ णमो उवज्झायाणं, उपाध्याय परमेष्ठिने नमः इस मत्र को बोलकर कपूर तथा चदन से सिर पर उपाध्याय पद की परि स्थापन करे । तत्पश्चात् शाति और समाधिभक्ति को पढे । इसके बाद वह उपाध्याय, गुरुभक्ति (आचार्यभक्ति) पढ कर आचार्य को प्रणाम करे और संघ तथा दाता को नमस्कार करने पर यथायोग्य आशीर्वाद देवे ।

इत्युपाध्यायपद दान विधि :—

अथाचार्य पद स्थापन विधि :—

गद्य—सुमुहूर्ते दाता शांतिकं गणधरवलयार्चनं च यथाशक्ति कारयेत् । ततः श्रीखंडादिना छटादिकं कृत्वा आचार्यपदयोग्यं मुनिमासयेत् । आचार्यपदप्रतिष्ठापन क्रियायां इत्याद्युच्चार्य सिद्धाचार्य भक्तिं पठेत् "ॐ हूं परमसुरभिद्रव्यसन्दर्भ परिमलगर्भ तीर्थाम्बुसम्पूर्ण सुवर्ण कलश पंचक तोयेन परिषेचयामीति स्वाहा ॥ इति पठित्वा कलशपंचकतोयेन पादौ परि सेचयेत् । ततः पंडिताचार्यो "निर्वेद सौष्ट" इत्यादि महर्षिस्तवनं पठन् पादौ समंतात् परा

मृश्य गुणारोपणं कुर्यात् । ततः ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं आचार्य परमेष्ठिन् । अत्र एहि एहि संवौषट्, आह्वाननं, स्थापनं, सन्निधी करणम् । ततश्च "ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं धर्माचार्याधिपतये नमः अनेन मंत्रेण सहेन्दुना चन्दनेन पादयो र्द्वयोस्तिलकं दद्यात् । ततः शान्ति समाधिभक्तिं कृत्वा, गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्य उपविशति । तत उपासकास्तस्य पाद योरष्टत यीमिष्टिं कुर्वन्ति । यतयश्च गुरुभक्तिं दत्वा प्रणमंति । स उपासकेभ्य आशीर्वादं दद्यात् ।

इत्याचार्य पददान विधिः—

अर्थ—शुभमुहूर्त्त मे दाता, शातिमडल तथा गणधरवलय विधान को पूजा करावे । तदनंतर केशरादि से छोटे देकर, चावलों से स्वस्तिक कर के तथा उसके ऊपर पाटे को बिछाकर वहां पर आचार्य पद के योग्य मुनि को पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठावे । आचार्य पद की प्रतिष्ठापन क्रिया में इत्यादि पद पढकर सिद्धभक्ति तथा आचार्यभक्ति को पढ़ ऊपर लिखे हुये 'ॐ ह्रूं से लेकर स्वाहा' तक पूरा मत्र बोल कर पांच कलशों के प्रासुक जल से आचार्य के पाद प्रक्षालन की क्रिया को करे । तदनन्तर पंडिताचार्य 'निर्वेद सौष्ठ' इत्यादि महर्षिस्तवन को अथवा आचार्य भक्ति को पढते हुये पैरों को चारो तरफ से आलिगन करके गुणारोपण को करे । इसके बाद 'ॐ ह्रूं णमो आइरियाण से लेकर नम तक मंत्र को पूरा बोलकर कपूर सहित चंदन से दोनो पैरों में तिलक लगावे इसके बाद शांति और समाधि भक्ति को पढ कर तथा गुरुभक्ति से गुरु को प्रणाम करके बैठ जावे । तदनंतर सब श्रावक अष्ट द्रव्य से उन नवीन आचार्य की पूजा करें, सघस्थ अन्य मुनि उन नवीन आचार्य को गुरुभक्ति (लघु आचार्य भक्ति) करें और आचार्य सबको यथा योग्य आशीर्वाद देवे ।

इति आचार्य पद दान विधि ।

मंत्र—ॐ ह्रां ह्रीं श्रीं अर्हम् हं सः आचार्याय नमः ।
आचार्यवाचना मंत्र । अन्यच्च ।
,, —ॐ ह्रीं श्रीं अर्हम् हं सः आचार्याय नमः । आचर्यमंत्र ।

वर्षायोग ग्रहण क्रिया

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुतो ।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम् ॥
शांतिभक्तिं च कुर्वाणै वर्षायोगस्तु गृह्यताम् ।

अर्थ—प्रत्याख्यान प्रयोग विधि के अनतर आषाढ शुक्ला चतुर्दशीकी रात्रि के प्रथम प्रहर में सिद्धभक्ति, योगिभक्ति करके चारो दिशाओं में प्रदक्षिणा पूर्वक एक २ दिशा में लघुचैत्यभक्ति पढते हुये तथा पंच गुरुभक्ति तथा शांतिभक्ति पढते हुये वर्षायोग ग्रहण करे । भावार्थ—पूर्वदिशा की ओर मुख करके पहले सिद्धभक्ति और योगिभक्ति पड़े । चैत्यभक्ति को ऊपर बताये हुये विधान के अनुसार पूर्वादि दिशाओ की ओर मुख करके चार वार पढे अथवा वही बैठे २ भाव से चारों तरफ की प्रदक्षिणा करनी चाहिये इसलिये एक ही पूर्व या उत्तर दिशा मे मुख करके उक्तरीति मे ४ वार चैत्यभक्ति पढे, इस तरह वर्षायोग ग्रहण करे ।

गद्य–१. अथ वर्षायोग प्रतिष्ठापनक्रियायां—पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दना–स्तवसमेतं, श्रीमत्सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं ।

विशेष—इसे बोलकर ६ वार णमोकार मंत्र का जाप्य करे फिर पृष्ट सख्या १० मे चालू होने वाली सिद्धभक्ति को अ चलिका सहित पढे ।

गद्य–२. अथ वर्षायोगप्रतिष्ठानक्रियायां———योगिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

विशेष—पूर्ववत् बोलकर पृष्ठ सख्या ५८ से चालू होने वाली योगिभक्ति को अचलिका सहित पडे ।

पूर्वस्यां दिशि––(पूर्वदिशा की ओर)

श्लोक–यावन्ति जिन चैत्यानि. विद्यन्ते भुवनत्रये ।
तावन्ति सततं भक्त्या. त्रिःपरीत्य नमाम्यहं ॥१॥

गद्य–इमं श्लोकं पठित्वा वृषभाजितस्वयंभूस्तवद्वयमुच्चार्य

अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमि इत्येवं प्रतिज्ञाप्य दंडादिकं भणित्वा 'वर्षेषु वर्षान्तर' इत्यादिकां लघुचैत्य-भक्तिं सांचलिकां पठेत् । इति पूर्वदिक् चैत्यवंदना ।

अर्थ—इस श्लोक को पढ़कर नीचे लिखे हुये १. श्री वृषभ तथा अजितनाथ भगवान् की स्तुति का पाठ करेः—

— १. श्री आदिनाथ भगवान् की स्तुति —

श्लोक—स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले, समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥
प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः, शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥
विहाय यः सागरवारिवाससं, वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥३॥
स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा,निनाय यो निर्दयभस्म सात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥४॥
स विश्वचक्षु र्वृषभोऽर्चितः सतां, समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनंदनो, जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥५॥

१ श्री आदिनाथ भगवान् की जय ।

— २. श्री अजितनाथ भगवान् की स्तुति —

श्लोक-यस्य,प्रभावात्.त्रिदिव.च्युतस्य,क्रीडास्वपि,क्षीव,मुखार,विंदः।
अजेयशक्ति,र्भुवि,बंधुवर्ग,श्चकार, नामा,जित,इत्यवन्ध्यम् ॥१॥
अद्यापि, यस्या,जितशासनस्य, सतां प्रणेतुः प्रतिमंगलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ॥२॥
यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना, भव्याशयालीनकलंकशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो, यथारविंदाभ्युदयाय भास्वान् ॥३॥

येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं, ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चंदनपङ्कशीतं, गजप्रवेका इव धर्मतप्ताः ॥४॥
स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रु र्विद्या विनिर्वान्तिकषायदोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा, जिनःश्रियंमे भगवान् विधत्ताम्॥५॥

श्री अजितनाथ भगवान् की जय

इन दोनों स्तुतियों को बोलकर 'लघुचैत्यभक्ति' नीचे लिखे अनुसार पढनी चाहिये तथा पूर्व दिशाकी ओर चैत्यालयो की वंदना करनी चाहिये ।

श्लोक—वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु, नन्दीश्वरे यानि च मन्दरेषु ।
यावंति चैत्यायतनानि लोके, सर्वाणि वंदे जिनपुंगवानां ॥१॥
अवनितलगतानां कृत्रिमाऽकृत्रिमाणां,
वन भवनगतानां दिव्यवैमानिकानां ।
इह मनुजकृतानां, देवराजार्चितानां,
जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥२॥
जंबूधातकिपुष्करार्द्धवसुधा, क्षेत्रत्रये ये भवाश्,
चंद्राम्भोजशिखंडिकंठकनक, प्रावृड्घनाभाजिनः ।
सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा, दग्धाष्टकर्मेन्धनाः,
भूतानागतवर्त्तमान समये, तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥४॥
श्रीमन् मेरौ कुलाद्रौ, रजतगिरिवरे, शाल्मलौ जम्बुवृक्षे,
वक्षारे चैत्यवृक्षे, रतिकररुचके, कुंडले मानुषांके ।
इष्वाकारेंजनाद्रौ, दधिमुखशिखरे, व्यंतरे स्वर्गलोके,
ज्योतिर्लोकेऽभिवंदे, भुवनमहितले यानि चैत्यालयानि ॥५॥

—: अचलिका :—

गद्य—इच्छामि भंते, चेइयभत्तिकाउस्सग्गोकओ, तस्सालोचेउं । अहलोय, तिरियलोय, उड्ढलोयम्मि, किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि, ताणि सव्वाणि तीसुवि लोएसु, भवणवासिय,

वाण-वितर-जोइसिय-कप्पवासियत्ति चउविहा देवा, सपरिवारा, दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अंचंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति। अहमवि, इह संतो तत्थ संताइं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ॥

* इति पूर्वदिक् चैत्य वंदना *

दक्षिणस्यां दिशि——दक्षिण दिशा में।

श्लोक—यावंति जिन चैत्यानि, विद्यन्ते भुवनत्रये।
तावंति सततं भक्त्या, त्रिपरीत्य नमाम्यहं ॥१॥

इस श्लोक को पढकर (३) श्री सभवनाथ तथा (४) श्री अभिनन्दननाथ भगवान् की स्तुति नीचे लिखे अनुसार पढकर पूर्ववत् क्रिया करे।

— ३. श्री सम्भवनाथ भगवान् की स्तुति —

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः, संतप्यमानस्य जनस्य लोके।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथानाथ रुजां प्रशान्त्यै ॥१॥
अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः, प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्त्तं, निरञ्जनां शांतिमजीगमस्त्वम् ॥२॥
शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं, तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदा यासयतीत्यवादीः ॥३॥
बंधश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं, नैकांतदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥
शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः, स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो, ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ॥५॥

— श्री संभवनाथ भगवान् की जय —

— ४. श्री अभिनंदन भगवान् की स्तुति —

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्, दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत्।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये, द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१॥
अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि,ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात् ।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च, क्षतं जगत्तत्वमजिग्रहद्भवान् ॥२॥
क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्नचेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति चदेहदेहिनो,रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्॥३॥
जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो, भयादकार्येष्विहन प्रवर्त्तते ।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित्कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥४॥
स चानुबन्धोऽस्य जनस्यतापकृत्तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं, ततो भवानेव गतिः सतां मतः॥५॥

※ श्री अभिनन्दन भगवान् की जय ※

विशेष—इन दोनो स्तुतियो को बोलकर दक्षिण दिशामें नमस्कार करना चाहिये, बाद मे 'लघुचैत्य भक्ति' का पाठ ऊपर लिखे अनुसार अंच-लिका सहित पढनी चाहिये। तदनंतर दक्षिण दिशा के चैत्यालयों की वन्दना करनी चाहिये।

※ इति दक्षिण दिक् चैत्य वंदना ※

पश्चिमायां दिशि——पश्चिमदिशा में

यावंति जिन चैत्यानि, विद्यंते भुवनत्रये ।
तावंति सततं भक्त्या, त्रिः परीत्य नमाम्यहं ॥१॥

विशेष—इस श्लोक को पढकर नीचे लिखे हुये १. श्री सुमतिनाथ तथा श्रीपद्मप्रभ भगवान् के स्तवन को पढना चाहिये।

— ५. श्री सुमतिनाथ भगवान् की स्तुति —

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं, स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति, सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥१॥

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं, भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे, तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यं ॥२॥
सतः कथंचितदसत्त्वशक्तिः, खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं, स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥३॥
न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्रयुक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतोन नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥४॥
विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ, विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं, मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥५॥

— श्री सुमतिनाथ भगवान् की जय —

— ६. श्री पद्मप्रभ भगवान् की स्तुति —

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः, पद्मालयालिंगितचारुमूर्त्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां, पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥१॥
बभार पद्मां च सरस्वतीं च, भवान् पुरस्तात् प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां, सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः ॥२॥
शरीर रश्मिप्रसरः प्रभोस्ते, बालार्करश्मिच्छविरालिलेपः ।
नरामराकीर्णसमां प्रभाव, च्छैलस्य. पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥३॥
नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं, सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।
पादाम्बुजैः पातितमोहदर्पो, भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥४॥
गुणाम्बुधे र्विप्रुषमप्यजस्रं, नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक् किमु तातिभक्ति, मां वालापयतीदमित्थं ॥५॥

श्री पद्मप्रभ भगवान् की जय

विशेष—इन दो स्तुतियों को बोलकर पश्चिम दिशा में नमस्कार करना चाहिये, बाद में ऊपर प्रकाशित 'लघुचैत्य भक्ति' अंचलिका सहित को पढे । तदनंतर पश्चिम दिशा के चैत्यालयों की वन्दना करनी चाहिये ।

उत्तरस्यां दिशि——उत्तर दिशा में ।

यावंति जिन चैत्यानि, विद्यंते भुवनत्रये ।
तावंति सततं भक्त्या, त्रिः परीत्य नमाम्यहं ॥१॥

विशेष—इस श्लोक को पढकर नीचे लिखी हुई ७. श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामी और श्री चन्द्रप्रभ स्वामी की स्तुति पढ़े ।

— ७. श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति —

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशांति, रितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥१॥
अजंगमं, जंगमनेययन्त्रं, यथा तथा जीवधृतम् शरीरम् ।
बीभत्सु पूतिक्षयि तापकं च, स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥
अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा ।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त्तः, संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ॥३॥
बिभेति मृत्यो र्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वांछति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भयकामवश्यो, वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥४॥
सर्वस्य तत्वस्य भवान् प्रमाता, मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता, मयापि भक्त्या परिणूयसेऽद्य ॥५॥

१. श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् की जय ।

— ८. श्री चंद्रप्रभ भगवान् की स्तुति —

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं, चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं, महतामृषीन्द्रं, जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥१॥
यस्यांगलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहुमानसं च, ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥२॥
स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता, वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा, गजा यथा केशरिणो निनादैः ॥३॥
यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः ।
अनंतधामाक्षर विश्वचक्षुः, समंतदुःखक्षय शासनश्च ॥४॥

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां, विपन्नदोषाभ्रकलंकलेपः ।
व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः, पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे ॥५॥

* श्री चंद्रप्रभ भगवान् की जय *

विशेष—१. इन दोनों स्तुतियों को बोलकर, ऊपर प्रकाशित 'लघु चैत्यभक्ति' को अंचलिका सहित पढकर उत्तर दिशा की ओर चैत्यवन्दना करनी चाहिये।

विशेष—१. चारों ही दिशाओं में तीन आवर्त्त एवं एक शिरोनति सहित वंदना करे। इसके आगे पंचगुरुभक्ति तथा शांतिभक्ति दोनों को अंचलिका सहित पढकर वर्षायोग स्थापन करे।

गद्य—अथ वर्षायोग प्रतिष्ठापन क्रियायां———पंचगुरुभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

विशेष—णमोकार मंत्र का ६ बार जाप्य कर यह पचगुरुभक्ति ६७ पृष्ठ से पढ़े।

गद्य—अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां———शांतिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

विशेष—णमोकार मत्र का ६ बार जाप्य कर फिर शातिभक्ति पृष्ठ ७५ से पढे।

* इति वर्षायोगग्रहणक्रिया समाप्त *

— अथ वर्षायोग निष्ठापन क्रिया —

श्लोक—ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम्।

अर्थ—कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के चौथे प्रहर में वर्षायोग का निष्ठापन करे।

गद्य—वर्षायोगप्रतिष्ठापने यो विधिरुक्तः, स एव तन्निष्ठापने कार्यः। केवलं 'वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां' इत्यस्य स्थाने वर्षायोग निष्ठापनक्रियायां इति योज्यम्।

अर्थ—वर्षायोग प्रतिष्ठापन में जो विधि कही गई है, वही सारी विधि वर्षायोग निष्ठापन करते समय करे। केवल वर्षायोग प्रतिष्ठापन क्रियायां' इस वाक्य के स्थान पर 'वर्षायोग निष्ठापन क्रियायां पाठ पढे।

शेषविधिः—

श्लोक—मासं वासोऽन्यदैकत्र, योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत् ,
मार्गेऽतीतेऽत्यजेन्नार्थं, वशादपि न लंघयेत् ।
नभश्चतुर्थी तद्याने, कृष्णां शुक्लोर्जपंचमी,
यावन्न गच्छेत्तच्छेदे, कथंचिच्छेदमाचरेत् ॥

भावार्थ—१. चतुर्मास के अलावा, हेमन्तादि ऋतुओं में मुनिगण किसी एक नगरादि स्थान में एक महीने तक ठहर सकता है, आषाढ के महीने में वह श्रमण संघ, वर्षायोगस्थान को चला जाय तथा मगसर के महीने को बीतते ही उस वर्षायोग स्थान को छोड़ दे, यदि आषाढ के महीने में वर्षायोग स्थान में न पहुँच सके तो कारण वश भी श्रावण वदी चतुर्थी का उल्लघन न करे, अर्थात् श्रावण वदी चौथ तक वर्षायोग स्थान में अवश्य पहुंच जाय, तथा कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहले प्रयोजन वश भी वर्षायोग स्थान को छोडकर अन्य स्थान को न जाय, दुर्निवार उपसर्गादि के कारणवश, यथोक्तवर्षायोग प्रयोग का उल्लंघन करना पड़े तो प्रायश्चित्त करे। २. कार्तिक वदी चतुर्दशी की रात्रि के चौथी पहर में वर्षायोग के निष्ठापन के अनन्तर, सूर्योदय हो जाने पर 'वीरनिर्वाण' क्रिया करे (उत्सव मनावे) उसमें सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, गुरुभक्ति और शांतिभक्ति करे। इसके बाद नित्यवंदना करे।

विशेष—वीरनिर्वाण की विशेष क्रियायें पृष्ठ १४७ पर देखें।

* इति वर्षायोग निष्ठापन क्रिया समाप्त *

—卐—

श्रावक प्रतिक्रमण

जीवे प्रमादजनिताः, प्रचुराः प्रदोषाः,
यस्मात्प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयाति ।
तस्मात्तदर्थममलं गृहिबोधनार्थम्,
वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम् ॥१॥

अर्थ—जीव प्रमाद और अज्ञानता से अनंत (दोष)पाप कर्म करते हैं। प्रतिक्रमण करने से उन दोषों की शांति हो जाती है इस लिये कृत कर्मों की शुद्धि के लिये यह प्रतिक्रमण का स्वरूप गृहस्थों के लिये प्रतिपादन किया जाता है।

भावार्थ—प्रतिक्रमण करने से मन की शुद्धि, किये हुये कर्मों की निर्जरा और दोषों से भय उत्पन्न होता है ॥१॥

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया,मायाविना लोभिना,
रागद्वेषमलीमसेन मनसा,दुष्कर्म यन्निर्मितम् ।
त्रैलोक्याधिपते,जिनेन्द्र भवतः, श्रीपादमूलेऽधुना,
निंदापूर्वमहं जहामि सततं, वर्वर्तिषुः सत्पथे ॥२॥

अर्थ—हे त्रैलोक्य प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! मैं बडा पापी, दुष्ट, अज्ञानी (जड बुद्धि) मायाचारी और लोभीहूं। मैने अपने मन को रागद्वेष से मलिन कर अनन दुष्कर्म किये हैं। हे जिनराज ! अब मै आप के चरण कमलों की शरण लेकर आप के समक्ष उपस्थित हुआ हू। और सन्मार्गमें चलने के लिये बाध्य होता हूँ, तथा भविष्य मे भी मुझ से कुत्सित कर्म न हों, ऐसी मेरी इच्छा है ॥२॥

खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूदेसु, वैरं मज्झं ण केणवि ॥३॥

अर्थ—मैं समस्त जीवों पर क्षमा करता हूँ और मुझे भी सब जीव क्षमा करो। मेरी समस्त जीव मात्र मे मित्रता हो। मेरे साथ किसी का भी वैर नही हैं ॥३॥

भावार्थ—साम्यभाव धारण करने के लिये सब से प्रथम यह आवश्यक है कि अपने मन की अत्यन्त विशुद्धि करे और वह इस प्रकार कि मन को विकृत करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ ईर्षा आदि दुर्गुणों को हृदय से निकाल डाले, किसीने भी अपना अनिष्ट किया हो तो भी उस के ऊपर क्षमा धारण करे। इतना ही नही किन्तु उसके साथ बंधुत्व भाव रहे। कदा चित् अपने से किसी का अनिष्ट होता हो तो भी उस से अपने अपराध की क्षमा चाहे और भविष्य मे जीवमात्र को अपना बंधु समझकर किसी से विरोध न कर साम्यभाव धारण करना चाहिये ॥३॥

रागबंधं पदोसं च, हरिसं दीणभाववयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं, रदिमरदिं च वोस्सरे ॥४॥

अर्थ—मैं राग से किया हुआ कर्मबंध, अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग होने से उत्पन्न हुआ द्वेष, विषय प्राप्ति से उत्पन्न हुई दीनता, अभिमान से उत्पन्न हुई मदोन्मत्तता, इस लोक और परलोक सम्बन्धी भय, इष्ट वियोग से उत्पन्न हुआ शोक, परवस्तु का आकांक्षा रूप मनोविकार से उत्पन्न हुआ रति-भाव और अरतिभाव आदि समस्त पर द्रव्य से राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, आदि व्यामोहता का परित्याग करे और आत्मा की परम विशुद्धि अवस्था का विचार करे ॥४॥

हा दुट्ठकयं हा दुट्ठ चिंतियं, भासियं च हा दुट्ठं ।
अतो अंतो डज्झमि, पच्छुत्तावेण वेयंतो ॥५॥

अर्थ—हाय ! हाय ! ! मैंने दुष्ट कर्म किये, हाय ! हाय ! ! दुष्ट कर्मों का बराबर चिन्तवन किया। हाय ! हाय ! ! मैंने दुष्ट मर्म भेदक वचन कहे । इस प्रकार मन वचन और काय की दुष्टता से मैंने अनन्त कुत्सित कर्म किये, इन कर्मों के बदले अब मुझे अत्यन्त पश्चात्ताप होता है, और इस अज्ञान दशा से मेरा अन्तःकरण अत्यन्त स्नेहित हो रहा है । मैं कृत कर्मों का जैसे स्मरण करता हूँ वैसे मुझे मेरी आत्मा पर अतिशय ग्लानि उत्पन्न होती है और पश्चात्ताप होता है ।

भावार्थ—परम पवित्र अरहन्त भगवान् के समक्ष इस प्रकार अपने मन वचन काय से किये हुए दोषों का कहे, आलोचना करे, गर्हा करे, और आत्मनिन्दा पूर्वक प्रतिक्रमण करे ॥५॥

दव्वे खेत्ते काले, भावे य कदा वराहमोहणयं ।
णिंदणगरहणजुत्तो, मणवयकायेण पडिक्कमणं ॥६॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के निमित्त से किसी जीव की विराधना अथवा प्राणपीडा हुई हो वह मैं आत्मनिन्दा और गर्हा (दोषों को चिन्तवन पूर्वक ग्लानि का होना) पूर्वक मन वचन काय की शुद्धि से परित्याग करता हूँ ॥६॥

गद्य-एइंदिय-वेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय पंचेंदिय पुढविकाइय,

आउकाइय, तेउकाइय, वाउकाइय, वणप्फदिकाइय, तस्सकाइया-एदेसि उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमणिदो. तस्समिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ—एकेन्द्रिय जीव (जिन के एक स्पर्शन ही इन्द्रिय होती है) दो इन्द्रिय जीव (जिन के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिय हों) तीन इन्द्रिय जीव (जिन के स्पर्शन, रसना, और घ्राण ये तीन इन्द्रिय हों) चौइन्द्रिय जीव (जिन के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रिय हो) पांच इन्द्रिय जीव [जिनके स्पर्शन, रसना, घाण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रिय हों; पृथ्वीकाय जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय बनस्पतिकाय और त्रस (दो इन्द्रय, तीन इद्रिय चार इन्द्रिय, पचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते है ।) उनत्रस काय के जीवों को मैंने स्वतः मारे हों, दूसरे से मराये हों, अन्य के मारने पर अनुमोदना की हो, अथवा उक्त प्रकार के जीवो को संताप दिया हो, दूसरे से संतापित करने मे सहमत हुआ हों । अथवा प्राणियो के अंगोपाग का वियोग किया हो, कराया हो, करते को भला माना हो, इत्यादि अनेक प्रकार मुझ से जिन जिन जीवो को पीडा हुई है, उससे उत्पन्न हुए पाप कर्मो का, परित्याग करता हूँ मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से जिन जीवों का घात मुझमे हुआ है वह निरर्थक हो । ग्यारह प्रतिमाओं के नाम :—

गाथा—दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त रायभत्तेय ।
बंभारंभ परिग्गह. अणुयणुमुद्दिट्ठ देसविरदे ।।

गद्य—एयासु यथाकहिदपडिमासु पमादाइकयाइचारसोहणट्ठं छेदोवट्ठावणं, होउ मज्झं ।।

अर्थ—दर्शन १ व्रत २ सामायिक ३ प्रोषधोपवास ४ सचित्तत्याग ५ रात्रिभुक्तत्याग ६ ब्रह्मचर्य ७ आरम्भत्याग ८ परिग्रहत्याग ९ अनुमतित्याग १० और उद्दिष्टत्याग ११ इस प्रकार श्रावक की ग्यारह प्रतिमा होती हैं । इन प्रतिमाओं का व्यस्तरूप अथवा समस्तरूप अभ्यासरूप अथवा व्रत रूप पालन नैष्ठिक श्रावक करते हैं । प्रतिमा धारण चाहे किसी प्रकार हो परन्तु सम्भव है कि प्रमाद और अज्ञान से अतिचार-अनाचार अथवा व्रतभग रूप दोष लगे हों उसकी मैं उपस्थापना करता हूं । अर्थात् दो प्रतिमाधारी दो

प्रतिमाओं के अतिचारों का स्मरण करे, तीन प्रतिमाधारी तीन का, इस प्रकार जितनी प्रतिमा का वह पालन करता हो उतनी प्रतिमाओं का उच्चारण करे।

गद्य—अरहंत-सिद्ध-आइरिय-उवज्झाय--सव्वसाहु-सक्खियं सम्मत्त-पुव्वगं सुव्वदं दिढव्वदं समारोहियं मे भवदु मे भवदु मे भवदु।

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पच परमेष्ठी की साक्षी पूर्वक सम्यक्त्व सहित उत्तम व्रतो की दृढता मेरे हो। सम्यग्दर्शन सहित सदाचार की प्राप्ति मेरे हो।

गद्य—देवसियं (राइय) पडिक्कमणाए सव्वाइचारविसोहिणिमित्तं पुव्वाइरियकमेण आलोयण सिद्धभत्तिकाउसग्गं करेमि।

अर्थ—दिवस सम्बन्धी, शारीरिक, मानसिक और वाचनिक कार्य करने मे जो दोष मैंने किये हो, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। और अपने मन की विशुद्धि के लिये अपने किये हुये दोषों की बार २ आलोचना करता हू। दोषो से सर्वथा मुक्त श्री सिद्ध परमात्मा का स्वरूप चिन्तवन कर सिद्ध भक्ति मे लीन होता हूँ।

विशेष:— प्रतिक्रमण चार प्रकार का होता है। दैवसिक (दिवस संबंधी) रात्रिक (रात्रि संबंधी) पाक्षिक (१५ दिन संबंधी) (मासिक-चातुर्मासिक और सांवत्सरिक) यदि दिवस का करना है तो 'देवसिय' शब्द लगाओ। यदि रात्रि का प्रतिक्रमण करना हो तो 'राइय' शब्द लगाओ जैसा प्रतिक्रमण करना हो वैसे शब्द की योजना यहाँ पर करनी चाहिये। श्रावकोके लिये यही प्रतिक्रमण मासिक, चातुर्मासिक व वार्षिक भी समझना चाहिये।

— सामायिक दण्डक —

गाथा—"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥१॥

गद्य-चत्तारिमंगलं.अरिहंतामंगलं, सिद्धामंगलं, साहूमंगलं, केवलिपण्णत्तोधम्मोमंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धालोगुत्तमा साहूलोगुत्तमा केवलिपण्णत्तोधम्मोलोगुत्तमो. चत्तारिसरणं

पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि. केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणंपव्वज्जामि ।

विशेष—इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है ।

गद्य—अढाइज्जदीवदोसमुद्दे सु पण्णारस कम्मभूमीसु जाव अरहंताणं, भयवंताणं, आदियराणं, तित्थयराणं. जिणाणं, जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं. बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं. पारयडाणं, धम्माइरियाणं. धम्मदेसगाणं. धम्मणायगाणं, धम्मवरचाउरंगचक्कवट्टीणं, देवाधिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं. चरित्ताणं, सदा करेमि किरियम्मं । करेमि भंते ! पडिक्कमणं सावज्जोगं पचक्खामि. जावन्नियमं तिविहेण मणसा, वचिया, कायेण, ण करेमि. ण कारेमि. अण्णं करंतंपिण समणुमणामि तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि. गरहामि अप्पाणं जाव अरहंताणं णमोक्कारं पज्जुवासं करेमि तावकायं पावकम्मं, दुच्चरियं वोस्सरामि ।

विशेष-सिद्धभक्ति के लिये यहा पर णमोकार मन्त्र का जाप्य करना चाहिये ।

अर्थ—अढाई दीप और पद्रह कर्मभूमि मे होने वाले सयोग केवली (अरहन्त) संसार के भयको नाश करने वाले तीथङ्कर, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ये पांच परमेष्ठी है । ये सत्य मार्ग का प्रत्यक्ष अनुभव कराते हैं । इसलिये इनकी साक्षी पूर्वक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र को धारण करता हूँ । दूसरोको इस सत्यमार्ग पर चलनेका उपदेश करू गा । मुझसे इस मार्ग में चलते हुए अतिचार आदि दोष लगे हों, उनकी शुद्धि के लिये मन वचन काय की विशुद्ध भावना से आत्मनिंदापूर्वक त्याग करता हूँ ।।

गाथा—थोस्सामिहं जिणवरे. तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।
णरपवरलोयमहिए. विहुयरयमले महप्पण्णे ।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे. धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ।।२।।

उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥
सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयलसेयं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥
कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तहपासं वड्ढमाणं च ॥५॥
एवंमए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चौवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥
चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियं पयासंता ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धासिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥
यावंति जिन चैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।
तावंति सततं भक्त्या त्रिः परीत्य नमाम्यहं ॥९॥

अर्थ--कर्म मल रहित, त्रिलोक पूज्य और ज्ञान से परिपूर्ण तीर्थंकर केवली भगवान और केवली प्रणीत जिन धर्म को पुन पुनः स्मरण कर वंदना करता हूं। ऋषभादि वीरान्त चतुर्विंशति देव को भाव भक्ति से वंदना करता हूं। ये चौवीस भगवान् जन्म मरणादि समस्त रोग रहित, परम शांति, अनंत सुख संपन्न मंगलमय, लोकोत्तम और शरणभूत है। सिद्ध परमात्मा भी समस्त कर्म मल रहित, परम विशुद्ध, शुद्ध चैतन्य रूप, अनंत गुणों के पिंड हैं। शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन इनकी भक्ति से प्राप्त होता है। तीर्थंकर केवली, परम ध्यान की मूर्ति होने से योगी हैं। जिन चैत्यालय यह धर्म का आयतन है। इसलिये मैं प्रतिक्रमण करते समय तीर्थंकर, केवली, सिद्ध, जिनधर्म और जिनचैत्यालय की वंदना करता हूं।

श्लोक–श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमितविद्विषे ।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा, त्रैलोक्यं गोष्पदायते ॥१॥

अर्थ—मोहादि भयंकर शत्रुओं का नाश करने वाले और लोक को जानने वाले ऐसे श्री वर्द्धमा भगवानन् के लिये नमस्कार है।

लघु सिद्ध भक्ति :—

तवसिद्धे णयसिद्धे, संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥२॥

अर्थ—तप, नयज्ञान, सयम, चारित्र, ज्ञान और दर्शनादि से सिद्ध पद को प्राप्त हुए सिद्ध परमात्मा को नमस्कार हैं।

गद्य—इच्छामि भंते ! सिद्धभत्ति काओसग्गो कओ तस्सा-लोचेउं, सम्मणाणसम्मदंसण सम्मचरित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्म-मुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढलोयमत्थयम्मि पयट्ठियाणं, तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं, संजमसिद्धाणं, चरित्तसिद्धाणं, अतीदा-णागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहि-लाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ—हे भगवन् ! मैं सिद्ध भक्ति धारण करने के लिये दिवस सम्बन्धी कृत कर्मो की आलोचना करता हूँ। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रमयी आठ कर्म रहित, अष्ट गुण सहित लोक के अन्त भागमे विराजमान तप ज्ञान, सयम, सम्यक्चारित्र दर्शन और परमध्यानादि उत्तम गुणों से सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए भूत भविष्यत् और वर्त्तमानकाल सबन्धी, समस्त, सिद्ध भगवान् की मैं अभ्यर्थना करता हू; पूजा करता हूं; गुणो का चितवन करता हूँ, वंदना करता हूं, नमस्कार करता हूं। सिद्ध भक्ति से मेरे दुःखों का नाश, सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र की प्राप्ति, सुगति गमन, समाधिमरण और जिन गुण प्राप्त हों।

भावार्थ—मेरी आत्मा सिद्धात्मा के समान शुद्ध अनन्त गुण-मय सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमयी निष्कलक और अक्षय है। परन्तु कर्ममल विकृत रूप हो रही है। मेरी आत्मा परम शान्त और सुखी हो इस भावना की सिद्धी के लिये सिद्धभक्ति करता हूँ। इस प्रकार सिद्धों के गुणों का चितवन कर आत्मस्वरूपका विचार करते हुए अपने दोषोंकी आलोचना करे।

विशेष:—व्रती श्रावक होने के पूर्व श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज द्वारा बतलाई हुई आवश्यक भूमिका का निर्वाह करना चाहिये।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमा संबंधी दोषों की आलोचना :—

गद्य—इच्छामि भंते ! देवसियं (राइयं) आलोचेउं तत्थ :—

१. दर्शन प्रतिमा :—

गाथा—पंचुम्बर सहियाइं, सत्तवि वसणाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्तविसुद्धमई, सो दंसण सावओ भणिओ ॥१॥

अर्थ—पाक्षिक, नैष्ठिक इस प्रकार श्रावक के दो भेद है। (१) पाक्षिक श्रावक—वह हो सकता है जो सबसे, प्रथम श्री जिनेन्द्र देव के प्रतिपादित सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करे। क्योंकि धर्म की मूल भित्ति श्रद्धा है—विश्वास है। विना इस के धर्मपथ का अनुयायी हो नही सकता। इस का कारण एक यह भी है कि सुख शान्ति और प्रेम ये तीनो धर्म के अंग हैं। और ये विना विश्वास के यथार्थ नही हो सकते हैं। इसलिये जिन आज्ञा को हृदय मे धारण करता हुआ, कषायों के घटाने के लिये कषाये ही आत्मा के स्वरूप के प्रगट होने मे बाधक है; सदाचार का पालन करे। पाक्षिक श्रावक जिन दर्शन १, जल गालन २, रात्रि-भोजन-त्याग ३, पाँच उदम्बर (वडफल, पीपलफलकठूमर, पाकरफल, ऊमर) त्याग ४, मद्यत्याग ५, मधुत्याग ६ मांसत्याग ७, और जीव दया प्रतिपालन ८ ये आठ मूल गुणों का पालन करता है। अभ्यास के लिये पाच अणुव्रत (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील का त्याग और परिग्रह का परिमाण) तीन गुण व्रत, चार शिक्षाव्रत आदि व्रतो का पालन करता है। सप्त व्यसनो (जुआ, खेलना, मांस भक्षण, मद्य पान शिकार खेलना, चोरी करना, वेश्यागमन करना और पर स्त्री सेवन करना) को उभय लोक में दुःखदायक समझकर सेवन नहीं करता है। अभक्ष्य भक्षण भी नहीं करता है वाह्य और अभ्यंतर शुद्धि के लिये पूर्ण प्रयत्नशील रहता है। षट् आवश्यक [देव पूजा १ गुरु उपासना २. स्वाध्याय करना ३, संयम पालन करना ४. तप धारण करना ५. और सुपात्र को दान देना ६. कर्मो को नियमित रूप से करता है। ये सब कर्तव्य पाक्षिक श्रावक के है। इन कर्तव्यों के साथ धार्मिक नीति और व्यवहार नीति भी पालन करना चाहिये। सब से प्रथम पाक्षिक श्रावक को सम्यग्-दर्शन के पालन पर पूरा ध्यान रखना चाहिये।

नैष्ठिक श्रावक— उक्त समस्त कर्तव्यों को पूर्ण रूप से पालन करता है तथा सम्यग्दर्शन की विशुद्धि विशेष रखता है। ग्यारह प्रतिमायें नैष्ठिक श्रावक की होती है। [१] दर्शन प्रतिमा धारण करने वालों के भी उक्त कर्तव्य है ॥१॥

२. व्रत प्रतिमा—

पंच य अणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावयाइं चत्तारि, जाण विदियम्मि ठाणम्मि ॥२॥

अर्थ—पांच अणुव्रत, १. अहिंसाणुव्रत २. सत्याणुव्रत ३. अचौर्याणुव्रत तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रतों को जो नियम से पालन करता है वह व्रत प्रतिमा धारक है ॥२॥

बारह व्रतों के लक्षण:—

पाणादिवादि विरदि मच्चमदत्तस्य वज्जणं चेव ।
थूलयड बंभचेर, इच्छाये गंथपरिमाणं ॥१॥

अर्थ—स्थूल हिंसा-झूठ-चोरी कुशीलका त्याग और परिग्रह का परिमाण ये पाच अणुव्रत है ॥१॥

जे तसकाइय जीवा, पुव्व णिद्दिट्ठाण हिंसिदव्वा ।
ए इंदिय विणुकारण तं पढमं वदं, थूलं ॥३॥

अर्थ—जो आंखो मे दीख सके। ऐसे त्रस जीवो को नही मारना तथा बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा नही करना सो प्रथम अहिंसा-णुव्रत है ॥३॥

अलियं ण जंपणीयं, पाणिवहं करंतु सच्चवयणंपि ।
रायेण य दोसेण य णेयं विदियं वयं थूलं ॥४॥

अर्थ—राग द्वेष से अनीति-वचन नही कहना, और जिन-जिन वचनों के कहने से किसी जीव की हिंसा होती हो ऐसा वचन भी नही बोलना सो सत्याणुव्रत है ॥४॥

पुरगामि पट्टणाइसु, पडियं गइं च णिहियं विसरीयं ।
परदव्वमगिण्हं, तस्स होव थूल वयं तिदियं ॥५॥

अर्थ—नगर ग्राम और चोराहा आदि में पड़ा हुआ, भूला हुआ, गिरा हुआ, पराया (अन्य का) द्रव्य नहीं लेना सो अचौर्याणुव्रत है ॥५॥

पव्वेसु इत्थि सेवा; अणंगकीडा सया विवज्जंतो ।
थूलयड वंभचारी जिणेहिं भणिओ पवयणम्मि ॥६॥

अर्थ—(१) पर्व के दिवसों में सर्वथा स्त्री मात्र का त्याग करना, (२) परस्त्री का सेवन नहीं करना, और अनंग क्रीडा नहीं करना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥६॥

जं परिमाणं कीरइ, धण धाणण हिरणण कंचणाईणं ।
तं जाण पंचमवयं, णिद्दिट्ठ मुवासयाज्जयणे ॥७॥

अर्थ—१. क्षेत्र (खेती) २. वास्तु (रहने का मकान) ३. हिरण्य (चांदी) ४. सुवर्ण (सोना) ५, धन गाय, बैल पशु आदि ६. धान्य (अनाज) ७. दासी (नौकरानी) ८. दास ९. कुप्य (वस्त्र) १०. भांड (बर्त्तनादि) धन, धान्य, रत्न सुवर्ण आदि परिग्रह का परिमाण सो परिग्रह परिमाण नाम का अणुव्रत है। इस प्रकार ये पांच अणुव्रत है ॥७॥

पुव्वुत्तरदक्खिण पच्छिमासु काऊणजोयणपमाणं ।
परदो गमणणियत्ती, दिसि गुणव्वयं पढमं ॥८॥

अर्थ—पूर्वोत्तरादि चारों दिशा में परिमाण कर उसके बाहर नहीं जाना सो प्रथम गुणव्रत दिग्व्रत है ॥८॥

वयभंगकारणं होई जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण ।
कीरइ गमणणियत्ती, तं जाण गुणव्वयं विदियं ॥८॥

अर्थ—दिग्व्रत के अभ्यंतर दिशाओं की मर्यादा कर बाहर नहीं जाना तथा जिस देश में व्रत के भंग होने की सम्भावना हो, ऐसे देश में नहीं जाना सो द्वितीय देशव्रत नामक गुणव्रत है ॥८॥

अयदंड पास विक्किय, कूडतुला माणकूड परिमाणं ।
जं संग हो ण कीरइ, तं जाण गुणव्वयं तिदियं ॥९॥

अर्थ—यद्यपि (१) पापोपदेश, (२) हिंसादान, (शस्त्रों को देवे) (३) दुःश्रुति, (४) अपध्यान (बुरा सोचना) और (५) प्रमाद चर्या भेद से अनर्थ-दण्ड पाँच प्रकार है, तथापि इसके अनंत भेद होते हैं, इन सबका यही

अभिप्राय है कि जिन कार्यों से कुछ प्रयोजन विशेष सिद्ध न होता हो और हिंसा तथा क्लेश परिणाम अधिक होता हो ऐसे लोहे के शस्त्र, लाठी आदि हिंसा का व्यापार, झूंठी तराजू, खोटे बाट आदि का त्याग करना सो तृतीय गुणव्रत है ॥९॥

जं परिमाणं कीरइ, मंडण तंबूल गंध पुप्फाणं ।
तं भोयविरइ भणियं, पढमं सिक्खावयं सुत्ते ॥१०॥

अर्थ—भोग और उपभोग मे विषयों का सेवन होता है। भोग उसे कहते है जो एकबार भोगने में आवे। शरीर को श्रृंगार करने वाली चीजें, पान, सुगंधित पदार्थ, तेल इत्र पुष्पादिका परिणाम करना सो भोग विरति शिक्षाव्रत है ॥१०॥

सगसत्तीए महिला, वत्थाभरणाण जंतु-परियाणं ।
तं परिभोय णिव्वुत्ती, विदियं सिक्खावयं जाणे ॥११॥

अर्थ—बार २ भोगने मे आवे उसे उपभोग कहते है। उपभोग रूप स्त्री, वस्त्र, आभरण आदि के सेवन करने का नियम करना सो दूसरा शिक्षाव्रत है ॥११॥

अतिहिस्स संविभागो, तिदिय सिक्खावयं मुणेयव्वं ।
तत्थ वि पंचाहियारा, णेया सुत्ताण मग्गेण ॥१२॥

अर्थ—उत्तम मध्यम और जघन्य भेद मे पात्र तीन प्रकार हैं। पात्रों को चार प्रकार का दान देना तथा चैत्य, चैत्यालय सिद्धक्षेत्र, शास्त्र, स्वाध्यायालय विद्यालय,औषधालयमे दान देना सो तृतीय शिक्षाव्रत है।१२।

धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं ।
सगिहे जिणालये वा, तिविहाहारस्स वोस्सरणं ॥
जंकुणदि गुरुसयासे, सम्ममालो इऊणतिविहेण ।
सल्लेहणं चउत्थं, सुत्ते सिक्खावयंभणियं ॥

अर्थ—वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर अवशेष समस्त परिग्रह का त्याग कर अपने घर में अथवा जिनालय में सल्लेखना (समाधिमरण) धारण करे वनफल सिद्धि, समाधि धारण मे ही होती है। इतना ही नही किन्तु समाधि मरण, आत्मसिद्धि का अंतिम उपाय है—सुगति का बीज

है। समाधिमरण-विधि प्रतिकार रहित मरण के कारण उपस्थित होने पर साम्यभाव और शांति से धैर्यपूर्वक, क्रोधादि विकार रहित शरीर का विसर्जन करना समाधिमरण है। और उसकी सिद्धि के लिए क्रम से तीन प्रकार के आहार का त्याग कर गर्म जल अथवा तक्र(छाछ-मट्ठा) का सेवन करे, और आवश्यक होने पर उसका भी त्याग करे। अपनी पर्याय में किये हुए भले बुरे कर्मों की आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करे, पश्चात्ताप करे, और सब से क्रोधादि विकार भावों की क्षमा मांग कर शांति से णमोकार मंत्र का ध्यान धरता हुआ शरीर को छोड़े। यह चौथा सल्लेखना नाम का शिक्षाव्रत है। इस प्रकार दूसरी प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक इन बारह व्रतों को पालन करता है।

३. सामायिक प्रतिमा—

जिणवयण धम्मचेइय, परमेट्ठि जिणालयाण णिच्चंपि।
जं वंदणं तिआलं. कीरइ सामाइयं तं खु ॥३॥

अर्थ—वाह्य और अभ्यंतर शुद्धि को धारण कर. पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुख कर, एकांत निर्भय स्थान में १२ आवर्त्त को करता हुआ ४ प्रणाम (दिशावर्ती चैत्य चैत्यालय मुनि आदि को) चारो दिशा में करे और स्थिर मन, वचन, काय से समता पूर्वक सामायिक करे। सामायिक में कुत्सित ध्यान और चिंतना छोड देनी चाहिये। जिनदेव, जिनवचन, जिनधर्म, जिनालय और पंच परमेष्टी के गुणों का चिन्तवन, ध्यान, वंदना, स्तुति आदि त्रिकाल करना सो सामायिक है। समता से राग द्वेष और उसके उत्पादक कारणों का परित्याग करना सामायिक प्रतिमा है ॥३॥

४. प्रोषधोपवास प्रतिमा—

उत्तम मज्झ जहण्णं. तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।
सगसत्तीएमासम्मि. चउसु पव्वेसु कायव्वं ॥४॥

अर्थ—प्रोषधोपवास, उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है उत्तम प्रोषधोपवास १६ पहर का होता है; इसमें धारणा और पारणा के दिवस एकाशन पूर्वक उपवास करके, समस्त प्रकार के आरम्भ का त्याग कर देना चाहिये। निर्भय होकर निःशल्यता पूर्वक पंच परमेष्ठी का ध्यान धरना चाहिये। मध्यम प्रोषधोपवास १२ प्रहर का होता

है और इसमें भी हिंसक आरम्भो को छोड़कर उपवास करना चाहिये। जघन्य प्रोषधोपवास ८ प्रहर का होता है यह भी आम्ल अथवा एक अन्न को ग्रहण कर स्वाध्यायादि से शांतिलाभ करते हुये धर्म सेवन से होता है। पर्व के दिन प्रोषधोपवास करना चौथी प्रतिमा है ।।४।।

५. सचित्तत्याग प्रतिमा—

जं वज्जिजदि हरिदं, तय पत्त पवाल कंदफल वीयं ।
अप्फासुगं च सलिलं, सचित्तणिव्वत्तिमं ठाणं ॥५॥

अर्थ—सचित वस्तु-हरित अकुरपत्र, फल, कद, बीज और अप्रासुक जलादि सेवन नही करना सो पंचम प्रतिमा है ।।५।।

६. दिवामैथुनत्याग या रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा—

मण वयण काय कद,कारिदाणुमोदेहिंमेहुणंणवधा ।
दिवसम्मि जो विवज्जदि, गुणम्मि जो सावओछट्ठो ॥६॥

अर्थ—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से दिवस में मैथुन सेवन नही करना सो या नवकोटि से रात्रि भोजन नही करना सो छठी प्रतिमा है ।।६।।

७ ब्रह्मचर्य प्रतिमा—

पुव्वुत्तणव विहाणंपि, मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो ।
इत्थिकहादि णिवित्ती, सत्तम गुण बंभचारी सो ॥७॥

अर्थ—स्त्री मात्र का त्याग तथा मन, वचन, कायतथा कृत कारित अनुमोदना रूपसे स्त्री कथादिका भी त्याग करना सो सातवी प्रतिमा है ।७।

८. आरम्भ त्याग प्रतिमा—

जं किं पि गिहारभं, बहुथोवं वा सया विवज्जेदि ।
आरभणिवित्तमदी, सो अट्ठम सावओ भणिओ ॥८॥

अर्थ—थोडा बहुत गृह सम्बन्धी आरम्भ छोडना सो आठवी प्रतिमा है ।।८।।

९. परिग्रह त्याग प्रतिमा—

मोत्तूण वत्थमित्तं, परिग्गहं जो विवज्जदेसेसं ।
तत्थवि मुच्छंण करदि, वियाण सो सावओ णवमो ॥९॥

अर्थ—वस्त्र मात्र को रखकर अवशेष परिग्रह का त्याग करना सो नवमी प्रतिमा है ॥६॥

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा—

पुट्ठो वा ऽपुट्ठो वा, णियगेहिं परेहिं सगिहकज्जे ।
अणुमणणं जो ण कुणदि, वियाण सो सावओ दसमो ॥१०॥

अर्थ—जो अपने अथवा अन्य के गृहकार्य सम्बन्धी आरम्भ में अनुमति नहीं देता है सो, दशवीं प्रतिमा धारक है ॥१०॥

११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—

णवकोडीसु विसुद्धं, भिक्खायरणेण भुंजदे भुंजं ।
जायणरहियं जोग्गं, एयारस सावओ सो दु ॥११॥

अर्थ—नवकोटि से विशुद्ध, भिक्षा के आचरण पूर्वक, दीनता रहित, भोजन करना सो ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक है ॥११॥

एयारसम्मि ठाणे, उक्किट्ठो सावओ हवई दुविहो ।
वत्थेय धरो पढमो, कोवीण परिग्गहो विदिओ ॥१२॥

अर्थ—उत्कृष्ट श्रावक के क्षुल्लक ऐल्लक ऐसे दो भेद हैं । प्रथम खड वस्त्र (चद्दर तथा लंगोट) का रखने वाला और दूसरा कोपीन मात्र रखने वाला है ॥१२॥

तव वय णियमावामय, लोचं कारेदि पिच्छगिण्हेदि ।
अणुवेहा धम्मझाणं, करपत्ते एय ठाणम्मि ॥१३॥

अर्थ—उभय प्रकार के उत्कृष्ट श्रावक तप, व्रत, नियम, संयम, ध्यान, और प्रथम की समस्त प्रतिमाएं सदाचार नियम से पालन करते हैं । उनमें प्रथम क्षुल्लक निर्दोष आहार तथा कटोरे आदि में एक समय भोजन करते हैं और द्वितीय ऐलक हाथ में भोजन करते हैं; ये दोनों ही कषायों के विजयी एकादश प्रतिमा के धारक है ॥१३॥

इस प्रकार संक्षेप से पाक्षिक, नैष्ठिक श्रावक का सदाचार है । इस सदाचार के पालन करने से उभय लोक की सिद्धि होती है । इतना ही नहीं किन्तु यह सदाचार नीतिमय होने से राजभयादि रहित पूर्ण सुख का सत्य मार्ग है ।

इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइयो) अइचारो अणायारो तस्स भंते ! पडिक्कमामि पडिक्कमंतस्स मे सम्मतमरणं, समाहिमरणं, पंडियमरणं, वीरियमरणं, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ—इस प्रकार उक्त व्रतों में मुझ से दिवस सम्बन्धी (रात्रि सम्बन्धी) अतिचार लगे हों उसका प्रतिक्रमण करता हूं । इससे यह भी चाहता हूं कि समाधिमरण आदि उत्तम गुण प्राप्त हों ।

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त रायभत्तेय ।
बंभारंभ परिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठ देस विरदेदे ॥१॥

एयासु जधा कहिद् पडिमासु पमादाइ कयाइ चार सोहणं छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं अरहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्वसाहु-सक्खियं, सम्मत्तपुव्वगं, सुव्वदं, दिढव्वदं समारोहियं मे भवदु, मे भवदु, मे भवदु ॥

अथ देवसिय (राइय) पडिक्कमणाए सव्वाइचारविसोहि-णिमित्तं पुव्वायरियकमेण पडिक्कमणभत्तिकायोत्सग्गं करेमि ॥

(णमोकार मंत्र का जाप्य ९ बार)

इस प्रकार कायोत्सर्ग (णमोकार मंत्र की जाप्य ९ बार) देकर पुनः 'णमो अरहंताणं' यहां से प्रारम्भकर 'यावंति जिन चैत्यानि' इस श्लोक पर्यन्त मूल पाठ पढकर पुनः कायोत्सर्ग धारण करे ।

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥३॥

णमोजिणाणं २ णमो णिसीहिय ३ णमोत्थुदे ३ अरहंत, सिद्ध, बुद्ध, णीरय, णिम्मल, समसण सुभमण, सुसमत्थ सम-जोग, समभाव, सल्लघट्टाणं प्रतिक्रमणभक्ति-सन्नघत्ताण, णिब्भय, णिराय, णिद्दोस णिम्मोह, णिम्मम, णिस्संग, णिसल्ल,माणमाय-

मंसमूरण, तवप्पहावण, गुणरयण, सीलसायर, अणंत, अप्पमेय, महदि महावीर वड्ढमाण, वुद्धिरिसिणो चेदि ॥

मम मंगलं अरहंता य. सिद्धा य, बुद्धा य, जिणा य, केवलिणो, ओहिणाणिणो, मणपज्जयणाणिणो, चउदसपुव्वंगामिणो, सुदसमिदिसमिद्धाय. तवोय, वारम विहो तवसी गुणाय, गुणवंतोय, महारिसी तित्थं तित्थंकराय, पवयणं पवयणी य, णाणं णाणी य, दंसणं दंसणीय, संजमो संजदा य, विणओ विणीदा य, वंभचेरवासो, वंभचारी य, गुत्तीओचेव गुत्तिमंतोय, मुत्तियोचेव मुत्तिमंतोय, समिदीओचेव समिदिमंतोय, ससमय परसमय विदू, खंति खवगा य, खीणमोहा य खीणवंतोय: बोहिय बुद्धाय, बुद्धिमंतोय, चेइयरुक्खाय चेइयाणि । उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि सिद्धणिसीही याओ अट्ठावय पव्वेय, सम्मेदे, उज्जंते, चंपाए, पावाए, मज्झिमपाए, हत्थिवालियमहाय, जाओ अण्णाओ काओवि सिद्ध णिसीहियाओ जीवलोयम्मि ईसिपव्व भारतलगयाणं सिद्धाणं वुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं गुरु आइरिय उवज्झायाणं पव्वत्तित्थेर कुलयराणं चाउवण्णोय समण संघोय, भरहेरावएसु दससुपंचसु जेलोए संति साहओ संजदा तवसी एदे मम मंगलं पवित्तं एदेहं मंगलं करेमि भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धेकाऊण मंजलि मत्थयम्मि पडिलेहिए अट्ठक्त्तरिओतिविहं तियरयण सुद्धो ॥

अर्थ—हे जिनराज ! आपके लिए नमस्कार हैं । स्तुत्य-वंदनीय, मंगलमय अरहंत! भगवान् मेरा मंगल (कल्याण) कीजिये ।

हे महावीर ! आपका स्तवन करता हूँ । आप राग, द्वेष, मोह, ममत्व-परिग्रह, शल्य (माया-मिथ्या-निदान) और कषाय रहित हो । आपने साम्यभाव धारण कर समस्त कर्मों का नाश किया है । शुभ भावों को धारण कर निर्भय हो गये हो । आपके तप ही प्रधान योग है, इसलिये

आप गुण-रत्न हो, शील के सागर हों, अप्रमेय हो, महार् हो, मुनि, महर्षि और ज्ञानीजनों से पूज्य, लोक शिरोमणि, सर्वज्ञ हो, कर्ममल रहित सिद्ध हो (भविष्य मे) शुद्ध हो, अनंत गुणों के पुंज हो, प्रभो! मुझे मंगल करो।

केवली, अरहंत, तीर्थकर, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, श्रुतकेवली, शास्त्रज्ञानी, पवित्र तप और तप के धारक यतीश्वर, गुणी (ऋद्धिधारी मुनीश्वर को गुणी कहते है,) गुणवान्, महर्षि, सिद्धान्त, सिद्धान्त ज्ञानी, ज्ञानी सम्यग्दृष्टि, सयमी, विनय करने योग्य, ब्रह्मचारी, गुप्तिधारक, समिति पालक, स्वसमय के ज्ञाता, क्षीणमोह ज्ञानी, ऋषि, महर्षि और ऋद्धिधारक, मुनीश्वर मेरा कल्याण करो।

तीन लोक में जितनी जिन प्रतिमा, जिन चैत्यालय, सिद्धक्षेत्र और तीर्थक्षेत्र है उनको मै नमस्कार करता हू। अष्टापद, सम्मेदाचल, गिरनार, चपापुर, पावापुर, हस्तिनापुर आदि तीर्थों में और विदेह क्षेत्र तथा समस्त कर्मभूमि से जितने जीव कर्ममल रहित सिद्ध, बुद्ध और निर्मल हो गए हैं वे चारों प्रकार के संघ का मंगल करो पवित्र करो, शान्ति करो। विशुद्ध भावना से मैं अष्टांग (हाथ पैर मस्तक और छाती नवाकर) नमस्कार करता हू। मेरे कर्मो का नाश करो।

विशेष—मूल प्रतिक्रमण पाठ मे अष्ट मूलगुणो का पडिक्कमण नही लिखा है। पाक्षिक श्रावक के मूलगुण मे अतिचार अनाचार अवश्य ही लगते है। अतएव पाक्षिको को नीचे लिखा पाठ प्रतिक्रमण करते समय अवश्य ही पढनी चाहिए.—

१. हे भगवन्! मैंने मूलगुणो को पालन करते समय मद्य (दारु) के त्याग में अचार (अथाणा,) चलित दही, छाछ, काजी और आसवों (अर्को) का सेवन किया कराया और सेवन करने को अनुमति दी इस सम्बन्धी अतिचार अनाचार जो मुझ से दिवस एवं रात्रि सम्बन्धी लगा हो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हू ॥१॥

२. हे भगवन्! मैंने मूलगुणो का दूसरा भेद मांस त्याग व्रत में चाम मे रखा हुआ घी, तेल, पानी सेवन किया हो. सड़ा हुआ अन्न, चलित आटा, आदि पदार्थ हीग (चाम में रख कर आती है।) तथा मास मिश्रित औषधि सेवन की हो उस सम्बन्धी अतिचार अनाचार मुझसे हुआ हो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ॥२॥

३. हे भगवन् ! मैंने मूलगुणों का तीसरा भेद मधु त्याग में हरे (लीले) फूल (ऐसे जिनमें मिठास के लिये बहुत से त्रस जीव आकर निवास करते हों) आदि सेवन किये हों इत्यादि। तत्सम्बन्धी मैं प्रतिक्रमण करता हूं ॥३॥

४. हे भगवन् ! पंचउदंबर त्याग में अज्ञात फल, चलित फल, विना शोधे देखे कच्ची फली, तथा क्षुद्रफल (जिसमें हिंसा अधिक हो और फल अल्प हो जैसे-बेर) आदि सेवन किये हों तत्सम्बन्धी अतिचार इत्यादि का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ॥४॥

५. हे भगवन् ! मैंने मूलगुण का पांचवां रात्रि भोजन नामक गुण के पालन करने में दो घड़ी [सूर्योदयास्त] के अनन्तर पदार्थों का सेवन किया हो, अथवा औषधि निमित्त बनाकर रसादि सेवन किये हो तत्सबंधी अतिचार मुझसे लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूं ॥५॥

६. हे भगवन् ! मैंने मूलगुण का छट्ठा भेद जल गालन नामक गुण के पालन करने मे दो मुहूर्त व्यतीत हो जाने पर भी विना छने [गाले] पानी का उपयोग किया, जीवाणी [विनछना] जहां से पानी लाया गया वहां पर नहीं पहुंचाया, मलिन और सछिद्र वस्त्र से जल छाना, जीवाणी [विनछने] का विचार नहीं किया तत्सम्बन्धी अतिचार इत्यादि लगे हों, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ॥६॥

७ हे भगवन् ! मैंने मूलगुण का सातवां भेद जिनदर्शन के पालन करने मे प्रमाद किया, अविनय से कार्य किया, मन, वचन और काय की शुद्धि नहीं रखी, इत्यादि अतिचार अनाचार मुझ से लगे हों उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूं ॥७॥

८. हे भगवन् ! मैंने मूलगुण का आठवां भेद जीव दया के पालन करने में प्रमाद, अज्ञान रक्खा हो; विना प्रयोजन जीवों को सताया हो, अंगोपांग छेदे हों, इत्यादि अतिचार मुझ से लगा हो। तत्सम्बन्धी मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ॥८॥

इस प्रकार सात व्यसनों के त्याग में जो-जो दोष लगाये हों उनका भी विचार कर आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करे।

पडिक्कमामि भंते ! दंसण पडिमाए, संकाए, कंखाए, विदिगिंच्छाए, परपासंडपसंसणाए, पसंथुए, जो मए देवसिओ (राइयो)

अइचारो. अणाचारो. मणसा. वचिया. काएण. कदो वा. कारिदो वा. कीरंतो वा समणुमण्णिदो. तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥१॥

अर्थ—हे भगवन् ! कृत कर्मों का पश्चात्तापपूर्वक प्रतिक्रमण करता हूं। दर्शन प्रतिमा के पालन करने में जिन मार्ग में शंका की हो, शुभाचरण पालन कर संसार सुख की आकांक्षा (निदान) की हो, धर्मात्माओं के मलिन शरीर को देखकर ग्लानिकी हो, मिथ्या मार्ग और उसके सेवन करने वालों की प्रशंसा की हो, इत्यादि जो मैने दिवस या रात्रि सम्बन्धी अतिचार मन, वचन, काय से किये हों कराये हों, अन्य के करने में अनुमति प्रदान की हो तत्सम्बन्धी समस्त कार्यों की आलोचना करता हूँ, पश्चात्ताप करता हूं, और वे कर्म निरर्थक हों, ऐसी इच्छा करता हूँ ॥२-१॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते ! वद पडिमाए पढमे थूलयडे हिंसा-विरदिवदे. वहेण वा. बंधेण वा. छेएण वा. अइभारारोहणेण वा. अण्णपाणणिरोहणेण वा. जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो. अणाचारो. मणसा. वचिया. काएण कदो वा. कारिदो वा. कीरंतो वा. समणुमण्णिदो. तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-१॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने कृत कर्मों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। दूसरी व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत प्रथम अहिंसाणुव्रत के पालन करने में जीवों को बांधे हो, मारे हों, अंगोपाग छेदे हो, शक्ति से अधिक बोझा लादा हो और अन्न पान का निरोध किया हो, इत्यादि अनेक अतिचार अनाचार दिवस व रात्रि सम्बन्धी मुझ से मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से लगे हो ऐसी मेरी भावना है ॥२-१॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए विदिये थूलयडे असच्च-विरदिवदे. मिच्छोपदेसेण वा. रहो अब्भक्खाणेण वा. कूडलेह करणेण वा. णायापहारेण वा. मायारसतभेएण वा. जो मए देव-सिओ (राइयो) अइचारो. अणाचारो. मणसा वचिया. काएण. कदो वा कारिदो वा. कीरंतो वा. समणुमण्णिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।२-२।

अर्थ—हे भगवन् ! अपने कृत कर्मों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। दूसरी प्रतिमा के अन्तर्गत स्थूल सत्यव्रत में (१) मिथ्या उपदेश देने से, (२) एकांत में कही हुई बातको प्रकट कर देने से, [३] झूठा लेख लिखने से, [४] धरोहर हरण करने से, [५] किसी के इंगित चेष्टा से अभिप्राय समझ कर भेद प्रकट कर देने से इत्यादि अनेक प्रकार अतिचार, अनाचार, मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन से हुए हो वे निरर्थक हों ॥२-२॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते ! वद पडिमाए तिदिये थूलयडे थेण-विरदिवदे थेणपओगेण वा, थेणहरियादाणेण वा, विरुद्धरज्जाइक्कमणेण वा, हीणाहियम्माणुमाणेण वा पडिरूवय ववहारेण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो, अणाचारो, मणसा, वचिया, कायेण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-३॥

अर्थ—हे भगवन् ! अपने कृत कर्मों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूं। दूसरी प्रतिमा के अन्तर्गत स्थूल अचौर्याणुव्रत के पालन करने मे दिवस सम्बन्धी मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन से चोरी का प्रयोग बतलाया हो [स्वयं तो चोरी न की हो परन्तु दूसरों को ऐसा व्यापार बतलाना जिस से वह चोरी करे] चोर से अपहरण किये हुये द्रव्य को ग्रहण किया हो, राज्य के विरुद्ध कार्य किया हो (वस्तुओं का कर चुराया हो, रेल की टिकिट आदि मे चोरी की हो, राजा की आज्ञा भंग की हो) तोलने के बाट कमती बढती रक्खे हो, और अधिक कीमती वस्तु में अल्प कीमती वस्तु मिला कर बदल दी हो, इस प्रकार अनेक दोष किये हों वे सब निरर्थक हो ॥२-३॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते ! वद पडिमाए चउत्थे थूलयडे अबंभ-विरदिवदे परविवाहकरणेण वा, इत्तरियागमणेण वा, परिग्गहिदा परिग्गहिदागमणेण वा, अणंगक्रीडणेण वा, कामतिव्वाभिणिवेसेण वा जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो अणाचारो, मणसा,

वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमरिणदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-४॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतों में लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। दूसरी व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत स्थूल ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालन करने में दिवस या रात्रि सम्बन्धी मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से अन्य के पुत्र पुत्रियों का विवाह (कन्यादान करने मे महान् धर्म होता है ऐसा अन्य धर्म वाले मानते है) किया हो, व्यभिचारिणी स्त्री के घर के साथ व्यवहार आना जाना आदि रखा हो, वेश्या कुमारिका और विधवा इत्यादिक परिग्रहीत और अपरिग्रहीत स्त्रियों के साथ कामवासना से व्यवहार (बोलना, हँसना आदि) किया हो, काम सेवन के अंगों के सिवाय अन्य अंग से काम चेष्टा की हो, काम के तीव्र विकार से बीभत्स विचार हों इत्यादि अनेक प्रकार के दोष दिवस या रात्रि सम्बन्धी मुझ से बने हो, दूसरे से कराये हों, अन्य के करने मे हर्ष माना हो सो सब मिथ्या हो ॥२-४॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते ! वद पडिमाए पंचमे थूलयडे परिग्गहपरिमाणवदे-खेतवत्थूणं. परिमाणाइक्कमणेण वा, धणधण्णाणं परिमाणाइक्कमणेण वा, हिरण्णसुवण्णाणं परिमाणाइक्कमणेण वा, दासीदासाणं परिमाणाइक्कमणेण वा, कुप्पभांडपरिमाणाइक्कमणेण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो मणसा, वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-५॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतो में लगे हुए दोषों को आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। दूसरी प्रतिमा के अन्तर्गत स्थूल परिग्रह त्यागव्रत में जमीन (क्षेत्र) घर, गाय बैलप्रभृति धन और गेहूं आदि धान्य, सुवर्ण, चांदी, दासी, दास, वस्त्र और भांड (बरतनादि) इत्यादि समस्त परिग्रह के परिमाणा का मैंने मन, वचन, काय और कृत कारित अनमोदना से उल्लंघन किया हो, अन्य से कराया हो, अन्य के करने मे अनुमति दी हो तो, उस संबधी समस्त दोष मिथ्या हों ॥२-५॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते। वदपडिमाए पढमे गुणव्वदे उड्ढ-वइक्कमणेण वा, अहोवइक्कमणेण वा, तिरियवइक्कमणेण वा, खेतवड्ढिएण वा, अंतराधाणेण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो मणसा, वचिया, कदो वा, कारिदो वा. कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-६-१॥

अर्थ—हे भगवन्! मैं अपने व्रतों में लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। मैंने व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत गुणव्रत का प्रथम भेद दिग्व्रत नामक व्रत के पालन करने में ऊर्ध्व दिशा का अतिक्रमण किया हो, नीचे की दिशा का अतिक्रमण किया हो, तिर्यग्दिशा का अतिक्रमण किया हो, क्षेत्र की मर्यादा बढाई हो अथवा मर्यादा का विस्मरण किया हो, इत्यादि अनेक प्रकार के दोष दिवस या रात्रि सम्बन्धी मैंने किये हों या दूसरों से कराये हों अथवा अन्य के करने में अनुमति दी हो तो वे सब मिथ्या हों ॥२-६-१॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते। वद पडिमाए-विदिए गुणव्वदे आणयणेण वा, विणिजोगेण वा, सद्दाणुवाएण वा, रूवाणुवाएण वा, पुग्गलक्खेवेण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो मणसा, वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-७-२॥

अर्थ—हे भगवन्! मैं अपने व्रत में लगे हुए दोषो की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ दूसरी प्रतिमा के अतर्गत गुणव्रत का दूसरा भेद देश व्रत के पालन करने में, (१) मर्यादा किये हुए क्षेत्र के बाहर से वस्तु मंगाई हो(किसी प्रयोजन से कहीं पर गमन होता है मर्यादा के बाहर यदि किसी वस्तु को लाने का हमारा अभिप्राय है और वह वस्तु स्वयं न जाकर अन्य से मंगवाई तो मर्यादा के बाहर जाने का प्रयोजन सिद्ध हुआ परन्तु प्रत्यक्ष व्रत भंग के भय से स्वयं गमन नहीं किया इसलिये यह भगाभंग वृत्तिरूप अतिचार है।) (२) मर्यादा के बाहर वस्तु भेजी हो। ककर पत्थर फेंक कर अन्य मनुष्य से मर्यादा के बाहर का कार्य किया हो, (४) शब्द आदि की समस्या दिखला कर कार्य किया हो,

अपना (५) रूप दिखा कर मर्यादा–बाह्य का कार्य सिद्ध हुआ हो, इत्यादि अनेक दोष मन,वचन,कायसे दिवस या रात्रिमें मैंने किये हों,अन्यसे करायेहों, अथवा अन्य के करने में अनुमति प्रदान की हो,तो वे सब मिथ्या हों २-७-२

गद्य–पडिक्कमामि भंते । वद पडिमाए-तिदिए गुणव्वदे, कंदप्पेण वा, कुकुवेएण वा, मोक्खरिएण वा, असमक्खियाहिकरणेण वा, भोगोपभोगाणत्थकेण वा जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो; मणसा, वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-८-३॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतों में लगे हुये दोषों का आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हू । दूसरी व्रत प्रतिमाके अंतर्गत गुणव्रत का तीसरा भेद अनर्थदण्ड-विरति व्रत में राग के उदय से, स्मित हास्यसे, ठट्ठा की हो, कुत्सित भाषण किया हो, शरीर की खोटी चेष्टा की हो, बिना प्रयोजन बकवाद किया हो, व्यर्थ के कार्य किये हों, (प्रयोजन विना हिंसाजनक व्यापार किया हो) भोगोपभोगकी सामग्री का अपेक्षा से बहुत ही अधिक निष्काम संग्रह किया हो । इत्यादि अनेक प्रकार के दोष मन, वचन, काय से दिवस या रात्रि मे मैंने किये हों, अन्यसे कराये हो अथवा किसी के करने पर हर्ष प्रदर्शित किया हो तो वे सब दोष मिथ्याहो ॥२-८-३॥

गद्य–पडिक्कमामि भंते । वद पडिमाए पढमे सिक्खावदे फासिंदिय भोगपरिमाणाइक्कमणेण वा, रसणिंदियभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा, घाणिंदिय भोगपरिमाणाइक्कमणेण वा चक्खिंदियभोगपरिमाणाइक्खमणेण वा सवणिंदिय भोगपरिमाणाइक्कमणेण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो मणसा, वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-९-१॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतों में लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूं । व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत प्रथम शिक्षा व्रत भोग परिमाण व्रत मे स्पर्शन इन्द्रिय, (चर्म इसका गर्म,

शीत, हल्का, भारी रूक्ष, स्निग्ध, कोमल, कठिन) विषय है और इस विषय सम्बन्धी भोग (जो एक बार भोगने में आवे ऐसे पदार्थों के परिमाण में) रसना इन्द्रिय (जीभ इसका मिष्ट, कटु, तिक्त, कषायला और खट्टा विषय है इस विषय सम्बन्धी भोग पदार्थो के परिमाण में) घ्राणेन्द्रिय (नाक इसका विषय सुगन्ध तथा दुर्गन्ध इस विषय सम्बन्धी भोग पदार्थों के परिमाण) चक्षुरिन्द्रिय (आंख-इसका काला, पीला, लाल, सफेद हरित पदार्थ, इस विषय सम्बन्धी भोग पदार्थों के परिमाण) श्रोत्रेन्द्रिय (कान–इसका विषय आवाज का ज्ञान इस विषय सम्बन्धी भोग पदार्थों के परिमाण) इस प्रकार पाच इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी भोग पदार्थो के परिमाण का अतिक्रमण मन, वचन, काय द्वारा दिवस या रात्रि में स्वयं किया हो, अन्य से कराया हो, किसीके करने में भला माना हो, इत्यादि दोष मैंने किये हों तो वे सब मिथ्या हों ॥२-६-१॥

गद्य–पडिक्कमामि भंते ! वदपडिमाए विदियसिक्खावदे फासिंदिय परिभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा, रसणिंदिय परिभोग-परिमाणाइक्कमणेण वा, घाणिंदियपरिभोगपरिमाणाइक्कमणेणवा, चक्खिंदियपरिभोगपरिमाणइक्कमणेण वा, सवणिंदिय परिभोग-परिमाणाइक्कमणेण वा जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो मणसा, वचिया, काएण,कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणु-मणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-१०-२॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतों में लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करता हूं। व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत शिक्षाव्रत का तीसरा भेद उपभोग (जो बार २ भोगने में आवे) परिमाणव्रत में स्पर्शेन्द्रिय उप-भोग परिमाण, चक्षुरिन्द्रिय उपभोग परिमाण और श्रोत्रेन्द्रिय उपभोग परिमाण इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के उपभोग संबंधी पदार्थो का अतिक्रमण मन, वचन, कायसे किया हो, कराया हो, करने को भला माना हो इत्यादि अनेक दोष दिवस या रात्रिमें मुझसे बने हों तो वे सब मिथ्या हों ॥२-१०-२॥

गद्य–पडिक्कमामि भंते ! वद पडिमाए-तिदिए सिक्खावदे सचित्तणिक्खेवेण वा, सचित्तपिहाणेण वा, परउवएसेण वा, काला-

इक्कमणेण वा. मच्छरिएण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइ-चारो मणसा. वचिया. काएण. कदो वा. कारिदो वा. कीरंतो वा. समणुमण्णिदो. तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-११-३॥

अर्थ—हेभगवन् ! मैं अपने लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हू । व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत शिक्षा व्रत का तीसरा भेद अतिथिसंविभाग नामक व्रत में सचित—(जीवयोनि जोवोत्पत्ति होने का स्थान) वस्तु मे प्रासुक अचित्त पदार्थ को रखा हो, सचित्त वस्तु से ढका हो, अन्य किसीके प्रतिपादित करने से दिया अथवा अन्य का द्रव्य अपना द्रव्य कहकर दिया हो, दान देने में समय का विच्छेद (लोभ और कुलषित परिणामो के कारण यह भावना की हो कि यह समय व्यापारादिका है इसलिये कौन इस समय आहारादि दान देने जाता है ।) किया हो, दान देने मे अन्य भव्यात्माओ के साथ द्वेष (प्रतिष्ठादिके कारण अर्थात् जो अन्य कोई धर्मात्मा दान करे तो उ के साथ वह विचार कर द्वेष करे कि इसकी प्रतिष्ठा सर्वत्र होगी और बड़ा अमीर हो कर चुप रह गया इसलिये मेरी निन्दा होगी इसलिये द्वेष) किया हो इत्यादि अनेक प्रकार के दोष, मन, वचन काय से दिवस या रात्रि में मैंने स्वयं किये हों, अन्य से कराये हो, किसीके करने मे सम्मति प्रदान की हो तो वे सब द्वेष निरर्थक हो ॥२-११-३॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते ! वद पडिमाए चउत्थे सिक्खावदे-जीविदासंसणेण वा. मरणासंसणेण वा. मित्ताणुराएण वा. सुहाणु-बंधेण वा. णिदाणेण वा. जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो. मणसा. वचिया. काएण. कदो वा. कारिदो वा. कीरतो वा. समणुमण्णिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥२-१२-४॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रत मैं लगे हुये दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ । व्रत प्रतिमा के अंतर्गत शिक्षाव्रत का चौथा भेद समाधिमरणव्रत पालन करने में जीवित रहने की (मैं अभी अधिक जीवित रहा तो अच्छा है ? अथवा जीने की आशा मे समाधि मरण मे शिथिलता करना) आशा रखना, मरण का भय करना,

हाय ! मै मर जाऊंगा क्या ? ऐसे परिणामों से संक्लेशित होना अथवा शीघ्रता से मरण होने की इच्छा रखना ! इष्ट मित्रजनों से प्रेम (राग) करना, पूर्व में भोगे हुऐ भोगों का स्मरण करना, और व्रतादिक पालन कर सांसारिक सुख की इच्छा करना इत्यादिक अनेक दोष दिवस या रात्रि में मैंने मन, वचन काय से किये हों, अन्य से कराये हों, किसी के करने में अनुमति प्रदान की हो, तो वे सब दोप निरर्थक हों ।।२-१२-४।।

पडिक्कमामि भंते ! सामाइय पडिमाए मणदुप्पणिधाणेण वा. वायदुप्पणिधाणेण वा. कायदुप्पणिधाणेण वा. अणादरेण वा. सदि अणुव्वठाणेण वा. जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो. मणसा. वचिया. काएण. कदो वा. कारिदो वा. कीरंतो वा समणुमण्णिदो. तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥३॥

अर्थ—हेभगवन् ! मै अपने व्रतों में लगे हुये दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करने का इच्छुक हूं । तीसरी सामायिक प्रतिमा के पालन करने मे मन की स्थिरता न रखी (आर्त्त और रौद्रध्यान पूर्वक मन को अन्य प्रकार चलायमान किया) वचन की स्थिरता (सामायिक पाठ का शुद्ध उच्चारण न कर बकवाद आदि करने से वचन की दुष्टता धारण की) न रखी, शरीर की स्थिरता (एक आसन से स्वस्थता पूर्वक निर्विकार सामायिक नही किया किन्तु शरीर की दुष्टता से अंगोपांग को इधर-उधर चलायमान किया) नही रखी. सामायिक के पाठ का विस्मरण किया इत्यादि अनेक प्रकार के दोप दिवस या रात्रि मे मैंने मन, वचन काय से, किये हों, अन्य से कराये हो, किसी अन्य के करने मे अनुमति प्रदान की हो तो वे सब दोप मिथ्या हो ।।३।।

गद्य—पडिकमामि भंते । पोसह पडिमाए अप्पडिवेक्खिया-पमज्जियोसग्गेण वा, अप्पडिवेक्खियापमज्जिदाणेण वा, अप्पडिवे-क्खियापमज्जियासंथागेवक्कमणेण वा, आवस्सयाणदरेण वा, सदि-अणुव्वट्ठाणेण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो; मणसा, वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥४॥

अर्थ—हे भगवन् ! अपने व्रतों में लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। चौथी प्रोषधोपवास नामक प्रतिमा के पालन करने में दृष्टि से जीवजंतुओं को न देखकर और प्रमाद से जीव-जंतुओं का शोधन किये बिना मलमूत्र का क्षेपण किया हो अथवा पूजोपकरण आदि वस्तुओं को बिना देखे बिना शोधे ऐसे ही जीव जन्तु वाली जमीन में रखी हों बिना देखे और बिना शोधे उपकरण पुस्तक आदि संयमोपयोगी वस्तुओं को ग्रहण किया हो, बिना देखे बिना शोधे विस्तर (पथारी) आदि बिछाये हों, षट् आवश्यक पालन करने में अनादर किया हो, अथवा सामायिक पूजन, स्तवन आदि का पाठ विस्मरण किया हो, इत्यादि अनेक दोष दिवस या रात्रि में मैंने मन, वचन, काय से स्वयं किये हों अन्य से कराये हों, अन्य किसी के करने मे अनुमति प्रदान की हो तो वे सब दोष मिथ्या हो ॥४॥

विशेष—गृहस्थों के लिए षट् आवश्यक दोनों प्रकार के पालन करने चाहियें। समता, वदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, और कायोत्सर्ग इनको आवश्यक कहते है। अथवा देव पूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये भी छह आवश्यक है। दोनो प्रकार के आवश्यकों का अभिप्राय परिणामो को सरल और पवित्र रखने का है इसलिये आवश्यक कर्म मे अनादर करना व्रत मे शिथिलता है।

गद्य—पडिक्कमामि भंते। सचित्तविरदिपडिमाए पुढविकाइआ जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, आउकाइआ जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, तेउकाइआ जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वाउकाइआ जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाइआ जीवा अणंताणंता, हरिया, बीया अंकुरा छिण्णाभिण्णा एदेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥५॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतों में लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करनेका इच्छुक हूँ। पांचवी सचित्तत्याग प्रतिमा के पालन करने मे जलकाय के संख्यात अथवा असंख्यात

जीव, तेजकाय के संख्यात असख्यात जीव, वायुकाय के संख्यात असंख्यात जीव, पृथ्वीकाय के सख्यात असंख्यात जीव, और वनस्पति कायके अनन्तानन्त जीव, हरितकाय के जीव, हरित अंकुर, बीज, कदमूल आदि के जीव, और साधारण वनस्पति के जोवों का छेदन किया हो, भेदन किया हो, प्राणों का घात किया हो, पांव (पग) आदि से कुचल दिये हों, त्रास दिया हो, पीड़ा करी हो, और उनकी विराधना की हो, इत्यादि अनेक दोष मैंने मन, वचन, काय से स्वय किये हो, अन्य से कराये हों, किसी अन्यके करने में सहमत हुआ हो तो वे सब दोष मिथ्या होवें ॥५॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते। राइभत्तपडिमाए णवविह वंभचरियस्स दिवा जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो मणसा, वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥६॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतो मे लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करने की इच्छा करता हूँ। पष्ठा दिवा—मैथुन त्याग नामक प्रतिमा के पालन करने में नव प्रकार स्त्रियों के विषय की अभिलाषा, लिग विकार, घृत दुग्धादि पुष्टरस त्योग, स्त्री, पशु, नपुसक, विट, और सप्त विषयो के लोलुप मनुष्यों के आश्रित वसतिका का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अग निरीक्षणका त्याग, स्त्रियो का बुरी वासना मे आदर सत्कार का त्याग, अपनी पूजा प्रतिष्ठा के श्रवण का त्याग, अङ्ग श्रृगार का त्याग, सगीत नृत्य वादित्र आदि का श्रवण किया हो इत्यादि अनेक दोष दिवस या रात्रि मे मैंने मन, वचन, काय से स्वय किये हों, अन्य से कराये हो, किसी अन्य के करने में भला माना हो तो वे सब दोष मिथ्या होवें ॥६॥

विशेष—इस प्रतिमा का नाम 'रात्रिभुक्त त्याग' भी है इसलिये चारो प्रकार के आहार में मोह किया हो, पूर्व भोगे हुए रसो का स्मरण किया हो, निदान किया हो और रसों को न भोगते हुए भी मैं रसभोग रहा हूं ऐसा स्मरण किया हो इत्यादि दोष मैंने स्वय किये हों, अन्य से कराये हों, किसी के करने पर सम्मति दी हो तो वे सब मिथ्या होवे ॥६॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते । बंभपडिमाए इत्थिकहायत्तणेण

वा, इत्थिमणोहरांगनिरिक्खिणेण वा, पुव्वरयाणुस्सरणेण वा, कामकोंगणरसासेवणेण वा, सरीरमडणेण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो मणसा, वचिया, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥७॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतो में लगे हुये दोषो की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमा के पालन करने में; स्त्रियो की मनोहर कामोत्पादक कथा को हो, काम दृष्टि से स्त्रियों के गुह्य मनोहर अगों का निरीक्षण किया हो, पूर्वकाल में भोगे हुए विषयों का स्मरण कर मन को विकारित किया हो, कामोत्पादक पुष्ट रसों का सेवन किया हो, स्त्रियो को आसक्त करने वाला शरीर का शृङ्गार किया हो, इत्यादि अनेक प्रकार का दोष मैंने दिवस या रात्रि मे मन, वचन, काय से किया हो, अन्य से कराया हो, किसी अन्य के करने में सहमति प्रदान की हो तो वे सब दोष मिथ्या हो ॥७॥

गद्य—पडिक्कमामि भंते। आरंभविरदिपडिमाए कसायवसंगएण, जो मए देवसिओ (राइयो) आरम्भो मणसा, वचिया, कायेण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥८॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतो में लगे हुए दोषो की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूं। आठवी आरम्भ त्याग, प्रतिमा के पालन करने में क्रोध, मान, माया लोभ और मोह आदि कषायों के वश पाप कर्मों का आरम्भ दिवस या रात्रि में मैंने मन, वचन, काय से किया हो, अन्य से कराया हो, अन्य किसी के करने में अनुमति प्रदान की हो तो वे सब मेरे मिथ्या होवें ॥८॥

गद्य—पडिकमामि भंते ! परिग्गहविरदिपडिमाए वत्थमेत्त परिग्गहादो अवरम्मि परिग्गहे मुच्छापरिणामे जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो. अणाचारो, मणसा, वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्समिच्छामि दुक्कडं ॥९॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतों में लगे हुए दोषों की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। नवमी परिग्रह त्याग प्रतिमाके पालन करनेमें, वस्त्र मात्र परिग्रहके सिवाय अन्य परिग्रहमें मूर्च्छा की हो, तो उस सम्बन्धी दिवस या रात्रि में मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदन से किये हुए दोषों को मिथ्या चाहता हूँ ॥९॥

गद्य–पडिक्कमामि भंते ! अणुमणविरदिपडिमाए जंकिंपि अणुमणणं पुट्ठापुट्ठेण कदं वा, कारिदं वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥१०॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतों में लगे हुये दोषो का आलोचना करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूँ। दशवी अनुमति विरति प्रतिमा के पालन करने में अन्य के पूछने पर अथवा बिना पूछने पर भी जो कुछ अनुमति दी हो तत्सम्बन्धी मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन दिवस या रात्रि मे किये हुए समस्त दोष मिथ्या हो ॥१०॥

गद्य–पडिक्कमामि भंते ! उद्दिट्ठविरदिपडिमाए उद्दिट्ठदोसबहुलं अहोरदियं आहारयं वा आहाराबियं वा आहारिज्जंतं वा समणुमणिदो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥११॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं अपने व्रतो मे लगे हुए समस्त दोषो की आलोचना पूर्वक पश्चात्ताप करता हुआ प्रतिक्रमण करता हूं। ग्यारहवी उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा के पालन करने मे उद्दिष्ट दोष से दूषित आहार स्वय सेवन किया हो, अन्य को उद्दिष्ट दोष सहित आहार कराया हो, उद्दिष्ट दोष दूषित आहार करने में सम्मति प्रदान की हो, तत्सम्बन्धी जो दोष मन, वचन, काय से मुझ से हुए हो तो वे सब मिथ्या हों ॥११॥

— निर्ग्रन्थ पद की वांछा —

इच्छामि भंते ! इमं णिग्गंथं पावयणं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेगाइयं सामाइयं संसुद्धं सल्लघत्ताणं सल्लघात्तणं, सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं खंतिमग्गं मोत्तिमग्गं पमोत्तिमग्गं मोक्खमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं सव्वदुःखपरिहाणिमग्गं सुचरियपरिणिव्वाण-

मग्गं अवितहमविसंति पव्वयणमुत्तमं तं सद्दहामि तं पत्तियामि तं रोचेमि तं फासेमि इदो उत्तरं अएणं एात्थि ए भूदं ए भवं ए भविस्सदि णाणेण वा दंसणेण वा चरित्तेण वा सुत्तेण वा इदो जीवा सिज्झति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुःखाणमंतं करंति परिवियाणंति समणोमि संजदोमि उवरदोमि उवसंतोमि उवधिणियदिय माण माया मोसमूरण मिच्छणाण मिच्छदंसण मिच्छरित्तं च पडिविरदोमि सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचरित्तं च रोचेमि जं जिणवरेहिं पण्णत्तो इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥

अर्थ—हे भगवन् ! मैं निर्ग्रंथ पद की इच्छा करता हूं। जब तक मेरा संसार से सम्बन्ध है तब तक भव भवमे, यह त्रिजगत्पूज्य और मंगल लोकोत्तम शरणभूत निर्ग्रन्थपद (समस्त परिग्रहादि रहित परम दिगम्बर अवस्था) बार बार मिलो।

बाह्य और अभ्यतर समस्त परिग्रह रहित लोकोत्तर (मोक्ष मार्ग का साक्षात् चिन्ह, निर्ग्रन्थ लिंग सिवाय अन्य किसी भी लिंग मे मोक्ष की प्राप्ति नही होती है. इसलिए निर्ग्रन्थ पद लोकोत्तर है) केवल ज्ञान का उत्पादक रत्नत्रय का बीज; सर्व सावद्य रहित, परम उदासीनता का कारणभूत, आलोचना-प्रायश्चित्त-निरतिचारता, प्रतिक्रमण आदि गुणो से परम विशुद्ध, माया, मिथ्या निदान इस प्रकार शल्यत्रय रहित, आत्म सिद्धि का प्रधान मार्ग, उपशमक्षयोपशमादि श्रेणियो का साक्षात् मार्ग, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, काय और व्यामोहादि समस्त विकार रहित, होने से सर्वोत्तम निर्भय, परमात्म प्राप्ति का प्रत्यक्ष मार्ग, त्याग का मार्ग; मोक्ष मार्ग, उत्कृष्ट पद का मार्ग, ससार के परिभ्रमणमे रहित-निर्दोष मार्ग, निर्वाण का मार्ग, सर्व दु खों के नाश करने का मार्ग, उत्तम सदाचार के उत्पन्न करनेका मार्ग, अबाधित मार्ग, स्वतन्त्रता का मार्ग, निर्भयता का मार्ग, सर्व सुखों का मार्ग, और सर्वोत्कृष्ट मार्ग ऐसा निग्रन्थ पद है।

मैं उक्त सर्वोत्कृष्ट निग्रन्थ पद को विशुद्ध भावो से श्रद्धान करता हूँ, और सशयादि समस्त विकार रहित शुद्ध निश्चय से चाहता हूँ, विशुद्ध भावो

से निश्चय रूप मानता हूँ, विश्वास करता हूँ, सहृदय पूर्वक स्वीकार करता हूं, अनन्य भावना से प्रेम करता हूँ, भक्तिभाव से स्पर्श करता हूँ, पवित्र भावों से धारण करना चाहता हूँ। इस निर्ग्रन्थ पद सिवाय और दूसरा कोईभी उत्तम नही है। पहलेभी कोई नही था, और न भविष्यमे कोई इस के समान होगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र और सम्यक्आगम से यह निर्ग्रन्थ पद सर्वोत्कृष्ट है, इसके धारण करने से ही जीव मोक्ष मार्ग में प्राप्त होगे। सिद्ध पद को प्राप्त होगे। समस्त कर्म रहित सर्वथा मुक्त होंगे अर्थात् फिर कभी संसार के बंधन में नहीं प्राप्त होगे। इसी निर्ग्रन्थपद से निर्वाण पद को प्राप्त होगे, सर्व दु.खों का नाश करेंगे। समस्त जीवादि तत्वों के ज्ञाता होंगे। इसलिये मैं इस महान् परमपूज्य निर्ग्रन्थ पद को धारण करता हूँ। और उसकी प्राप्ति के लिये सयम आराधन करता हू। विषय कषायो से उपशात होता हू, विरक्त होता हूँ। परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, मात्सर्य, द्वेष, राग, काम, भय, प्रपच और समस्त व्यामोहका छोड़ता हूं। हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करता हूँ। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र से सर्वथा विरक्त हो गया हू। अब मैं सदा के लिए इनका परित्याग करता हू। और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का श्रद्धान करता हूँ। जो जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है वह सत्य है, प्रमाणित है, निश्चय है, अबाधित है। उसका में विश्वास करता हूँ, श्रद्धान करता हूं इस विषय में मुझ से जो कुछ अतिचार, अनाचार हुए हों तो वे सब मिथ्या हो।

विशेष—देवसीउ ३६ राउ १८ और चउमासिउ सावच्छरिओ १०८ बार णमोकार मत्र पढकर जाप्य दे।

गद्य—इच्छामि भंते! वीरभत्तिकाउस्सग्गं करेमि जो मए देवसिओ (राईउ चउमासिउ सांवच्छरिउ) अइचारो अणाचारो आभोगो, अणाभोगो, काईओ, वाईओ माणसिओ दुच्चरिओ दुच्चारिओ दुब्भासिओ दुप्परिणामिओ दुस्समिणिउ णाणे दंसणे चरित्ते सुत्ते समाइए एयारसण्हं पडिमाणं विराहणाए अट्ठविहस्स कम्मस्स णिग्घादणाए अणहा उस्सासिदेण, वा णिस्सासिदेण वा उम्मिसिदेण वा णिमिस्सिदेण वा खासिदेण वा छिंकिंदेण वा जंभाई-

देण वा, सुहुमेहि अंगचलाचलेहिं दिट्ठिचलाचलेहिं, एदेहिं सव्वेहिं, असमाहिं पत्तहि आयारेहिं, जाव अरहंताणं, भयवंताणं, पज्जु- वासं करेमि तावकाय पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि। दंसण वयं सामाइय पोसह, सचित्त राइ भत्तेय। वंभारंभ परिग्गह अणुम गु- मुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥१॥

एयासु यथा कहिद पडिमासु देवसिओ (राइयो) पमादाइकया इचार सोहणट्ठं छेदोवट्ठावणं होउ मज्भं।

अरहंत सिद्ध आयरिय उवज्भाय सव्वसाहु सक्खियं सम्मत्त पुव्वगं दिढव्वदं समारोहियं मे भवदु, मे भवदु, मे भवदु। देव- सिय (राइय) पडिक्कमणाए सव्वाइचारविसोहिणिमित्तं पुव्वायरिय- कम्मेण निट्ठितकरणवीरभक्तिकायुस्सग्गं करेमि ॥

"णमो अरहंताणं" यहां से प्रारम्भ कर "थावति जिन चैत्यानि" इस श्लोकपर्यन्त पढकर पुन नववार णमोकार मंत्रकी जाप्य देना चाहिये।

विशेष—जैसा प्रतिक्रमण किया हो वैसी ही णमोकार मन्त्र की जाप देनी चाहिये अर्थात् दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण की ३६ वार णमोकार की जाप देना उसी प्रकार ऊपर लिखित नियम से रात्रि को १८ वार णमोकार की जाप इत्यादि।

अर्थ—हे भगवन्! मैं वीर प्रभु की भक्ति करने का इच्छुक हूं। और इसके लिए मैं इस विनाशीक शरीर से ममत्व भाव छोडता हूं। दिवस में (रात्रि मे इत्यादि) आवश्यक क्रियाओके करते हुए मैंने आलस्य किया हो, व्रतादिको को भँग किया हो, उनमें अतीचार लगाये हों, शिथिलता धारण की हो, मन में ग्लानि उत्पन्न की हो, प्रकट रूप दंभवृत्ति मे व्रत पालन किये हों, लज्जा के लिये एकदम अपने को छुपाकर आचरण किये हो, मन, वचन और शरीर की दुष्टता से व्रतों का पालन किया हो, वीभत्स उच्चारण पर कार्य किया हो, राग, द्वेष, अज्ञान और प्रमाद से विनय रहित उद्दण्डता से व्रतों का पालन किया हो, अपशब्द कहकर महत्वता बतलाई हो, कुत्सित परिणामो (बुरे भावो) से कार्य किया हो, बुरे स्वप्न में दोष उत्पादन

किया हो, सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र और जिनागम की विराधना की हो, प्रतिमाओं की विराधना की हो, इत्यादि अनेक दोष मुझ से बने हों, वे सब मिथ्या होवें।

आठ कर्मों को नाश करने वाली क्रियाओं के प्रयत्न करने में (सामायिक-प्रतिक्रमण-ध्यान-तप पूजा और स्वाध्याय ये सब कर्मों के नाश करने के कारण हैं) श्वासोश्वास से, नेत्रों की टमकार से, खांसने से, छींकने से, जंभाई लेने से, सूक्ष्म अंगों के हिलाने से, अंगोपांग के फेंकने से, दृष्टिदोष से इत्यादि समस्त क्रियाओं से सूत्रपाठ आदि क्रियाओं का विस्मरण किया हो, अविनय की हो, प्रमाद और अज्ञान से अन्यथा प्ररूपणा की हो तो मैं इस प्रतिक्रमण के समय वीर भगवान् की भक्तिरूप कायोत्सर्ग धारण करता हूं। और तब तक पाप कर्मों को सर्वथा छोड कर शरीर से भी ममत्व त्याग करता हूं।

— वीर प्रभु का स्तवन —

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद्द्रव्याणि तेषां गुणान्,
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वथा।
जानीते युगपत्प्रतिक्षणमतः, सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते, वीराय तस्मै नमः ॥१॥

अर्थ—जो समस्त चराचर पदार्थोको तथा समस्त द्रव्य और उनकी कालत्रयवर्ती समस्त पर्यायों को एक साथ प्रतिक्षण सदैव जानता है उसको सर्वज्ञ कहते है। वीर भगवान् सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं और महान् पूज्य जिनेश्वर हैं इसलिये वीर प्रभु को नमस्कार है।

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहितः स्वकर्मनिचयो, वीराय भक्त्या नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य वीरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकांति निचयो, हे वीर भद्रं त्वयि ॥२॥

अर्थ—हे वीर प्रभो! आपकी समस्त इन्द्र पूजा करते हैं। विज्ञ गणधरादिक आपकी सेवा करते हैं। और आपने समस्त कर्मों को नष्ट कर दिया है इसलिये हे वीर! आपको नमस्कार है। धर्म तीर्थ आपसे इस

कलिकाल में चल रहा है, आप घोर तप धारण करने वाले परम योगी हो। आप में श्री, कांति, कीर्ति आदि सर्व गुणों का वास है अतएव आप कल्याण भागी हों ॥२॥

ये वीरपादौ प्रणमंति नित्यं, ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ताः ।
ते वीतशोका हि भवन्ति लोके, संसारदुर्गं विषमं तरंति ॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य संयम को धारण कर और ध्यान मे लीन कर वीर प्रभु को नमस्कार करता है वह समस्त शोक को दूर कर संसार समुद्र के पार हो जाता है ॥३॥

चारित्रं सर्व जिनैश्चरितं प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः ।
प्रणमामि पंचभेदं पंचमचारित्रलाभाय ॥६॥

अर्थ–सदाचार जिनेन्द्र भगवान् ने स्वय पालन किया है और समस्त जीवों के उपकार के लिये सब को बतलाया है। ऐसे चारित्र को उत्तम चारित्र की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूं।

विशेष—सामायिक १ छेदोपस्थापना २ परिहारविशुद्धि ३ सूक्ष्मसांपराय ४ और यथाख्यात ५।

साक्षान्मोक्ष का कारण यथाख्यात चरित्र है।

व्रतसमुदयमूलः संयमास्कंधबंधो, यमनियमपयोभिर्वर्द्धितः शीलशाखः। समितिकलिकभारो, गुप्तिगुप्तप्रवालो, गुणकुसुमसुगंधिः सत्तपश्चित्रपत्रः ॥४॥ शिवसुखफलदायी यो दयाछाययोघः, शुभजनपथिकानां, खेदनोदे समर्थः। दूरितरविजतापं, प्रापयन्नंतभावं, स भवविभवहान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्षः ॥५॥

अर्थ—व्रत, संयम, नियम, यम, शील, समिति, गुप्ति, तप, महाव्रत और दश धर्म चारित्र का रूप है। चारित्र मोक्ष को देने वाला दया का बीज है, समस्त पाप और संसार का नाश करने वाला है ॥४-५॥

धम्मो मंगलमुद्दिट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तस्स पणमंति, जस्स धम्मे सयामणो ॥२॥

अर्थ—धर्म समस्त मंगलों से से प्रधान मंगल है, अहिंसा, संयम

और तप के धर्म के रूप है। जो मनुष्य धर्म को पवित्र हृदय से धारण करता है उसको देवता भी नमस्कार करते है ॥८॥

धर्मः सर्वसुखाकरो, हितकरो, धर्मंबुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां, धर्मस्य मूलं दया,
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म ! मां पालय ॥१॥

अर्थ—धर्म का मूल दया है, धर्म को विद्वान् गणधरादिक मुनीश्वर धारण करते हैं, धर्म से सर्व सुखो की प्राप्ति और कल्याण होता है। धर्म सेवन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। धर्म ही जगत् का बन्धु है इसलिये धर्म सेवन करने में अपना चित्त लगाता हूँ। हे धर्म ! मेरी रक्षा कर ! तेरे लिये नमस्कार है ॥१॥

इच्छामि भंते। पडिकमणाइचारमालोचेउं तत्थ देसासिआ, असणासिआ आथाणसिआ कालासिआ मुद्दासिआ काउस्सग्गासिआ पणमासिआ आवत्तासिआ पडिकमणाए तत्थसु आवास एसु परिहीणदा जो मए अच्चासणा मणसा, वचिया, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्समिच्छामि दुक्कडं ॥६॥ दंसण वय सामाइय पोसह सचित्तरायभत्तेय, बंभारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे। एयासु यथा कहिद पडिमासु पमादाकयाइचारसोहणट्ठंछेदोवट्ठवेणं अरहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्वसाहु सक्खियं सम्मत्तपुव्वगं दिढव्वदं, समारोहियं मे भवदु ३ अथ देवसिय राइय पडिकमणाए सव्वाइचारविसोहिणिमित्तं पुव्वायरियकम्मेण चउवीसतित्थयरभत्ति काउस्सग्गं करेमि ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अन्त में अब प्रतिक्रमण में लगे हुए दोषों की आलोचना करता हूं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों की अनुकूल योग्यता नहीं मिलने से देश, आसन, स्थान, काल, मुद्रा, कायोत्सर्ग, श्वासोश्वास, नमस्कारादि विधि, और स्तुति आदि क्रिया में शीघ्रता के लिये, छह आवश्यक कर्मों के करने मे, कुछ भी हीनता प्राप्त हुई हो, अथवा प्रमाद और

अज्ञान से जिन दोषों की (अथवा मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा) प्राप्ति हुई हो तो वे सब मिथ्या हों।

इस प्रकार दोषों की शांति के लिये चौवीस तीर्थंकर भक्ति व कायोत्सर्ग धारण करे। णमोकार-मंत्र ९ वार पढकर जाप देवें।

"णमो अरिहंताणं" से प्रारम्भ कर "यावंति जिन चैत्यानि" इस श्लोक पर्यन्त पाठ पढना चाहिये और कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये।

चउवीसं तित्थयरे, उसहाई वीर पच्छिमे वंदे।
सव्वेसिं गुणगणहर, सिद्धे सिरसा णमंस्सामि ॥१॥

अर्थ—प्रथम ऋषभदेव को आदि लेकर वीर प्रभु पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर, गणधर, और सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करता हूँ।

ये लोकेऽष्टसहस्रलक्षणधरा, ज्ञेयार्णवांतर्गता,
ये सम्यक्भवजालहेतुमथनाश्चंद्रार्कतेजोधिकाः।
ये साध्विन्द्रसुराप्सरोगणशतैर्गीतप्रणुत्यर्चितास्,
तान् देवान् ऋषभादिवीरचरमान्, भक्त्यानमस्याम्यहं ॥२॥

अर्थ—समस्त ज्ञेय पदार्थों के ज्ञाता, एक हजार आठ शुभ लक्षणों से विराजमान, ससार के बंधन को नाश करने वाले, करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा से भी अधिक तेजस्वी, मुनीश्वर, नरेन्द्र और देवेन्द्र से पूज्य ऐसे ऋषभादि चौवीस तीर्थंकरो को नमस्कार करता हूँ ॥२॥

नाभेयं देवपूज्यं जिनवरमजितं, सर्वलोकप्रदीपं। सर्वज्ञं संभवाख्यं मुनिगणवृषभं नंदनं देवदेवं॥ कर्मारिघ्नं सुबुद्धिं वरकमलनिभं, पद्मपुष्पाभिगंधं। क्षांतं दांतं सुपार्श्वं सकलशशिनिभं चंद्रनामानमीडे ॥३॥ विख्यातं पुष्पदंतं भवभयमथनं, शीतलं लोकनाथं। श्रेयांसं शीलकोशं प्रवरनरगुरुं वासुपूज्यं सुपूज्यं। मुक्तं दान्तेन्द्रियाश्वं विमलमृषिपतिं सिंहसैन्यं मुनीन्द्रं। धर्मं सद्धर्मकेतुं, शमदमनिलयं स्तौमि शांतिं शरण्यं ॥४॥ कुंथुं सिद्धालयस्थं श्रमणपतिमरं, त्यक्तभोगेषु चक्रं। मल्लिं विख्यातगोत्रं, खचरगुणनुतं सुव्रतं सौख्यराशिं। देवेन्द्रार्च्यं नमीशं, हरिकुल-

तिलकं नेमिचंद्रं भवान्तं । पार्श्वं नागेन्द्रवन्द्यं, शरणमहमितो वर्द्धमानं च भक्त्या ॥५॥

गद्य—इच्छामि भंते! चउवीसतित्थयर भत्तिकाउसग्गो कओ. तस्सालोचेउं, पंच महाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठ महापाडिहेर सहियाणं चउतीस अतिशय विशेष संजुत्ताणं. बत्तीस देविंद मणि मउड मत्थय महियाणं. बलदेव वासुदेव चक्कहर रिसि मुणि जय अणगारोवगूढाणं. थुइसय सहस्स णिलयाणं. उसहाइ वीर पच्छिम-मंगल-महापुरिसाणं. णिच्चकालं अंचेमि. पूजेमि. वंदामि. णमंस्सामि. दुक्खक्खओ. कम्मक्खओ. बोहिलाहो. सुगइगमणं.समाहि-मरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं। दंसण वय सामाइय. पोसह सचित्तराय भत्तेय। बंभारंभ परिग्गह. अणुमणमुद्दिठ देसविरदेदे। एयासु यथा कहिद पडिमासु पमादाकयाइचार सोहणट्ठं छेदोवट्ठावणं अरहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय सव्वसाहु सक्खियं सम्मत्त पुव्वगं. दिढव्वदं समारोहियं मे भवदु मे भवदु मे भवदु । अथ देवसिय (राइय)पडिक्कमणाए सव्वाइचार विसोहिणिमित्तं. पुव्वायरिय कमेण आलोयण सिद्धभत्तिपडिक्कमणभत्ति णिट्ठिदकरण वीरभत्ति चउवीस-तित्थयरभत्ति कृत्वा तद्धीनाधिकत्वादिदोषपरिहारार्थं सकलदोषनिराकरणार्थं सर्वमलातिचारविशुद्ध्यर्थं आत्मपवित्रीकरणार्थं समाधिभक्ति कायोत्सर्गं करोमि ।

विशेष—इन तीनों श्लोकों का अर्थ बहुत ही सरल है । ऋषभ १ अजित २ संभव ३ अभिनन्दन ४ सुमति ५ पद्मप्रभ ६ सुपार्श्व ७ चंद्रप्रभ ८ पुष्पदंत ९ शीतलनाथ १० श्रेयांसनाथ ११ वासुपूज्य १२ विमलनाथ १३ अनन्तनाथ १४ धर्मनाथ १५ शांतिनाथ १६ कुन्थुनाथ १७ अरहनाथ १८ मल्लिनाथ १९ मुनिसुव्रत २० नमिनाथ २१ नेमिनाथ २२ पार्श्वनाथ २३ महावीर २४ इस प्रकार चौबीस तीर्थंकर हैं ॥५॥

(णमोकार मंत्र ९ बार २७ श्वासोश्वास में जाप्य)

अर्थ—हे भगवन् ! मैं समस्त दोषों को दूर करने के लिये चौवीस तीर्थङ्करों की भक्ति-रूप-कायोत्सर्ग धारण करता हुआ अपने कृत कर्मो की आलोचना करता हूँ ।

महान् पंचकल्याणकों से सुशोभित, अष्ट महा प्रातिहार्य सहित, चौंतीस अतिशय सहित, बत्तीस प्रकार के देवेन्द्रों के मस्तकों में लगी हुई मणियों से पूज्य, बलभद्र-वासुदेव-चक्रवर्ती-रुद्र-ऋषि-मुनीश्वर-यति-अनगार आदि महान् पुरुषों के शिरोवन्द्य, देवेन्द्रोंकर सतत वंदनीय ऋषभदेव से प्रारम्भ कर वीर भगवान् पर्यन्त चौवीस तीर्थङ्कर महामंगल के करने वाले है, पुण्य पुरुष हैं, उनकी मैं त्रिकाल वंदना करता हूँ, स्तवन करता हूँ, पूजा करता हूँ, नमस्कार करता हूं चौबीस भगवान् की भक्ति से दुःखों का नाश हो, कर्मों का नाश हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति हो, समाधिमरण हो और श्री जिनेन्द्र देव के गुणों की प्राप्ति हो । दर्शनादि प्रतिमा में सर्व दोषों की विशुद्धि के लिये पूर्व आचार्यों की परिपाटी के अनुकूल अपने समस्त कृत कर्मोंकी आलोचना पूर्वक श्री सिद्ध प्रतिक्रमण भक्ति वीर भक्ति और चौवीस तीर्थङ्कर भक्ति करने पर विशेष दोषों की शुद्धि के लिए समाधि भक्ति कायोत्सर्ग धारण करता हूं । अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु की साक्षी पूर्वक सम्यग्दर्शन सहित उत्तमोत्तम व्रतों का समारोह मेरे हृदयमन्दिर में हो ।

विशेष—अशोक वृक्ष, पुष्प वृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, भामंडल, छत्रत्रय, सिंहासन और दुन्दुभि बाजों का बजाना, ये आठ प्रातिहार्य है ।

दशजन्म, दश केवलज्ञान और चौदह देवकृत इस प्रकार चौंतीस अतिशय अरहत भगवान् के होते है ।

(९ बार णमोकार मंत्र २७ श्वासोच्छ्वास में)

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः,
सदवृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो, भावना चात्मतत्त्वे,
संपद्यंतां मम भव भवे, यावदेतेऽपवर्गः ॥ १ ॥

अर्थ—जैनागम अथवा जिन सिद्धान्त का अभ्यास, श्री जिनेन्द्रदेव भगवान् की भक्तिपूर्वक वदना, सदाचारधारी जैन यति, ब्रह्मचारी-ऐल्लक

और विद्वान् महात्माओं का संग, श्री जिनेन्द्र देव प्रभृति पुण्य पुरुषों की कथा का श्रवण, दूसरों की निन्दा का त्याग, दूसरों के तिरस्कार में मौन, समस्त जीव मात्र में प्रेम, हित, मित, वचन और आत्म-तत्व की भावना इतनी वस्तुओं का समागम जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक नित्य भव-भव में रहो ॥१॥

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनं ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ॥२॥

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव ! आपके पवित्र चरणकमल जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक मेरे हृदय मन्दिर में विराजमान रहो और मेरा हृदय आपके चरणकमलों में लीन रहे ॥२॥

अक्खरपयत्थहीणं, मत्ताहीणं च जं मए भणियं ।
तं खमउ णाणदेव य, मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु ॥३॥

अर्थ—हे जिन शासन (जिनागम) देव ! मैंने अक्षर, मात्रा रहित जो कुछ अशुद्ध उच्चारण किया हो, सो क्षमा करो और मेरे दुःखों का नाश करो ॥३॥

दुक्खक्खउ कम्मक्खउ, बोहिलाहो सुगइगमणं ।
सम्मं समाहिमरणं जिणगुणं संपत्ति होउमज्झं ॥४॥

अर्थ—हे भगवन् ! मेरे दुःखों का नाश हो, कर्मों का नाश हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति गमन हो, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो, समाधि-मरण हो और श्री जिनराजके गुणोंकी प्राप्ति हो ऐसी मेरी भावना है ॥४॥

गद्य—इच्छामि भंते ! इरियावहियस्स आलोचेउं पुव्वुत्तर दक्खिण पच्छिम चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण जुगुंतर दिट्ठिणा दट्ठव्वा डवडवचरियाए पमाददोसेण पाणभूद जीवसत्ताणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥

(६ बार णमोकार मंत्र की जाप और आवर्त्त चारों दिशा में एव प्रणुति)

॥ इति शम् ॥

———

श्रीजिनसहस्रनाम स्तोत्रम् ।

(भगवज्जिनसेनाचार्य)

स्वयंभुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्यात्मानमात्मनि ।
स्वात्मनैव तथोद्भूतवृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये ॥ १ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपने स्वयं अपने आत्मा को प्रगट किया है इसलिये आप स्वयंभू अर्थात् अपने-आप उत्पन्न हुए कहेजाते है। इसके सिवाय आपको आत्मवृत्ति अर्थात् आत्मा में ही तल्लीन होने योग्य चारित्र की प्राप्ति हुई है, तथा अचित्य माहात्म्य की प्राप्ति हुई है; इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो ॥१॥

नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मीभर्त्रे नमोऽस्तु ते ।
विदांवर नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतांवर ॥ २ ॥

अर्थ—आप जगत् के स्वामी है, इसलिये आपको नमस्कार हो; आप अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग लक्ष्मी के अधीश्वर हैं; इसलिये आपको नमस्कार हो। आप विद्वानों मे श्रेष्ठ है, तथा आप वक्ताओं में भी श्रेष्ठ है, इस लिये भी आपको हमारा नमस्कार हो ॥२॥

कर्मशत्रुहणं देवमामनन्ति मनीषिणः ।
त्वामानमत्सुरेण्मौलि-भा-मालाभ्यर्चित-क्रमम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे देव! बुद्धिमान् लोग आपको कामदेव-रूपी शत्रु को नाश करने वाला मानते हैं, और इन्द्र लोग भी अपने मुकुटों की कातिपुञ्ज से आपके चरणकमलो को पूजा करतेहै, इसलिये मैं भी आपकी स्तुति करता हूं।

ध्यान-दुर्घण-निर्भिन्न-घन-घाति-महातरुः ।
अनन्त-भव-सन्तान-जयादासीरनन्तजित् ॥ ४ ॥

अर्थ—आपने अपने ध्यान-रूपी कुठार से बहुत कठोर घातिया कर्म रूपी बड़ेवृक्षको काट डाला हैं तथा अनन्त जन्म-मरण-रूप संसार की सन्तान परम्परा को जीत लिया है, इसलिये ही आप अनन्तजित् कहलाते हैं।

त्रैलोक्य-निर्जयावाप्त-दुर्दर्पमतिदुर्जयम् ।
मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन मृत्युंजयो भवान् ॥५॥

अर्थ— हे जिन! तीनो लोको को जीत लेने पर जिसे अत्यंत अभिमान उत्पन्न हुआ है, तथा जो अन्य किसीसे भी नही जीता जा सकता है, ऐसे मृत्यु राज को भी आपने जीत लिया है, इस लिये आप ही मृत्युञ्जय कहलाते हैं ॥५॥

विधूताशेष-संसार-बन्धनो भव्य-बान्धवः ।
त्रिपुरारिस्त्वमीशोऽसि जन्म-मृत्युजरान्तकृत् ॥ ६ ॥

अर्थ—आपने ससार-रूपी समस्त बन्धन नष्ट कर दिये है, भक्त जीवो के आप बन्धु है, और आप ही जन्म, मरण तथा बुढापा इन तीनों को नाश करनेवाले है, इसलिये आप ही त्रिपुरारि है ॥ ६ ॥

त्रिकाल-विजयाशेष-तत्त्वभेदात् त्रिधोत्थितम् ।
केवलाख्यं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोऽसि त्वमीशिता ॥ ७ ॥

अर्थ—हे अधीश्वर ! भूत भविष्यत् एवं वर्त्तमान तीनो कालों के समस्त तत्वो को एवं उनके तीन भेदो को जानने योग्य केवलज्ञान-रूप नेत्र को आप धारण करते है, इसलिये आप ही त्रिनेत्र कहलाते है ॥७॥

त्वामन्धकान्तकं प्राहुर्मोहान्धा-सुर-मर्द्दनात् ।
अर्द्धं ते नारयो यस्मादर्धनारीश्वरोऽस्यतः ॥ ८ ॥

अर्थ—आपने मोह-रूपी अन्धासुर का नाश किया है, इसलिये आप अन्धकान्तक कहलाते है, आठ कर्म-रूपी शत्रुओं मे से आपके आधे शत्रु अर्थात् चार घातिया कर्म नही है, इसलिये आप अर्धनारीश्वर (अर्ध न अरि ईश्वर) कहलाते है ॥८॥

शिवः शिव-पदाध्यासाद् दुरितारि-हरो हरः ।
शङ्करः कृतशं लोके शम्भवस्त्वं भवन्सुखे ॥ ९ ॥

अर्थ—आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थान में निवास करते है; इस लिये 'शिव' कहे जाते है, पाप-रूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले है; इसलिये 'हर' कहलाते है; जगत् को आनन्द देनेवाले है, इसलिये 'शङ्कर' कहलाते है, और सुख से उत्पन्न हुये है; इसलिये 'शम्भव' कहे जाते है ॥९॥

वृषभोऽसि जगज्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयैः ।
नाभेयो नाभि-सम्भूतेरिक्ष्वाकु-कुल-नन्दन ॥ १० ॥

अर्थ—जगत् में श्रेष्ठ होने के कारण 'वृषभ' कहलाते है, बहुत से गुणो की खान होने से 'पुरु' कहे जाते-है; महाराज नाभिराय से आप उत्पन्न हुये है, इसलिये 'नाभेय' कहलाते है, और इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुये है, इसलिये 'इक्ष्वाकु कुलनन्दन' कहे जाते है ॥१०॥

त्वमेकः पुरुषस्कंधस्त्वं द्वे लोकस्य लोचने ।
त्वं त्रिधा बुद्ध सन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञान-धारकः ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रव पुरुषो में आप ही एक श्रेष्ठ है, लोगो के दो नेत्र होने के कारण आप दो-रूप धारण करते है, तथा आपने मोक्ष का मार्ग तीन रूपसे जाना है, अथवा भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनो कालों के समस्त पदार्थो को एक साथ जानने वाले है; रत्नत्रयको धारण करने वाले है, इसलिये 'त्रिज्ञ' कहलाते है ॥११॥

चतुःशरण-माङ्गल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः ।
पञ्च-ब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि माम् ॥ १२ ॥

अर्थ—आप अरहन्त, सिद्ध, साधु एव केवली-प्रणीत धर्म-ये चार शरण तथा मङ्गल-रूप हैं; इसके अतिरिक्त आप चतुरस्रधो अर्थात् चारों दिशाओ के समस्त पदार्थो को जाननेवाले कहलाते है। हे देव ! आप ही पञ्च परमेष्ठी स्वरूप हैं अतिशय पवित्र है; आप मुझे भी पवित्र कीजिये ॥१२॥

स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्योजातात्मने नमः ।
जन्माभिषेक-वामाय वामदेव नमोऽस्तु ते ॥ १३ ॥

अर्थ—हे भगवन्! आप स्वर्गावतार के समय ही 'सद्योजात' (अर्थात् उसी समय उत्पन्न होनेवाले) कहलाये थे, इसलिये आपको नमस्कार हो। और जन्माभिषेक के समय बहुत ही सुन्दर दिखाई पड़ते थे, इसलिये हे वामदेव, आपको नमस्कार हो ॥१३॥

सन्निष्क्रान्तावघोराय परं प्रशममीयुषे ।
केवलज्ञान-संसिद्धावीशानाय नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥

अर्थ—दीक्षा-कल्याण के समय आपने परम शान्त मुद्रा धारण की थी तथा केवल-ज्ञान के समय आप परम-पद को प्राप्त हुये, और ईश्वर कहलाये, इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१४॥

पुरस्तत्पुरुषत्वेन विमुक्त-पद-भागिने ।
नमस्तत्पुरुषावस्थां भाविनीं तेऽद्य बिभ्रते ॥१५॥

अर्थ—अब आगे शुद्ध आत्म-स्वरूप के द्वारा मोक्ष स्थान को प्राप्त होगे एवं आगामी काल मे सिद्ध अवस्था को धारण करनेवाले होगे, इस लिये आपको आज ही मेरा नमस्कार हो ॥१५॥

ज्ञानावरणनिर्हासान्नमस्तेऽनन्तचक्षुषे ।
दर्शनावरणाच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने ॥ १६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्म के नाश से आप 'अनन्तज्ञानी' कहलाते हैं, तथा दर्शनावरण कर्म के नाश करने के कारण आप 'विश्वदृश्वा' अर्थात् समस्त देखनेवाले कहलाते है । इसलिये हे देव! आपके लिये मेरा नमस्कार हो ॥१६॥

नमो दर्शनमोहघ्ने क्षायिकामलदृष्टये ।
नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे ॥ १७ ॥

अर्थ—आप दर्शन.मोहनीय के नाश करनेवाले तथा निर्मल क्षायिक सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले है, आप चारित्र मोहनीय कर्मको नाश करने वाले है, वीतराग और अतिशय तेजस्वी है; इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो

नमस्तेऽनन्त-वीर्याय नमोऽनन्त-सुखात्मने ।
नमस्तेऽनन्त-लोकाय लोकालोकावलोकिने ॥१८॥

अर्थ—अनन्तवीर्य को धारण करनेवाले आपको मेरा नमस्कार हो, अनन्तसुख को धारण करनेवाले तथा लोकालोक को देखनेवाले और अनन्त प्रकाश रूप आपको मेरा नमस्कार हो ॥१८॥

नमस्तेऽनन्त-दानाय नमस्तेऽनन्त-लब्धये ।
नमस्ते नन्त-भोगाय नमोऽनन्तोपभोगिने ॥१९॥

अर्थ—दानान्तराय कर्म के नाश होने से आप को अनन्त दान की प्राप्ति हुई है, इसलिये आप को नमस्कार हो, आप अनन्त लब्धियों को

धारण करनेवाले है; इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अनन्तभोग को धारण करनेवाले हैं; इसलिये आपको नमस्कार हो, तथा आप अनन्त उपभोग को धारण करनेवाले है, इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१९॥

नमः परम-योगाय नमस्तुभ्यमयोनये ।
नमः परम-पूताय नमस्ते परमर्षये ॥ २० ॥

अर्थ—आप परम-ध्यानी हैं; इसलिये आपको नमस्कार हो, आप चौरासी लाख योनियो से रहित है; इसलिये आप को नमस्कार हो, आप परम पवित्र हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो और आप परम ऋषि वा सर्वोत्कृष्ट मुनि है, इसलिये आपको नमस्कार हो ॥२०॥

नमः परम-विद्याय नमः पर-मत-च्छिदे ।
नमः परम-तत्वाय नमस्ते परमात्मने ॥ २१ ॥

अर्थ—आप परम विद्या अर्थात् केवलज्ञान को धारण करनेवाले हैं; इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अन्य मतों का नाश करनेवाले हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परमतत्व-स्वरूप है अर्थात् रत्नत्रयरूप हैं, तथा आप ही सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हैं, इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो।

नमः परम-रूपाय नमः परम-तेजसे ।
नमः परम-मार्गाय नमस्ते परमेष्ठिने ॥ २२ ॥

अर्थ—आप बहुत सुन्दर-रूप को धारण करने वाले, परम तेजस्वी हैं; इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो, आप रत्नत्रय-रूप होने के कारण साक्षात् मोक्षमार्ग-स्वरूप है, और आप परम स्थान मे रहनेवाले परमेष्ठी हैं, इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो ॥२२॥

परमर्द्धिजुषे धाम्ने परम-ज्योतिषे नमः ।
नमः पारेतम,प्राप्तधाम्ने परतरात्मने ॥ २३ ॥

अर्थ— आप मोक्ष-स्थान को सेवन करनेवाले है तथा ज्योति-स्वरूप है, इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अज्ञान-रूपी अन्धकार के पारङ्गत अर्थात् सर्वज्ञ है, और इसलिये ही प्रकाश-रूप है, तथा सर्वोत्कृष्ट है, इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो ॥२३॥

नमः क्षीण-कलङ्काय क्षीण-बन्ध नमोऽस्तु ते ।
नमस्ते क्षीण-मोहाय क्षीण-दोषाय ते नमः ॥२४॥

अर्थ—आप कर्म-रूपी कलङ्क से रहित है, आप कर्मो के बन्धन से रहित हैं, आपका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है, तथा आप सब दोषों से रहित हैं, इन सब गुणो के लिये भी आप को नमस्कार हो ॥२४॥

नमः सुगतये तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे ।
नमस्तेऽतीन्द्रिय-ज्ञान-सुखायानिन्द्रियात्मने ॥२५॥

अर्थ—आप मोक्ष-रूपी शुभगतिको प्राप्त होनेवाले 'शुभगति' है, आप अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियोसे न जाना जाय) ज्ञान सुख को धारण करनेवाले हे; तथा स्वय इन्द्रियोंके अगोचर अतीन्द्रिय हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो।

काय-बन्धननिर्मोक्षा दकायाय नमोऽस्तु ते ।
नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनामधियोगिने ॥२६॥

अर्थ—आप 'शरीर बन्धन नामक' नाम कर्मको नष्ट करने के कारण ही शरीर-रहित कहलाते है; आप मन, वचन, काय के योगो से रहित हैं, और योगियोमे भी सर्वोत्कृष्ट हैं, इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥२६॥

अवेदाय नमस्तुभ्य, मकषायाय ते नमः ।
नमः परम-योगीन्द्र-वन्दितांघ्रि-द्वयाय ते ॥२७॥

अर्थ—आप स्त्री-पु-नपुंसक तीनो वेदों से रहित हैं; और आप कषाय-रहित हैं, इसलिये आपको नमस्कार है, परम योगिराज आपके दोनो चरण कमलो को नमस्कार करते हैं, इसलिये आपको नमस्कार करते है ॥२३॥

नमः परम-विज्ञान नमः परम-संयम ।
नमः परमदृग्दृष्ट-परमार्थाय तायिने ॥२८॥

अर्थ—हे परम विज्ञान! उत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेवाले, आपके लिये मेरा नमस्कार हो, परमसंयम अर्थात् उत्कृष्ट चरित्र को धारण करने वाले; हे देव! आप परमदृष्टि से परमार्थ को देखनेवाले हैं तथा जगत् की रक्षा करनेवाले है, इसलिये आपको मेरा नमस्कार है ॥२८॥

नमस्तुभ्यमलेश्याय शुक्ललेश्यांशक-स्पृशे ।
नमो भव्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥२९॥

अर्थ—आप लेश्याओं से रहित है तथापि शुद्ध शुक्ललेश्या के कुछ उत्तम अंशों को स्पर्श करनेवाले है इसलिये आपको नमस्कार हो, आप भव्य अभव्य दोनों अवस्थाओ से रहित है और मुक्तरूप है इसलिये भी आप को नमस्कार हो ॥२९॥

संज्ञ्यसंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने ।
नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥ ३० ॥

अर्थ—आप सैनी असैनी दोनो अवस्थाओं से रहित है, निर्मल शुद्ध आत्मा को धारण करनेवाले हैं तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह चारों संज्ञाओं से रहीत है इसलिये आपको हमारा नमस्कार हो, इसके अतिरिक्त आप क्षायिक सम्यग्दृष्टी है इसलिये भी मैं आपको नमस्कार करता हूं ॥३०॥

अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभाजुषे ।
व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयुषे ॥३१॥

अर्थ—आप आहार रहित होकर भी सदा तृप्त रहते है, अतिशय काँति युक्त है, समस्त दोपों से रहित है और संसाररूपी सुमुद्र के पार है, इसलिये आपको हमारा नमस्कार हो ॥३१॥

अजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते स्तादजन्मिने ।
अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने ॥३२॥

अर्थ—आप जरा रहित है, आप जन्म रहित है, मृत्युरहित है तथा अचल और अविनश्वर है इसलिये भी आपको हमारा नमस्कार हो ॥३२॥

अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः ।
त्वां नाम स्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥३३॥

अर्थ—हे देव! आपकके अनंतगुण है, सबका वर्णन असम्भव है इस लिये अब आपके गुणो का वर्णन न कर केवल आपके नामो का ही स्मरण करके आपकी उपासना करना चाहते है ॥३३॥

एवं स्तुत्वा जिनं भक्त्या परमया सुधीः ।
पठेदष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं पाप-शान्तये ॥३४॥

अर्थ—इस प्रकार उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव की स्तुति करके सुधीजन पापों की शांति के लिये एक हजार आठ नामों को निरंतर पढे ॥३४॥

इति प्रस्तावना

प्रसिद्धाष्ट-सहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिम् ।
नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टुमोभीष्टसिद्धये ॥ १ ॥

अर्थ—आप समस्त वाणियों के स्वामी हैं, आपके एक हजार आठ लक्षण प्रसिद्ध हैं, इस लिये हमलोग भी अपनी इष्ट सिद्धि के लिये एक हजार आठ नामों से आपकी स्तुति करते हैं ॥१॥

श्रीमान्स्वयम्भूर्वृषभः संभवः शंभुरात्मभूः ।
स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥ २ ॥

अर्थ—आप अनंत चतुष्टय-रूप अंतरंग लक्ष्मी और समवसरण-रूप वहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित है इसलिये 'श्रीमान् [१]कहलाते है । अपने आप उत्पन्न हुये है, अथवा विना गुरु के ही अपने-आप समस्त पदार्थों के जाननेवाले है, अथवा अपने ही आत्मा में रहते है, अथवा आपने अपने आप ही कल्याण किया है, अथवा अपने ही गुणो से आप वृद्धि को प्राप्त हुये है, अपने आप केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा समस्त लोकालोक मे व्याप्त हो रहे है, वा भव्य जीवो को मोक्ष-रूप सम्पत्ति देनेवाले है, वा द्रव्य पर्यायो को अपने आप जान सकते हैं, अथवा ध्यान करनेवाले योगियों को आप प्रत्यक्ष दिखाई पडते है, अथवा लोकशिखर पर अपने-आप जाकर विराजमान होते है, इसलिये आप स्वयभू [२]कहलाते है । आप 'वृष' अर्थात् धर्म से 'भा' अर्थात सुशोभित रहते है, अथवा धर्म की वर्षा करते है. अथवा भक्त लोगों को इष्टवस्तु की वर्षा करने वालेहै इसलिये 'वृषभ' [३] कहलाते हैं । आप से सब जीवों का सुख मिलता है, अथवा आपका 'भव' अर्थात् जन्म अत्यन्त ही उत्कृष्ट है, अथवा आप सुखपूर्व उत्पन्न हुये हैं; इसलिये 'शंभव वा संभव' [४]कहलाते है । आप परमानन्द मोक्ष-रूप सुख को देनेवाले हैं, इस लिये 'शंभु' [५] कहलाते है । आप

अपनें आत्माके द्वारा ही कृतकृत्य हुये हैं, अथवा शुद्ध-बुद्ध चिच्चमत्कार स्वरूप आत्मा में ही रहते हैं, अथवा ध्यान के द्वारा योगियों की आत्मा में ही प्रत्यक्ष होते है, इसलिये 'आत्मभू [६] कहे जाते हैं। आप अपने-आप ही प्रकाशमान होते है, किंवा शोभायमान होते है, इस लिये 'स्वयंप्रभ [७] कहलाते है। सबके स्वामी हैं वा समर्थ है, इस लिये 'प्रभु' [८] हैं। परमानन्द-स्वरूप सुख का उपभोग करनेवाले हैं, इसलिये 'भोक्ता' [९] हैं। केवल ज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त है, वा समस्त लोक मे मगल करने वाले हैं, अथवा ध्यानादि के द्वारा समस्त लोक में प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं, अथवा समस्त लोकालोक को जाननेवाले हैं, इस लिये ,विश्वभू' [१०] है। आपका जन्म मरण रूप ससार बाकी नही है, वा अब आप संसार में उत्पन्न नही होंगे, इसलिये ही आपको 'अपुनर्भव' [११]कहते है ॥ २ ॥

विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः ।
विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनश्वरः ॥ ३ ॥

अर्थ—आप समस्त लोक को अपने समान जानते हैं, अथवा आप विश्व अर्थात् केवलज्ञान-स्वरूप हैं, इसलिये 'विश्वात्मा' [१२] कहे जाते हैं, तीनों लोकों में रहनेवाले समस्त प्राणियो के आप स्वामी है, इस लिये 'विश्वलोकेश' [१३] है। आपके चक्षु अर्थात् केवल दर्शन समस्त जगत् मे व्याप्त है, इसलिये 'विश्वतश्चक्षु' [१४] हैं। कभी नाश नही होते, इसलिये 'अक्षय' [१५] हैं। छः द्रव्यों से भरे हुये इस विश्व अर्थात् जगत को जानते है, इस लिये 'विश्वविन' [१६] हैं। समस्त विद्याओं के ईश्वर है, अथवा केवलज्ञानी के स्वामी है, अथवा समस्त विद्याओ के जाननेवाले गणधरादिको के स्वामी हैं, इसलिये 'विश्वविद्येश' [१७] कहे जाते हैं। समस्त पदार्थो की उत्पत्ति के कारण हैं अर्थात् सब पदार्थो का उपदेश देनेवाले है इस लिये विश्वयोनि [१८] कहलाते है। आप के स्वरूप का कभी विनाश नही होता, इसलिये 'अविनश्वर, [१९] कहे जाते है ॥ ३ ॥

विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः ।
विश्वव्यापी विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥४॥

अर्थ—समस्त लोक अलोक को देखने से 'विश्वदृश्वा' [२०] कहलाते है; केवलज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त है, अथवा जीवों को संसार से पार करने में समर्थ हैं, अथवा परम विभूति संयुक्त हैं, इसलिये आप को 'विभू' [२१] कहते है। चारों गतियों में परिभ्रमण करनेवाले जीवों का उद्धार कर मोक्ष-स्थान में पहुचाने वाले हैं; अथवा दयालु होने से सब जीवों की रक्षा करने वाले है, इसलिये 'धाता' (२२) कहलाते है। समस्त जगत के स्वामी होने से 'विश्वेश' (२३ कहे जाते है; समस्त जीवों को सुख की प्राप्ति का उपाय दिखलाया है, इसलिये सब जीवों के नेत्रों के समान होने से 'विश्वलोचन'(२४)कहलाते हैं। केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक में व्याप्त हैं, अथवा केवलिसमुद्घात करते समय आपके आत्मा के प्रदेश समस्त लोकाकाश में व्याप्त होजाते है, इसलिये आपको 'विश्वव्यापी' (२५) कहते है। कर्मों को नाश करने वाले है, अथवा केवलज्ञान-रूपी किरणों के द्वारा मोह-रूपी अन्धकार को नाश करनेवाले है, इसलिये 'विधु' (२६)कहे जाते है, धर्म-रूप जगत को उत्पन्न करनेवाले है, इसलिये 'वेधा' (२७) कहलाते है। नित्य है, सदा विद्यमान रहते है, इसलिये 'शास्वत' (२८) कहे जाते है। आपके मुख चारों दिशाओं में दिखते है अथवा आपके मुखके दर्शन करनेमात्र से ही जीवो की चतुर्गति नष्ट हो जाती है, इसलिये अथवा जैसे—विश्वतोमुख नाम जल का है, एवं आप जल के समान कर्मरूप मल को धोनेवाले है, विषयों की तृष्णा को नष्ट करनेवाले और अत्यन्त स्वच्छ हैं, इसलिये आप 'विश्वतोमुख' (२९) कहलाते है ॥४॥

विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः ।
विश्वदृक् विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥५॥

अर्थ—आपके मतानुसार समस्त कर्म ही दुःख देनेवाले है अथवा आपने जीविका के लिये छह कर्मों का उपदेश दिया है, इसलिये आपको 'विश्वकर्मा'(३०)कहते है। जगतके समस्त प्राणियों में आप वृद्ध है अथवा श्रेष्ठ है इसलिये 'जगज्ज्येष्ट' (३१) कहलाते हैं। आप अनंतगुणमय हैं इस लिये 'विश्वमूर्ति'(३२)कहलाते हैं। समस्त अशुभ कर्मों के नाश करने के कारण गणधर देवों को तथा चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक रहने वाले जीवों को 'जिन' कहते है; आप जिनों के ईश्वर है इसलिये

आपको 'जिनेश्वर' (३३) कहते है । समस्त जगत को देखते हैं इसलिये 'विश्वदृक' (३४) कहलाते है, तथा समस्त प्राणियों के ईश्वर होने के कारण एवं आप तीनों लोकों की लक्ष्मी के स्वामी है इसलिये 'विश्वभूतेश' (३५) कहे जाते है । आपका केवल दर्शनरूपी तेज सब जगह भरा हुआ है अथवा आप समस्त जगत को प्रकाश देनेवाले हैं; इसलिये 'विश्वज्योति' (३६) कहलाते है । आपका कोई ईश्वर अथवा स्वामी नही है इसलिये आपको 'अनीश्वर' (३७) कहते है ।।५।।

जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः ।
अनन्तजिदचिन्त्यात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः ॥६॥

अर्थ—आपने कर्मरूपी शत्रु अथवा काम, क्रोध, रागद्वेष आदि शत्रुओं को जीता है इसलिये 'जिन' (३८) कहलाते है । आपका स्वभाव ही सबसे उत्कृष्ट किया प्रकाश-रूप है, इसलिये 'जिष्णु' (३९) कहे जाते हैं । आपका ज्ञान प्रमाणरहित अनंत है, इसलिये आप 'अमेयात्मा' (४०) कहलाते है । विश्वरी अर्थात पृथ्वी के 'ईश' अर्थात स्वामी है, इसलिये आप 'विश्वरीश' (४१) कहलाते है । आप तीनों लोको के स्वामी है, इसलिये 'जगत्पति' (४२) कहे जाते है तथा अनत ससार को जीतनेवाले है अथवा मोक्ष को रोकने वाले अनत नाम के ग्रह को जीतनेवाले है इसलिये 'अनंत जित्, (४३) कहे जाते है । आपके आत्मा का स्वरूप मन से चितवन करने तक की शक्ति अन्य प्राणियों मे नही है; इसलिये आपको 'अचित्यात्मा' (४४) कहते है । भव्य जीवों का आप सदा उपकार करते हैं इसलिये 'भव्यबधु'(४५) कहलाते है तथा आपके कर्म का बध नही है अर्थात घातिया कर्मो के द्वारा आप बधे हुए नही है इसलिये आप 'अबधन, (४६) कहे जाते है ।।६।।

युगादिपुरुषो ब्रह्मा ंच ब्रह्ममयः शिवः ।
परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥ ७ ॥

अर्थ—आप कर्मभूमि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुये है; इसलिये 'युगादि पुरुप' (४७) कहलाते है । आपके यहां केवलज्ञान आदि समस्त गुण बृद्धि को प्राप्न होते हैं इसलिये 'ब्रह्मा' (४८) कहे जाते हैं, पंचपरमेष्ठी स्वरूप होने के कारण 'पचब्रह्ममय' (४६)कहलाते है; सदा परमानंद में रहते हैं

तथा सबका कल्याण करने वाले हैं, इसलिये आपको 'शिव' (५०) कहते हैं। आप जीवों को मोक्षस्थान में पहुँचाते हैं इसलिये 'पर' (५१) कहे जाते हैं तथा धर्मोपदेशक एवं सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिये' परतर, (५२)कहलाते हैं। इंद्रियों के द्वारा आप जाने नही जा सकते; केवलज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं: इसलिये 'सूक्ष्म' (५३) कहलाते है, तथा इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य मोक्षस्थान मे अरहंत पद मे रहते है, इसलिये ,परमेष्ठी' [५४] कहलाते है और तीन कालों मे आप नित्य रहते है, इसलिये 'सनातन' (५५) कहे जाते है ॥ ७ ॥

स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः ।
मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥ ८ ॥

अर्थ—आप स्वय प्रकाशरूप है, इसलिये 'स्वयंज्योति' [५६] है, संसार में उत्पन्न नही होते इसलिये 'अज' [५७] है; कभी शरीर धारण नही करते इसलिये 'अजन्मा, (५८) है ब्रह्म अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र की योनि अर्थात् खानि है इसलिये 'ब्रह्मयोनि,(५९)कहे जाते है। मोक्षस्थान मे चौरासी लाख योनियो से रहित होकर उत्पन्न होते है इसलिये 'अयोनिज, (६०)कहलाते हैं। आप मोहनीय कर्मरूपी शत्रु को जीतनेवाले है, इसलिये 'मोहारिविजयी' [६१]कहे जाते हैं: सबसे उत्कृष्ट रीति से रहने से 'जेता, (६२); सदा आप के आगे धर्मचक्र चलता रहता है, इसलिये 'धर्मचक्री, [६३] तथा आपकी प्रसिद्ध ध्वजा फहराकर सब प्राणियो पर दया करना सिखाती है, इसलिये आप 'दयाध्वज, (६४) कहलाते है ॥ ८ ॥

प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरार्चितः ।
ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्याविद्यतीश्वरः ॥९॥

अर्थ—आपके कर्मरूपी शत्रु शात हो गये है इसलिये 'प्रशातारि, (६५), अनत गुणों को धारण करनेवाले है तथा आपकी आत्मा कभी नष्ट नही होती, आप केवलज्ञानी है इसलिये आप 'अनंतात्मा' (६६) कहे जाते है। आपने अपने योगो का निरोध किया हैं इसलिये 'योगी, [६७] गण धरादि योगीश्वर भी आपकी पूजा करते है इसलिये 'योगीश्वरार्चित (६८) अपने ब्रह्म अर्थात् आत्मा का स्वरूप जानने के कारण 'ब्रह्मवित' (६९) तथा ब्रह्मतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व का अथवा केवल ज्ञान का वा दया का

अथवा कामदेव के नष्ट करने का मर्म जानते हैं. इसलिये 'ब्रह्मतत्वज्ञ.(७०) कहे जाते हैं। ब्रह्म अर्थात् आत्मा के समस्त तत्वों को अथवा आत्मविद्या को जानने के कारण 'ब्रह्मोद्यावित्.(७१) तथा रत्नत्रय सिद्ध करनेवाले यतियों में भी श्रेष्ठ है इस लिये .यतीश्वर. [७२] कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः ।
सिद्धः सिद्धान्तविद् ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥१०॥

अर्थ—क्रोधादि कषायों से रहित होने से 'शुद्ध' (७३) केवलज्ञानी होने से अथवा सबको जानने से 'बुद्ध' (७४) आत्मा का स्वरूप जानने के कारण हैं इसलिये 'प्रबुद्धात्मा' (७५), तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने के कारण अथवा मोक्ष-प्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य के कारण अथवा जीवादि पदार्थों की सिद्धि के कारण अथवा मोक्ष के कारण रत्नत्रय को सिद्ध करने के कारण आपको 'सिद्धार्थ [७६] कहते हैं। आपका शासन अर्थात् मत पूर्ण वा प्रसिद्ध हैं; इसलिये आप 'सिद्धशासन' [७७] कहे जाते हैं तथा कर्मों को नाश करने से 'सिद्ध' [७८] कहलाते हैं। आप द्वादशांगसिद्धांत के पारगामी हैं इसलिये 'सिद्धांतवित्' [७९]; योगी लोगों के ध्यान योग्य होने से 'ध्येय' (८०) हैं, तथा मुनियों द्वारा आराध्य होने से अथवा सिद्ध जाति के देव द्वारा पूज्य होने से 'सिद्धसाध्य' (८१) कहे जाते हैं। आप जगत् का हित अथवा उपकार करते है इसलिये आपको 'जगद्धित' [८२] कहते है ॥ १० ॥

सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्भवोद्भवः ।
प्रभूष्णुरजरोऽजर्यो भ्राजिष्णुर्धीश्वरोऽव्ययः ॥११॥

अर्थ—सहनशील होने से 'सहिष्णु' (८३) हैं, आत्मा के स्वरूप से कभी च्युत नही होते इसलिये 'अच्युत' (८४) हैं; आपके गुणों का अंत नही इसलिये 'अनत (८५) हैं; आप में अनंत शक्ति है इसलिये 'प्रभविष्णु' [८६] है; आपका सांसारिक जन्ममरण नष्ट हो गया तथा संसार में आपका जन्म उत्कृष्ट है इसलिये आप 'भवोद्भव' [८७] है। अपनी स्वाभाविक परिणति मे समय-समय में परिणत अथवा सौ इन्द्रों की प्रभुता का आपका स्वभाव है; इसलिये 'प्रभूष्णु' [८८] कहलाते हैं जरा अर्थात् बुढापारहित है इसलिये 'अजर' [८९], कोई भी आपको जीत नहीं सकता

इसलिये 'अजेय' [९०] करोडों मूर्य चन्द्रमा की कांति से अधिक आपकी कांति है इसलिये 'भ्राजिष्णु' (९१) पूर्ण ज्ञान के स्वामी होने के कारण 'धीश्वर' [९२] हैं, सदा अविनश्वर, न कम न अधिक होने के कारण 'अव्यय' (९३) कहलाते हैं ॥ ११ ॥

विभावसुरसम्भूष्णुः स्वयम्भूष्णुः पुरातनः ।
परमात्मा परंज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥१२॥

अर्थ—कर्मरूपी ईंधन को जलाने से 'विभावसु' अर्थात् 'अग्नि'; अंधकार को नाश करने से 'विभावसु, अर्थात् 'सूर्य', धर्मरूपी अमृत की वर्षा करने से ,विभावसु, अर्थात् 'चन्द्र'; अथवा रागद्वेष आदि विभाव परिणामों को आपने नाश किया है इसलिये भी 'विभावसु' [९४] कहे जाते है। संसार में उत्पन्न होना आपका स्वभाव नहीं है, इसलिये 'असंभूष्णु. (९५) हैं, अपने आप ही प्रगट अर्थात् प्रकाश हुये है इसलिये 'स्वयंभूष्णु' [९६], अनादि सिद्ध हैं इसलिये 'पुरातन' (९७) आत्मा के परमोत्कृष्ट होने के कारण 'परमात्मा' [९८], मोक्षमार्ग को प्रगट करनेवाले है इसलिये 'परमज्योति'[९९]और तीनो लोको'में आप उत्कृष्ट हैं अथवा तीनों लोकों के स्वामी होने के कारण आप 'त्रिजगत्परमेश्वर'(१००) कहलाते है ।१२।

इति श्रीमदादिशतम् ॥ १ ॥

दिव्यभापापतिर्दिव्यः पूतवाक्पूतशासनः ।
पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥१॥

अर्थ—दिव्यध्वनि के स्वामी है इसलिये 'दिव्यभापापति' (१०१); अतिशय मनोहर होने से 'दिव्य' (१०२), वाणी निर्दोष होनेके कारण 'पूतवाक्' [१०३], तथा उपदेश वा मत पवित्र होने से 'पूतशासन'(१०४) कहलाते हैं। आपकी आत्मा पवित्र है, अथवा आप भव्यजीवों को पवित्र करते हैं इसलिये 'पूतात्मा' [१०५] है; आपका केवलज्ञानरूपी तेज सर्वोत्कृष्ट है इसलिये 'परमज्योति' [१०६] हैं, धर्म के अधिकारी हैं इसलिये 'धर्माध्यक्ष' [१०७] है, और इंद्रियो के निग्रह करने में श्रेष्ठ है इसलिये 'दमीश्वर' [१०८] हैं, ॥ १ ॥

श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः ।
तीर्थकृत्केवलीशानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥२॥

अर्थ— मोक्षादि लक्ष्मी के भोक्ता व स्वामी होने से 'श्रीपति' [१०६], महाज्ञानी होने से 'भगवान्'[११०]है, परम पूज्य होने से तथा सबके द्वारा आराधित होने से 'अर्हन्' (१११); कर्मरूपी रज-रहित होने से 'अरजा' [११२], एवं भव्यजीवों के कर्ममल दूर करने में सहायक होने से अथवा पापरूप ज्ञानावरण, दर्शनावरणरहित होने से 'विरज' [११३] कहे जाते हैं, परम पवित्र, पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालन करनेवाले मलमूत्ररहित, मोहरहित हैं अतएव 'शुचि' [११४] हैं। धर्मरूप तीर्थ के कर्ता अथवा संसार से पार करनेवाले द्वादशांगरूप तीर्थ के कर्ता हैं, इसलिये 'तीर्थंकृत्' (११५) हैं, केवलज्ञानी होने से 'केवली' (११६), अनंत शक्तिमान् किंवा सबके ईश्वर होने से 'ईशान' [११७], आठ प्रकार की पूजा के योग्य होने से 'पूजार्ह' [११८], घातिया कर्मो के नष्ट होने से, पूर्णज्ञान होने से 'स्नातक' [११९] और धातु उपधातु आदि मलरहित होने से 'अमल' [१२०] कहे जाते हैं ॥ २ ॥

अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयम्बुद्धः प्रजापतिः ।
मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥३॥

अर्थ—आपकी केवलज्ञानरूपी दीप्ति अनंत है, आपके शरीर की कांति अनंत है. इसलिये आपको 'अनंतदीप्ति' [१२१] कहते हैं; ज्ञानस्वरूप होने से 'ज्ञानात्मा' (१२३), स्वयं ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुये हैं, बिना गुरु के स्वयं महाज्ञानी हुये हैं इसलिये 'स्वयंबुद्ध' [१२३], तीनों लोकों के स्वामी हैं और सबको उपदेश देते हैं, इसलिये 'प्रजापति' [१२४] है ससार और कर्मो मे 'मुक्त' [११५] हैं; समर्थ होने से अथवा अनंत शक्ति के धारक होते से 'शक्त' [१२६], बाधारहित होने से वा दुःखरहित होने से 'निराबाध' (१२७); शरीररहित होने से 'निष्कल' (१२८), और तीनों लोकों के स्वामो होने से 'भुवनेश्वर, (१२९) कहलाते है ॥ ३ ॥

निरञ्जनो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिरनामयः ।
अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः स्थाणुरक्षयः ॥४॥

अर्थ—कर्मरूपी अंजन से रहित होने से 'निरंजन' (१३०), जगत् को प्रकाशित करने से अथवा मोक्षमार्ग का स्वरूप दिखलाने से 'जगज्ज्योति' (१३१); वचन पूर्वा पर अविरुद्ध प्रमाण होने से आपको 'निरुक्तोक्ति' (१३२) कहते है। रोगरहित अथवा पसीना रहित होने से 'अनामय' (१३३), अनंत काल वीतने पर भी आप अचल रहते हैं, इसलिये 'अचलस्थिति' (१३४) हैं; व्याकुलतारहित होने से अथवा आपकी शांति का कभी भंग न होने से आप 'अक्षोभ्य' (१३५) कहलाते हैं। सदा नित्य रहने से अथवा लोकशिखर पर विराजमान होने से 'कूटस्थ' (१३६) कहे जाते हैं तथा गमनागमन रहित होने से 'स्थाणु' (१३७) एवं क्षय रहित होने से 'अक्षय' (१३७) कहलाते है ॥ ४ ॥

अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् ।
शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥५॥

अर्थ— तीनों लोकों मे 'ग्रामणी' (१३९); मोक्षपद को प्राप्त होने से 'ग्रामणी' (१४०); तथा समस्त प्रजा को धर्म के अनुसार चलाने से 'नेता' (१४१), तथा शास्त्र को उत्पन्न करनेवाले, किंवा धर्म वा मोक्षमार्ग का का उपदेश देनेवाले होने के कारण 'प्रणेता' (१४२) कहे जाते है। प्रमाण और नयों के स्वरूप-द्रष्टा शास्त्रों के वक्ता हैं, इसलिये 'न्यायशास्त्रकृत्' (१४३) कहलाते है; सबको हितोपदेश देने के कारण 'शास्ता' (१४४), तथा रत्नत्रय धर्म के अथवा उत्तम क्षमा आदि धर्मों के स्वामी होने से 'धर्मपति' (१४५) कहलाते है। धर्म स्वरूप होने से आप 'धर्म्य' (१४६); धर्म की वृद्धि करने से 'धर्मात्मा' (१४७), और धर्मरूप तीर्थ की प्रवृत्ति करने से 'धर्मतीर्थकृत्' (१४८) कहलाते हैं ॥ ६ ॥

वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः ।
वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्को वृषोद्भवः ॥६॥

अर्थ—आपकी ध्वजा पर बैल का चिन्ह होने से अथवा वृष अर्थात् धर्म की ध्वजा फहराने से 'वृषध्वज' (१४९); अहिंसारूप धर्म के स्वामी होने से 'वृषाधीश' (१५०), धर्म को प्रसिद्ध करने से 'वृषकेतु' (१५१) तथा कर्मरूप शत्रु को नाश करने के लिये आपने धर्मरूपी शस्त्र धारण कर रक्खा है, इसलिये 'वृषायुध' [१५२] कहलाते हैं। धर्म की वृद्धि करने से

'वृष' (१५३); धर्म के नायक होने से 'वृषपति' [१५४]; सबके स्वामी होने से 'भर्ता, [१५५]तथा बैल का चिन्ह होने से 'वृषभांक' [१५६]कहलाते है। माता के स्वप्न में वृषभ देखने से एवं उपरांत आप उत्पन्न हुये हैं अथवा महापुण्य से उत्पन हुये है इसलिये 'वृषोद्भव' (१५७)कहलाते हैं।६।

हिरण्यनाभिर्भूतात्माभूतभृद् भूतभावनः ।
प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवान्तकः ॥७॥

अर्थ—सुंदर नाभि होने से अथवा नाभिराज की संतति होने से 'हिरण्यनाभि' (१५८),यथार्थस्वरूप एव अविनाशी होने से 'भूतात्मा, (१५९) जीवों की रक्षा करने से अथवा कल्याण जरने से 'भूतभृत्' (१६०), तथा भावना के सदा मगलस्वरूप होने से आप भूतभावन' (१६१) कहलाते हैं। आप का जन्म प्रशंसनीय है, आपसे आपके वश की वृद्धि हुई इस लिये 'प्रभव' (१६२); संसार रहित होने से 'विभव' (१६३), तथा केवलज्ञान रूपी काति से प्रकाशमान होने से 'भास्वान्' (१६४) कहलाते हैं। समय समय मे आपमें उत्पाद होता रहता है इसलिये 'भव' (१६५), आत्म स्वभाव मे सदा लीन होने से 'भाव' (१६६), तथा भव अर्थात् संसार परिभ्रमण का नाश करने वाले होने से 'भवांतक, (१६७) कहलाते है ॥७॥

हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः ।
स्वयंप्रभः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्पतिः ॥८॥

अर्थ—गर्भावतार के समय सुवर्णों की वृष्टि होने से 'हिरण्यगर्भ, (१६८); गर्भावतार के समय लक्ष्मी द्वारा आप की माता की सेवा होने अथवा आपके अन्तरङ्ग मे स्फुरायमान लक्ष्मी शोभायमान है, इसलिये आपको 'श्रीगर्भ' (१६९) कहते हैं। अनन्त विभूति के स्वामी होने से 'प्रभूतविभव' (१७०) जन्मरहित होने से 'अभव' (१७१); तथा समर्थ होने से 'स्वयप्रभु' । १७२) कहलाते है। केवलज्ञान के द्वारा आत्मा व्याप्त होने से 'प्रभूतात्मा' (१७३); समस्त जीवो के स्वामो होने से 'भूतनाथ' (१७४) और तीनों लोकों के स्वामो होने से 'जगत्पति' (१७५) कहे जाते है ॥ ८ ॥

सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः ।
सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित्सर्वलोकजित् ॥९॥

अर्थ—सबमें प्रथम एवं श्रेष्ठ होने से 'सर्वादि' (१६६); समस्त लोकालोक को देखने से 'सर्वदृक्' [१७७] हितोपदेश देकर सबका कल्याण करने से 'सार्व, [१७८]; तथा सबको जानने से 'सर्वज्ञ, [१७६] कहे जाते है। सम्यक्त्व को धारण से 'सर्वदर्शन' [१८०]; सर्व प्रिय होने से 'सर्वात्मा, [१८१); तीनो लोकों के जीवो के स्वामी होने से 'सर्वलोकेश, (१८२); समस्त पदार्थो के ज्ञाता होने से 'सर्ववित्, (१८३) तथा अनन्तवीर्य एवं समस्त लोक को जीतनेवाले होने के कारण 'सर्वलोकजित्' (१८४) कहलाते हैं ॥ ६ ॥

सुगतिः सुश्रुतः सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः ।
विश्रुतः विश्वतः पादो विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः ॥१०॥

अर्थ—आप की पञ्चम मोक्षगति अतिशय सुन्दर होने से अथवा ज्ञान प्रशमनीय होने से 'सुगति' (१८५); अत्यन्त प्रसिद्ध होने से अथवा उत्तम शास्त्रज्ञान को धारण करने से 'सुश्रुत' (१८६); भक्तो की प्रार्थना अच्छी तरह सुनने के कारण 'सुश्रुत्' [१८७]; वाणी सप्तभंग-स्वरूप होने से अथवा हितोपदेश देने 'सुवाक्, [१८८]; सबके गुरु होने से 'सूरि, (१८६); तथा शास्त्रों के पारगामी होने से 'बहुश्रुत' [१६०] है, जगत्प्रसिद्ध होने से अथवा शास्त्रो से भी आप का यथार्थ-स्वरूप नही जाना जाता इसलिये आप 'विश्रुत' [१६१] है, आप की केवलज्ञान-रूपी किरणें सब ओर फैली हुई है, इसलिये विश्वतःपाद' [१६२] है, लोक के शिखर पर विराजमान होने से 'विश्वशीर्ष' [१६३] है, तथा आप का ज्ञान अत्यन्त निर्दोष है, इसलिये आप को 'शुचिश्रवा' (१६४) कहते है ॥ १० ॥

सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वरः ॥११॥

अर्थ—अनन्त सुखी होने से 'सहस्रशीर्ष' (१६५) हैं, आत्मा का स्वरूप जानने से अथवा लोकालोक को जानने से 'क्षेत्रज्ञ (१६६) है, अनन्तदर्शी होने से 'सहस्राक्ष' (१६७) है, अनन्तवीर्य को धारण करने से 'सहस्रपात्' (१६८) हैं, भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनो कालों के स्वामी होने से 'भूतभव्यभवद्भर्त्ता' (१६६) है और समस्त विद्याओं अथवा केवलज्ञान के स्वामी होने से 'विश्वविद्यामहेश्वर' (२००) कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

इति दिव्यादिशतम् ॥ २ ॥ अर्घम्

स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठः पृष्ठः प्रेष्ठो वरिष्ठधीः।
स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठःश्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगी ॥१॥

अर्थ—सद्गुणों से विभूषित अथवा समस्त जीवों को अवकाश देने की शक्ति होने से आप को 'स्थविष्ठ' [२०१] कहते है; आदि अन्तरहित होने से अत्यन्त वृद्ध है अथवा ज्ञान से वृद्ध है इसलिये 'स्थविर' [२०२] कहते है, मुख्य होने से 'ज्येष्ठ' (२०३); सबके अग्रेसर होने से 'पृष्ठ' (२०४); अत्यन्त प्रिय होने से "प्रेष्ठ' [२०५] अतिशय बुद्धि को धारण करने से 'वरिष्ठधी' [२०६]; अत्यन्त स्थिर अर्थात् अविनाशी होने से 'स्थेष्ठ' (२०७); अत्यन्तगुरु होने से 'गरिष्ठ' (२०८); अनन्त गुणों को धारण करने से अथवा अनेक स्वरूप होने से 'बंहिष्ठ' [२०९]; प्रशसनीय होने से श्रेष्ठ' [२१०]; अतिशय सूक्ष्म अर्थात् केवलज्ञान के गोचर होने से 'अणिष्ठ' [२११]; तथा वाणी पूज्य होने से आप 'गरिष्टगी' [२१२] कहे जाते है ॥ १ ॥

विश्वमुट्विश्वसृट् विश्वेट् विश्वभुग्विश्वनायकः ।
विश्वाशीर्विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितान्तकः ॥२॥

अर्थ—चतुर्गति रूप ससार को जो नाश करने से 'विश्वमुट्' [२१३] विधिविधान के कर्त्ता होने मे 'विश्वमृट्'(२१४),तीनों भुवनो के स्वामी होनेसे 'विश्वेट्' [२१५] जगत् की रक्षा करने से 'विश्वसृक्' [२१६] सबके स्वामी होने से 'विश्वनायक' [२१७], समस्त प्राणियो के विश्वासयोग्य होने से अथवा केवलज्ञान के द्वारा सब जगह निवास करने से 'विश्वाशी' (२१८) कहे जाते है। विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही आप का स्वरूप है, अथवा केवल आप का आत्म अनन्त-स्वरूप है, इसलिये आप को 'विश्वरूपात्मा' [२१९] कहते है, ससार को जीतने से 'विश्वजित्' [२२०] और काल को जीतने से 'विजितान्तक' (२२१) कहलाते है ॥ २ ॥

विभवो विभयो वीरो विशोको विजरो जरन् ।
विरागो विरतोऽसङ्गो विविक्तो वीतमत्सरः ॥३॥

अर्थ—किसी प्रकार का मनोविकार नही है, इसलिये 'विभव' (२२२), भयरहित होने से 'विभय' [२२३], लक्ष्मी के स्वामी होने से अथवा अतिशय बलशाली होने से 'वीर' (२२४), शोक-रहित होने से 'विशोक'

[२२५], जरा-रहित होने से 'विजर' [२२६] नवीन न होने से अर्थात् अनादिकालीन होने से 'जरन् वा वृद्ध' [२२७] रागरहित होने से 'विराग' (२२७), समस्त विषयों से 'विरक्त' होने से 'विरत' (२२९) पर वस्तु का सम्बन्ध न रखने से 'अपङ्ग' [२३०] एक की अथवा पवित्र होने से 'विविक्त' [२३१] तथा किसी से ईर्षा द्वेष न करने से 'वीतमत्सर' [२३२] कहे जाते है ॥ ३ ॥

विनेयजनतावन्धुर्विलीनाशेषकल्मषः ।
वियोगो योगविद्विद्वान्विधाता सुविधिः सुधीः ॥४॥

अर्थ—भक्तों के बन्धु होने से 'विनेयजनतावन्धु' (२३३) कर्म-रूपी समस्त कालिमा से रहित होने से 'विलीनाशेषकल्मष' [२३४], अन्य किसी वस्तुके साथ सम्बन्ध न होने से अथवा योग-रहित होने से 'वियोग' [२३५] योग के जानकार होने से 'योगवित्' [२३६] महापण्डित अथवा पूर्णज्ञानी होने से 'विद्वान् [२३७], धर्म-रूपी सृष्टिके कर्त्ता होने से अथवा सबके गुरु होने से 'विधाता' (२३८), अनुष्ठान वा क्रिया अत्यन्त प्रशंसनीय होने से 'सुविधि' (२३९) तथा अतिशय बुद्धिमान होने 'सुधी' (२४०) कहलाते हैं ॥ ४ ॥

क्षान्तिभाक्पृथिवीमूर्तिः शान्तिभाक् सलिलात्मकः ।
वायुमूर्तिरसङ्गात्मा वन्हिमूर्तिरधर्मधृक् ॥५॥

अर्थ—उत्तम क्षमा को धारण करने से 'क्षान्तिभाक्' [२४१], पृथ्वी के समान सहन-शक्ति होने से 'पृथिवीमूर्त्ति' (२४२), शान्तता धारण करने से 'शान्तिभाक् (२४३), जल के समान अत्यन्त निर्मल होने से तथा अन्य जीवों को कर्ममल-रहित शुद्ध करने से 'सलिलात्मक' २४४ वायु के समान पर के सम्बन्ध से रहित होने से 'वायुमूर्ति' [२४५], परिग्रह-रहित होने से ,असङ्गात्मा [२४६] अग्निके समान ऊर्ध्वस्वभाव होने से अथवा कर्म-रूपी ईंधन को जलाने से 'वह्निमूर्त्ति' [२४७] और अधर्म का नाश करने से 'अधर्मधृक् [२४८] कहलाते है ॥ ५ ॥

सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजितः ।
ऋत्विग्यज्ञपतिर्यज्ञो यज्ञाङ्गममृतं हविः ॥६॥

अर्थ—कर्म-रूपी सामग्री का होम करने से 'सुयज्वा' २४६, स्वभावभाव का आराधन करने से अथवा भाव पूजा के कर्त्ता होने से 'यजमानात्मा' (२५०), परमानन्द सागर में अभिषेक करने से 'सुत्वा' [२५१], इन्द्र के द्वारा पूज्य होने से 'सुत्रामपूजित' [२५२], ध्यान-रूपी अग्नि मे शुभाशुभ-रूप कर्मो को भस्म करने से अथवा ज्ञान-रूप यज्ञ करने से 'आचार्य' कहलाते हैं, इसलिये आपको 'ऋत्विक्' [२५३) कहते है। यज्ञ के मुख्य अधिकारी होने से 'यज्ञपति' (२५४) पूज्य होने से 'यज्य, [२५५], यज्ञ के साधन अर्थात् मुख्य कारण होने से 'यज्ञांग' (२५६), मरण-रहित होने से अथवा संसार-तृष्णा को निवारण करने से 'अमृत' (२५७), और अपनी आत्मा मे तल्लीन रहने से 'हवि' (२५८) कहलाते है ॥६॥

व्योममूर्तिरमूर्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः ।
सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥७॥

अर्थ—आकाश के समान निर्मल अथवा केवलज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी होने से 'व्योममूर्ति' (२५९); रूप,-रस, गन्ध, स्पर्श-रहित होने से 'अमूर्त्तात्मा' (२६०), कर्म-रूप से रहित होने से 'निर्लेप, [२६१]; रागादि-रहित होने से अथवा मलमूत्रादि-रहित होने से 'निर्मल' (२६२) सर्वदा स्थिर रहने से 'अचल' (२६३) एव चन्द्रमाके समान प्रकाशमान और शान्त होने से अथवा अत्यन्त सुशोभित होने से 'सोममूर्त्ति' [२६४] कहे जाते है। अतिशय सौम्य होने से 'सुसौम्यात्मा' [२६५]; सूर्य के समान अत्यन्त कान्ति-सहित होने से 'सूर्यमूर्ति' (२६६), तथा अतिशय प्रभावशाली होने से अथवा केवलज्ञान-रूपी तेज से सुशोभित होने से 'महाप्रभ' [२६७] कहलाते है ॥ ७ ॥

मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री मन्त्रमूर्तिरनन्तगः ।
स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत्स्वान्तः कृतान्तान्तः कृतान्तकृत् ॥८॥

अर्थ—मन्त्र के ज्ञाता होने से 'मंत्रवित्' [२६८]; प्रथमानुयोग आदि चारो अनुयोगरूप मन्त्रो के अथवा जप करने योग्य मन्त्रों के कर्ता होने से 'मंत्रकृत्' (२६९), आत्मा का विचार करने से अथवा लोक की रक्षा करने से अथवा मुख्य होने से 'मंत्री' (२७०); मन्त्रस्वरूप होने से 'मंत्रमूर्त्ति' [२७१], तथा अनंतज्ञानी होने से 'अनंतग' (२७२) कहलाते है। स्वाधीन होने से अथवा आत्मा ही आपका सिद्धान्त होने से 'स्वतंत्र'

[२७३]; आगम के मुख्यकर्ता होने से 'तंत्रकृत्' [२७४]; शुद्ध अंतःकरण होने से 'स्वंत' [२७५]; यम अर्थात् मरण को नाश करने से 'कृतांतांत' (२७६) और पुण्यवृद्धि के कारण होने से 'कृतांतकृत्' [२७७] कहे जाते है॥८॥

कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः ।
नित्यो मृत्युञ्जयो मृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः ॥९॥

अर्थ—प्रवीण अथवा अतिशय पुण्यवान् अथवा हरिहरादि द्वारा पूज्य होने से 'कृती' [२७८]; मोक्षरूप परमपुरुषार्थ को सिद्ध करने से 'कृतार्थ' (२७९); कृत्य अतिशय प्रशमनीय होने से 'सत्कृत्य' [२८०], कर्तव्य समस्त कार्य करने से अथवा सब कार्यो में सफलीभूत होने से 'कृतकृत्य' (२८१), तथा ध्यानरूपी अग्नि में कर्म, नोकर्म आदि को भस्म करने से अथवा ज्ञानरूपी यज्ञ को करने से, अथवा तपश्चर्यारूपी यज्ञ समाप्त होने से 'कृतक्रतु' (२८२) कहे जाते हैं। अविनाशी होने से नित्य' (२८३), मृत्यु को जीतने से 'मृत्युंजय' (२८४), आत्मा कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होती इसलिये 'अमृत्यु' (२८५), तथा मरणरहित होने से अथवा अमृतस्वरूप होने से 'अमृतात्मा' (२८६) कहे जाते है। जन्ममरण रहित होने से अथवा अविनश्वर अवस्था को प्राप्त होने से अथवा भव्यजीवों को मोक्ष प्राप्ति का कारण होने से 'अमृतोद्भव'(२८७) नाम से आप पूजित हैं ॥ ९ ॥

ब्रह्मनिष्ठः परंब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसम्भवः ।
महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेट् महाब्रह्मपदेश्वरः ॥१०॥

अर्थ – शुद्ध आत्मा मे तल्लीन रहने से 'ब्रह्मनिष्ठ' (२८८,) सबमें उत्कृष्ट केवलज्ञान को धारण करने से 'परंब्रह्म' (२८९), ज्ञानस्वरूप होने से 'ब्रह्मात्मा' (२९०), ज्ञान की उत्पत्ति-स्थल होने से, शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होने से 'ब्रह्मसंभव' (२९१), कहे जाते है। गणधरादि के स्वामी होने से 'महाब्रह्मपति' (२९२), केवली भी आपकी स्तुति करते है अथवा केवलज्ञान के स्वामी हैं इसलिये 'ब्रह्मेट्' (२९३), तथा मोक्ष के स्वामी अथवा समवसरण के स्वामी होने से 'महाब्रह्मपदेश्वर' (२९४), कहे जाते हैं ॥ १० ॥

सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभुः ।
प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा पुराणपुरुषोत्तमः ॥११॥

अर्थ— भक्तों को देने से अथवा सदा आनदस्वरूप होने से 'सुप्रसन्न' (२६५), मलरहित होने से 'प्रसन्नात्मा' (२६६), केवलज्ञान और इन्द्रियनिग्रह-तपश्चरण के स्वामी होने से 'ज्ञानधर्मदमप्रभु' [२६७], क्रोधादि रहित होने से 'प्रशमात्मा'[२६८]परमशांतरूप होने से 'प्रशांतात्मा' [२६६] और अनादिकाल से मोक्षस्थान में निवास करने से अथवा अनादिकाल से होनेवाले त्रेसठ शलाका पुरुषों में उत्कृष्ट होने से 'पुराणपुरुषोत्तम' (३००) कहलाते हैं ।। ११ ।।

इति स्थविष्ठादिशतम् ।। ३ ।। अर्घम्

महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः ।
पद्मेशः पद्मसम्भूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥१॥

अर्थ—महा अशोकवृक्ष का चिन्ह होने से 'महा अशोकध्वज' [३०१], शोक-रहित होने से 'अशोक' [३०२]' सबके पितामह होकर, सबको सुख देने से 'क' (३०३), भक्तों को स्वर्ग प्राप्त कराने से 'स्रष्टा' [३०४], कमलासन होने से 'पद्मविष्टर' [३०५], लक्ष्मी के स्वामी होने से 'पद्मेश' [३०६], तथा विहार काल में चरणों के नीचे कमलों की रचना होने से ,पद्मसम्भूति' [३०७] कहे जाते है । कमल के समान सुन्दर नाभि होने से 'पद्मनाभि' (३०८) तथा अनन्य श्रेष्ठ होने से 'अनुत्तर' [३०६] कहलाते है ।। १ ।।

पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः ।
स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजेयः कृतक्रियः ॥२॥

अर्थ—लक्ष्मी की उत्पत्तिस्थल होने से 'पद्मयोनि' (३१०), जगत् की उत्पत्ति के कारण होने से 'जगत्योनि' (३११), ज्ञानगम्य होने से 'इत्य' (३१२) सबके द्वारा स्तुति करने योग्य होने से 'स्तुत्य' [३१३], तथा समस्त स्तुतियों के ईश्वर होने से 'स्तुतीश्वर' (३१४) कहे जाते हैं । स्तुतियो के पात्र होने से 'स्तवनार्ह' (३१५), इन्द्रियों को वश करने से 'हृषीकेश' (३१६). काम, क्रोध, राग आदि को जीत लेने से 'जितजेय' [३१७] और शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के सब कृत्य पूर्ण करने से 'कृतक्रिय' (३१८) कहलाते है ।। २ ।।

कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

पापापेतो विपापात्मा विपात्मा वीतकल्मषः ।
निर्द्वन्द्वो निर्मदः शान्तो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥६॥

अर्थ—हिंसादि समस्त पापों से रहित होने से 'पापापेत' [३४६]; पाप रहित होने से 'विपापात्मा' [३४७]; पापकर्म नष्ट होने से 'विपात्मा' [३४८]; एवं कर्ममल-रहित होने से 'वीतकल्मप' [३४९] कहलाते है। परिग्रह रहित होने से 'निर्द्वन्द्व' [३५०]; अहंकार न होने से 'निर्मद' [३५१] उपाधि रहित होने से 'शांत' (३५२); मोह रहित होने से 'निर्मोह'[३५३],तथा उपद्रवरहित होने से 'निरुपद्रव'[३५४]कहे जाते है॥६॥

निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः ।
निष्कलङ्को निरस्तैना निर्धूतागा निरास्रवः ॥७॥

अर्थ—आपके नेत्रों के पलक दूसरे पलक से नही लगते, इसलिये 'निर्निमेष' [३५५]; कवलाहार न करने से 'निराहार' [३५६]; क्रिया-रहित होने से [३५७], एव सर्वप्रकार के संकटरहित होने से 'निरुपप्लव' [३५८]कहे जाते हैं। कलंकरहित होने से 'निष्कलंक' [३५९]; पापोंको दूर करने से 'निरस्तैना' [३६०]; अपराधों का नाश करने से 'निर्धूतागा' [३६१], तथा आस्रव रहित होने से 'निरास्रव' [३६२] की संज्ञा आपको प्राप्त है ॥ ७ ॥

विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभवः ।
सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभुत् सुनयतत्त्ववित् ॥८॥

अर्थ—वृहदाकार होने से 'विशाल' (३६३);केवलज्ञानरूप अपार-ज्योति को धारण करने से 'विपुलज्योति' (३६४) अनुपम होने से 'अतुल' (३६५); अस मान्य तथा आपकी विभूति का कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता, इसलिये 'अचिन्त्यवैभव' [३६६] हैं। सवृतरूप होने से अथवा होने से अथवा गणधरादिकों से वेष्टित रहने से 'सुसंवृत' (३६७); आत्मा गुप्त होने से अथवा आस्रवादि से अलग होने से 'सुगुप्तात्मा'[३६८]; उत्तम ज्ञाता होने से 'सुभुत' [३६९]; तथा नैगम सग्रह आदि नयों का मर्म जानने से 'सुनयतत्त्ववित्' (३७०) कहलाते है ॥ ८ ॥

एकविद्यो महाविद्यो मुनिः परिवृढः पतिः ।
धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतान्तकः ॥९॥

अर्थ—एक केवलज्ञान को धारण करने से अर्थात् एक अध्यात्म विद्या को धारण करने से 'एकविद्य' (३७१) कहलाते है, अनेक विद्याये धारण करने से 'महाकवि' (३७२); प्रत्यक्षज्ञानी होने से 'मुनि' (३७३); तपस्वियों के स्वामी होने से 'परिवृढ़' [३७४] है, जगत्की रक्षा करने से अथवा दु:ख दूर करने से 'पति' (३७५); बुद्धि के स्वामी होने से 'धीश' [३७६]; ज्ञानके सागर होने से विद्यानिधि' [३७७]; त्रैलोक्य को प्रत्यक्ष जानने से 'साक्षी' (३७८); मोक्षमार्ग को प्रगट करने से विनेता' (३७९) तथा यम का नाश करने से 'विहतांतक' (३८०) कहे जाते है ॥ ९ ॥

पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः ।
त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥१०॥

अर्थ—नरकादि गतियो से रक्षा करने से 'पिता, [३८१], सबके गुरु होने से 'पितामह, [३८२] सबकी रक्षा करने से 'पाता' (३८३), भक्तों को पवित्र करने से 'पवित्र' (३८४), सबको शुद्ध करने से 'पावन' [३८५]; तथा ज्ञानस्वरूप होने से 'गति' (३८६) कहे जाते हैं। सबकी रक्षा करने से 'त्राता, (३८७); नाम लेने से ही समस्त रोग अथवा जन्म जरा मरण आदि रोग दूर हो जाने से 'भिषग्वर; अर्थात् 'उत्तम वैद्य, (३८८); सबसे श्रेष्ठ होने से 'वर्य' (३८९); स्वर्गमोक्षादि के दाता 'वरद, (३९०) तथा भक्तो की इच्छा पूर्ण से 'परम' [३९१] कहलाते है। अपने आत्मा को तथा भक्तों को पवित्र करने से 'पुमान्' (३९२) है।

कविः पुराणपुरुषो वर्षीयान्वृषभः पुरुः ।
प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥११॥

अर्थ—धर्म अधर्म का निरूपण करने से 'कवि, (३९३)'; अनादिकालीन होने से 'पुराणपुरुष' (३९४); अतिशय वृद्ध होने से 'वर्षीयान् (३९५); ज्ञानी होने से 'वृषभ, [३९६]; तथा सब में अग्रगामी होने से 'पुरु' (३९७) कहलाते हैं। आपसे स्थैर्यगुण की उत्पत्ति हुई है अथवा आपकी सेवा करने से यह जीव जगत्मान्य हो जाते है; इसलिये आप 'प्रतिष्ठाप्रसव, [३९८] है। मोक्ष के कारण होने से 'हेतु' [३९९], तथा

तीनों लोकों के जीवों की रक्षा करने से किंवा हितोपदेश देने से 'भुवनैकपितामह' [४००] नाम प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

इति महाशोक ध्वजादि शतम् (४)

श्रीवृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः ।
निरक्षः पुण्डरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥१॥

अर्थ—श्रीवृक्ष का चिह्न होने से 'श्रीवृक्षलक्षरण' [४०१]; सूक्ष्म होने से अथवा लक्ष्मी के द्वारा आलिंगित होने से श्लक्ष्ण (४०२), लक्षरण-सहित होने से 'लक्षण्य' (४०३), तथा अनेक शुद्ध लक्षरण होने से 'शुभलक्षरण' (४०४) कहलाने है। इन्द्रिय-रहित होने से 'निरक्ष' (४०५) कमलके समान सुन्दर नेत्र होने से 'पुण्डरीकाक्ष' (४०६); केवलज्ञान के वृद्धिगत होने से 'पुष्कल'(४०७)और कमलदल के समान दीर्घनेत्र होने से 'पुष्करेक्षरण' (४०८) कहलाते है ॥ १ ॥

सिद्धदः सिद्धसङ्कल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः ।
बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्धमानो महर्द्धिकः ॥२॥

अर्थ—मोक्ष-रूप सिद्धि को देने मे 'सिद्धिद'(४०९); समस्त मनोरथ सफल होने से 'सिद्धसङ्कल्प (४१०), पूर्ण आनंद-स्वरूप होने से 'सिद्धात्मा' (४११); मोक्षमार्ग-रूप साधन होने से 'सिद्धसाधन' (४१२), तथा सम्यग्दृष्टियो द्वारा अथवा विशेष ज्ञानियोंके द्वारा जानने योग्य होनेसे'बुद्धबोध्य' (४१३) नाम से प्रसिद्ध है। रत्नत्रय अत्यन्त प्रशंसनीय होने से अथवा अतिशय ज्ञानी होने से 'महाबोधि' (४१४), अतिशय पूज्यपना होने से 'वर्द्धमान' (४१५), तथा बडी भारी विभूति को धारण करने से 'महर्द्धिक (४१६) कहे जाते हैं ॥ २ ॥

वेदाङ्गो वेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवरः ।
वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥३॥

अर्थ—प्रथमानुयोग आदि चारों वेदों के कारण-रूप मे अथा ज्ञान-स्वरूप होने मे 'वेदाग' (४१७), चारों अनुयोगों को जानने से अथवा आत्मा का स्वरूप जानने मे 'वेदवित्' [४१८], आगम के द्वारा जानने योग्य होने से 'वेद्य' [४१९], तथा उत्पन्न होते समय के समान ही आप का रूप

दिगम्बर है, अथवा आप रूप-रहित है, इसलिये 'जातरूप' [४२०] कहे जाते है। विद्वानों मे श्रेष्ठ होने से 'विदांवर' (४२१), केवलज्ञान के द्वारा जानने योग्य होने से 'वेदवेद्य' (४२२), अनुभवगम्य होने से 'स्वसवेद्य' (४२३), विलक्षण ज्ञानी होने से अथवा आगम के अगोचर होने से 'विवेद' (४२४), तथा वक्ताओं में श्रेष्ठ होने से आप 'वदतांवर (४२५) है ॥३॥

अनादिनिधनोऽव्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः ।
युगादिकृद्युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥४॥

अर्थ—आदि अन्त-रहित होने से 'अनादिनिधन' [४२६], ज्ञान के द्वारा स्पष्ट प्रतिभासित होने से 'व्यक्त' (४२७) वचन प्राणियो के बोधगम्य होने से 'व्यक्तवाक्' (४२८) तथा आप की आज्ञा वा मत समस्त संसार में प्रसिद्ध होने से अथवा आप के कहे हुये शास्त्र पूर्वापर-विरोध-रहित होने से आप 'व्यक्तशासन' [४२९] कहलाते है। युग की आदि अर्थात् कर्म-भूमि के कर्ता होने से 'युगादिकृत्' (४३०) युगों का आधार होने से 'युगाधार' (४३१) युग के प्रारम्भ मे होने से युगादि [४३२] और जगत् की आदि में अर्थात् कर्म-भूमि की आदि मे उत्पन्न होने से 'जगदादिज' (४३३) कहलाते है ॥ ४ ॥

अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक् ।
अनिन्द्रियोऽहमिन्द्राच्यों महेन्द्रमहितो महान् ॥५॥

अर्थ—इन्द्र नरेन्द्र आदि सबके विशेष स्वामी होने से 'अतीन्द्र' (४३४) इन्द्रियगोचर न होने से अतीन्द्रिय' (४३५) ज्ञान के स्वामी होने से अथवा शुक्लध्यान के द्वारा परमात्म-स्वरूप होने से 'धीन्द्र'(४३६)प्रजा के अधिपति होने से अथवा इन्द्र से भी अधिक सम्पत्तिमान् होने से 'महेन्द्र' (४३७) तथा इन्द्रिय और मन के अगोचर पदार्थों को जानने से अगोचर पदार्थों को जानने से 'अतीन्द्रियार्थदृक्' [४३८] कहलाते है। इन्द्रिय रहित होने से 'अतीन्द्रिय' (४३९) अहमिन्द्रों के द्वारा पूज्य होने 'अहमिन्द्राच्य' (४४०) समस्त बड़े-बड़े इन्द्रो के द्वारा के पूज्य होने से 'महेन्द्रमहित' [४४१]तथा सबसे पुज्य व बडे होने से 'महान्'(४४२)नाम से प्रसिद्ध है ॥५॥

उद्भवः कारणं कर्ता पारगो भवतारकः ।
अग्राह्यो गहनं गुह्यं परार्घ्य परमेश्वरः ॥६॥

अर्थ—जन्म-मरण-रहित सर्वोत्कृष्ट जन्म होने से 'उद्भव' (४४३), मोक्ष के कारण होने से 'कारण'[४४४]; शुद्ध-भावों के कर्त्ता होने से 'कर्त्ता [४४५]; तथा संसार-समुद्र के पारगामो होने से 'पारग' [४४६] कहलाते हैं। भव्य जीवों को ससार-समुद्र के पार लगाने से 'भवतारक' (४४७); किसी के भी द्वारा अवगाहन न करने से 'अग्राह्य' (४४८); आपका स्वरूप हर कोई नहीं जान सकता, इसलिये 'गहन' [४४९]; तथा परम रहस्य-रूप अर्थात् गुप्त-रूप होने से 'गुह्य' [४५०]; कहे जाते है। उत्कृष्ट विभूति के स्वामी होने से 'परार्घ्य' [४५१]; और सबके स्वामी होने से अथवा मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होनेसे 'परमेश्वर'(४५२)नाम से पुकारे जाते है।

अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धिरचिन्त्यर्द्धिः समग्रधीः ।
प्राग्र्यः प्राग्रहरोऽभ्यग्र्यः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रजः ॥७॥

अर्थ—अनन्त ऋद्धियों को धारण करने से 'अनन्तर्द्धि' (४५३); अपरिमित ऐश्वर्य को धारण करने से 'अमेयर्द्धि' (४५४); सम्पत्ति का कोई परिणाम न होने से 'अचित्यर्द्धि'(४५५), तथा जगत्के समस्त पदार्थो को जानने योग्य पूर्ण ज्ञान होने से 'समग्रधी' (४५६); कहे जाते है। सबमे मुख्य होने से 'प्राग्र्य'(४५७); श्रेष्ठता प्राप्त करने से 'प्राग्रहर'(४५८), श्रेष्ठ होने से 'अभ्यग्र्य' (४५९) है, तथा बलवानों मे अत्यन्त श्रेष्ठ होने से अथवा लोक का मुख्य भाग पसन्द करने से 'प्रत्यग्र' [४६०] नाम से पुकारे जाते हैं। सबके नायक होने से 'अग्र्य' [४६१]; सबके अग्रेसर होने से 'अग्रिम' (४६२), तथा सबसे बडे होने से 'अग्रज' (४६३) है ॥ ७ ॥

महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः ।
महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृतिः ॥८॥

अर्थ—कठिन तपश्चरण करने से 'महातपा' (४६४); अतिशय तेजस्वी एवं पुण्यवान् होने से 'महातेजा' (४६५); तथा आप की तपश्चर्या का फल केवलज्ञान है. इसलिये आप 'महोदर्क' (४६६) कहलाते है। अतिशय प्रतापी होने से अथवा सबको आनन्द देनेवाला जन्म होने से 'महोदय' [४६७]; अतिशय यशस्वी होने से 'महायशा' (४६८); अतिशय प्रकाश-रूप होने से 'महाधामा'(४६९); अतिशय बलवान् होने से 'महासत्त्व' (४७०) और अतिशय धीर वीर होने से 'महाधृति' [४७१] नाम से भक्त आपको पुकारते है ॥ ८ ॥

महाधैर्यो महावीर्यो महासम्पन्महाबलः ।
महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥९॥

अर्थ—कभी भी व्यग्र न होने से 'महाधैर्य' (४७२), अतिशय सामर्थ्यवान् होने से 'महावीर्य' (४७३) है, समवसरण रूपी अद्वितीय विभूति को धारण करने से 'महासंपत्' (४७४); अतिशय बलवान् होने से 'महाबल' (४७५); अनंत शक्ति होने से 'महाशक्ति; अतिशय कातियुक्त होने से 'महाज्योति' [४७७]; पचकल्याणकों की महाविभूति के स्वामी होने से 'महाभूति' (४७८); और अतिशय शोभायमान होने से 'महाद्युति' [४७९] कहे जाते है ॥ ९ ॥

महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महोदयः ।
महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकविः ॥१०॥

अर्थ—अतिशय बुद्धिमान होने से 'महामति' [४८०]; अतिशय न्यायवान् होने से 'महानीति'(४८१); अतिशय क्षमावान् होने से 'महाक्षांति' [४८२]; अतिशय दयालु होने से 'महोदय' (४८३); अतिशय प्रवीण होने से 'महाप्राज्ञ' (४८४); अतिशय भाग्यशाली होने से 'महाभाग' [४८५); अतिशय आनंद स्वरूप होने से अथवा भव्यजीवों को आनद देने 'महानंद' (४८६), तथा शास्त्रों के मुख्य कर्त्ता होने से 'महाकवि' [४८७] के नामों से आपकी प्रसिद्धि है ॥ १० ॥

महामहा महाकीर्तिर्महाकान्तिर्महावपुः ।
महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥११॥

अर्थ—अत्यंत तेजस्वी होने से 'महामहा' (४८८), कीर्ति सब जगह व्याप्त होने से 'महाकीर्ति' (४८९), अत्यंत कांतियुक्त होने से 'महाकांति' [४९०], अतिशय सुन्दर शरीर होने से 'महावपु' (४९१), बड़े भारी दानी होने से 'महादान' (४९२), केवलज्ञान को धारण करने से 'महाज्ञान'[४९३], योगों का निरोध करने से 'महायोग'(४९४) तथा लोकों का कल्याण करनेवाले गुणों से 'महागुण'(४९५)के नाम से प्रसिद्ध हैं॥११॥

महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपंचकः ।
महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥१२॥

अर्थ—पञ्चकल्याण-रूप महा पूजा के स्वामी होने से 'महामहपति (४९३), तथा गर्भावतार आदि पाचों कल्याणों को प्राप्त होने से 'प्राप्तमहा-कल्याणपञ्चक' [४९७], कहलाते है। अतिशय समर्थ अथवा सबसे बड़े स्वामी होने से 'महाप्रभु' (४९८), अशोक वृक्ष आदि आठों प्रातिहार्यो के स्वामी होने से 'महाप्रातिहार्याधीश' (४९९), और इन्द्रादि सब देवों के अधीश्वर होने से 'महेश्वर' [५००] कहलाते है ॥ १२ ॥

इति श्री वृक्षादिशतम् ॥५॥ अर्घ्यम्।

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः ।
महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥१॥

अर्थ—मुनियों मे उत्तम होने से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानी होने से 'महामुनि' (५०१); वचनालाप-रहित होने से 'महामौनी' (५०२); शुक्लध्यान करने से 'महाध्यानी' [५०३]; तथा विषय-कषायों के दमन करने मे अथवा शक्तिमान् होने से 'महादम' [५०४]; कहलाते हैं। अतिशय क्षमावान् होने से 'महाक्षम' (५०५); पूर्ण ब्रह्मचारी होने से अथवा शीलयुक्त होने से 'महाशील' [५०६]; स्वाभाविक परिणति-रूप अग्नि में विभाव-परिणति-रूप सामग्री को हवन कर अथवा तपश्चरण-रूप अग्नि में विषयाभिलाषा को हवन कर महायज्ञ करने से अथवा केवलज्ञान-रूप महायज्ञ प्राप्त होने से 'महायज्ञ' [५०७]; तथा अतिशय पूज्य होने से 'महामख' [५०८] कहेजाते है ॥ १ ॥

महाव्रतपतिर्मह्यो महाकान्तिधरोऽधिपः ।
महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमयः ॥२॥

अर्थ—पञ्च महा व्रतो के स्वामी होने से 'महाव्रतपति' [५०९]; जगत् पूज्य होने मे 'मह्य' [५१०]; अत्यन्त तेज को धारण करने से 'महाकान्तिधर' [५११]; तथा समस्त जीवों की रक्षा करने से अथवा सबके स्वामी होने से 'अधिप' (५१२); नाम से प्रसिद्ध है। समस्त जीवों के साथ मैत्री भाव रखने से महामैत्रीमय' [५१३]; किसी भी परिमाण से गिने अथवा नापे नही जाते, इसलिये 'अमेय' (५१४); मोक्ष के लिये सबसे उत्तम उपाय करने से 'महोपाय' [५१५], तथा मंगलमय, ज्ञानमय अथवा तेज-स्वरूप होने से 'महोमय' (५१६) कहलाते है ॥ २ ॥

महाकारुणिको मन्ता महामन्त्रो महायतिः ।
महानादो महाघोषो महेज्यो महसांपतिः ॥३॥

अर्थ—सब जीवों मे दया करने से 'महाकारुणिक' [५१७]; सबको जानने से 'मन्ता' [५१८]; अनेक मन्त्रो के स्वामी होने से 'महामन्त्र' (५१९); सबसे श्रेष्ठ इन्द्रिय निग्रही होने से 'महायति' [५२०]; कहे जाते हैं। गम्भीर दिव्यध्वनि करने मे 'महानाद' (५२१); ध्वनि अतिशय सुन्दर होने से 'महाघोष' [५२२]; बड़े पुरुषों के द्वारा पूज्य होने से अथवा केवल-ज्ञान-रूप-यज्ञ करने से 'महेज्य' [५२३]; तथा समस्त तेज के अधिकारी होने से 'महसाम्पति' [५२४]; कहे जाते है ॥ ३ ॥

महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महेष्टवाक् ।
महात्मा महसांधाम महर्षिर्महितोदयः ॥ ४ ॥

अर्थ—अहिंसादि व्रतों के धारण करने से 'महाध्वरधर' (५२५); होने से 'धुर्य' (५२६); अतिशय उदार होने मे 'महौदार्य' (५२७); तथा वाणी परम पूज्य होने से 'महेष्टवाक्' [५२८]; है। सर्वपूज्य होनेसे 'महात्मा' [५२९], समस्त प्रकाश वा तेज के स्थान होने से 'महसाधाम, (५३०); सब प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त होने से 'महर्षि' [५३१] और सबके पूज्य तीर्थंकर-रूप होने से 'महितोदय' (५३२) कहलाते है ॥ ४ ॥

महाक्लेशांकुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः ।
महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥ ५ ॥

अर्थ—महान् सङ्कटों को दूर करने से तथा महाक्लेश अर्थात् तपश्चरण-रूप अङ्कुश को धारण करने मे 'महाक्लेशांकुश'[५३३], घातिया कर्मरूप शत्रुओं को जीतने से 'शूर' [५३४], गणधर चक्रवर्ती आदि बडे-बड़े पुरुषों के स्वामी होने से 'महा भूतपति' (५३५), तथा सबको धर्मोपदेश देने से 'गुरु' (५३६), है। अतिशय पराक्रमी होने से अथवा ज्ञानशक्ति अधिक होने से 'महापराक्रम' (५३७), अन्त-रहित होने से 'अनन्त'(५३८), क्रोध के भारी शत्रु होने से 'महाक्रोधरिपु' (५३९) और सबको तथा इन्द्रियों को वश करने से 'वशी' (५४०) कहलाते है ॥ ५ ॥

महाभवाब्धिसन्तारिर्महाद्रिमदनः ।
महागुणाकरः क्षान्तो महायोगीश्वरःशमी ॥ ६ ॥

अर्थ--संसार सागर से पार कराने से 'महाभवाब्धिसंतारी'[५४१]; तथा मोह-रूपी महा पर्वत को भेदन करने से 'महामोहाद्रिसूदन' [५४२]; सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणों की खानि होने से 'महागुणाकर [५४३], कषाय-रहित होने से 'क्षान्त' [५४४]; गणधर आदि महायोगियों के स्वामी होने से 'महायोगीश्वर' (५४५); तथा समस्त कर्मो का क्षय करने से अथवा परम सुखी होने से 'शमी' (५४६) कहलाते है ।। ६ ।।

महाध्यानपतिर्ध्यातमहाधर्मो महाव्रतः ।
महाकर्मारिहाऽत्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥ ७ ॥

अर्थ—परम शुक्लध्यानके स्वामी होने से 'महा ध्यानपति'(५४७); अहिंसाधर्म का ध्यान करने से 'ध्यातमहाधर्म' (५४८); तथा महाव्रतों को धारण करने से 'महाव्रत'(५४९)है । कर्म-रूपी महा शत्रुओं को नाश करने से 'महाकर्मारिहा (५५०); आत्मा का स्वरूप जानने से 'आत्मज्ञ' (५५१); समस्त देवों के स्वामी होने से 'महादेव' (५५२) तथा विलक्षण ऐश्वर्य को धारण करने से 'महेशिता' [५५३] कहलाते है ।। ७ ।।

सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः ।
असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ।। ८ ।।

अर्थ—शारीरिक और मानसिक क्लेशों के दूर करने से 'सर्वक्लेशापह' [५५४]; रत्नत्रय को सिद्ध करने से 'साधु' [५५५], भव्य जीवों के समस्त दोष दूर करने से 'सर्वदोषहर' (५५६)' तथा अनेक जन्मों के किये हुये पापों को हरण करने से 'हर' (५५७), है । असख्यात गुणों को धारण करने से 'असंख्येय' [५५८], प्रमाण-रहित शक्ति को धारण करने से 'अप्रमेयात्मा' [५५९], परम शान्त-स्वरूप होने से 'शमात्मा' (५६०), तथा शान्तता को मूर्त्ति होने से 'प्रशमाकर' [५६१] हैं ।। ८ ।।

सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवा ।
दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः ।। ९ ।।

अर्थ—समस्त योगियो के 'ईश्वर' (५६२), चितवन के अतीत होने से 'अचित्य'(५६३),समस्त शास्त्रों के रहस्य-रूप होने से अथवा भावश्रुतज्ञान रूप होने से 'श्रुतात्मा' [५६४], तथा तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को जानने से 'विष्टरश्रवा' [५६५], है । जितेन्द्रिय होने से अथवा सबको

शिक्षा देने से 'दान्तात्मा' (५६६), इन्द्रियों के दमन-रूप तीर्थ के स्वामी होने से अथवा योगशास्त्र के स्वामी होने से 'दमतीर्थेश' (५६७); योग-स्वरूप होने से 'योगात्मा' (५६८), तथा ज्ञान के द्वारा सब जगह होने से 'ज्ञानसर्वग' (५६९), कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः ।
प्रक्षीणबन्धः कामारिः क्षेमकृत्क्षेमशासनः ॥ १० ॥

अर्थ— एकाग्रता से आत्मा का ध्यान करने से 'प्रधान' (५७०) ज्ञान-स्वरूप होने से 'आत्मा' (५७१) समवशरण-रूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी के स्वामी होने से अथवा धर्मोपदेश-रूप कार्य से प्रशंसनीय होने से अथवा सबके कल्याणकारी होने से 'प्रकृति' (५७२) उत्कृष्ट लक्ष्मी को धारण करने से 'परम' (५७३) तथा परम कल्याणकारी उदय को धारण करने से 'परमोदय' (५७४) है । कर्म-बन्ध सब नष्ट होने से 'प्रक्षीण-बन्ध' (५७५); कामदेव के परम शत्रु होने से 'कामारि' [५७६], सबका कल्याण करने से 'क्षेमकृत्' [५७७] और उपदेश वा मत कल्याणकारी होने से 'क्षेमशासन' (५७८) कहलाते है ॥ १० ॥

प्रणवः प्रणयः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः ।
प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ॥११॥

अर्थ—ओंकार स्वरूप होने से 'प्रणव' [५७९]; सबके मित्र होने से 'प्रणय' (५८०) जगत् प्रिय होने से अथवा सबके शरणस्थल होने से 'प्राण' (५८१); अतिशय दयालु होकर प्राणदान करने से 'प्राणद' (५८२), तथा प्रणाम करते हुये इन्द्रादिकों के स्वामी अथवा प्रणाम करते हुये भव्यजीवों का पालन-पोषण करनेवाले होने से 'प्रणतेश्वर' [५८३] है, प्रमाण नय के वक्ता अथवा ज्ञानस्वरूप होने से वा ज्ञान का साधन अथवा लोकप्रमाण वा देह प्रमाण होने से 'प्रमाण' [५८४]; योगियो द्वारा गुप्त रीति से चिंतित होने से अथवा सबके मर्मज्ञ होने से 'प्रणिधि' [५८५]; मोक्ष प्राप्ति में चतुर कारण होने से 'दक्ष' [५८६]; सरलस्वभाव होने से 'दक्षिण' [५८७]; केवलज्ञानरूप यज्ञ को करने से अथवा पापरूप कर्मों का हवन करने से 'अध्वर्यु' [५८८]; तथा सन्मार्ग की प्रवृत्ति करने से 'अध्वर' [५८९]; है ॥ ११ ॥

आनन्दो नन्दनो नन्दो वन्द्योऽनिन्द्योऽभिनन्दनः ।
कामहा कामदः काम्यः कामधेनुररिञ्जयः ॥१२॥

अर्थ—सदा संतुष्ट रहने से 'आनन्द, [५९०]; सबको आनंद देने से 'नंदन' (५९२); सबके वंद्य अथवा स्तुत्य होने से 'वंद्य' [५९३]; अठारह दोषों से रहित होकर सब प्रकार की निंदा के अयोग्य है, इसलिये 'अनिंद्य' [५९४], तथा सर्वथा आनंददायक होने से अथवा आपके समवसरणके चारों ओर के वन भयरहित होने से 'अभिनन्दन' (५९५); कहे जाते हैं कामदेव को नाश करने से 'कामहा' (५९६); भक्त भव्य जीवों की इच्छा पूर्ण कर देने से 'कामद' (५९७); अतिशय मनोहर होने से अथवा आपकी प्राप्ति की इच्छा सबको होने से 'काम्य' [५९८]; इच्छित पदार्थों को देने से 'कामधेनु' (५९९); और रागादि समस्त शत्रुओं को जीत लेने से 'अरिजय' (६००) कहलाते हैं ।। १२ ।।

इति महामुन्यादिशतम् ।। ६ ।। अर्घ्यम् ।

असंस्कृतसुसंस्कारोऽप्राकृतो वैकृतान्तकृत् ।
अन्तकृत्कान्तगुः कान्तश्चिन्तामणिरभीष्टदः ॥१॥

अर्थ—बिना किसी संस्कार के, स्वभाव से ही सुन्दर होने से 'असंस्कृतसु-सस्कार (६०१); आपका स्वरूप प्रकृति से उत्पन्न नहीं हुआ है, असाधारण वा अद्वितीय है, इसलिये आप 'अप्राकृत' (६०२); तथा राग अथवा विकारों को नाश करने से आप 'वैकृतांतकृत्' (६०३); जन्ममरणरूप संसार को नाश करने से अथवा मोक्षको सुगम करने से 'अंतकृत्' (६०४); सुंदर प्रभा होने से 'कातगु' (६०५); शोभायुक्त होने से 'कांत' (६०६); चिंतामणि के समान इच्छित पदार्थों को देने से 'चिंतामणि' (६०७); तथा भव्य जीवों को इष्ट पदार्थों की प्राप्ति कराने से 'अभीष्टद' (६०८) कहे जाते हैं ।। १ ।।

अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः ।
जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः ॥२॥

अर्थ—काम क्रोधादि योद्धा से जीते नहीं जाते इसलिये 'अजित' [६०९], कामरूप शत्रु को जीतने से 'जितकामारि' [६१०] मर्यादारहित होनेसे

'अमित' [६११], तथा शासन अपार होनें से 'अमितशासन' [६१२] कहलाते हैं। क्रोधको जीत लेने से 'जितक्रोध' कर्मरूप शत्रुओं को जीतनें से 'जितामित्र' (६१४), समस्त क्लेशोंको जीतने से 'जितक्लेश' (६१५) और यम को जीतने से 'जितांतक' (६१६) कहे जाते हैं ॥ २ ॥

जिनेन्द्रः परमनन्दो मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः।
महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दनः ॥३॥

अर्थ—गणधरादि जिनों के इन्द्र होने से 'जिनेन्द्र' ६१७; उत्कृष्ट आनंदस्वरूप होने से 'परमानन्द' (६१८); मुनियों के इन्द्र होने से 'मुनींद्र' (६१९); तथा दुंदुभियों के समान आपकी ध्वनि होने से 'दुंदुभिस्वन' (६२०) हैं; महेन्द्रके द्वारा पूज्य होने से 'महेद्रवंद्य' (६२१); योगियों के इन्द्र होने से 'योगीन्द्र' (६२२); यतियों के इन्द्र होने से 'यतीं.(६२६) और महाराज नाभि के पुत्र होनें से 'नाभिनन्दन' (६२४) कहलाते है ॥ ३ ॥

नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतो मनुरुत्तमः।
अभेद्योऽनत्ययो नाश्वानधिको धिगुरुः सुगीः ॥४॥

अर्थ—नाभि-पुत्र होने से 'नाभेय' (६२५); महाराज नाभि के कुल में उत्पन्न होने से 'नाभिज'(६२६); उत्पत्तिरहित होने से 'अजात'(६२७); अहिंसा आदि उत्तम व्रतके धारक होने से'सुव्रत' (६२८); तथा कर्मभूमि की रचनाका एवं मोक्षमार्ग का स्वरूप बताने से -मनु' (६२९); एव श्रेष्ठ होने से 'उत्तम' (६३०) हैं; दूसरों के द्वारा आपका भेदन सम्भव नहीं इसलिये 'अभेद्य' (६३१); नाशरहित होने से 'अनत्यय' (६३२), अनशन आदि तपश्चरण करने से 'अनाश्वान्' [६३३], सबसे अधिक पूज्य होने से 'अधिक' (६३४); सबके उत्तम उपदेश देने से 'अधिगुरु' [६३५]; तथा आपकी दिव्यध्वनि कल्याणकारी होने से 'सुगी' [६३६] कहलाते है ॥ ४ ॥

सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः।
विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनो नघः ॥५॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान होने से 'सुमेधा' [६३७]; महापराक्रमी होने से 'विक्रमी [६३८]; सबके स्वामी होने से अथवा सब पदार्थों के यथार्थ ज्ञानी होने से 'स्वामी'[६३९]; किसी के द्वारा निवारण नहीं किये जाते, इसलिये 'दुराधर्ष' [६४०]; अभिलाषा-रहित होने से अथवा स्थिर-स्वभाव होने से

'निरत्सुक' [६४१]; विशेषरूप होने से 'विशिष्ठ' [६४२]; शिष्ट पुरुषोंका पालन करने से 'शिष्टभुक् [६४३]; रागद्वेष मोह आदि दोषों से रहित होने से 'शिष्ट' (६४४); विश्वासरूप होने से अथवा ज्ञानस्वरूप होने से 'प्रत्यय' [६४५]; मनोहर होने से 'कामन'[६४६]; और पापरहित होने से 'अनघ' [६४७] के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ५ ॥

क्षेमी क्षेमङ्करोऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी ।
अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो निरुत्तरः ॥६॥

अर्थ—मोक्ष प्राप्त होने से 'क्षेमी'[६४८]; सबका कल्याण करने से क्षेमंकर [५४९]; कभी क्षय नहीं होता इसलिये 'अक्षय्य' (६५०); जीवों के कल्याणकारी जैनधर्म-प्रवर्तक होने से 'क्षेमधर्मपति' (६५१); क्षमावान् होने से 'क्षमी'(६५२), इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य होने से अथवा मिथ्यात्वियों द्वारा अग्राह्य होने से 'अग्राह्य' (६५३), निश्चयज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने से 'ज्ञाननिग्राह्य' (६५४), ध्यान के द्वारा जानने योग्य होने से 'ध्यानगम्य'[६५५]और सबसे उत्कृष्ट होनेसे 'निरुत्तर'(६५६)कहे जाते है।६।

सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः ।
श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥७॥

अर्थ—पुण्यवान् होने से 'सुकृती' (६५७), शब्दों की खानि होने से 'धातु' (६५८), पूजा योग्य होने से 'इज्यार्ह' (६५९), नयों के अच्छे जान-कार होने से 'सुनय' (६६०); तथा एक मुख होकर भी चारों ओर से दर्शन होने से अथवा लोगों को चार मुख दिखने से 'चतुरानन' (६६१) कहे जाते हैं। लक्ष्मी के निवासस्थान होने से 'श्रीनिवास' (६६२) है, एक मुख होकर भी चार मुख दिखने से 'चतुर्वक्त्र' (६६३), 'चतुरास्य' (६६४) तथा 'चतुर्मुख' (६६५) कहलाते है ॥ ७ ॥

सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक्सत्यशासनः ।
सत्याशीः सत्यसन्धानः सत्यः सत्यपरायणः ॥८॥

अर्थ—सत्यस्वरूप होकर जीवों का कल्याण करने से 'सत्यात्मा' (६६६), विज्ञान सत्य सत्य एवं सफल होने से 'सत्यविज्ञान'[६६७], वाणी

यथार्थ पदार्थों का निरूपण करनेवाली होने से 'सत्यवाक्' (६६८), तथा शासन मत यथार्थ एवं साक्षात् मोक्ष प्राप्त करनेवाला होने से 'सत्यशासन' (६६९)कहे जाते हैं। दोनों लोकों में फलदायक होने से 'सत्याशी'(६७०) (६७१) शुद्ध मोक्ष स्वरूप होने से 'सत्य' (६७२) तथा सत्य स्वरूप में तत्पर होने से 'सत्यपरायण' (६७३) कहे जाते है ॥ ८ ॥

स्थेयान्स्थवीयान्नेदीयान्दवीयान् दूरदर्शनः ।
अणोरणीयाननणुर्गुरुराद्यो गरीयसां ॥९॥

अर्थ—अत्यंत स्थिर होने से 'स्थेयान्'(६७४(, अतिशय स्थूल होने से 'स्थवी-यान्' (६७५), भक्तों के समीप होने से 'नेदीयान्' (६७६), पापों से दूर रहने से 'दवीयान्' [६७७] तथा आपके दर्शन दूर से ही होने से 'दूरदर्शन'(६७८)कहे जाते है। परमाणु से भी 'सूक्ष्म' होने । से 'अणोर-णीयान्' अणो:+अणीयान् [६७९], सूक्ष्म न होने से 'अनणु' [६८०] तथा सबसे बड़े होने से 'आद्य गुरु' [६८१] कहलाते है ॥ ९ ॥

सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः ।
सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥१०॥

अर्थ—सदा योगस्वरूप होने से 'सदायोग' [६८२] सदा आनद के भोक्ता होने से 'सदाभोग' [६८३] सदा तृप्त रहने से 'सदातृप्त' [६८४], तथा कल्याणस्वरूप मोक्षस्वरूप होने से 'सदाशिव' [६८५] के नाम से पूज्य है। सदा गति स्वरूप होने से 'सदागति' [६८६], सदा सुख स्वरूप होने से 'सदासौख्य' [६८७], सदा ज्ञानस्वरूप रहने से 'सदाविद्य'(६८८०) और सदा प्रकाशदायक उदयस्वरूप होने से 'सदोदय'(६८९)कहलाते हैं ॥१॥

सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् ।
सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता लोकाध्यक्षोदमीश्वरः ॥११॥

अर्थ—शब्द सुंदर होने से 'सुघोष' (६९०) सुंदर मुखके कारण 'सुमुख' (६९१), शांत रहने से 'सौम्य' (६९२) सबको सुख देने से 'सुखद' (६९३) सबका हित करनेवाले 'सुहित' (६९४), तथा निष्कपट, शुद्ध, निर्मल हृदय के धारी आप सबका हित करनेवाले 'सुहृत्' (६९५) है।

मिथ्यादृष्टियों को आपका स्वरूप ज्ञान न होने से 'सुगुप्त' [६९६], तीनों गुप्तियों को पालन करने से 'गुप्तिभृत्' (६९७), पापों से आत्मा की एवं जीवों की रक्षा करने से 'गोप्ता' (६९८) तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखने से 'लोकाध्यक्ष' (३९९) और तपश्चरण के द्वारा इन्द्रिय दमन करने से 'दमीश्वर' (७००) कहलाते ॥ ११ ॥

इति असंस्कृतादिशतम् ॥७॥ अर्घ्यम् ।

बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः ।
मनीषी धिषणो धीमांञ्छेमुषीशो गिरांपतिः ॥ १ ॥

अर्थ—इन्द्रो के होने से 'बृहद्बृहस्पति' (७०१); विलक्षण वक्ता होने से 'वाग्मी' (७०२); वाणी के स्वामी होने से 'वाचस्पति' [७०३] तथा उदार बुद्धि होने होने से ''उदारधी' [७०४] कहलाते है । बुद्धिमान् होने से 'मनीषी' [७०५]; अपार बुद्धिमान् होने से धिषण' (७०६); 'धीमान्' [७०७]; एव बुद्धि के स्वामी होने से 'शेमुषीश' [७०८]; तथा सब प्रकार की भाषाओ के स्वामी होने से 'गिरांपति' [७०९] के नाम से पुकारे जाते है ॥१॥

नैकरूपो नयोत्तुङ्गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् ।
अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥ २ ॥

अर्थ—अनेकरूप होने से 'नैकरूप' (७१०); नयों का उत्कृष्ट स्वरूप कहने से 'नयोत्तुंग' [७११], अनेक गुणों को धारण करने से 'नैकात्मा' (७१२); तथा पदार्थ का अनेक धर्म बताने से 'नैकधर्मकृत्' [७१३] कहे जाते है । साधारण पुरुषों के ज्ञानगम्य होने से 'अविज्ञेय' (७१४); आपके स्वरूप मे कोई तर्क वितर्क नही चल सकता इसलिये 'अप्रतर्क्यात्मा'[७१५]; जीवोके समस्त कृत्य जानने से 'कृतज्ञ' (७१६); और समस्त सुलक्षणों सहित होने से 'कृतलक्षण' [७१७] है ॥२॥

ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः ।
पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥ ३ ॥

अर्थ-अंतरंग में ज्ञान होने से 'ज्ञानगर्भ'(७१८),दयालु होने से 'दयागर्भ' (७१९); रत्नत्रय को धारण करने से अथवा गर्भावस्था में रत्नत्रय का स्वरूप जानने से अथवा गर्भावतार होने से पहिले ही रत्नों की वर्षा होने 'रत्नगर्भ' [७२०]; तथा अतिशय प्रभावशाली होने से 'प्रभास्वर' [७२१] कहे जाते हैं। गर्भावस्था में ही लक्ष्मी प्राप्त होने से 'पद्मगर्भ [७२२] हैं, आपके ज्ञान में समस्त जगत् समाहित हैं इसलिये 'जगद्गर्भ' (७२३) है, आत्म सुवर्ण के समान निर्मल होने से अथवा गर्भावतार के समय सुवर्ण की वर्षा होने के कारण 'हेमगर्भ [७२४] हैं तथा आपका दर्शन सुंदर होने के कारण 'सुदर्शन' [७२५] कहलाते हैं ॥३॥

लक्ष्मीवांस्त्रिदशाध्यक्षो द्रढीयानिन ईशिता ।
मनोहरो मनोज्ञाङ्गो धीरो गम्भीरशासनः ॥ ४ ॥

अर्थ—समवसरणादि ऐश्वर्य सहित होने से 'लक्ष्मीवान्' (७२६), देवों को तथा तेरह प्रकार के चरित्र को धारण करनेवाले मुनियों को अथवा बाल-युवा-वृद्ध तीनों अवस्थाओं में एक-सा प्रत्यक्ष होने से 'त्रिदशाध्यक्ष' (७२७); अत्यंत दृढ़ होने मे 'दृढ़ीयान्' (७२८), सबके स्वामी होने से 'इन' (७२९) तथा तेजोनिधि अथवा ऐश्वयवान् होने के कारण 'ईशिता' (७३०) के नाम प्रसिद्ध है। भव्य जीवो के अतः करण को हरण किया इसलिये 'मनोहर' (७३१); अङ्गोपांग मनोहर होने से 'मनोज्ञांग' (७३२), बुद्धि को प्रेरित कर भव्य जीवों को सुबुद्धि बनाने से 'धीर' [७३३]; तथा आपका शासन या शास्त्र गंभीर है इसलिये 'गंभीरशासन' [७३४]; नाम के योग्य हैं ॥ ४ ॥

धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः ।
धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥ ५ ॥

अर्थ—धर्म के स्तंभ होने से 'धर्मयूप' [७३५]; सब जीवों पर दया करना ही आपका धर्म होने से 'दयायाग' [७३६]; धर्मरूप रथ जीवों की धुरा होने से 'धर्मनेमि' (७३७) तथा मुनियों के ईश्वर होने से 'मुनीश्वर' (७३८) कहलाते हैं। धर्मचक्र ही आपका आयुध होने से 'धर्मचक्रायुध' (७३९) परमानन्द में क्रीड़ा करने से 'देव' [७४०]; शुभाशुभ कर्मों को

नाश करने से 'कर्महा' [७४१]; और धर्म का उपदेश देने के हेतु 'धर्मघोषण' (७४२) नाम द्वारा पूजित हैं ॥ ५ ॥

अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः ।
सुरूपः सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥ ६ ॥

अर्थ—यथार्थका बोध करानेवाली वाणी होने से 'अमोघवाक्' (७४३); कभी व्यर्थ न होने वाली आज्ञा के कारण 'अमोघाज्ञ' (७४४), ममत्वरहित होने से 'निर्मल' (७४५); तथा शास्त्र कभी व्यर्थ न होने से अर्थात् जीवों को मोक्ष प्राप्त कराने के कारण 'अमोघशासन' (७४६); कहलाते हैं। स्वरूप आनन्ददायक होने से 'सुरूप' (७४७); ज्ञान का अतिशय महात्म्य होने के हेतु 'सुभग' (७४८); ज्ञानदान अभयदान आदि के दान से 'त्यागी' (७४९); आत्मा, सिद्धांत तथा काल का स्वरूप तथा काल का स्वरूप जानने से 'समयज्ञ' (७५०) और समाधानरूप होने से अथवा ध्यानरूप होने से 'समाहित' [७५१] कहे जाते है ॥ ६ ॥

सुस्थितः स्वास्थ्यभाक्स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः ।
अलेपो निष्कलङ्कात्मा वीतरागो गतस्पृहः ॥७॥

अर्थ—निश्चल अथवा सुख मे निमग्न रहने से 'सुस्थित' [७५२], आत्माकी निश्चलता को सेवन करने से 'स्वास्थ्यभाक्' [७५३]; सदा आत्मनिष्ठ होने से 'स्वस्थ' [७५४]; कर्म-रूप रजसे रहित होने से अथवा ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म-रहित होने से 'नीरजस्क' (७५५) तथा आप का कोई स्वामी न होने से 'निरुद्धव' [७५६] कहलाते है। कर्म के लेपसे रहित होने से 'अलेप' [७५७]; दोष-रहित होने से 'निष्कलङ्कात्मा' [७५८]; रागादि दोषों से रहित होने से 'वीतराग' [७५९]; तथा इच्छा-रहित होने से गतस्पृह' [७६०] नाम से पूज्य हैं ॥ ७ ॥

वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रियः ।
प्रशान्तोऽनन्तधामर्षिर्मङ्गलं मलहानघः ॥ ८ ॥

अर्थ—इन्द्रियों को वश करने से 'वश्येन्द्रिय' (७६१); ससार-रूपी बन्धन से रहित होने से 'विमुक्तात्मा' (७६२); दुष्ट भाव से रहित निष्कण्टक होकर 'निःसपत्न' (७६३); तथा इन्द्रियों को जीत कर

'जितेन्द्रिय' (७६४) कहलाये। शान्त अथवा राग-द्वेष-रहित होने से 'प्रशान्त' (७६५); अनन्त प्रकाश को धारण करते हुये पूज्य होने से 'अनन्तधामर्षि' [७६६]; सबको सुख देने से 'मङ्गल' (७६७); पाप को दूर करने से 'मलहा'(७६८)और पाप-रहित होने से 'अनघ (७६९)कहलाते हैं।८

अनीदृगुपमाभूतो दिष्टिर्दैवमगोचरः ।
अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥९॥

अर्थ—आपके समान अन्य कोई न होने से 'अनीदृक्' [७७०]; सबके लिये उपमायोग्य होने से 'उपमाभूत' [७७१]; महा भाग्यशाली अथवा शुभाशुभदाता होने से 'दिष्टि' (७७२); प्रबल अथवा स्तुतियोग्य होने से दैव' [७७३]तथा इन्द्रियों के एवं वचनों के अगोचर होने के कारण'अगोचर'[७७४] कहे जाते हैं। शरीर-रहितता के कारण 'अमूर्त' [७७५]; पुरुषाकार होने से 'मूर्तिमान्' (७७६)हैं। अद्वितीय होकर मोक्ष प्राप्ति कर लेने से 'एक' (७७७)अनेक-रूप होकर सब भव्य जीवों के सहायक होने से 'नैक' [७७८] और आत्मा के सिवा अन्य तत्त्वों को न देखने से अर्थात् उनमे तल्लीन न होने से 'नानैकतत्वदृक्' (७७९) कहलाये है ॥ ९ ॥

अध्यात्मगम्यो गम्यात्मा योगविद्योगिवन्दितः ।
सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥१०॥

अर्थ—केवल अध्यात्म शास्त्र द्वारा ही जाननेयोग्य होनेके हेतु 'अध्यात्मगम्य'(७८०); ससारी जीवों के जाननेयोग्य न होने से 'अगम्यात्मा [७८१] हैं। योग के जानकार होकर 'योगवित्' (७८२); तथा योगियों के द्वारा वन्दना करनेयोग्य होने के हेतु 'योगिवन्दित' [७८३] कहलाये। ज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त होने से 'सर्वत्रग' [७८४], सदा विद्यमान रहने से 'सदाभावी' [७८६] और त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थों को देखने से 'त्रिकालविषयार्थदृक्' (७८६) कहलाते हैं ॥ १० ॥

शङ्करः शंवदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायणः ।
अधिपः परमानन्दः परात्मज्ञः परात्परः ॥११॥

अर्थ—सबको सुख देनेवाले 'शङ्कर' (७८७); यथार्थ सुख के अर्थात् मोक्षरूप सुख के वक्ता 'शंवद' (७८८]; मन को वश कर 'दांत' [७८९]; इन्द्रियों को निग्रह कर 'दमी'[७९०]; तथा क्षमा करने में सदा तत्पर रहने

के हेतु 'क्षान्तिपरायण' [७६१] आप ही हैं। जगत् के अधिपति 'अधिप' [७६२]; अत्यन्त सुखी होने से 'परमानन्द'(७६३); निज पर के ज्ञाता होने से अथवा विशुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने से 'परात्मज्ञ'[७६४]; तथा सबसे श्रेष्ठ 'परात्पर' (७६५) आप ही हैं॥ ११॥

त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मङ्गलोदयः।
त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः॥१२॥

अर्थ—तीनो लोकों को प्रिय 'त्रिजगद्वल्लभ' [७६६]; सबके पूज्य 'अभ्यर्च्य'(७६७); तथा तीनों लोकों में मङ्गलदाता होकर 'त्रिजगन्मंगलोदय' [७६८] आप ही कहलाये। आपके चरण-कमल तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से 'त्रिजगत्पति पूज्यांघ्रि' (७६६) और तीनों लोकों के शिखरके शिखामणि होने से 'त्रिलोकाग्रशिखामणि'[८००]कहे जाते हैं॥१२॥

इति श्री बृहदादिशतम्॥८॥ अर्घ्यम्

त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढव्रतः।
सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः॥१॥

अर्थ—भूत-भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों को प्रत्यक्ष देखने से 'त्रिकालदर्शी' (८७१); तीनों लोको के रक्षक के रूप में 'लोकश' (८०२) समस्त प्राणियों के रक्षक के रूप में 'लोकधाता' (८०३); तथा स्वीकृत चारित्र को निश्चल रखने से 'दृढव्रत' (८०४) कहलाते है। तीनों लोकों के प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट होने से 'सर्वलोकातिग' (८०५), पूजा के योग्य होने से 'पूज्य' (८०६); और समस्त प्राणियों के लिये मुख्य रीति से मोक्षमार्ग का स्वरूप दिखलाने से 'सर्वलोकैकसारथि' (८०७) कहे जाते हैं॥ १॥

पुराणः पुरुषः पूर्वः कृतपूर्वाङ्गविस्तरः।
आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता॥२॥

अर्थ—सबसे प्राचीन होकर मुक्तिपर्यंत शरीर में निवास करने से 'पुराण' (८६८); सबमें बड़े, सबको तृप्त करनेवाले अथवा समवशरण में स्थित रहने से 'पुरुष'[८०९]; सबसे पूर्व अर्थात् अग्रेसर होने से 'पूर्व' [८१०], तथा ग्यारह अङ्ग, चौदह पूर्व का समस्त विस्तार निरूपण करने से 'कृतपूर्वाङ्गविस्तर' (८११) कहे जाते हैं। सब देवों में मुख्य होने से 'आदिदेव'

(८१२); सब पुराणों में प्रथम होने से 'पुराणाद्य' (८१३); इन्द्रादि देव के द्वारा मुख्यता से आराधित होनेसे अथवा सबके ईश्वर होने से 'पुरुदेव'[८१४] और देवों के भी देव होने के हेतु 'अधिदेवता' (८१५) कहलाते हैं ॥ २ ॥

युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः ।
कल्याणवर्णः कल्याणः कल्यः कल्याणलक्षणः ॥३॥

अर्थ—इस अवसर्पिणी काल में मुख्य होने से 'युगमुख्य' (८१६); इसी युग में सबसे बड़े होने से 'युगज्येष्ठ' (८१७); तथा कर्म-भूमि के प्रारम्भ में कर्म-भूमि की स्थितिके मुख्य उपदेशक होने से 'युगादिस्थितिदेशक' (८१७)कहलाते हैं। शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान होने से 'कल्याणवर्ण' (८१९); कल्याण-स्वरूप होने से 'कल्याण' (८२०); सबके कल्याणकारी 'कल्य'(८२१); तथा मङ्गल-स्वरूप होने से अथवा कल्याण-रूप लक्षणों को धारण करने से 'कल्याणलक्षण' (८२२) कहलाते है ॥ ३ ॥

कल्याणप्रकृतिर्दीप्तकल्याणात्मा विकल्मषः ।
विकलङ्कः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः ॥४॥

अर्थ—आप का स्वभाव ही कल्याण स्वरूप होने से 'कल्याणप्रकृति' [८२३]; चारों ओर को प्रकाशमान करता हुआ पुण्य अथवा कल्याण ही आप का स्वरूप है, इसलिये आप 'दीप्तकल्याणात्मा' [८२४]; तथा पाप-रहित होने से 'विकल्मष'(८२५) कहलाते हैं। काम आदि कलङ्क से रहित होने के कारण 'विकलङ्क'(८२६), शरीर-रहित होने से 'कलातीत' (८२७); पापों को नाश करनेवाले है, अतएव 'कलिलघ्न'(८२८)और अनेक कलाओं को धारण करने से 'कलाधर' [८२९] कहे जाते है ॥४॥

देवदेवो जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जगद्विभुः ।
जगद्धितैषी लोकज्ञः सर्वगो जगदग्रजः ॥५॥

अर्थ—इन्द्रादि, सब देवों के देव होने से 'देवदेव' (८३०) तीनों लोकों के स्वामी होने से 'जगन्नाथ' (८३१); तीनों लोकों के हित करने से 'जगद्बन्धु' [८३२]; तथा समस्त जगत् के प्रभु होने से 'जगद्विभु' [८३३] कहलाते हैं। तीनों लोकों के लिये कल्याण करने की इच्छा रखने से 'जगद्धितैषी'[८३४]; तीनों लोकों को जानने से 'लोकज्ञ'[८३५]; केवलज्ञान

द्वारा सब जगह व्याप्त होने से 'सर्वग' (८३६); तथा समस्त जगत् में श्रेष्ठ होने से अथवा जगत् के मुख्य स्थान में उत्पन्न होने से 'जगदग्रज' [८३७] कहे जाते हैं ।।५।।

चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः ।
सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलनसप्रभः ।।६।।

अर्थ—त्रस स्थावर आदि सब जीवों के गुरु होने से 'चराचरगुरु' [८३८]; हृदय में बड़े यत्न से स्थापन करने के योग्य होने से 'गोप्य' (८३९), आपका स्वरूप अत्यन्त गुप्त होने रे 'गूढात्मा' (८४०), तथा गूढ अर्थात् जीवादि पदार्थों को जानने से 'गूढगोचर' [८४१]; है । आप सर्वदा प्रत्युत उत्पन्न होने के समान दीख पड़ते हैं, अर्थात् सदा नवीन ही जान पड़ते हैं, इसलिये 'सद्योजात' (८४२); प्रकाश-स्वरूप होने से 'प्रकाशात्मा' [८४३]और जलती हुई अग्निके समान देदीप्यमान होने से 'ज्वलज्ज्वलनसप्रभ' (८४४) कहे जाते है ।। ६ ।।

आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः ।
सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ।।७।।

अर्थ—सूर्य के समान तेजस्वी होने से 'आदित्यवर्ण' (८४५), सुवर्ण के समान कान्ति युक्त होने से 'भर्माभ' (८४६); आनन्ददायक सुन्दर कान्ति होने से 'सुप्रभ' [८४७] तथा सुवर्ण के समान उज्ज्वल कान्ति होने से 'कनकप्रभ' (८४८)नाम से प्रसिद्ध है। स्वर्ण के सदृश वर्ण होने से 'सुवर्णवर्ण' (८४९), 'रुक्माभ' (८५०), तथा करोड़ो सूर्य के समान प्रभा होने से 'सूर्यकोटिसमप्रभ' (८५१) कहलाते हैं ।। ७ ।।

तपनीयनिभस्तुङ्गो बालार्काभोऽनलप्रभः ।
सन्ध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभस्तप्तचामीकरच्छविः ।।८।।

अर्थ—सुवर्ण के समान पीतवर्ण होने से तपनीयनिभ' (८५२), ऊंचे शरीर को धारण करने से 'तुङ्ग' (८५३),उदय होते हुये सूर्य के समान कान्तिमान् और सुन्दर होने से 'बालार्काभ' [७५४], तथा अग्निके समान सुन्दर होने से 'सन्ध्याभ्रबभ्रु' [८५६], सुवर्ण के समान होने से 'हेमाभ' (८५७),तथा तपाये हुये सुवर्णके समान कान्तियुक्त होने से 'तप्तचामीकरप्रभ' (८५८) कहलाते हैं ।। ८ ।।

निष्टप्तकनकच्छायः कनत्काञ्चनसन्निभः ।
हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुम्भनिभप्रभः ॥९॥

अर्थ—सुवर्ण के समान उज्ज्वल और कान्तियुक्त होने से 'निष्टप्तक-नकच्छाय'[८५९]; 'कनत्कांचनसंनिभ'(८६०); 'हिरण्यवर्ण'(८६१),,स्वर्णाभ' [८६२]; तथा 'शातकुम्भनिभप्रभ' [८६३] कहे जाते है ॥ ९ ॥

द्युम्नाभो जातरूपाभस्तप्तजाम्बूनदद्युतिः ।
सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥१०॥

अर्थ—स्वर्णके समान उज्ज्वल होने से 'द्युम्नाभ'(८६४),'जातरूपाभ' (८६५); तथा 'तप्तजांबूनदद्रयुति'(८६६)कहे जाते हैं। तप्त स्वर्ण के समान निर्मल होने से 'सुधौतकलधौतश्री' (८६७) और 'हाटकद्युति' (८६८); कहलाते हैं, तथा देदीप्यमान होने से 'प्रदीप्त' (८६९) कहलाते हैं ॥१०॥

शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः ।
शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥११॥

अर्थ—इन्द्रादि उत्तम पुरुषों के प्रिय होने से 'शिष्टेष्ट' [८७०]; पुष्टि के दाता होने से 'पुष्टिद'[८७१]; महा बलवान् होने से पुष्ट'(८७२) तथा सबको प्रगट दिखाई देने से 'स्पष्ट [८७३] है। वाणी स्पष्ट तथा आनन्ददायिनी होने से 'स्पष्टाक्षर' (८७४); समर्थ होने से 'क्षम' (८७५); कर्म-रूपी शत्रुओं को नाश करने से 'शत्रुघ्न' [८७६]; क्रोध-रहित होने से 'अप्रतिघ'[८७७], सफल अर्थात् कृतकृत्य होने से 'अमोघ'[८७८]धर्मोपदेश देने से 'प्रशास्ता' (८७९) रक्षक होने से 'शासिता'(८८०)तथा अपने-आप उत्पन्न होने से 'स्वभू' (८८१) कहलाते हैं ॥ ११ ॥

शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः ।
शांतिदः शान्तिकृच्छान्तिः कान्तिमान्कामितप्रदः ॥१२॥

अर्थ—काम, क्रोध आदि को नष्ट करने से अथवा शान्त होने से 'शान्तिनिष्ठ' [८८२]; मुनियों में श्रेष्ठ होने से 'मुनिज्येष्ठ' (८८३); सुख की 'परम्परा' होने से 'शिवताति' [८८४]; कल्याण के दाता होने से 'शिवप्रद'(८८५); शान्तिदायक होने से 'शान्तिद' [८८६]; समस्त उपद्रवों को शान्त करने से 'शान्तिकृत्' [८८७]; कर्मों को क्षय करने से 'शान्ति'

[८८८]; कान्तिपुक्त होने से 'कान्तिमान्' [८८६], तथा मनवांच्छित फलों को देने से 'कामितप्रद' (८९०); कहे जाते है ॥१२॥

श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः ।
सुस्थिरः स्थावरः स्थाणुः प्रथीयान्प्रथितः पृथुः ॥१३॥

अर्थ—कल्याण के समुद्र होने से 'श्रेयोनिधि' (८९१) हैं, धर्म के मूलकारण वा आधार होने से 'अधिष्ठान' (८९२); अपने-आप ही ईश्वर होने से 'अप्रतिष्ठ'(७९३); सब जगह प्रतिष्ठित होने से प्रतिष्ठित(८९४); अतिशय स्थिर होने से 'सुस्थिर' (८९५); विहार-रहित होने से 'स्थावर' [८९६]; निश्चल होने से 'स्थाणु' [८९६]; विस्तृत होने से 'प्रथीयान्' (८९८); और वहुत वड़े होने से 'पृथु' (९००) कहलाते हैं ॥१३॥

इति त्रिकालदर्श्यादिशतम् ॥९॥ अर्घ्यम् ।

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः ।
निष्किञ्चनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः ॥ १ ॥

अर्थ—दिशा-रूप वस्त्रों को धारण करने से 'दिग्वासा' (९०१); वायु-रूपी करधनो को धारण करने से 'वातरशन' (९०२); निर्ग्रंथ मुनियों मे भी श्रेष्ठ होने से 'निर्ग्रंथेश' [९०३]; वस्त्र-रहित होने से 'निरम्बर' [९०४]; परिग्रह-रहित होने से 'निष्किचन' (९०५); इच्छा वा आशा-रहित होने से 'निराशंस'[९०६]; ज्ञान-रूपी नेत्रों को धारण करने से 'ज्ञानचक्षु'[९०७]अत्यन्त निर्मोह होने से 'अमोमुह'[९०८]कहलाते हैं ॥१॥

तेजोराशिरनन्तौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः ।
तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोपहः ॥२॥

अर्थ—तेज के समूह होने से 'तेजोराशि' (९०९), अनत पराक्रमी होने से 'अनंतौजा' [९१०], ज्ञान के सागर होने से 'ज्ञानाब्धि' [९११], शील के सागर अथदा स्वभाव के सागर होने से 'शीलसागर' [९१२], तेजस्वरूप होने से 'तेजोमय' [९१३], अनंत ज्योति को धारण करने से 'अमितज्योति' [९१४]; तेजस्वरूप होने से 'ज्योतिर्मूत्ति' [९१५]; तथा अज्ञानरूपी अंधकारके नाशक होने से 'तमोपह' [९१३] कहलाते है ॥ २ ॥

जगच्चूडामणिर्दीप्तः शंवान्विघ्नविनायकः ।
कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥३॥

अर्थ—तीनों लोकों के मस्तक के रत्न होने से 'जगच्चूडामणि'[९१८] तेजस्वी अथवा प्रकाशवान् होने से 'दीप्त'[९१८],अत्यन्त सुखी होने से 'शंवान् विघ्नों को अथवा अंतराय कर्म को नाश करने से 'विघ्नविनायक'[९२०]; दोषोंको दूर करनेसे 'कलिघ्न [९२१]; कर्मरूप शत्रुओं को नाश करने से 'कर्मशत्रुघ्न' [९२२]; तथा लोक और अलोक को जानने देखने से 'लोकालोकप्रकाशक' [९२३] कहलाये हैं ॥ ३ ॥

अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूकः प्रभामयः ।
लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥४॥

अर्थ—निद्रारहित होने से 'अनिद्रालु'[९२५]; प्रमाद रहित होने से 'अतन्द्रालु' (९२५); अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये सदा जाग्रतरूप रहने से 'जागरूक' (९२६); ज्ञानस्वरूप होने से 'प्रभामय' (९२७); मोक्षरूपी अविनाशिनी लक्ष्मी के स्वामी होने से 'लक्ष्मीपति'(९२८),जगत् को प्रकाश करने से 'जगज्ज्योति' (९२९); धर्म के स्वामी होने से 'धर्मराज'(९३०); तथा प्रजा के हितैषी होने से प्रजाहित' (९३१) कहलाते है ॥ ४ ॥

मुमुक्षुर्बन्धमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः ।
प्रशान्तरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः ॥५॥

अर्थ—निर्वाण की रुचिस्वरूप होने से 'मुमुक्षु' (९३२); बंध और मोक्ष का स्वरूप जानने से 'बंधमोक्षज्ञ'(९३३),इन्द्रियों को जीतने से 'जिताक्ष' (९३४); कामदेव को जीतने से 'जितमन्मथ' (९३५), शांतरूपी रस का नृत्य करने से 'प्रशान्तरसशैलूष' (९३५) भव्य जीवों के समुदाय के नायक होने से 'भव्यपेटकनायक' (९३७) कहलाते हैं ॥ ५ ॥

मूलकर्ताऽखिलज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणम् ।
आप्तो वागीश्वरः श्रेयाञ्छ्रायसोक्तिर्निरुक्तवाक् ॥६॥

अर्थ—धर्मके मुख्य प्रकाशक होने से 'मूलकर्ता' [९३८]; अनंत ज्योतिस्वरूप होने से 'अखिलज्योति'(९३९); राग द्वेष आदि मल को नाश करने से 'मलघ्न'(९४०); मोक्ष के मूल कारण होने से मूलकारण'(९४१), यथार्थ वक्ता होने से 'आप्त'[९४२]; सब प्रकार की वाणी के स्वामी होने से

'वागीश्वर'[९४३];कल्याणस्वरूप होने से 'श्रेयान्'[९४४]वाणी कल्याणस्वरूप होने से 'श्रायसोक्ति' [९४५]कहलाते है, तथा निःसंदेह वाणी होने से 'निरुक्तवाक्'[९४६]कहलाते है ॥ ६ ॥

प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विश्वभाववित् ।
सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥७॥

अर्थ—सबसे उत्तम वक्ता होने से 'प्रवक्ता' (९४७);सर्वप्रकार के वचनों के स्वामी होने से 'वचसामीश' (९४८); कामदेव को जीतने से 'मारजित् [९४९]; संसार के समस्त पदार्थो के जानने से अथवा समस्त प्राणियों के अभिप्राय जानने से 'विश्वभाववित्' [९५०]; उत्कृष्ट शरीर को धारण करने से 'सुतनु' [९५१]; शरीर-रहित होने से 'तनुनिर्मुक्त' (९५२); आत्मा में तल्लीन होने से अथवा सम्यग्ज्ञान धारण करने से 'सुगत' [९५३]; और मिथ्यादृष्टियों की खोटे नयों का नाश करने से 'हतदुर्नय' [९५४] कहलाते हैं ॥ ७ ॥

श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयङ्करः ।
उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥८॥

अर्थ-अन्तरङ्ग और बाह्य लक्ष्मी के स्वामी होने से 'श्रीश'(९५५)आप के चरण-कमलो की सेवा लक्ष्मी करती है, इसलिये आप 'श्रीश्रितपादाब्ज' (९५६) कहे जाते हैं। भय-रहित होने से 'वीतभी' [९५७]; भक्त लोगों का भय दूर करने से 'अभयङ्कर' [९५८]; समस्त दोषों का नष्ट करने से 'उत्सन्नदोष' (९५९) है, विघ्न-रहित होने से 'निर्विघ्न' (९६०); स्थिर होनेसे 'निश्चल' [९६१]; और लोगों को अत्यन्त प्रिय होनेसे 'लोकवत्सल' [९६२] कहे जाते हैं ॥ ८ ॥

लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः ।
धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥९॥

अर्थ—समस्त लोक में उत्कृष्ट होने से 'लोकोत्तर' (९६३); तीनों लोको के स्वामी होने से 'लोकपति' (९६४); समस्त लोक के यथार्थ पदार्थो के दर्शन होने से 'लोकचक्षु, (९६५); अनन्त ज्ञान को धारण करने से 'अपारधी' (९६६); ज्ञान सदा स्थिर रहने के हेतु 'धीरधी' (९६७);

यथार्थ मोक्षमार्ग को जानने से 'बुद्धसन्मार्ग' (९६८); शुद्ध-स्वरूप होने से 'शुद्ध' (९६९); तथा वचन यथार्थ और पवित्र होने से 'सूनृतपूतवाक्' (९७०) कहे जाते है ॥ ९ ॥

प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः ।
भदन्तो भद्रकृद्भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥१०॥

अर्थ—बुद्धि के पारगामी होने से 'प्रज्ञापारमित' [९७१]; अतिशय बुद्धमान् होने से 'प्राज्ञ' [९७२], मन को जीतने से अथवा सदा मोक्षमार्ग का प्रयत्न करने से 'यति' [९७३]; इन्द्रियों को वश करने से 'नियमितेन्द्रिय' [९७४]; पूज्य होने से 'भदन्त' (९७५); कल्याणकारी होने से 'भद्रकृत्' (९७६); निष्कपट अथवा कल्याण-स्वरूप होने से 'भद्र' (९७७); इच्छित पदार्थों के दाता होने से 'कल्पवृक्ष' [९७८]; तथा इष्ट पदार्थों की प्राप्ति करा देने से 'वरप्रद' [९७९] कहलाते हैं ॥ १० ॥

समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठाशुशुक्षणिः।
कर्मण्यः कर्मठः प्रांशुर्हेयादेयविचक्षणः ॥११॥

अर्थ—कर्म-रूप शत्रुओं को उखाड़ कर फेंक देने से 'समुन्मूलितकर्मारि'[९८०],कर्म-रूपी लकडी को जलाने के लिये अग्नि के समान होने से 'कर्मकाष्ठाशुशुक्षणि' [९८१] कहलाते हैं। क्रिया अर्थात् चारित्र में नितान्त कुशल होने से 'कर्मण्य'[९८२] क्रिया करने में शूरवीर अथवा सर्वदा तैयार रहने से 'कर्मठ' [९८३], सबसे ऊँचे अर्थात् उत्कृष्ट वा प्रकाशमान होने से 'प्रांशु'[९८४],और छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों को जानने में चतुर होने से हेयादेयविचक्षण' [९८५] कहलाते है ॥११॥

अनन्तशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः ।
त्र्यंबकस्त्रिनेत्रस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षणः ॥१२॥

अर्थ—आप में अनन्त शक्तियां प्रगट होने से 'अनन्तशक्ति' [९८६], छिन्नभिन्न करने योग्य न होने से 'अछेद्य'[९८७]जन्म-जरा-मरण इन तीनों को नाश करने से 'त्रिपुरारि'(९८८).कहलाते हैं। भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों के पदार्थों के जानने और देखने से'त्रिलोचन'[९८९]'त्रिनेत्र'[९९०], 'त्र्यम्बक'[९९१],तथा ,त्र्यक्ष(९९२)कहे जाते हैं और केवलज्ञान ही आपके नेत्र होने से 'केवलज्ञानवीक्षण' [९९३] कहलाते हैं ॥१२॥

समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः ।
सूक्ष्मदर्शी जितानङ्गः कृपालुर्धर्मदेशकः ॥ १३ ॥

अर्थ—सर्वथा मंगल-स्वरूप होने से 'समन्तभद्र' (९९४) ; कर्म-रूप शत्रुओं को शान्त कर देने से 'शान्तारि' [९९५]; धर्म के आचार्य होने से 'धर्माचार्य' (९९६) ; जीवों पर अतिशय दया करने से 'दयानिधि' (९९७), सूक्ष्म पदार्थों को भी साक्षात् देखने से 'सूक्ष्मदर्शी'(९९८)कहलाते हैं। कामदेव को जीतने से 'जितानङ्ग' (९९९), दयावान् होने से 'कृपालु' (१०००) हैं, और धर्मदेशक' (१००१) कहे जाते हैं ॥१३॥

शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यराशिरनामयः ।
धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥११॥

अर्थ—मोक्ष-रूप शुभ को प्राप्त करने से 'शुभंयु' [१००२], सुख को अपने आधीन करने से 'सुखसाद्भूत' (१००३) कहलाते है, पुण्य की राशि (समूह) होने से 'पुण्य-राशि' [१००४] कहे जाते हैं, रोग-रहित होने-से 'अनामय' (१००५)कहलाते हैं, धर्म की रक्षा करने से 'धर्मपाल, (१००६) जगत् का पालन करने से जगत्पाल' [१००७]हैं, और धर्म-रूप साम्राज्य के स्वामी होने से 'धर्मसाम्राज्यनायक' (१००८) कहलाते हैं ॥१४॥

इति श्री बृहदादिशतम् ॥१०॥ अर्घ्यम् ॥

धाम्नांपते तवामूनि नामान्यागमकोविदैः ।
समुच्चितान्यनुध्यायन्पुमान्पूतस्मृतिर्भवेत् ॥१॥

अर्थ—हे महातेजस्वी जिनेन्द्रदेव ! विद्वान् लोगों ने आपके ये एक हजार आठ नाम सञ्चय किये हैं। जो पुरुष इन नामों का ध्यान करता है, उसकी स्मरण-शक्ति बहुत ही पवित्र हो जाती है ॥१॥

गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः ।
स्तोता तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोऽभीष्टफलं भजेत् ॥२॥

अर्थ—हे प्रभो ! यद्यपि ऊपर लिखे हुये एक हजार आठ नाम-रूपा वाणीके द्वार आप का वर्णन किया गया है। तथापि आप का यथार्थस्वरूप कोई वर्णन नहीं कर सकता। इसलिये वास्तव में आप वाणी के अगोचर

हैं। यद्यपि आप वाणी के अगोचर हैं, तथापि आप की स्तुति करनेवाला पुरुष निःसन्देह आप से इष्ट फल की प्राप्ति करता ही है ॥२॥

त्वमतोऽसि जगद्बन्धुः त्वमतोऽसि जगद्भिषक् ।
त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥३॥

अर्थ—इसलिये हे प्रभो ! इस ससार के आप ही बन्धु है, आपही जगत्वंद्य हैं, आप ही जगत् की रक्षा करनेवाले हैं, और आप ही संसार का हित करनेवाले है ॥३॥

त्वमेकं जगतां ज्योतिस्त्वं द्विरूपोपयोगभाक् ।
त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यङ्गः स्वोत्थानन्तचतुष्टयः ॥४॥

अर्थ—जगत् को मुख्य रीति से प्रकाशक होने से आप एक ही है, दर्शन तथा ज्ञान इन दोनों उपयोगों को धारण करने से दो है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों स्वरूप मोक्ष का कारण होने से तीन हैं, अपने आत्मा से उत्तम अनन्त चतुष्टयों के धारण करने से चार-रूप हैं ॥ ४ ॥

त्वं पञ्चब्रह्मतत्त्वात्मा पञ्चकल्याणनायकः ।
षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसंग्रहः ॥५॥

अर्थ—पंच-परमेष्ठी-स्वरूप होने से अथवा गर्भावतार आदि पांचों कल्याणों के स्वामी होनेसे पाच-रूप है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल इन छहो तत्वों का यथार्थ-स्वरूप जानने से छः-रूप है, और सातों नयों के समूह-रूप होने से सात-रूप भी कहे जाते हैं ॥५॥

दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः ।
दशावतारनिर्धार्यो मां पाहि परमेश्वर ॥६॥

अर्थ—सम्यक्त्व आदि आठ गुणस्वरूप होने से आठ है, नौ केवल लब्धियों को धारण करने से नौ है और महाबल आदि दश अवतार[पर्याय धारण करने से दशस्वरूप है, अतएव हे परमेश्वर मेरी रक्षा कीजिये ॥६॥

युस्मन्नामावलीदृब्धविलसत्स्तोत्रमालया ।
भवन्तं वरिवस्यामः प्रसीदानुगृहाण नः ॥७॥

अर्थ—हे प्रभो ! हम लोक आपके एक हजार आठ नामों की बनी हुई सुंदर स्तोत्रों की माला से आपकी आराधना करते हैं, हे देव हमपर प्रसन्न होकर और कृपा कीजिये ॥७॥

इदं स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः ।
यः सम्पाठं पठत्येनं स स्यात्कल्याणभाजनम् ॥८॥

अर्थ—जो भगवान् का भक्त पुरुष इस स्तोत्र का स्मरण करता है, वह पवित्र हो जाता है; तथा जो इस स्तोत्र का पाठ पढ़ता है, उसे सब प्रकार के कल्याण प्राप्त होते है ॥८॥

ततः सदेदं पुण्यार्थी पुमान्पठति पुण्यधीः ।
पौरुहूतीं श्रियं प्राप्तुं परमामभिलाषुकः ॥९॥

अर्थ—इसलिये जो पुरुष इन्द्र की परम विभूति को प्राप्त करने की इच्छा रखते है अथवा जो पुण्य की इच्छा रखते है ऐसे सुबुद्धिमान पुरुष को इस स्तोत्र का सदा पाठ करना चाहिये ॥९॥

स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुम् ।
ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमाम् ॥१०॥

अर्थ—इस प्रकार इन्द्रने चार-अचररूप इस जगत के गुरु, देवाधिदेवकी स्तुति की, और फिर तीर्थविहार करने के लिये नीचे लिखी हुई प्रार्थना की।

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः ।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम् ॥११॥

अर्थ—पवित्र गुणो के प्रशंसापूर्वक कथन करने को स्तुति कहते है। प्रसन्न बुद्धिवाला भव्यजीव स्तुति करनेवाला होता हैं, जिमने समस्त पुरुपार्थ समाप्त कर लिये है ऐसे आप स्तुत्य है और मोक्ष सुख मिलना इस स्तुति का फल है ॥११॥

यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचित् ।
ध्येयो योगिजनस्य यश्च नितरां ध्याता स्वयं कस्यचित् ॥
यो नेतॄन् नयते नमस्कृतिमलं नन्तव्यपक्षेक्षणः ।
स श्रीमान् जगतां त्रयस्य च गुरुर्देवः पुरुः पावनः ॥१२॥

अर्थ—जो तीनों लोकों के प्राणियों के द्वारा स्तुति किया जाता है, परन्तु स्वतः किसी की स्तुति करनेवाला नही होता है, योगीजन जिसका ध्यान करते हैं परन्तु सकल अर्थ प्रत्यक्ष होने से जो स्वयं किसी का ध्यान नहीं करता है। नंतव्यपक्ष को देखनेवाला जो संसार के समस्त श्रेष्ठ पुरुषों को उत्कृष्ट नमस्कार को प्राप्त कराता है, जो अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मी से युक्त हैं, सब में प्रधान हैं और अत्यत पवित्र हैं वह देवाधिदेव श्री अरहत देव को ही तीन लोक का गुरु समझना चाहिये ॥१२॥

तं देवं त्रिदशाधिपार्चितपदं घातिक्षयानन्तरं-
प्रोत्थानन्तचतुष्टयं जिनमिमं भव्याब्जिनीनामिनम्।
मानस्तम्भविलोकनानतजगन्मान्यं त्रिलोकीपतिं
प्राप्ताचिन्त्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रवन्दामहे ॥१३॥

अर्थ—जिसके चरणों की पूजा इन्द्र करते है, चार घातिया कर्मो के नष्ट हो जाने के बाद जिनके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यस्वरूप चार अनन्त चतुष्टय उत्पन्न हुये है, जो भव्यरूपी कमलों को प्रफुल्लित करनेवाला है, जो मानस्तंभ के देखने के लिये नम्रीभूत हुये जगत के द्वारा पूज्य है, जिसको अचिंत्य समवसरण आदिरूप बाह्य विभूति प्राप्त हो चुकी है और जो सब प्रकार के पापों से रहित है ऐसे तीन लोक के अधीश्वर जिनदेव को हमलोग भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं ॥१३॥

(पुष्पांजलि क्षिपामि ।)

समाधि युक्त मरण का स्वरूप :—

जिन महापुरुषो ने अपने जीवन में विषय वासनाओं से मुख मोड़ा है, कषाय को मन्द करने का अभ्यास किया है, तथा उनका शुभ रूप परिणमन किया है—वे महात्मा महाव्रत का पूर्णतया पालन कर अन्त में कषायों पर विजय करते हैं। उसका दिव्य फल समाधि--मरण उनको ही मिलता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। यहां प्रसंगानुसार मरण के भेदों का वर्णन करते हैं। मरण के भगवती आराधना में सत्रह भेद बतलाए हैं :—

मरण के भेद

गाथा– मरणाणि सत्तदस देसिदाणितित्थं करेहिं जिणवयणे ।
तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि भ.श्र. ॥२५॥

अर्थ— तीर्थंकर देव ने परमागम में सत्रह प्रकार के मरण का उपदेश किया है :—

(१) श्रावीचि-मरण (२) तद्भव मरण (३) अवधि मरण (४) आद्यंत-मरण (५) बाल मरण (६) पंड़ित मरण (७) आसन्न मरण (८) बाल-पंडित मरण, (९) सशल्य मरण (१०) पलाय मरण (११) वशार्त्त मरण (१२) विप्राण मरण (१३) गृध्रपृष्ठ मरण (१४) भक्तप्रत्याख्यान मरण (१५) प्रयोपगमन मरण (१६) इंगिनी मरण (१७) केवली मरण

यहां इन सत्रह प्रकार के मरणों का संक्षेप से स्वरूप दिखाते हैं :-

(१) आवीचि मरण

जीव के प्रतिक्षण होने वाले मरण को 'आवीचि मरण' कहते हैं। आवीचि का अर्थ है तरग—लहर। जिस तरह लहर एक दूसरे के बाद आती है और (प्रतिसमय) उनकी परपूरा समाप्त नही होती, इसी तरह यह जीव भी प्रतिक्षण मरता रहता है। निषेक प्रतिसमय आयु कर्म का निषेक उदय में आकर झड़ता रहता है, कभी यह प्रक्रिया समाप्त नहीं होती। इस 'आवीचि मरण' का समूह ही महा मरण है। भव्य जीवों की अपेक्षा यह आवीचि मरण अनादि सान्त है। क्योंकि भव्य जीव को जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब यह मरण नष्ट हो जाता है। इसलिए इसको सान्त कहते है। मोक्ष के होने के पूर्व अनादि काल से भव्य जीव के प्रतिसमय यह मरण होता रहता है इसलिए इसको अनादि भी कहते है। अतः यह मरण भव्य की अपेक्षा से अनादि सान्त होता है। अभव्यों की अपेक्षा तो यह 'आवीचि मरण' अनादि अनन्त है। क्योंकि उनको यह मरण अनादि से है और सदा रहेगा; इसलिए अनादि अनन्त है। भव की अपेक्षा से या क्षेत्र की अपेक्षा से यह सादि कहा जाता है।

आवीचि मरण के भेद

'आवीचि-मरण' प्रकृति; स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है :-

(क) आवीचि-मरण प्रकृति :- एक आत्मा के एक ही भव में एक ही

आयुकर्म की प्रकृति का उदय आता है। इसलिए आयु की प्रकृति के क्षय होने से आत्मा का मरण होता है। इसको 'प्रकृति आवीचि मरण' करते हैं।

(ख) स्थिति-आवीचि मरण :— आत्मा के कषायरूप परिणामों से बन्ध को प्राप्त हुए आयु के पुद्गलों में स्निग्धता उत्पन्न होती है; इसलिए वे पुद्गल आत्मा के प्रदेशों के साथ संबद्ध हो जाते है। स्निग्धता के उपादान कारण तो पुद्गल कर्म ही हैं; किन्तु आत्मा के कषाय भाव से पुद्गल कर्म मे स्निग्धता प्रकट होती हैं; अतः कषाय भाव स्निग्धता के निमित्त करण होते है। जितने समय तक पुद्गल कर्म आत्मा के साथ संबद्ध रहते हैं उसको स्थिति कहते है। यह आयुनामक पुगद्ल की स्थिति एक से लेकर बढ़ती हुई देसोन तेतीस सागर के जितने समय होते हैं; उतने भेद वाली होती हैं। उस्कृप्ट स्थिति तेतीस सागर की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण वाली होती है। इन आयुकर्म की स्थितियों की तरंगों के समान क्रम रचना है। इनका क्रम से क्षय होने के कारण आत्मा के मरण को 'स्थिति-आवीचि मरण' कहते हैं।

[ग] अनुभव-आवीचि मरण :— कर्मपुद्गलों का जो रस [फल] अनुभव गोचर होता है; उसको अनुभव कहते हैं। यह अनुभव पुद्गल कर्मो मे षड्गुणी हानि वृद्धि रूप समुद्र की तरगों के क्रम से स्थिति रहता है; उसके क्षय होने को 'अनुभव आवीचि मरण' कहते हैं।

[घ] प्रदेश आवीचिमरण :— आयुकर्म के पुद्गल प्रदेश जघन्य निषेक से लेकर एक, दो, तीन आदि वृद्धि क्रमेण तरंग के समान स्थित है; उनके विनाश होने को 'प्रदेश आवीचि मरण' कहते है।

[२] तद्भव मरण :— भज्यमान आयु का अन्ति समय में नाश होने को तद्भव मरण' कहते है। अर्थात् वत्तमान पर्याय का नाश होकर उत्तर पर्याय की प्राप्ति को 'तद्भव मरण' वहते है। यह मरण इस जोव ने अनन्त वार किया है, और जव तक रत्नत्रय की आराधना कर सिद्ध अवस्था प्राप्त न कर लेगा तब तक यह मरण होता रहेगा।

[३] अवधि मरण :— का वर्त्तमान पर्याय के समान ही भविष्य पर्याय में भी मरण का होना 'अवधि मरण' है। इसके दो भेद हैं :—

[क] सर्वावधि मरण :— जैसा आयुकर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों से वर्त्तमान काल में उदय आ रहा है वैसा ही प्रकृति, स्थिति,

अनुभाग और प्रदेश वाला आयुकर्म फिर बन्ध को प्राप्त होकर उदय में आवे, उसको 'सर्वावधि' मरण कहते हैं।

[ख] **देशावधि मरण :—** जैसा आयुकर्म वर्त्तमान काल में उदय को प्राप्त हो रहा है, उसको कुछ सदृशता को लिए हुए आयु कर्म फिर बन्ध को प्राप्त होकर उदय में आवे उसको 'देशावधि मरण' कहते हैं।

इसका आशय यह है कि वर्त्तमान आयु का कुछ अंश अथवा सर्वांश में सादृश्य जिसमें पाया जाता है, उस अवधि से (मर्यादा) युक्त को अवधि मरण कहते है। वर्त्तमान आयु का सम्पूर्ण सादृश्य जिस भावी आयु में पाया जाता-है उस मर्यादित मरण को 'सर्वावधि मरण' और जिस भावी आयु में वर्त्तमान आयु का एक अंश सादृश्य रहता हो उस मर्यादित मरण को 'देशावधि मरण कहते है। [४] **आद्यंत मरण**

वर्त्तमान काल के मरण का सादृश्य जिस भावी मरण में नहीं पाया जाता है उसको 'आद्यत मरण' कहते है। यहां पर आदि शब्द से प्रथम मरण लेना चाहिए। उसका अन्त (नाश-अभाव] जिस मरण में पाया जाता है अर्थात् जो सर्वथा विसदृश मरण होता है उसको 'आद्यंत मरण' कहते हैं। (५) **बाल मरण** :—

बाल नाम अज्ञानी जीव का है। अज्ञानी जीव का जो मरण होता है उसे 'बाल मरण' कहते है। अज्ञानी बाल जीव पांच प्रकार के होते हैं:- १. अव्यक्त बाल, २. व्यवहार बाल, ३. ज्ञान बाल ४. दर्शन बाल और ५ चारित्र बाल।

[१] **अव्यक्त बाल :—** यहां अव्यक्त शब्द का अर्थ छोटा बच्चा है। जो धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ संबधी कार्यों को न समझता है और न उनका आचरण करने की शारीरिक शक्ति रखता है, उसको 'अव्यक्त बाल' कहते हैं।

[२] **व्यवहार बाल :—** जिसको लौकिक व्यवहार तथा शास्त्रीय ज्ञान नही है अथवा जो बालक है, उसको 'व्यवहार बाल' कहते हैं।

[३] **दर्शन बाल :—** जो तत्वार्थ के श्रद्धान से रहित मिथ्यादृष्टि है उसे 'दर्शन बाल' कहते हैं।

[४] **ज्ञान बाल :—** जिसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं है उसे 'ज्ञान बाल' कहते हैं।

[५] **चारित्र बाल:**--जो चारित्र के आचरण से रहित है उसे 'चारित्र

वाल' कहते हैं। इन पांच प्रकार के मरण को 'बाल मरण' कहते है। ऐसा बाल मरण इस जीव ने भूतकाल में अनन्तबार किया है और अनन्त जीव इस मरण को करते रहते है। यहां प्रकरण में दर्शन बाल का ही ग्रहण है। अन्य बालों का यहां ग्रहण करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित अन्य चार प्रकार के बाल दर्शन पडित कहे जाते है। अत: उनका मरण सम्यग्दर्शन सहित होने से उस मरण को पडित मरण माना है। अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित मरण सद्गति के कारण होता है। और सम्यग्दर्शन रहित मरण दुर्गति के दु:खों का जनक होता है।

'दर्शन बाल-मरण' के संक्षेप से दो भेद है। —

(१) इच्छाप्रवृत्त मरण और (२) अनिच्छाप्रवृत्त मरण।

[१] जो प्राणी अग्नि में जलकर, धूए से श्वास का निरोधकर, विषभक्षण कर, जल में डूब कर, पर्वत से गिरकर, गले में फांसी लगाकर अथवा शस्त्राघात से, अत्यन्त शीत व उष्ण के पडने से, भूख से, प्यास से, जिह्वा के छेदन-उत्पाटन (उखाडने) से, प्रकृति विरुद्ध आहार करने से, इत्यादि कारणों से इच्छा पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते है उस मरण को 'इच्छा प्रवृत्त बाल मरण कहते है।

(२) जीने की इच्छा रखते हुए मिथ्यादृष्टि का जो काल में या अकाल मे मरण होता है उसको 'अनिच्छा प्रवृत्त बाल मरण' कहते है। जो दुर्गति में गमन करने वाले है, इसलिये जो विषयों में आसक्त रहते है, जिनका अन्त:करण अज्ञान अन्धकार से आच्छन्न है, जो ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त है, उनके उक्त बाल मरण होता है। इस मरण से जीव तीव्र पाप का उपार्जन कर दुर्गति में दु:खों का अनुभव करते है और जन्म, जरा, मरण के क्लेशों को बहुत काल तक सहते है।

(६) पंडित मरण

पंडित मरण के चार भेद है :— (१) व्यवहार पंडित, (२) सम्यक्त्व पंडित, (३) ज्ञान पंडित और (४) चारित्र पंडित।

[१] जो केवल लोक व्यवहार, वेद ज्ञान तथा शास्त्र ज्ञान में निष्णात होता है, उसको व्यवहार पंडित कहते हैं। अथवा-- जो अनेक लौकिक शास्त्रों में निपुण हो तथा शुश्रूषा, श्रवण, मनन, धारणादि बुद्धि के गुणों में दक्ष हो उसे 'व्यवहार पंडित' कहते है।

[२] जिसको क्षायिक, क्षायोपशमिक या औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, उसको 'सम्यक्त्व पंडित' कहते हैं।

[३] मतिज्ञानादि पांच प्रकार के सम्यक्ज्ञानों में से यथा संभव किसी ज्ञान से युक्त जीव को 'ज्ञान पंडित' कहते है।

[४] सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन पाच चारित्रों में से किसी भी चारित्र में प्रवृत्ति करने वाले सयमी को 'चारित्र पडित' कहते है। इन चार प्रकार के पंडितों में से यहां ज्ञान, दर्शन और चारित्र पंडित का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि व्यवहार पंडित मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिए उसका मरण 'बाल मरण' माना गया है। केवल सम्यग्दृष्टि का मरण ही 'पडित मरण' कहा गया है।

नरक में भवनवासी देवों के स्थानों में तथा स्वर्गवासी और ज्योतिषी देवो के विमानों में, व्यन्तर देवों के निवास स्थानों में एवं द्वीप व समुद्रों में 'दर्शन पडित मरण होता है' तथा ज्ञान पडित मरण उपर्युक्त स्थानो में तथा मनुष्य लोक में होता है, किन्तु मन. पर्ययज्ञानी तथा केवलज्ञानी का 'ज्ञान पंडितमरण' मनुष्य लोक में ही होता है। 'चारित्र पंडित मरण' भी मनुष्य लोक में ही होता है।

(७) अवसन्न मरण

मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का पालन करने वाले संयमियों के सघ का परित्याग करने वाले सघ भ्रष्ट साधु को अवसन्न कहते है। उनका जो मरण है वह 'अवसन्न मरण' कहलाता है। यहा पर अवसन्न शब्द का ग्रहण करने से पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और ससक्त इन चार प्रकार के भ्रष्ट साधुओ का भी ग्रहण होता है।

गाथा- पासत्थो सच्छंदो, कुसील संसत्त होंति ओसण्णा।
जं सिद्धिपच्छिदादो, ओहीणा साहु सत्थादो ॥१॥ (भ० गाथा २५)

अर्थ—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, ससक्त और अवसन्न ये पांच प्रकार के भ्रष्ट (पतित) साधु हैं। ये रत्नत्रय से हीन है और साधुओं के सघ से बहिष्कृत होते है।

ये साधु धनादि ऐश्वर्य में प्रेम रखते हैं। रस [जिह्वा की लम्पटता] में आसक्त होते है। सदा सुखों की अभिलाषा रखते एव दु.ख से डरते हैं। लोभादि कषाय के वशीभूत होते हैं। उनके आहारादि की तीव्र सज्ञा होती

है। वे पाप जनक मन्त्रतन्त्रादि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। तेरह प्रकार की क्रियाओं के आचरण में प्रमादी होते हैं। गृहस्थ की वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। मूलगुणों मे हीन होते हैं। समिति और गुप्ति के पालन करने का उद्योग नहीं करते अर्थात् उनके समिति व गुप्ति नही होती है। वैराग्य भावना व संसार से भीरुता भी नही होती है। वे उत्तम क्षमादि दश धर्म में बुद्धि नहीं लगाते। उनका चारित्र सदोष होता है। इस प्रकार के साधु को अवसन्न कहते हैं। ऐसे साधु सहस्त्रों भवों मे भ्रमण करते रहते हैं। बारबार दुःखो को भोगते हैं। (८) **बाल पंडित मरण**

सम्यग्दर्शन के धारक सयतासंयत (अणुव्रतीश्रावक को बाल पंडित कहते है। उसके मरण को वाल पंडित मरण कहा है। क्योंकि श्रावक बाल और पडित इन दोनो धर्मों से युक्त होता है। बाल तो इसलिए कहा जाता है कि इसके केवल एक ही देश से हिसादि पापों का त्याग होता है, सम्पूर्ण रूप से हिंसादि का त्याग नही होता है। अतः चारित्र की अपेक्षा तो वाल है और पडित इसलिए है कि उसके सम्यग्दर्शन का सद्भाव है। अतः एव इसको बाल पडित कहते हैं। यह 'बालपंडित मरण' गर्भज पर्याप्त तिर्यञ्च व मनुष्यों के होता है। देव तथा नारकियों के नहीं होता, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन तो होता है; लेकिन देश संयम नही होता इसलिए उनके दर्शन पंडित मरण हो सकता है।

(९) **सशल्य मरण** -- शल्य दो प्रकार का है।—

(१)द्रव्य शल्य और(२)भावशल्यः- मिथ्यादर्शन, माया और निदान रूप भावो को भावशल्य कहते है और इन भावों की उत्पत्ति के कारण द्रव्यकर्म को द्रव्यशल्य कहते हैं। इस प्रकार शल्य के दो भेद होते हैं, अतः सशल्य मरण के भी दो भेद हैं। द्रव्य शल्य सहित मरण और भाव शल्य सहित मरण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय इस पांच स्थावर जीवों के मरण को तथा द्वीन्द्रियादि असंज्ञी पर्यन्त त्रस जीवों के मरण को द्रव्यशल्य सहित मरण करते है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के ही भावशल्य सहित मरण होता हैं। शंका:—क्या असंज्ञी पर्यन्त (संज्ञी को छोड़कर शेष) सब जीवों के भाव शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान) नहीं होता है ?

समाधान :— माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन सम्यक्त्व के अतिचार माने गये हैं। सम्यक्त्व संज्ञी के अतिरिक्त स्थावरादि असंजीपर्यन्त

जीवों के नहीं होता है। यह कथन व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा है। छल-कपट करके सन्मार्ग को छिपाना व असन्मार्ग को सन्मार्ग प्रकट करने के लिए दंभ करना 'मायाशल्य' है। मोक्ष मार्ग को दूषण लगाना या उसका विनाश करना, सन्मार्ग का निरूपण न कर उन्मार्ग (विपरीतमार्ग) की प्ररूपणा करना मोक्षमार्ग पर स्थित जीवों को सन्मार्ग से चिगाना-यह सब मिथ्यादर्शन शल्य है। आगामी काल में मुझे अमुक भोगादि सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार मन में चिन्तन करने को निदान शल्य कहते हैं। यह निदान तीन प्रकार का है :—

(१) प्रशस्त निदान :— पूर्ण सयम का पालन करने के लिए दूसरे जन्म मे पुरुष आदि होने की बाछा करना 'प्रशस्त निदान है।

(२) अप्रशस्त निदान :— मान कषाय के वशीभूत होकर आगामी भव में उत्तम कुल, सुन्दर रूपादि की आकांक्षा करना 'अप्रशस्त निदान' है।

(३) भोग निदान :— इस व्रत, सयम व शील के पालन करने से मुझे इस भव में अमुक भोग सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार की अभिलाषा करने को 'भोग निदान' कहते हैं।

असंयत सम्यग्दृष्टि के तथा संयतासंयत के निदान शल्य मरण होता है। पार्श्वस्थादि भ्रष्ट साधु चिरकाल विहार करके बिना आलोचना किये ही उसी अवस्था मे जो मरण करता है, उसके 'माया-शल्य-मरण, होता है। यह मरण सयमी, अणुव्रती श्रावक तथा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी होता है।

(१०) बलाय [पलाय] मरण

विनय, वैयावृत्य तथा देववन्दनादि नित्य नैमित्तिक क्रिया करने में आलस्य (प्रमाद) करने वाला, इनमे आदर भाव न रखने वाला, व्रतों के आचरण करने में प्रमादी, समिति और गुप्ति के पालन करने में अपनी शक्ति को छिपाने वाला, धर्म के स्वरूप का विचार करते समय निद्रा वश हो जाने वाला, ध्यान नमस्कारादि कार्यों से दूर भगने वाले अर्थात् उसमें उपयोग न देने वाले का जो मरण है, उसे 'बलाय (पलाय) मरण' कहते है। सम्यक्त्व पडित, ज्ञान पडित और चारित्र पडित के यह 'बलाय मरण भी सभव हो सकता है।

जो पहले सशल्य मरण और अवसन्न मरण कह आये हैं वे दोनों प्रकार के मरण करने वालो के नियम से 'बलाय मरण' है। तथा इनके अतिरिक्त जीवों का भी 'बलाय मरण' होता है। क्योकि जो जीव निःशल्य

(शल्यरहित) है और संवेगभाव से युक्त है, किन्तु संस्तर [शय्या] पर पड़े हुए अर्थात् मरणोन्मुख हुए उसके शुभ भावों का पलायन हो रहा है, उसके शुभ भाव नहीं ठहरते हैं। अतः सशल्य और अवसन्न मरण करने वालों से भिन्न जीवों के भी वलाय [पलाय] मरण होता है।

(११) वशार्त्त मरण (आर्त्तवश मरण)

आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान में प्रवृत्त हुए जीव के वशार्त्तमरण होता है। इसके चार भेद होते है—१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण २ वेदनावशार्त्त-मरण, ३ कषाय-वशार्त्त-मरण, ४ नोकषायवशार्त्त-मरण।

१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण—स्पर्श रस गन्धादि पाच इन्द्रिय विषयो के भेद से इस मरण के भी पांच भेद हो जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय-वशार्त्त-मरण, रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण आदि।

तत, वितत, घन और सुषिर [मृदंग, वीणादि] वाद्य जनित मनोज्ञ शब्दों में राग और अमनोज्ञ [अप्रिय] शब्दों में द्वेषयुक्त होकर मरण करने को 'श्रोत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण' कहते हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय ऐसे चार प्रकार के आहार में यदि वह इष्ट हो तो उसमें आसक्ति सहित और यदि वह अनिष्ट हो तो द्वेष सहित होकर मरण करने को 'रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण' कहते है। चन्दन पुष्पादि पदार्थों के लुभाव, गंध में प्रेम और अरुचिकर, असुहावने में द्वेष युक्त होकर मरण करने को 'घ्राणेन्द्रिय वशार्त्तमरण' कहते हैं। तथा सुन्दर रूप व आकार में राग भाव और असुन्दर रूप व आकार में द्वेष भाव युक्त होकर मरण करने को 'नेत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण' और स्पर्श वाले पदार्थों के सुन्दर सुहावने स्पर्श में प्रीति और असुहावने स्पर्श में अप्रीति करने को 'स्पर्शनेन्द्रिय वशार्त्तमरण' कहते हैं। इसी तरह मन के लिए भी समझना चाहिए। इन सबको इन्द्रियानिन्द्रिय वशार्त्तमरण के नाम से कहते हैं।

२ वेदनावशार्त्त मरण—इस मरण के दो भेद हैं—सातवेदना वशार्त्तमरण २ असातवेदना वशार्त्तमरण।

जो जीव शरीर और मन सम्बन्धी सुख में उपयोग सहित मरता है उसके 'सातवेदना वशार्त्तमरण' होता है। और जो शारीरिक तथा मानसिक दुःख में उपयोग रखते हुए मरता है उसके 'असातवेदना वशार्त्त-मरण' होता है। ३ कषायवशार्त्त मरण कषाय के चार भेद है, अतः कषाय

की अपेक्षा इस मरण के भी चार भेद होते हैं। अपने ऊपर, दूसरे पर अथवा स्वपर दोनों पर उत्पन्न हुए क्रोध से जो मरण करता है, उसे 'क्रोध-वशार्त्त मरण' कहते है। 'मान-वशार्त्त-मरण' के आठ भेद होते हैं, कुल, रूप, बल, शास्त्र,ज्ञान, प्रभुत्व, लाभ, प्रज्ञा और तपस्या से अपने को उत्कृष्ट समझते हुए प्राणी का अभिमानवश जो मरण होता है, उसको 'मान-वशार्त्त-मरण' कहते है। उक्त आठ मदों से युक्त मरण को पृथक् पृथक् कहते हैं। मै जगत् प्रसिद्ध विशाल व उच्च कुल में उत्पन्न हुआ हूं ऐसे मानते हुए प्राणी का जो मरण होता है, वह 'कुलमान-वशार्त्त-मरण' है। मेरे पांचों इन्द्रियां सुन्दर है तथा सम्पूर्ण शरीर के अवयव सुडौल व मनोज्ञ हैं, मै तेजस्वी हूँ, नवयुवक हूं, मेरा रूप सम्पूर्ण मनुष्य के मन को मोहने वाला है इस प्रकार के भाव रखते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे 'रूपमान-वशार्त्त मरण' कहते हैं। मैं वृक्ष पर्वतादि को उखाड़ फेंकने में समर्थ हूँ, मैं युद्ध शूर हूँ तथा मेरे पास मित्रों का बल है, इस प्रकार बल का अभिमान करते हुए जीव का जो मरण होता है उले 'बलमान-वशार्त्त-मरण' कहते हैं। मेरा परिवार बहुत है, मेरी आज्ञा को सब मानते हैं। इस प्रकार अपनी प्रभुता में उन्मत्त पुरुष का जो मरण होता है उसे प्रभुता-मान-वशार्त्त-मरण कहते है। मैं लौकिक शास्त्र, व्यवहार, वेद, सिद्धान्त शास्त्रादि का ज्ञाता हूँ। इस प्रकार शास्त्र ज्ञान के अभिमानी के मरण को 'शास्त्र-ज्ञानाभिमान-वशार्त्तमरण' कहते है। मेरी अति निर्मल व तीक्ष्ण बुद्धि सब शास्त्रों में प्रवेश करती है, मेरे तर्क ज्ञान के आगे दूसरे की बुद्धि तक नही चलती, इत्यादि प्रकार से अपनी बुद्धि के अभिमानी के मरण को 'प्रज्ञा-मान-वशार्त्त-मरण' कहते है। मै जिस व्यापार में हाथ डालता हूँ, सब में मुझे लाभ ही लाभ होता है, ऐसे लाभ सम्बन्धी मान का विचार करते हुए मनुष्य के मरण को 'लाभमान-वशार्त्त-मरण' कहते हैं। मै दुर्धर तपश्चरण करने वाला हूं, तपस्या में मेरे समान और कोई नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करते हुए जीव का जो मरण होता है, वह 'तपमान-वशार्त्त-मरण' कहलाता है। **माया के पांच भेद हैं :—** १. **निकृति :—** धन की तथा अन्य किसी विषय की अभिलाषा करने वाले मनुष्य द्वारा जाल फंसाने को 'निकृति माया' कहते हैं। २. **उपाधि :—** अपने असली भाव को छिपा-कर धर्म के बहाने से चोरी आदि दुष्कृत्य में प्रवृत्ति करने को 'उपाधि माया'

कहते हैं। ३. सातिप्रयोग :— धन के विषय में झूठा झगड़ा करना, किसी की धरोहर रखी हो उसको कम देना या सब का सब हजम कर जाना, किसी को झूठा दूषण या झूठी प्रशंसा के पुल बान्धना, यह 'सातिप्रयोग' माया है। ४. प्रणिधि :— कम मूल्य की सदृश वस्तु को बहु मूल्य वाली वस्तु में मिलाना, होनाधिक नाप व तोल के उपकरण रखना, असली में नकली चीज की मिलावट करना, अथवा असली कहकर नकली चीज देना यह 'प्रणिधि' माया है। ५. प्रतिकुंचन :— गुरु के सन्मुख आलोचना करते हुए दोषों को भले प्रकार प्रकट करना, उनको छिपाना, तह 'प्रतिकुंचन' माया है। लोभ वशार्त्त मरण :— पिच्छी, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणों में, भोजन पान में, क्षेत्र में, शरीर में, और निवास स्थान में इच्छा या मूर्च्छा रखने वाले का जो मरण होता है उसको 'लोभ वशार्त्त मरण' कहते है। (४) नोकषाय वशार्त्त मरण :— हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्री वेद, तथा नंपुसक वेद से आक्रान्त मनुष्य का जो मरण होता है उसे 'नोकषाय वशार्त्त मरण, कहते है। नोकषाय के वश, आर्त्तमरण करने वाला जीव मनुष्य और तिर्यन्च योनी में उत्पन्न होता है। असुर जाति के देवो में जन्म लेता है। मिथ्या दृष्टि के यही बाल मरण होता है। दर्शन पडित, अविरत सम्यग्दृष्टि तथा संयता-संयत भी 'वशार्त्त मरण' करते है। उनका यह मरण 'बाल पंडित मरण' या 'दर्शन पंडित मरण' समझना चाहिए। (१२) विप्राण [विप्पाणस] मरण 'विप्राग मरण' और 'गृध्र पृष्ठ मरण' इन दोनों मरणों को शास्त्रो में न तो अनुज्ञा (अनुमति) मिलती है और न निषेध ही मिलता है। जिस समय दुष्काल पडा हो, जिसको पार करना कठिन है, ऐसे भयानक जगल में पहुंच गये हो, पूर्वकाल के प्राणघातक शत्रु से भय उपस्थित हुआ हो, दुष्ट राजा से भय प्राप्त हुआ हो, या चोर का भय उपस्थित होगया हो अथवा सिहादि प्राण संहारक तिर्यञ्च कृत उपसर्ग उपस्थित होगया हो और इसके द्वारा उत्पन्न हुए क्लेशों को सहन का सामर्थ्य न हो अथवा ब्रह्मचर्य व्रत का नाश या अन्य चारित्र के घात के पुष्ट कारण प्राप्त हो गए हों, ऐसे समय में संसार से संविग्न पाप से भयभीत संयमी कर्म के तीव्र उदय को उपस्थित हुआ जानकर जब वह उससे बचने का उपाय नहीं देखता है, और उसे क्लेशादि को सहन न करने की क्षमता अपने में नहीं

पाता है पापमय कोई प्रतिक्रिया नहीं करना चाहता है, तथा आत्मा के घातक मरण से डरता है तब वह उपर्युक्त कारणों के उपस्थित होने पर क्या मेरा कुशल होगा ? ऐसा विचार करता है—यदि मैं उपसर्ग भय से त्रास को प्राप्त होकर संयम से भ्रष्ट हो जाऊंगा तथा उपसर्ग वेदना को सहन न कर सकने से सम्यग्दर्शन से भी पतित हो जाऊंगा तो मेरा आराधन किया हुआ रत्नत्रय हाथ से निकल जायेगा। जब उसको चारित्र व सम्यग्दर्शन के विनाश की सभावना का दृढ निश्चय हो जाता है तब वह मायाचार रहित हुआ दर्शन व चारित्र में विशुद्धि धारण कर धैर्य का अवलम्वन करता है, ज्ञान का आश्रय लेता है, निदान रहित हुआ अर्हन्त भगवान की साक्षी से अपने दोषो की आलोचना करके आत्म शुद्धि करता है, शुभ लेश्या से अपने श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है—उस मरण को 'विप्राण मरण' कहते है। (१३)गृध्रपृष्ठ मरण विप्राण मरण में लिखे हुए कारणों के उपस्थित होने पर शस्त्र-ग्रहण करके जो प्राणों का विसर्जन करता है, उसे 'गृध्र पृष्ठ मरण' कहते हैं। (१४) **भक्त प्रत्याख्यान मरण,** (१५)**इंगिनी मरण** और (१६) **प्रायोपगमन मरण,** ये तीनों उत्तम मरण हैं। ये महात्माओं के ही संभव हैं। (१७) **केवली मरण** ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादि भाव कर्म का विनाश पूर्वक जो सदा के लिए औदारिकादि शरीरो के संबध का त्याग कर अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति कर नित्यनिरंजन, अक्षय, अनन्त, शिव पद को प्राप्त करते है उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को 'केवली मरण' कहते है। इस प्रकार संक्षेप से सत्रह प्रकार के मरणो का विवेचन किया। उन सत्रह मरणों में भी पाच मरण विशेष उल्लेखनीय है अतः उन्हो का विशेष वर्णन आगे किया जा रहा है :—

गाथाः— पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं वालपंडियं चेव ।
वालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥२६॥ भ०आ०

अर्थः—[१] पडित पडित मरण, [२] पंडित मरण [३] बाल पंडित मरण, [४] बाल मरण और [५] बाल बाल मरण। ये पांच मरण हैं। १ **पंडित पंडित मरण**—जिनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में अतिशय सहित पाडित्य है अर्थात् जो केवलज्ञान के धारक है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि व यथाख्यात चारित्र और उत्कृष्ट तपश्चरण के आराधक है, उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को 'पंडित पडित मरण' कहते हैं।

(२) 'पंडित मरण :—जिनका ज्ञान चारित्रादि परम प्रकर्षता को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे प्रमत्तसंयतादि छठे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थानवर्त्ती साधुओं का जो मरण होता है, उसे 'पडित मरण' कहते हैं। (३) 'बाल पंडित' :— संयतासंयत [पंचम गुणस्थान वर्त्ती श्रावक] को बालपंडित कहते है। रत्नत्रय में परिणत होने वाली पंडा [बुद्धि] जिसको प्राप्त होगई है उसे यहाँ पंडित माना है। इसलिए श्रावक बालपडित कहा गया है। क्योकि इसमें एक देश रत्नत्रय का आराधन करने और महाव्रत रूप सर्वदेश रत्नत्रय का पालन न करने के कारण बालपना और पडितपना दोनों धर्म पाये जाते हैं, अतः यह बाल पडित उभय रूप है। इसका मरण 'बालपंडितमरण' माना गया है। (४) बालमरण:—असंयत सम्यग्दृष्टि 'बालमरण' करता है। क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी चारित्र नही पाया जाता है। (५) बालबालमरण:—मिथ्यादृष्टि को बालबाल कहते हैं। क्योकि इसके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-चारित्रादि कुछ भीनहीं होता है। इसलिए यह अतिशय बाल है। इसके मरण को बालबाल मरण कहते हैं। इन पांच प्रकार के मरणों में से आदि के तीन मरण सद्गति देने वाले हैं, अतः जिनेन्द्रदेव ने इनकी प्रशंसा की है। वही कहा है :—

गथा :— पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणितिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥१॥ भ० अ०

अर्थ:—पडितपंडितमरण, पडितमरण और बालपडितमरण इन तीनों की जिनेन्द्रदेव नित्य प्रशंसा करते हैं। पडितपडितमरण के स्वामी केवली भगवान् हैं। अब पंडित मरण किसके होता है ? ऐसी उत्पन्न हुई शंका का समाधान करते हैं —

गाथा:— पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥२६॥ (भग०अ०)

अर्थ-१ प्रायोपगमन मरण, २ इंगिनीमरण और ३भक्तप्रतिज्ञामरण ये तीन भेद पंडितमरण के है। ये तीनों आगमोक्त चारित्र का पालन करनेवाले मुनीश्वर के होते हैं। (१) प्रायोपगमन मरण-जो साधु रोगादि से पीडित होने पर भी अपना वैयावृत्य दूसरे से नहीं करवाता है, और न आप भी करता है, जीवन पर्यन्त आहारादि का त्याग करके एक स्थान में सूखे काठ

की तरह व मृतककाय समान स्थित रहता है, तथा मन-वचन-काय की क्रिया रहित हुआ परम विशुद्धि से पर्याय का त्याग करता है, उसके 'प्रायोपगमन मरण' होता है। यह मरण संसार का उच्छेद करने में समर्थ संस्थान और संहननवाले के होता है। इस मरण को प्रयोग्यगमन मरण तथा पादोपगमन मरणभी कहते है। (२) इगिनी मरण :— निज अभिप्राय को इंगित कहते हैं। जो अपने अभिप्राय के अनुकूल अपना वैयावृत्य नहीं करवाते हैं, रोगादि अवस्था में भी उठने, बैठने, शयन करने आदि क्रियाओं में दूसरे की सहायता नही लेते है, सम्पूर्ण आहारादि का त्याग कर एकाकी बन शरीर का त्याग करते है, उनके मरण को 'इगिनी मरण' कहते है।(३)भक्त-प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) मरण :— जो साधु अपनीशुश्रूषा आप भी करते है और दूसरों से भी करवाते है, आगमोक्त चारित्र का पालन करते हुऐ अनुक्रम से आहार का त्याग करते है, तथा कषाय को कृश करते है उनके भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है। बाल पंडित का वर्णन पहले करही चुके हैं। इस तरह प्रारंभ के तीन मरण ही श्रेष्ठ है।'बालमरण'चारित्रहीन सम्यग्दृष्टि के होता है। यद्यपि यह उक्त तीन मरणों की अपेक्षा हीन है; किन्तु इसके स्वामी के तत्त्वश्रद्धान होता है, इसलिए यह 'बालबाल मरण' की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु संयम का सर्वथा अभाव होने से इसे प्रशंसनीय नही कहा है। मिथ्यादृष्टि के मरण को बालवाल मरण कहा है यह मरण ससार के सब एकेन्द्रिय से लेकर मिथ्यादृष्टि समस्त पचेन्द्रियों का होता रहता है। इस जीव ने अनन्त बार यह मरण किया है। आचार्य शिव-कोटि कहते हैं .—

गाथा :— सुविहियमिमं पवयणं असद्दहन्तेणि मेण जीवेण।
बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥२४॥भग०आ०

अर्थ—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने वाले पूर्वापर विरोध रहित तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से अबाधित जिनेंद्रदेव कथित आगम का श्रद्धान न करके इस जीवने पहले अनन्त बार 'बालबालमरण' किये हैं। पर पंडितमरण का एकवार भी सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक बार भी पंडितमरण हो जाता तो अधिक से अधिक सात आठ भव धारण करने के पश्चात् यह आत्मा इस जन्ममरण के दुःख से सदा के लिए छूट जाता ! अतः ऐसा अवसर प्राप्त होने पर अपने आपको या दूसरों को यों समझाना

चाहिए कि हे आत्मन् ! बड़ी कठिनता से महान पुण्य कर्म उदय से यह अनुपम स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए परमागम की श्रद्धा में दृढ रहो और अपने चारित्र को निर्मल बनाओ। जिन अतिचारों का पूर्ण वर्णन कर आए हैं, उनमें से एक भी अतिचार अन्त समय में मत लगने दो। क्योंकि मनुष्य जन्म का पाना और अनुकूल साधनों का योग पाकर संयम का आराधन करना उत्तम कार्यों में शिरोमणि है। इस संयम के लिए उत्कृ-ष्ट सांसारिक सुख के स्वामी सर्वार्थसिद्धि के देव भी तरसते हैं। वह सयम-रत्न तुमने प्राप्त कर लिया है क्या इसे साधारण पुण्य वाले पुरुष प्राप्त कर सकते हैं ? सुन्दर शरीर, विपुल धन सम्पत्ति, देवदुर्लभ ऐश्वर्य, मनोनुकूल इष्टभोग-विलासिता तथा आहारादि सामग्री तो तुमने इस अपार संसार में न जाने कितनी वार उपलब्ध करली है, उससे क्या शान्ति मिली है ? मोह-वश यह आत्मा आहार भोगादि से मिथ्या सुख शान्ति मान लेता है। सुख शान्ति प्राप्त करने का मार्ग तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र है। इसलिए हे मुने ! मरण समय में इन सुख दाता सम्यक्त्वादि का त्याग मत करो। यदि तुमने इनका त्याग किया तो अनन्त काल पर्यन्त संसार में भ्रमण करना पडेगा अत.एव इस समय सम्यक्त्व की रक्षा करते हुए संयम का निरतिचार पालन कर आत्मा को इस ससार के रोमांचकारी दुःखों से मुक्त करने के लिए 'पडित मरण' मे शरीर का त्याग करो। 'पंडित मरण' का फल केवलज्ञान प्राप्त करना है। यदि ससार की अवधि अभी कुछ शेष रही तो 'पडित मरण' करने वाला संयमी कल्पवासी देवो में जन्म लेता है और वहां पर दिव्य स्वर्गीय सुख सामग्री का अनुभव कर निकट भविष्य में निर्वाण पद का अधिकारी होता है। इसलिए इस समय कषाय को कृश करना ही तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। ऊपर जो पाच प्रकार के मरण बताये हैं, उनमें से पडित पंडित मरण, बाल पडित मरण, बाल मरण और बाल मरण को छोड़ नर केवल पंडित मरण का यहाँ ग्रहण होता है, क्योंकि इस पंचम काल के साधुओ के 'पडित पंडित मरण' नही हो सकता है। केवली भगवान औदारिक शरीर का त्याग कर निर्वाण के लिए गमन करते हैं। उनके यह मरण माना गया है। और शेप तीन संयमहीन मनुष्यों के होते हैं। अतः वर्त्तमान संयमियो के एक पंडित मरण ही उपादेय माना गया है। इसलिए उसी का निरूपण यहां करना है .— पंडित मरण के तीन

भेद पहले बताए गए हैं। उनमें से केवल भक्त-प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) मरण का निरूपण करना है। क्योंकि प्रायः मुनि इसी का आश्रय लेते हैं। कहा है-

गाथा :- पुव्वं ता वण्णेसिं भत्तपइण्णं इसत्थमरणेसु।
उस्सण्ण सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ॥६६॥भ.अ.

अर्थ :— पंडित मरण के प्रायोपगमन, इगिनी व भक्त प्रत्याख्यान ये तीन भेद है। उनमें से भक्तप्रत्याख्यान मरण का वर्णन करते है, क्योकि साधुओ की बहुलता से यही मरण पाया जाता है। अतः इसी का वर्णन यहा किया जाता है।

गाथा:- दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ।
सविचार मणागढे मरण सपरक्कमस्स हवे ॥६७॥ भ.अ.

अर्थः— भक्तप्रत्याख्यान मरण के दो भेद है — (१) सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण:— जो साधु उत्साह बल से युक्त है, तथा मृत्युकाल सहसा (अचानक) उपस्थित नही हुआ है, जो विधि पूर्वक अन्य संघ में आने की इच्छा रखता है, उसके मरण को सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। (२) अविचार भक्तप्रत्याख्यान-मरण:— जो सामर्थ्य से हीन है, और जिसका मृत्यु समय अचानक उपस्थित हो गया है, उस पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचार भक्तप्रत्याख्यान-मरण कहते हैं। सविचार भक्त-प्रत्याख्यान मरण के ४० प्रकरणों के नाम व स्वरूप :— १. **अर्हः**— अमुक पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के योग्य और अमुक अयोग्य है। इस प्रकार पुरुष को योग्यता के वर्णन करने के अधिकार को अर्हाधिकार कहते हैं। २ **लिंगः**— शिक्षा, विनय, समाधि आदि क्रियाएं भक्तप्रत्याख्यान की सामग्री है, उसका साधन लिंग है। अमुक लिंग(चिन्ह)का धारण करने वाला भक्तप्रत्याख्यान कर सकता है और अमुक नहीं, इसका वर्णन करने वाला लिंगाधिकार है। ३. **शिक्षा** :— बिना ज्ञान के विनयादि का पालन नही होता है, इसलिए ज्ञानोपार्जन करना आवश्यक है। इसका विवेचन करने वाला शिक्षा अधिकार है। ४. **विनयः**—ज्ञानादि की वासना विनय से प्राप्त होती है, उसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है। ५. **समाधिः**— मन को एकाग्र करने को समाधि कहते है। अशुभोपयोग से हटाकर मन को शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग में लगाना समाधि

है। इसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है। ६. अनियत विहारः— पूर्व में नियत नही किए गए ऐसे अनेक नगर ग्रामादि में विहार का वर्णन करने वाला यह अधिकार है। ७. परिणामः— साधु के कर्तव्य कर्मों का वर्णन करने वाला यह अधिकार है। ८. उपधित्यागः— परिग्रह के त्याग का वर्णन करने वाला यह उपधित्याग अधिकार है। ६. श्रितिः— शुभ परिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि करना, इसका निरूपक श्रिति अधिकार है। १०. भावनाः— उत्तरोत्तर भावना को उत्कृष्ट लगाने का अभ्यास करने का विवेचक भावनाधिकार है। ११. सल्लेखनाः— शरीर और कषायों को कृश करना सल्लेखना है। १२. दिशाः— दिशा नाम एलाचार्य का है। संघ के नायक आचार्य ने यावज्जीव आचार्य पद का त्याग करके उस पद पर अपने समान गुण वाले जिस शिष्य को स्थापित किया है, उसे एलाचार्य कहते है। उसके स्वरूप व उपदेश का वर्णन करने वाले अधिकार को दिशा अधिकार कहते है। १३. क्षमणाः— परस्पर क्षमा—याचना का वर्णन करने वाला क्षमापणा अधिकार है। १४. अनुशिष्टिः— आचार्य संघ स्थित मुनियों के प्रति तथा आचार्य पद पर स्थापित अपने शिष्य के प्रति दिए हुए उपदेश का वर्णन करने वाला अनुशिष्टि अधिकार है। १५. परगणचर्याः— अपने संघ को छोड़ कर अन्य संघ में गमन का वर्णन करने वाला परगणचर्याधिकार है। १६. मार्गणाः— रत्नत्रय की शुद्धि तथा समाधिमरण करवाने में समर्थ आचार्य का अन्वेषण (तलाश) करने का वर्णन इस अधिकार में किया गया है। १७. सुस्थितः— परोपकार करने में तथा आत्म-प्रयोजन (आचार्य पद के योग्य कार्य) साधन करने में प्रवीण आचार्य का वर्णन इस अधिकार में किया गया है। १८. उप-सम्पदाः— आचार्य के पादमूल में गमन करने का वर्णन उपसम्पदा अधि-कार में है। १६. परीक्षाः— वैयावृत्य करने वाले मुनि की आहारादि संबंधी लालसा की तथा उसके उत्साह की परीक्षा करने का वर्णन इसमे किया गया है। २०. प्रतिलेखः— आराधना की निर्विघ्न साधना करने के लिए उसके अनुकूल राज्य, देश, नगर, ग्रामादि का तथा उनके अधिकारी आदि के शोधन का निरूपण करने वाला यह अधिकार है। २१. आपृ-च्छाः— यह साधु हमारे संघ में ग्रहण करने योग्य है या नहीं? इस प्रकार संघ से प्रश्न करने का वर्णन इसमें किया गया है। २२. प्रतीच्छनः—

प्रतिचारक मुनियों की सम्मति लेकर आराधना करने के लिए आए मुनि का ग्रहण करने का वर्णन इसमें होता है। २३. आलोचना:— गुरु के निकट अपने दोषों का निवेदन करने का वर्णन इसमें किया गया है। २४. गुणदोष:— आलोचना के गुण व दोषों का निरूपण करने वाले अधिकार को गुणदोषाधिकार कहते है। २५. शय्या:—आराधक के भोज्य वसतिका का निरूपण करने वाला यह शय्या नाम का अधिकार है। २६. संस्तर:— मुनि के योग्य संस्तर का वर्णन इसमे किया गया है। २७. निर्यापक :— आराधक के समाधिमरण में सहायता करने वाले आचार्यादि को निर्यापक कहते हैं। इसका वर्णन इसमें है। २८. प्रकाशन :— चरम (अन्तिम) आहार को दिखाना, इसका वर्णन इसमें है। २९. हानि:— क्रम मे आहार का त्याग करने का विधान करने वाला यह हानि अधिकार है। ३०. प्रत्याख्यान:— जलादि पेय पदार्थों के अतिरिक्त तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने का वर्णन करने वाला यह प्रत्याख्यान अधिकार है। ३१. क्षामण:— आचार्यादि निर्यापकों से आराधन की क्षमायाचना का वर्णन इसमें किया गया है। ३२. क्षमण:— अन्य सब साधु आदि के अपराधों को क्षमा करने का वर्णन करने वाला यह अधिकार है। ३३. अनुशिष्टि :— संस्तर में स्थित साधु के प्रति निर्यापकाचार्य को शिक्षा देने का निरूपण इस अधिकार में किया गया है। नं० १४ पर भी अनुशिष्टि नामक भेद ऊपर लिख आए है। भगवती आराधना में भी दोनों स्थानों पर यही नाम आया है। नं० १४ पर लिखा है:- अणुसिट्ठि—सूत्रानुसारेण शासनम्, और नं० ३३ पर है:—अणुसिट्ठी—अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य। ३४. सारणा— दुःख की वेदना से मोह को प्राप्त हुए अथवा अपने हुए साधु को सचेत करने का निरूपण सारणाधिकार में किया है। ३५. कवच:— जैसे सैंकडों बाणों का निवारण कवच (बख्तर) से होता है वैसे ही निर्यापकाचार्य के धर्मोपदेश से संस्तर स्थित साधु के प्राप्त दुःख का निवारण होता है, इसका विवेचन करने वाला यह कवचाधिकार है। ३६. समता:— जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, संयोग, वियोग, सुख, दुःखादि में राग द्वेष न करना समताधिकार में वर्णित है। ३७. ध्यान:— एकाग्रचित्त का निरोध करना ध्यान है। इसमें ध्यान का वर्णन है। ३८. लेश्या:— कषाय से मिश्रित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्याधिकार में

लेश्या का स्वरूप प्रतिपादन किया है। ३९. फल :— आराधना से सिद्ध होने वाले कार्य को फल कहते हैं। इसमें आराधना जनित प्रयोजन का वर्णन किया गया है। ४०. देहत्याग :— आराधक के शरीर का त्याग इसमें वर्णित है। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यान मरण में चालीस अधिकार हैं, उनके सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है। अब इनका विशेष वर्णन करते हैं:— अर्हाधिकार— कैसा साधु आराधना करने योग्य है, यह दिखलाते है.—

गाथा:— वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोगहाणिकरी।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया अस्स ॥७३॥
आणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स।
दुब्भिक्खेवा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥७४॥
चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स।
जंघाबलपरिहीणो जा ण समत्थो विहरिदुं वा ॥७५॥
अण्णम्मि चावि एदाहिसंमि आगाढकारणे जादे।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥७६॥

अर्थ— संयम का विनाश करने वाला दुःसाध्य रोग जिसके शरीर में उत्पन्न हो गया हो ऐसा साधु या गृहस्थ भक्तप्रत्याख्यान करने योग्य है। अर्थात् जिस संयमी या अणुव्रती श्रावक के शरीर में ऐसी व्याधि उत्पन्न हो जाये जिसको मिटाने के लिए उसे संयम का त्याग करना पड़े और जिस व्याधि की शांति दुष्कर प्रतीत हो, ऐसी व्याधि से पीडित संयमी या देश संयमी या अव्रतसम्यग्दृष्टि को भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माना है। जीवों के रूप, शरीरादि, बल, अवस्था आदि का नाश करने वाली वृद्धावस्था इतनी बढ जावे कि मुनि तप आदि क्रिया में असमर्थ हो जावे। तब वह भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माना गया है। क्योंकि वृद्धावस्था में शरीर बल घट जाता है तब साधक कायक्लेशादि तपश्चरण में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। क्योंकि जो उत्पन्न वृद्धावस्था से युक्त हो जाता है, उसका ध्यान स्थिर नहीं रहता है। अर्थात् उसका यथार्थ वस्तु-ज्ञान निश्चल नहीं होता है। इसलिए ध्यान योग का विनाश करने वाली वृद्धावस्था जिसको प्राप्त हो जाती है, वह भक्तप्रत्याख्यान मरण के योग्य माना गया है। जब देवकृत, मनुष्यकृत,

तिर्यंचकृत अथवा अचेतनकृत ऐसा भयानक उपद्रव उपस्थित हो जावे जिसको निवारण करना अशक्य हो और उस उपद्रव से उत्पन्न हुई पीड़ा का प्रतिकार असम्भव प्रतीत हो तब मुनि भक्तप्रत्याख्यान को अगीकार करते है। जब अनुकूल बन्धुगण स्नेहवश या अपने भरण पोषण के लोभ से प्रेरित हुए सयमी के संयम धन का विनाश करने में तत्पर हो अथवा जब देव, मनुष्य व तिर्यंच में से कोई उसके संयम को छुडाने के लिए उद्यत हों, तब वह सयमी भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कहा गया है। उल्कापात के समान समस्त देशवासियों को अनुभव होने वाले महा भयानक दुर्भिक्ष पड़ने पर साधक भक्त प्रत्याख्यान करते हैं। क्योंकि दुष्काल में निर्दोष आहार का मिलना असंभव हो जाता है। उसमें चरित्र का नाश होना संभव है। अतः अपने चारित्र की रक्षा के लिए साधक भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना करते हैं। जब मुनि मार्गभ्रष्ट होकर ऐसे महा भयानक बीहड़ वन में पहुंच जाते हैं जिसमें क्रूर हिंसक जन्तु भरे पड़े रहते है, तथा जिससे उद्धार पाने का कोई भी साधन नही देखते है, तब वे दिग्मूढ हुए अपने जीवन को विनाशोन्मुख पाते है, उस समय वे भक्त प्रत्याख्यान करने के योग्य होते है। जब साधक के नेत्र सूक्ष्म जन्तुओं का अवलोकन करने का बल खो देते है एवं कानों में शब्द ग्रहण करने का सामर्थ्य नही रहता है अथवा पांवों में विहार करने की शक्ति नष्ट हो जाती है तब वह भक्त प्रत्याख्यान करने के योग्य होते है। इसी प्रकार के अन्य प्रतिकार रहित स्थिति के उपस्थित होने पर मुनि अथवा गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माने जाते है। अर्थात् उनके संयम या देश सयम के रक्षण का उपाय जब कोई दिखाई नही देता है, सब प्रकार से हताश हो जाते है, तब अन्ततोगत्वा इस भक्त प्रत्याख्यान का आश्रय लेते है। भक्त प्रत्याख्यान के योग्य कौन हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान कर अब भक्त प्रत्याख्यान के लिए कौन अयोग्य है ? इस प्रश्न का समाधान करते है :—

गाथाः— उस्सरह जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णणदिचारं वा।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥७७॥

तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छितो होति हु सामण्णणिव्विण्णो॥७८॥ भ० आ०

अर्थ :— जिसके सुख पूर्वक (निर्बाध) चारित्र का पालन हो रहा है तथा व्रतादि में भी अतिचार लगने की कोई संभावना नही, वह भक्त प्रत्याख्यान के लिए अयोग्य माना गया है। समाधिमरण-सहायक निर्यापक आचार्य जब सुलभ हों और दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित न हो ऐसे समय में साधु को भक्त प्रत्याख्यान कर समाधिमरण नही करना चाहिए। इसका आशय यह है कि संयम के विरोधी ऊपर की गाथा में निर्दिष्ट दुर्भिक्षादि कारणों में से कोई भी कारण उपस्थित न हुआ हो तो साधु भक्त प्रत्याख्यान के अयोग्य माना गया है। जिसका चारित्र निर्विघ्न पल रहा है, तथा निर्यापकाचार्य जिसे सुलभ है, जिसको दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित नहीं है। यदि वह साधु मरण की अभिलाषा करता है तो समझना चाहिए कि वह संयम के प्रति उदासीन हो गया है, उसको चारित्र से अरुचि उत्पन्न हो गई है अन्यथा वह बिना आपत्ति जनक कारणों के प्राप्त हुए मरने के लिए क्यों प्रयत्न करता है ? यदि कोई साधु यह विचारे कि इस समय मुझे समाधिमरण करवाने वाले निर्यापक आचार्य सुलभ हैं और आगे दुर्भिक्षादि के भय की पूर्ण संभावना है, उस समय निर्यापकादि समाधिमरण के सहायक साधु मुझे न मिलेंगे, यदि मैं इस समय समाधिमरण न करूंगा तो मेरा संयम रत्न लुट जावेगा और भविष्य में पंडित समाधिमरण न कर सकूंगा-ऐसा जिसको भय हो वह मुनि भक्त प्रत्याख्यान के योग्य है, ऐसा समझना चाहिए। इस भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण को अव्रत सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती श्रावक व मुनि तीनों कर सकते हैं। भावार्थ :— हे आत्मन्! तुमने अनन्तवार जन्म मरण किए हैं। जो जन्म धारण करता है वह मृत्यु की ओर गमन करता है। जन्म और मरण का अविनाभाव संबंध है। तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे जन्म-मृत्यु के जाल से बच जाओ। वह प्रयत्न समाधि मरण है। आयु का क्षय होने पर समस्त प्राणियों का मरण निश्चित है। किन्तु सम्यग्ज्ञानी के मरण में और अज्ञानी के मरण में इतना ही अन्तर है कि सम्यग्ज्ञानी मरण करता हुआ मरण सन्तान का उच्छेद करता है और अज्ञानी मरण सन्तान की वृद्धि करता है। क्योंकि काय से मोह और कषाय की तीव्रता के कारण जन्म मरण रूप संसार की वृद्धि होती है और काय से निर्मोहिता धारण करने से और कषाय के अभाव से उक्त सन्तान का क्षय होता है। काय से ममत्व का अभाव तथा कषाय कृश करने का नाम ही

समाधि है। इस समाधि को प्राप्त करने के लिए भक्त प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। अब यहां पर यह दिखाते हैं कि भक्त प्रत्याख्यान (आहार त्याग) करने वाले के कौन सा लिग (भेष) होना चाहिए?

गाथा:– उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अपवादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं॥७६॥भ०अ०

अर्थ :— जिसके उत्कृष्ट लिग (दिगम्बर भेष) है, अर्थात् जिसने दिगम्बर मुनि दीक्षा धारण की है; उसके तो भक्त प्रत्याख्यान के समय भी दिगम्बर भेष रहता है; किन्तु जिसने क्षुल्लवादि गृहस्थ भेष धारण कर रखा है, वह भी अन्तिम समय में नग्न भेष धारण कर सकता है। **भावार्थ —** समाधिमरण के अवसर में भक्तप्रत्याख्यान कर समाधियुक्त मरण का इच्छुक जब सस्तर में स्थित होता है तब मुनि तो उस समय भी पूर्व की भांति नग्न लिग ही रखता है; परन्तु जिसने पूर्व में मुनि अवस्था नही धारण की है किन्तु गृहस्थ अवस्था को ही धारण किए हुए है—ऐसे क्षुल्लक, ऐलक व इसके नीचे की अवस्था के जो धारक है वे जब भक्त प्रत्याख्यान करते हैं तब नग्न भेष धारण कर लेते हैं। **प्रश्न :—** क्या प्रत्येक पुरुष भक्त प्रत्याख्यान के समय नग्न भेष धारण कर सकता है? **उत्तर :—** नही, प्रत्येक पुरुष नग्न भेष धारण करने के योग्य नही होता है। जिसमें नग्नता की योग्यता है वही पुरुष इस भेष को धारण कर सकता है। जो संसार से विरक्त हो गया है और अपने मनुष्य भव को संयम पालन करते हुए सफल बनाना चाहता है, वही परम विरक्त मन्द कषायी नग्नता के योग्य कहा गया है। **प्रश्न :—** जो संसार मे उदासीन है, जिसकी भावना वैराग्य पूर्ण है, जो ससार के दुःखो से उद्विग्न है–वह मन्द कषायी चाहे तो कोई भी दिगम्बर भेष को क्या धारण कर सकता है? **उत्तर :—** हां, जो उक्त गुणों से भूषित है वह पुरुष नग्न भेष धारण कर सकता है। परन्तु उसके पुरुष चिन्ह में निम्नोक्त दोष न हो तभी वह नग्न भेष का अधिकारी माना गया है। जिसके पुरुष चिन्ह का अग्रभाग धर्म रहित (उघाड़ा) न हो, पुरुष चिन्ह अतिदीर्घ (लम्बा) न हो। बार बार चैतन्य न होता हो ऊपर उठता न हो तथा अंडकोष बड़े न हो। वही दिगम्बर भेष को धारण कर सकता है। जिसमे इन दोषों में से एक भी दोष हो वह मुनि भेष धारण नही कर सकता है। फिर भी वह समाधि मरण के समय भक्त प्रत्याख्यान कर जब

संस्तर में स्थित होता है, तब नग्नता जरूर धारण कर सकता है। अन्य समय में नग्नता धारण करने का आगम में सर्वथा निषेध है। आगम से विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है :—

गाथा:— सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदोपहुदि॥३३॥(भग०)

अर्थ:—किसी मनुष्य ने अज्ञान से अथवा किसी के उपदेश से उल्टा श्रद्धान कर लिया हो और जब कोई आगम प्रमाण देकर उसे सम्यक् प्रकार वस्तु-स्वरूप दिखावे और उसकी अवहेलना कर सत्य-तत्व का श्रद्धान न करे, अपनी अवस्तु तत्व की श्रद्धा को न छोडे और पूर्व की भांति मिथ्या प्रवृत्ति ही करता रहे तो वह मनुष्य मिथ्या दृष्टि माना जाता है। इसलिए प्रत्येक को उक्त प्रमाण भूत आगम की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जो आगम के विपरीत अपनी मनःकल्पित प्ररूपणा करता है, आगम से अमान्य मुनि भेष को धारण करता है, उसके सम्पर्क मे भी रहना उचित नही है, मिथ्या दृष्टि के सम्पर्क मे रहने वाला, उसको प्रशंसा करने वाला, उसकी कुप्रवृत्ति में सहायता देने वाला भी मिथ्यादृष्टि होता है। प्रश्न :— भक्त प्रत्याख्यान के समय जब गृहस्थ भी दिगम्बर भेष धारण कर सकता है तो फिर आर्यिका के लिए क्या विधान है ? क्या वह सवस्त्र ही समाधिमरण करती है ? या वह भी सब परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण कर सकती है? उत्तर :— आर्यिका समस्त परिग्रह का त्याग कर एक ही साडी मात्र परिग्रह रखती है। उसमे उसको ममत्व नहीं होता, अतः उसके उपचार से महाव्रत माना गया है। क्योंकि आगम में उसके लिए साडी धारण करने की आज्ञा है। किन्तु जब उसका मृत्यु काल आ गया हो और वह भक्त प्रत्याख्यान करके संस्तर में स्थित हो तो योग्य स्थान में उस समय सब अनुकूलता होने पर वस्त्र का भी त्याग कर देती है। वह वसतिका के अन्दर ही रहती है और अपना समाधिमरण (पंडित मरण) करती है। अन्य क्षुल्लकादि श्राविकाएं भी मृत्यु समय योग्य स्थान के सब अनुकूल साधनों के होने पर घर के भीतर दिगम्बर भेष धारण कर सकती हैं। इनके लिए दोनों मार्ग हैं। जो श्राविका महान् ऐश्वर्य वाली तथा लज्जावती है और जिसके कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि हैं उसके लिए दिगम्बर भेष मे समाधिमरण करने का निषेध है। यथा :—

गाथाः– इत्थीवि य जं लिंगं दिठ्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए॥ ८३॥ (भग०)

अर्थ :— स्त्री के भी समाधिमरण के समय उत्सर्ग लिंग (मुनि समान भेष) तथा सवस्त्र लिंग दोनों ही आगम में वर्णन किए गए हैं। आर्यिका मृत्यु काल उपस्थित होने पर योग्य स्थान में वसतिका के अन्दर रह कर मुनिवत् दिगम्बर भेष धारण करती है और श्राविकाएं अपने परिग्रह को अल्प करती हुई अन्त समय में योग्य स्थान मिलने पर घर में ही नग्नता धारण कर सन्यास मरण कर सकती हैं। तथा अनुकूल स्थानादि न मिलने पर अन्य सब परिग्रह का त्याग कर वस्त्र मात्र धारण किए हुए उसमें ममत्व का त्याग कर भक्त प्रत्याख्यान पूर्वक 'पडितमरण' करती हैं। प्रश्न :— जिनागम में उत्सर्ग लिंग और अपवाद लिंग ये दो लिंग माने हैं। दिगम्बर मुद्रा धारण करना उत्सर्ग लिंग है तथा सवस्त्र आर्यिकादि के भेष को अपवाद लिंग कहते है। क्या भयानक विघ्न बाधा होने पर या दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने पर मुनि वस्त्र धारण कर सकते है? उत्तर :— मुनि के उत्सर्ग लिग ही माना गया है और यह दिगम्बर मुद्रा धारण करने पर ही हो सकता है जो अपवाद लिंग है, वह मुनि के लिए नहीं है। आर्यिका तथा क्षुल्लकादि श्रावक के भेष को अपवाद लिग कहा है। मुनित्व का अपवाद करने वाले लिंग को अपवाद लिंग कहते है। मुनि किसी भी परिस्थिति में वस्त्र धारण नही कर सकता है। जो वस्त्र धारण कर लेता है वह मुनि पद में नही माना गया है क्योकि साधु के २८ मूलगुण माने गए हैं। उसमें नग्नता मुख्य गुण है। इसके बिना अन्य सब महाव्रतादि गुण निरर्थक माने हैं। मुनि के उत्सर्ग लिग ही होता है और उसकी चार विशेषताएं हैं उनमें नग्नता को प्रथम स्थान दिया गया है। यथा :—

गाथाः– अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीदा य पडिलिहणं ।
एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८२॥ (भग०)

अर्थ :— मुनित्व का उद्योतक जो चिन्ह है, उसे उत्सर्ग लिंग कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं :— १. अचेलता (नग्नता), २. केशलोच, ३. शरीर के संस्कार का त्याग और ४. प्रतिलेखन। भावार्थ :— मुनित्व को प्रकट करने वाली जो उक्त बातें हैं जिनको कि देख कर व्यवहार में मुनि को

पहचाना जाता है, उनमें सबसे प्रधान नग्नता है । जिस व्यक्ति में नग्नता नहीं है और शेष तीन बातें विद्यमान हैं तो वह साधु नहीं माना गया है। इसलिए साधु पद के लिए नग्नता अत्यन्त आवश्यक है । इसके बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती और वह शिवमार्ग (रत्नत्रय) का पूर्ण रूप से आराधक नहीं समझा जाता । नग्नत्व मे महान् गुण निहित है । जिसके पास कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रह है और इसके अतिरिक्त जिसने सब परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी भी आत्म शुद्धि तब ही होती है जबकि वह मोह के कारणभूत कोपीन भी त्याग देता है ।यथा :—

गाथा:— अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य ।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदिउवहिं परिहरंतो॥ ८६ ॥(भग०)

अर्थ :— कोपीन आदि वस्त्र का धारण करने वाले ऐलक आदि अपनी शक्ति को न छिपा कर अन्य सब परिग्रह का त्याग कर देते हैं और वे सोचते है कि समस्त परिग्रह का त्याग करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके त्याग बिना पूर्ण आत्म शुद्धि नहीं होती है । परन्तु क्या करें? हमारी आत्मा में इतना बल उत्पन्न नहीं हुआ है कि सब परिग्रह का त्याग कर यथाजात रूप धारण करलें । इस प्रकार मन मे पश्चात्ताप करते हुए अपनी निंदा करते हैं और गुरुजनो के निकट अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। आत्मगर्हा व निन्दा करने वाले वे मुमुक्षु अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए क्रम से सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर आत्म शुद्धि कर लेते हैं । **प्रश्न :—** जो अव्रत सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती श्रावक आहार त्याग विधि से समाधि मरण करना चाहता है; क्या उसको नग्नावस्था धारण करना आवश्यक है ? **उत्तर:—** हां, जिसका मृत्यु समय निकट आ गया हो, अपनी आत्मा के उद्धार के लिए जो 'पंडित मरण' करना चाहता हो तो उसको संसार के सब पदार्थों का त्याग कर एवं विधि पूर्वक आहार त्याग कर अन्त समय में वस्त्र त्याग पूर्वक दिगम्बर मुद्रा धारण करना चाहिए किन्तु यदि वह अत्यन्त लज्जा शक्ति या परम वैभवशाली हो या जिसके कुटुम्ब परिवार में मिथ्यादृष्टियों का प्राबल्य हो तो उसे नग्नता धारण न करना चाहिए । उसको कम से कम वस्त्र धारण कर, उसमें भी ममत्व का त्याग कर शान्ति से धर्मध्यान पूर्वक देह का त्याग करना चाहिए । आचार्यों ने उस मरण को भी 'पंडितमरण' माना है। **मन को वश में करने की आवश्यकता-** जिन लिंग के धारक, समाधि मरण

के इच्छुक ने ज्ञानाभ्यास से विनय गुण उत्पन्न कर लिया है उसको अपना मन भी वश में करना चाहिए। क्योंकि जिसका मन चंचल है वह अपने प्रयोजन की सिद्धि नही कर सकता है। उसका चारित्र तप आदि का आराधन व्यर्थ होता है।

गाथा:– चालणिगयं व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू॥१३॥(भग०)

अर्थ :— जो सयमी शरीर से शास्त्रोक्त क्रियाओ को करता है, तथा वचन से आगमोक्त प्ररूपणा करता है तथापि यदि उसका चित्त काय और वचन द्वारा किये गये सम्यक् आचरण में स्थिर नही है एवं विषयों में भ्रमण करता रहता है उस साधु का साधुत्व (संयम) चालनी में गिराये गये पानी के समान निकल जाता है। अर्थात् उसके आत्मा में चारित्र चलनी के पानी के समान नही टिकता है। जब तक मन में चपलता है बाहर विषयों की तरफ भटकने को आदत नहीं छूटती है तब तक वह अन्धे बहरे व गूंगे के समान है। जैसे अन्धा बहरा व गूंगा वस्तु के सम्मुख रहते हुए भी उसको देखता सुनता नही है तथा वचन द्वारा कह नही सकता वैसे ही अन्य विषयों मे लगा हुआ मन सामने स्थित रूपादि का ज्ञान नही करता है। मन मदोन्मत्त लक्ष्मी के समान है उसको रोकने के लिए स्वाध्याय रूप शृंखला ही एक मुख्य उपाय है जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है उसी का चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है तथा वही उसे अपनी आत्मा में लगा सकता है। **शका** — मन को रोकने का उपाय करने पर भी वह अतिशीघ्र इधर उधर क्यों दौड़ जाया करता है? विषयों के हटाने का विचार करते है तो भी उन वस्तुओ में पुनः पुनः चला जाता है इसका क्या कारण है? **समाधान** :— जिन पदार्थों मे अधिक अनुराग होता है उसमें मन की प्रवृत्ति होती हैं जैसे जैसे वाह्य पदार्थों से अनुराग घटता है वैसे वैसे मन निवृत्त होकर आत्मा में स्थिर होने लगता हैं। मन को स्थिर करने के निमित्त हीं सब परिग्रह के त्यागी साधुओं को भी सावधान रहने का उपदेश दिया है और यहां तक कहा है कि उनको गृहस्थों के सम्पर्क से बचना चाहिए। इसीलिए निरन्तर विहार करने का भी उनको आदेश है। **निरन्तर विहार की उपयोगिता** :— निरन्तर विहार करने वाले मुनि के, तीर्थंकरों के गर्भ जन्म कल्याण के क्षेत्रों के अवलोकन करने से, उनकी तपस्या करने की

पवित्र भूमि के स्पर्श करने से केवल और मोक्ष कल्याण के परम पवित्र तीर्थों की यात्रा करने से सम्यग्दर्शन में विशुद्धि उत्पन्न होती है। अनियत विहारी मुनि उज्ज्वल चारित्र के आराधक होते हैं उनको देख कर दूसरे शिथिल चारित्र वाले साधु भी अपने चारित्र को निर्मल बनाते हैं। उनकी संसार भीरता व उत्कट तपस्या को देख कर अन्य मुनि भी संसार से उद्विग्न हो तपश्चरण में लीन हो जाते है। उत्तम लेश्या के धारक मुनियों के शान्त स्वभाव को देख कर इतर मुनि भी अपने परिणामों को निर्मल बनाते हैं। तात्पर्य यह है कि सतत विहार करने से साधुओं का परस्पर सहयोग होता है और उनमें जो कमी होती है उसे एक दूसरे को देख कर वे निकालने का प्रयत्न करते है। नियत स्थान पर निवास करने से मुनियों का परस्पर सम्मेलन नहीं हो सकता और वे एक दूसरे से कुछ भी लाभ नही उठा सकते हैं। तथा अनेक देश नगर ग्रामादि के धर्म प्रिय मानव धर्म मार्ग से वंचित रहते हैं। सतत विहार करने वाले मुनि नाना देशों के लोगों को धर्म का स्वरुप दिखा कर उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और धर्मात्माओं को धर्म मार्ग पर दृढ करते है। नाना देशों में विहार करने से मुनि क्षुधा, तृषा, चर्या, शीतोष्णादि परिषहो के सहन करने की शक्ति बढती है अनेक देशों का परिज्ञान होता है। वहाँ के धर्माचरणादि की परिस्थिति का ज्ञान होता है। भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यो के साथ धर्म चर्चा करने से तत्व ज्ञान में प्रौढता आती है और तत्व विवेचन करने का वाक् चातुर्य प्राप्त होता है। अनेक देशों की भाषाओं का ज्ञान होता है। यह याद रखने की बात है कि देशान्तर में भ्रमण करने मात्र से अनियत विहारी नहीं होता है किन्तु श्रावकों में ममत्व रहित होने से ही अनियत विहार की सफलता मानी गई है। जो साधु 'यह श्रावक मेरे भक्त है, मैं इनका स्वामी हूँ। इस प्रकार मोह भाव रखता है वह आगमानुकूल देशान्तर में पर्यटन करता हुआ भी अपनी आत्मा को भक्त प्रत्याख्यान समाधि मरण करने योग्य नहीं बना सकता है। समाधि मरण के लिए तत्परता आचार्य जब अपनी आयु को अल्पशेष रही जान लेते हैं तब अथवा ऊपर बताये हुए प्राण घातक व्याधि दुर्भिक्षादि कारण होने पर समाधि मरण के लिए तत्पर हुए समस्त संघ का त्याग करने के लिए उद्यत होते हैं उस समय वे विचार करते हैं कि :—

गाथाः— अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा।
णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो कादुं॥१५॥ भ०आ०

अर्थ — मैंने आगमोक्त विधि से चिरकाल तक दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप रूप पर्याय की रक्षा की। मैंने शिष्यों को अध्ययन भी कराया। अनेक शिष्यों को भगवती दीक्षा भी दी। अब शिष्य भी योग्य व समर्थ हो गये है अतः अब मुझे अपना हित करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य के परिणाम उत्पन्न होते है और यह श्रेष्ठ भी है क्योंकि :—

गाथाः— आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुठ्ठु कादव्वं॥१५४॥(भग.टीका.)

अर्थात्ः— जिसमें आत्मा का हित होता है वही कार्य करना चाहिए, यदि आत्म हित करते हुए परहित करने का सामर्थ्य हो तो परहित अवश्य करना योग्य है किन्तु जब परहित में लगे रहने पर आत्मा का अहित होता हो उस समय परहित की अपेक्षा करके आत्मा का हित करना ही उचित है। इस प्रकार भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य की आज्ञा है अतः सघ के नायक आचार्य अन्त समय अपने आत्मा मे परम निराकुलता उत्पन्न करने के लिए शिष्यो के शासन कार्य का परित्याग कर देते है। तथा सामान्य साधु भी प्राण घातक व्याधि, दुर्भिक्षादि के होने अथवा आयु के अन्तिम समय का निश्चय होने पर अपने आत्म हित में तत्पर होता है आगम में कहा है :—

गाथाः— एवं विचारयित्ता सदि माहप्पे य आउगे असदि।
अणिगूहिदबलविरियो कुणदि मदिं भत्तवोसरणे॥१६१॥(भग०)

अर्थः — अपन आत्म हित का विचार कर स्मरण शक्ति के रहते हुए आयु के अन्तिम समय में अपने बल व वीर्य को न छिपा कर साधु समाधि मरण करने का विचार करता है। वह सोचता है कि जब तक मेरी स्मरण शक्ति बनी हुई है शारीरिक शक्ति क्षीण नही हुई है वचन उच्चारण करने में भी कुछ त्रुटि नही उत्पन्न हुई है और आत्म हित का विचार करने का बल जब तक नष्ट नही हुआ है चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति भी जब तक नही घटी है तब तक ही मुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए। क्योंकि स्मृति भ्रष्ट हो जाने पर रत्नत्रय का आचरण कैसे हो सकेगा तथा शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर आतपनादि योगों का अनशनादि तप-

उत्सर्ग का और ईर्या समिति आदि चारित्र का पालन कैसे कर सकूंगा ? शक्ति के अभाव से चारित्र के पालन में अवांच उत्पन्न हो जाने पर मेरा रत्नत्रय रत्न टूट जावेगा। चक्षु व श्रोत्र के आश्रित संयम का पालन होता है जब यह उत्तर देवेंगे तब मेरे जीवन का स्तर संयम नष्ट हो जावेगा। अतः इन सब के अनुकूल रहते मुझे आत्म कल्याण के लिए भक्त प्रत्याख्यान समाधि मरण का आचरण कर लेना उचित है। वह यह भी सोचता है कि इस समय मेरे शुभोदय से समाधि मरण के सहायक निर्यापक आचार्य तथा निर्यापक साधु आदि भी सुलभ है। निर्यापकाचार्य ऋद्धि गारव, रस गारव और सात गारव रहित होना चाहिए सो मुझे इस समय सुप्राप्य है। ऋद्धि-प्रिय आचार्य असंयमी को भी निर्यापक पद पर स्थापित कर देते हैं। ये तीनों ही दोष निर्यापक में नहीं होना चाहिए। क्योंकि असंयमी निर्यापक साधु को समाधि मरण में क्या मदद दे सकता है ? जो स्वयं असंयम से नहीं डरता है वह असंयम के कारणों का और असयमाचार का परिहार कैसे कर सकता है ? और इसी तरह जो रस तथा सात गारव युक्त होता है, उससे क्लेशों का सहन कैसे हो सकता है ? जो अपने शरीरादि के कष्ट का सहन करने की शक्ति नही रखता वह आराधक के वैयावृत्य के क्लेश को कैसे सह सकता है ? किन्तु इस समय तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सुन्दर आचरण करने वाले निर्यापक का सयोग मिल रहा है। अतःएव मुझे विद्वानो से मान्य भक्त प्रत्याख्यान का आचरण करके शरीर का त्याग करना आवश्यक है। इस प्रकार के विचारों से मुनि के शान्ति पूर्वक शरीर त्याग करने की दृढता हो जाती है। यदि असाता वेदनीय कर्म के तीव्र उदय से उसके शरीर में तीव्र वेदना भी उपस्थित हो जाय तो उक्त प्रकार से परिणामों में दृढता आ जाने से उसको दुःख नहीं होता है, क्योंकि जीने की आशा उसके चित्त मे लेश मात्र भी नही है। वह तो शान्ति धारण कर मरण करने में उद्यमी हो रहा है। अतः उसके परिणामों में निर्मलता बनी रहती है। समाधि मरण करने मे तत्पर हुआ साधु पिच्छी और कमण्डलु के सिवाय सब का परित्याग कर देता है। ज्ञान की साधनभूत पुस्तक भी उस समय परिग्रह मानी गई है। वह उनका भी त्याग कर देता है। **समाधि मरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद :—** समाधि मरण में अग्रसर होने के लिए शुद्धियों की नितान्त आवश्यकता है। यथा :—

गाथा:— आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स ।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ॥१६६॥(भ०आ०)

अर्थ :— जिस साधु ने पडित मरण करने का दृढ निश्चय कर लिया है उसको नीचे लिखी पांच प्रकार की शुद्धियो को धारण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है जिनका सक्षिप्त स्वरूप निम्न है — **१. आलोचना शुद्धि** :— मायाचार रहित और असत्य भाषण रहित गुरु के निकट अपने अपराधों को प्रकट करना आलोचना शुद्धि कहलाती है । जो साधु अपने व्रताचरण में लगे हुए दोषो को निष्कपट भाव से प्रकट नही करता उसका आत्मा मलिन रहता है, उस मलिनता को दूर करने के लिए गुरु के समीप अपने दोषों को ज्यो का त्यो प्रकट कर देना चाहिए । दोषों को प्रकट कर देने पर आत्मा स्वच्छ हो जाता है । **२. शय्या सस्तर शुद्धि** :— शय्या (वसतिका) और सस्तर में उद्गम उत्पादनादि दोषों को नही लगाना तथा "यह शय्या व संस्तर मेरा है" ऐसा ममत्व न रखना शय्या सस्तर शुद्धि है । जो शय्या सस्तर में ममत्व रखता है, वह परिग्रही माना जाता है, उसमें ममत्व का त्याग करने से ही परिग्रह का अभाव होता है जो कि आत्मा को शुद्ध बनाने मे मुख्य कारण होता है । **३. उपकरण शुद्धि** :— पिच्छी कमण्डलु आदि भी उद्गमादि दोष रहित तथा "ममेदं" इस ममत्व सकल्प से रहित होना चाहिए । जो उपकरण उद्गम उत्पादनादि दोष से युक्त होते है, वे हिसादि पापो के जनक होते है तथा उनमे ममत्व रहने मे वे परिग्रह माने गए हैं, इसलिए निर्दोष उपकरण में भी मोह का त्याग करना आवश्यक है नही तो आत्मा मे विशुद्धि नही आती । **४. भक्तपान शुद्धि**:— अधः कर्म, उद्गम, उत्पादन, उद्दिष्टादि दोष सहित भोजन और पान का ग्रहण न करने से भोजन पान शुद्धि होती है । निर्दोप भोजन पान में भी मोह रहने से वह भी परिग्रह रूप हो जाते हैं, इसलिए निर्दोष और मोह रहित शास्त्र विधि के अनुकूल आहार जलादि का ग्रहण करने से भक्तपान शुद्धि होती है । **५. वैयावृत्य करण शुद्धि**:- संयमी की सेवा जिस रीति से की जाती है, उस पद्धति का ज्ञान वैयावृत्य शुद्धि मानी गई है । जिसको मुनि के योग्य वैयावृत्य का ज्ञान नही है उसके वैयावृत्य शुद्धि का अभावहै । पाँच प्रकार का विवेक:—

गाथा:— इन्दियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स ।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो॥१७३॥भ०आ०

अर्थ :— १. इन्द्रिय विवेक, २. कषाय विवेक, ३. उपधि विवेक, ४. भक्त पान विवेक और ५. देह विवेक, इस प्रकार विवेक के पांच भेद हैं। आचार्य पद का त्याग :— जब संघ का नायक आचार्य संल्लेखना करने के लिए उद्यत होता है तब अपना आचार्य पद त्याग देता है और आचार्य के पद का भार वहन करने में जो साधु सक्षम होता है, उसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ के मध्य विठला कर सब संघ को सूचित करता है कि इतने समय तक मैंने संघ की सेवा की है, अब में आत्म कल्याण करने के लिए संघ से अपना सम्बन्ध छोड़ता हूं और इस पद पर चारित्र-क्रम के ज्ञाता, उत्तम शील स्वभाव वाले, व्यवहार निपुण आगम के रहस्य के वेत्ता- इस साधु को स्थापित करता हूँ। आज से यह तुम्हारे आचार्य है। यह अपना व तुम्हारा उद्धार करने में तत्पर रहेंगे। अतः आप लोगों को इनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार कह कर संघ का भार उस आचार्य पर रख कर परम शुभ परिणामों से सबसे पृथक् हो जाते हैं और अपने आत्मा को निर्मल करने में दत्त चित्त हो जाते हैं। ये अपने आत्मा को शुभ भावनाओं से संस्कृत करने और कुभावनाओं का सर्वथा परिहार करते है। वे कुभावनाएं पांच प्रकार की होती है :—

गाथाः– कांदर्पी कैल्विपी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी तथा।
सांमोही पंचमी हेया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम्॥ (भ०आ०संस्कृत१८१)

अर्थ.— विद्वानों ने कादर्पी, कैल्विपी, आभियोग्या, आसुरी और सांमोही ये पांच भावनाए सदा त्याज्य मानी है। अर्थात् इनका आत्मा में एक क्षण भर के लिए भी रहना दृढ कर्म-बन्ध का कारण है। साधु को उक्त पांच कुभावनाओं का परित्याग कर पांच शुभ भावनाओं में प्रवृत्ति करना चाहिए। यथा :—

गाथाः– तवभावना य सुदसत्तभावणे गत्तभावणे चेव।
धिदिवल विभावणाविय असंकिलिठ्ठावि पंचविहा॥१६२॥ भ.आ.

अर्थः— १. तप भावना, २. श्रुत भावना, ३. सत्त्व भावना, ४. एकत्व भावना और धृतिबल भावना, ये पांच प्रकार की उत्कृष्ट भावनाएं आत्मा को सद्गति में ले जाने वाली है। भक्तप्रत्याख्यान का काल :— जब आयु बहुत बाकी हो तब इसका काल अधिक से अधिक बारह वर्ष बताया गया

हैं । अर्थात् आयु के अधिक होते हुए भी किसी ने पहले बतलाए गए समाधि मरण के कारणों में से किसी कारण के उपस्थित होने पर भक्त प्रत्याख्यान मरण के कारणों में से किसी कारण के उपस्थित होने पर भक्त प्रत्याख्यान प्रारम्भ कर दिया हो तो उसके भक्त प्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष तक हो सकता है, इससे अधिक् नहीं । **भक्त प्रत्याख्यान काल की यापन विधिः—** बारह वर्ष के काल में से प्रथम चार वर्ष संयमी अनेक प्रकार से तपश्चरण में बितावे । उन चार वर्षों में अपने परिणामों को उज्ज्वल रखते हुए नाना प्रकार के काय क्लेश तप का आचरण करे । चार वर्ष बीत जाने पर अगले चार वर्षों में सयमी दूध, दही, घृत, गुड़ आदि सम्पूर्ण रसों का त्याग कर रूखा सूखा व स्वल्प भोजन पान स्वीकार करता हुआ अपने शरीर को कृश करता रहे । इस प्रकार करने से उसका शरीर तो कृश होता है; किन्तु परिणामों में निर्मलता की वृद्धि होती है । इस तरह आठ वर्ष व्यतीत करता है । अन्तिम चार वर्षों में से पहले दो वर्षों को आचाम्ल (कांजी) भोजन, चटनी, शाकादि, स्वादिष्ट रस व्यंजनादि से रहित भोजन से व्यतीत करता है । उन दो वर्षों के अनन्तर एक वर्ष केवल आचाम्ल भोजन से बिताता है । अन्तिम एक वर्ष, प्रथम छह मास में मध्यम तपस्या का अनुष्ठान कर शरीर को कृश करता है । अन्तिम छह मास मे उत्कृष्टोत्कृष्ट कायक्लेश तपश्चर्या का आचरण कर शरीर को क्षीण करता है । इस तरह वह संयमी अपनी आयु के अन्तिम बारह वर्षों में सल्लेखना का आराधन करता है । इसके अतिरिक्त उक्त विधि से ही तपश्चरण करने का नियम नहीं है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता और प्रतिकूलता से तपस्या का अनुष्ठान तथा आहारादि का ग्रहण व त्याग करना चाहिए । शास्त्रों में कहा है:—

गाथाः— भत्तं खेत्तं कालं धादु च पडुच्च तह तवं कुज्जा ।
वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभण उवयति ।।२६०।। भग०आ०

अर्थ:—भोजन कई तरह का होना है । कोई भोजन ऐसा होता है, जिसमें शाक अधिक होती है । किसी में दूध, दही या घृतादि की मात्रा अधिक होती है । किसी में जो, चना, मूंग, मोठ, कुलथी आदि धान्य का भाग अधिक होता है । इसी तरह क्षेत्र भी अनेक प्रकार के होते हैं कोई अनूपदेश (अधिक जल या जलाशय वाला देश) होता है, कोई देश जंगल होता है (जिसमें वृष्टि कम होती है, और नदी आदि नहरों से कृषि होती है), कोई देश

साधारण होता है (जिसमें यह दोनों लक्षण पाये जाते हैं।) काल के शीत-काल, ग्रीष्मकाल और वर्षाकाल ये भेद होते हैं अपने शरीर की प्रकृति को धातु कहते हैं। किसी की शरीर प्रकृति वात प्रधान होती है किसी की कफ प्रधान और किसी की पित्तप्रधान होती है। अपनी प्रकृति को लक्ष्य में रख-कर वात, पित्त और कफ की समता रखते हुये योग्य भोजन का सेवन करना चाहिए। अनूपदेश में वात और कफ वर्धक आहार का सेवन करना ठीक नही। जांगल देश में, पित्त प्रकुपित करने वाले आहार का ग्रहण अहितकर है; इसी प्रकार शीत, ग्रीष्म व वर्षाकाल के योग्य भोजन का ग्रहण और और इनके अयोग्य भोजन का त्याग करना सयमी का कर्त्तव्य है। इस प्रकार द्रव्य (भोजन) क्षेत्र और काल के अनुकूल तपश्चरण और भोजन का ग्रहण करने वाला संयमी अपने भावों की उत्तरोत्तर विशुद्धि करता हुआ सल्लेखना की सिद्धि करने में कृत कार्य होता है। सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्यः— सल्लेखना करने मे उद्यत हुये आचार्य को गण की हितकामना का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। अपना आत्महित करने के लिए सल्लेखना का आराधन जैसा मुख्यकृत्य है वैसा ही आगे के लिये संघ का सुप्रवन्ध करना भी उनका मुख्य कर्तव्य होता है। धर्म तीर्थ का विच्छेद न हो, रत्न-त्रय की परिपाटी चलती रहे इसके लिये वह आचार्य अपनी आयु का विचार कर अपने शिष्य समूह को तथा अपने स्थान में जिन वालाचार्य को स्थापित किया था उन्हे बुलाकर सौम्यतिथी, करण, नक्षत्र और शुभ लग्न मुहूर्त देखकर शुभ प्रदेश में संघ का सर्वथा त्याग करते है। तथा अपने समान आचार्य गुण से भूषित, सम्पूर्ण संघ की रक्षा शिक्षादि कार्य संचालन करने में समर्थ वालाचार्य को अपना भार सौपते हैं। उस समय उनको परिमित शब्दों में छोटा सा उपदेश देते हैं। उसके वाद वह सम्पूर्ण संघ का आचार्य माना जाता है। उस समय वे पूर्वाचार्य उस वालाचार्य के सामने अपने समस्त संघ को भी सूचित करते हैं। हे मोक्षमार्ग के यात्रियो, तुम्हारा रत्न-त्रय निर्विघ्न चल रहा है उस पर सतत आगे वढते रहो अतः तुम्हारे मार्ग में विघ्न बाधाओ को दूर करने के लिए इस रत्नत्रय धर्म की परिपाटी निर्विघ्न चलती रहे। इसके निमित्त इस वालाचार्य को सार्थवाह सघपति-आचार्य नियत करता हूँ। आज से यह तुम्हारा आचार्य है इसकी आज्ञा के अनुकूल चलना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार समस्त संघ के समक्ष

बालाचार्य को आचार्य पद पर नियुक्त करते हैं और आप सम्पूर्ण संघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं। तदनन्तर सम्पूर्ण संघ और उस नवीन आचार्य तथा बालमुनि से लेकर वृद्धमुनि पर्यन्त सम्पूर्ण साधुओं से मन वचन कायद्वारा क्षमा मांगते हैं। मेरा तुम्हारे साथ दीर्घकाल तक सहवास हुआ है, मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुकूल प्रतिकूल हितकामना से जो शासन किया उसमें तुम्हारे चित्त को दुःखित किया हो तो उस अपराध को अब क्षमा करो। इस तरह पूर्वाचार्य के क्षमायाचना करने के पश्चात् सम्पूर्ण संघ के साधु व नवीन आचार्य, संसार के दुखों के रक्षण करने वाले, सब पर प्रेमामृत की वर्षा करने वाले, उत्तम क्षमादि दश धर्मों का तथा रत्नत्रय धर्म का स्वयं पालन करने वाले और समस्त संघ को पालन कराने वाले अपने पूर्वाचार्य की प्रथम वन्दनाकरते हैं पश्चात् पंचांगों द्वारा मन वचन और काय से नमस्कार करते है, और मन वचन काय से पूर्वाचार्य को क्षमा प्रदान करते हैं तथा आप भी अपने पूर्वकृत अपराधों की क्षमा याचना करते हैं। **शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है:**—जिस प्रकार स्त्री पुत्रादि परिग्रह हैं, वैसे ही सल्लेखना के आधार आचार्य के शिष्य समूह भी उनके लिए परिग्रह है। जब तक उनका त्याग नहीं किया जाता है, तब तक आत्मा पर उनकी रक्षा शिक्षादि के प्रबन्ध का बोझा बना रहता है। अतः सब जीवादि तत्वो के रहस्य के वेत्ता तथा प्रायश्चित्तादि शास्त्रों के अनुभवी आचार्य अपनी आत्मा के कल्याण करने में तत्पर हुए पूर्वाचार्य, उस भार को उतार कर अपनी आत्मा को तत्संबंधी राग द्वेष से मुक्त कर परम आनन्द का अनुभव करते हैं। और योग्य प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने में प्रवृत्त होते है। कारण कि आचार्य को सघ के शिष्यों के हित के लिए अनेक प्रकार से शासन करना पडता है। उनको कटु कठोर किन्तु परिणाम में हितकारी वचन भी कहने पड़ते हैं। इत्यादि वातो से आचार्य को जो दोष उत्पन्न होता है, उसकी निवृत्ति करने के लिए वे उचित प्रायश्चित्त का भी आचरण करते हैं। **संघ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेशः**— हे कल्याण के इच्छुक मुनीश्वरों, तुमने शांति सुख की प्राप्ति के लिए धन, धान्य, पुत्र, कलत्रादि का परित्याग कर जिनेन्द्र सदृश जगत्पूज्य मुनिपद धारण किया है। इसकी शोभा रत्नत्रय रूप भूषण से है। अतः इसकी उत्तरोत्तर निर्मल प्राप्ति करना तुम्हारा मुख्य कर्त्तव्य है। दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्रा-

राधना को उन्नत बनाने वाली प्रवृत्ति करने में तुम्हारा सच्चा हित है। हे संघ नायक ! महानदी जहां से निकलती है, वहां पर तो अल्पविस्तार वाली होती है, किन्तु आगे बढ़ते ही विस्तृत होती हुई महान् रूप धारण कर समुद्र में मिलती है। वैसे ही तुम भी प्रारम्भ में गुण व शील को अल्प प्रमाण में धारण कर उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि करते हुए गुण और शीलों को विशाल रूप देने का पूर्ण प्रयत्न करो– इसमें तुम्हारा कल्याण है। तुम मार्जार के शब्द के समान चारित्र तप को मत आचरण करो। जैसे मार्जार (बिल्ली) का शब्द प्रारम्भ में महान् और पश्चात् मंद होता जाता है, वैसे ही प्रारंभ में अति दुर्धर चारित्र और तप की भावना (अनुष्ठान) में प्रवृत्त होकर पश्चात् उसमें क्रमशः मन्दता (क्षीणपना) धारण करना तुम्हें उचित नहीं हैं। यदि तुमने ऐसा किया तो तुम अपना संघ का विनाश करोगे। क्योंकि जो आलसी अग्नि से जलते हुए अपने घर को भी नहीं बुझा सकता, वह दूसरे के घर की रक्षा करने में कैसे समर्थ हो सकता है? तुमको चारित्र और तप से गिरते हुए देखकर दूसरे उत्कृष्ट तपस्वी और दृढ़ सयमी भी शिथिल होने लगेंगे। अतः हे गणाधिप ! द्रव्य क्षेत्र कालादि को ध्यान में रखते हुए तुम क्रमशः चारित्र और तपश्चरण को वृद्धि की ओर ले जाओ। हे संघ की उन्नति के इच्छुक ! तुम ज्ञान दर्शन और चारित्र में अतिचार मत आने दो। आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय :— हे गणधर! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे जो अपने को और गण-सघ को स्थापित करे, रत्नत्रय को आप धारण करे और गण को धारण करावे वह 'गणधर' कहलाता है। जो इसके अनुकूल प्रवृत्ति न करे वह गणधर पद के योग्य नहीं माना गया है। अतः तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो। बहुत मुनिगण मेरे अधीन है, इसलिए मै गणधर (आचार्य) हूँ। ऐसा अभिमान तुम्हारे हृदय में कभी नहीं आना चाहिए। किन्तु तुम्हें यह विचार निरन्तर करते रहना चाहिए कि मुझे संघ की सेवा का सौभाग्य मिला है, अतः मै इस सेवा के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करूं।' कर्त्तव्य पालन में तुम्हारा थोड़ा सा प्रमाद अनेक पवित्रात्माओं की महती हानि का कारण होगा, इसलिए तुमको प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए। जो साधु आहार, पिच्छी, कमण्डलु और वसतिका का शोधन न कर ग्रहण करता है, वह मूलस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् वह मुनिपद से पतित हो जाता है, उसको पुनः

मुनि दीक्षा लेनी पड़ती है। लेकिन जो साधु उद्गम, उत्पादन, एषणादि दोषों से रहित आहार, पिच्छी, कमंडलु, वसतिका को चारित्र की रक्षा के लिये स्वीकार करता है, वह उत्तम चारित्र का धारक माना जाता है। ज्ञानाचारादि पञ्चाचार में स्थिर रहने वाले तथा उनका निरतिचार स्वयं पालन करने वाले और अन्य मुनियों को पालन कराने वाले आचार्यों की जिनागम में उक्त मर्यादा वर्णन की गई है। परन्तु जो लोकानुवर्ती तथा सुखेच्छु हैं, उनका आचरण आगम मर्यादा का उल्लघन करने वाला होता है। आगम में असंयमी जनो के साथ सम्पर्क रखने, मिष्ट तथा रसीले भोजन करने, कोमल शय्या में शयनासन करने, सब ऋतुओं में रमणीक स्थानों में निवास करने आदि में आसक्त रहने वाले साधुओ की यथेच्छप्रवृत्ति का निषेध किया है। उनमे रत रहने वाले मुनि आचार्य पद के सर्वथा अयोग्य है। वे अपने मुनिपद को दूषित करते है। हे आचार्य! जो साधु आगम निषिद्ध उद्गमादि दोषों से दूषित आहार वसतिकादि का उपयोग करता है, उसके इंद्रिय संयम व प्राण संयम नष्ट हो जाता है। वह दुर्बुद्धि साधु मूल स्थान को प्राप्त होता है। वह केवल नग्न द्रव्य लिंगी है। वह वास्तविक नही मुनि है। तो फिर वह आचार्य कैसे हो सकता है? जो साधु कुल, ग्राम, नगर और राज्य से अपना संबंध त्याग चुका है और फिर भी इनसे ममत्व रखता है यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम, नगर और राज्य है इस प्रकार का संकल्प करता है वह संयम से शून्य नग्न पुरुष मात्र है। क्योंकि जिस पदार्थ में जो ममत्व रखता है, वह उसके संयोग से हर्षित तथा वियोग से दुःखित होता है, अतः जो रागद्वेष और लोभ में तत्पर रहता है वह असंयमी होता है। ऐसा ध्रुव सत्य मानना चाहिए। हे मुनिनायक! किसी साधु के अपराधों को किसी दूसरे पर प्रकट मत करना। उसने अपने संयम जीवन की बागडोर तुम्हें सौंप रखी है, अत वह तुम पर विश्वास रखकर अपने गुप्त दोषों को प्रकाशित कर देता है। तुम्हारा परम कर्त्तव्य है कि तुम उनको कभी प्रकाशित न करो। तुम सब कार्यों में सबके प्रति समदर्शी रहो तथा बाल मुनि से लेकर वृद्ध मुनि तक समस्त संघस्थित मुनियों का अपने नेत्र के बाल के समान संरक्षण करो। हे संघाधिपते! जिस देश मे कोई राजा न हो, राज विप्लव हो रहा हो या दुष्ट राजा का शासन हो, वहा पर कदापि मत रहो। जहां पर धर्मपरायण श्रावक जन न हो या तुम्हारे संयम का विघात होता हो, उस देश में

विहार मत करो। इस प्रकार संक्षेप से तुम्हें शिक्षा दी गई है। अतःअपना तथा संघ का योग क्षेम साधन करते हुए, धार्मिक जनता को धर्म में स्थिर करना और धर्म के पात्र सरल चित्त मनुष्यों को धर्म पर लगाना अपना कर्त्तव्य समझो। आर्यप्रदेश में आगमोक्त विधि का पालन करते हुए इस प्रकार निरन्तर विहार करना ही मंगलकारी है। हे मुनियों! तुमने मुनि पद को धारण किया है। उसके आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं का पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। क्योंकि ये आवश्यक क्रियाएं तप और संयम की आधार भूत होती हैं जब व मुनि सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहता है, उस समय उसके इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम दोनो संयमों का पालन होता है। तथा सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं से निवृत्त होने के कारण कर्मों का संवर और आत्मीय कार्यों में लवलीन रहने से कर्मों की निवृत्ति होती हैं, इसलिए तप की भी सिद्धि होती है। क्योंकि जो कर्मों को तपता है, नष्ट करता है, उसे तप कहते है। ऐसे तप का स्वरूप आवश्यक क्रियाओं में पाया जाता है। 'तपसा निर्जराच' तपस्या से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। यह तप का कार्य आवश्यक क्रियाओं के सद्भाव में पाया जाता है, अतः आवश्यक क्रियाओं के पालन करने में कभी प्रमाद मत करो। देखो! यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, किन्तु विनाश के उन्मुख है और निस्सार है। तुमने मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए अति दुर्लभ जिन दीक्षा ग्रहण की है, यह बड़े पुण्य के उदय से सुन्दर अनुपम अवसर मिला है। जिन दीक्षा धारण करना संसार में अपूर्व दिव्य लाभ है अतः इसको साधक बनाने के लिए आवश्यक क्रियाओं में सदा सावधान रहो। हे महात्माओ! जिस समय तुम आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर अवकाश पाओ, उस समय तुमको अपने सयम चारित्र की रक्षार्थ गोचरी केलिए श्रावकों के गृहों में चर्या करनी पड़े, धर्म के पिपासुओं को धर्मोपदेश देना अथवा उनके साथ धर्म संबंधी वार्तालाप करना पड़े उस समय तुमको ईर्या, भाषा, एषणा, आदि पांच समितियों का पालन करना आवश्यक है। ऋद्धि में, रसों में और सुख में तीव्र अनुराग और अभिलाषा नहीं रखना चाहिए। तीन गुप्ति का पालन करने में निरन्तर दत्तचित्त रहना चाहिए। जिनाज्ञा के विरुद्ध अपनी बुद्धि का उपयोग कदापि न करना चाहिए। हे आत्मा को साधन करने वाले साधुओं! आहारादि चार संज्ञाओं और चार कषायों तथा

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का परिहार करो। ये आत्मा को गिराने वाले हैं। संयम और तप के विरोधक हैं। इनमें किसी एक वशीभूत हुआ आत्मा संयम व चारित्र को खो देता है। पांचों इंद्रियों की दुष्ट प्रवृत्ति को रोको। ये लुटेरे के समय तुम्हारे संयम व व्रत को लूटने वाले है, अतः इनको जीतो अर्थात् अपने आधीन रखो। वे पुरुष पुंगव धन्य हैं, जो शब्द रसादि इंद्रियों के विषयों से व्याप्त इस लोक में आसक्ति रहित हैं। स्पर्शादि विषय जिनके अन्तःकरण को आकुलित नहीं कर सकते है, वे ही सच्चे आत्मगवेषी हैं। ज्ञान और चारित्र में लवलीन रहने वाले ऐसे ही महात्मा संघ के आदर के पात्र होते हैं। हे साधुओं ! सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र में बड़े है, वे गुरु कहलाते हैं। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु ये गुरु है। आप लोग उनकी सेवा सुश्रूषा करो। सेवा सुश्रूषा करके लाभ, कीर्त्ति और आदर सत्कार की इच्छा मत रखो। केवल गुणों में भक्ति श्रद्धा रखकर सेवा सुश्रूषा करो। जो जिसकी भक्ति करता है, उसके गुणों का प्रभाव भक्त श्रद्धालु की आत्मा पर अवश्य अंकित होता है। वह भक्त भी कुछ समय के अनन्तर वैसा ही गुणी हो जाता है। तथा गुरुओं की सुश्रूषा करने से उनके रत्नत्रय के प्रति अनुमोदना होती है। और अनुमोदना से विना परिश्रम के पुण्य की उत्पत्ति होती है. जिससे सब सुयोग्य साधनों की प्राप्ति हो जाती है। हे मुनियो! यद्यपि तुम्हारा कर्त्तव्य आवश्यक क्रियाओं का आचरण, स्वाध्याय, ध्यानादि है, अर्हंत और सिद्ध की प्रतिमा का दर्शन तुम्हारे लिए आवश्यक नही है जैसा गृहस्थ को आवश्यक हैं, किन्तु उनका सुयोग मिलने पर प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष मे कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हंत व सिद्ध प्रतिमा की भक्ति अवश्य करनी चाहिए। जैसे मित्र तथा शत्रु का चित्र या मूर्त्ति आत्मा में शीघ्र रागद्वेष भावना को जन्म देती है, वैसे ही अर्हंत और सिद्ध की प्रतिमा के दर्शन व भक्ति करने से, उनके गुणों का स्मरण होने पर आत्मा के वीतराग भाव की उत्पत्ति या पुष्टि होती है, रत्नत्रय के पालने में तत्परता होती है उनकी भक्ति संवर और पूर्व बन्धे हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा की करने वाली है। इसलिए चैत्य-भक्ति अत्यन्त उपयोगी है, उसको नित्य करो। उपचार विनय :— गुरु आदि पूज्य पुरुषों का प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार करना, नमन, वंदनादि करना उपचार विनय हैं। जो गुरु आदि का यथायोग्य विनय करता है,

उसकी सब प्रशंसा करते हैं और उसको उत्तम समझकर बुद्धिमान पूजते हैं और जो विनय नही करते है, उसको सब निन्दा व अवहेलना करते हैं। जो साधु अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों का मन वचन काय से विनय नही करता है अर्थात् जो गुरु आदि की मन से अवज्ञा करता है, उनके आसन से उठने पर या बाहर से आने पर नहीं उठता है, जाते हुए के पीछे कुछ दूर तक नहीं जाता है, उनको हाथ जोड़कर नमस्कार नही करता है, उनकी स्तुति नहीं करता है, उनसे आज्ञा नही लेता है, उनके सामने आसन पर बैठा रहता है, आते हुए सम्मुख नहीं जाता है, उनके आगे-आगे चलता है, उनकी निन्दा करता है, कठोर वचन कहता है, गाली आदि अपमान जनक वचन बोलता है, वह साधु नीच गोत्र कर्म का बन्धन करता है। उसके फल स्वरूप वह संसार मे निन्दनीय कुल में जन्म लेता है। अथवा कूकर शूकरादि योनि में उत्पन्न होता है। अविनीत शिष्य को गुरु से रत्नत्रय की प्राप्ति नही होती है। विनीत शिष्य को गुरु, प्रेम से शिक्षा देते हैं, उसका सम्मान करते हैं, इसलिए तुमको विनय में तत्पर रहना चाहिए। अविनय में महान् दोष हैं और विनय मे महान् गुण हैं, ऐसा समझकर विनय मे तत्परता धारण करो, और नित्य स्वाध्याय मे अर्थात् जीवादि तत्वों के मनन मे उनके प्ररूपक शास्त्रों के अध्ययन में लवलीन रहो। निद्रा, हास्य, क्रीड़ा, आलस्य और लौकिक वार्तालाप का त्याग करो। शास्त्र मे कहा है :–

गाथा:– "णिद्दं ण बहु मण्णेज्ज हासं खेडं विवज्जए।
जोग्गं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥१॥"

अर्थ:— निद्रा को बहुमान मत दो अर्थात् अल्प निद्रा लो, कारण कि निद्रा आत्मा को चेतना हीन अज्ञानमय बना देती है। और शुभ क्रियाओं से वंचित कर प्रमादी करती है। उतनी नींदलो जिससे दिन भर का स्वाध्यायादि से जन्य श्रम दूर हो जाए। हंसी मखौल मत करो। पूज्य पुरुषों या साधुओं को असंयमी जन के समान हसना शोभा नही देता है। किसी प्रकार की क्रीड़ा न करो अर्थात् बालक के समान व्यर्थ के कार्यों में मन को मत बहलाओ। तुम्हें तो आगम में ही क्रीडा करनी चाहिए। तुम आलस्यहीन होकर मुनिधर्म के योग्य कार्यों में अपने चित्त को लगाते रहो।

हे धर्म धुरन्धरो! तुम धर्म के प्रवर्त्तक हो, अतः क्षुधा, पिपासा आदि परीषह के प्राप्त होने पर तथा अशिष्ट ग्रामीण पुरुषों के अनुचित भाषण मे या

दुर्जनों के कटुकठोर गाली आदि सुनकर आत्मा में ग्लानि उत्पन्न कर धर्म का कदापि त्याग न कर देना। कभी -२ दुर्जन व क्रूरप्राणी ऐसे मर्मभेदी दुर्वचनो का प्रहार करते है, जिनका सहन करना अति कठिन हो जाता है, परन्तु वस्तु स्वरूप का चिन्तन कर मन को समझाना चाहिए। हे मुनिवृन्द! देखो, जो देवेन्द्रो से पूजनीय है, चार ज्ञान के धारक है, जिनको मोक्ष की प्राप्ति का उसी पर्याय मे पूर्ण निश्चय है, ऐसे तीर्थंकर भी अपने बल वीर्य को न छिपाकर तप मे पूर्ण उद्योग करते है, छह-२ मास तक के उपवास और आतापन योगादि का क्लेशतप के करने मे सदा तत्पर रहते है तो अन्य साधुओं का क्या कहना ? उनको तो इसमे अधिक तत्पर रहना चाहिए। हे आत्म हित चिन्तको ! तुम्हारी आयु, शरीर, बल और आरोग्य का विनाश न जाने कब हो जावेगा, इसका काल नियत तो है नही, क्योकि मृत्यु दावानल के समान है, न जाने, किस समय इस जगत् रूपी वनको भस्म करदे हमको इसका ज्ञान नही कि मृत्यु कब आयगी। काल की गति अति तीव्र है एक क्षण भर मे इस शरीर का विध्वंस कर सकती है। जब तक कालका आगमन नही हुआ तब तक इस शरीर से तपस्या करलो। काल के निवास करने का कोई क्षेत्र नियत नही है। जैसे गाडी रथादि भूतल पर ही गमन कर सकते है, सूर्य, चन्द्र, ग्रहादि आकाश मे ही भ्रमण करते है, मगर, मच्छादि जल में ही गति करते है, वैसे मृत्यु के गमन प्रदेश निश्चित नही है। वह तो जल, स्थल और आकाश सर्वत्र अप्रतिहतगति है। ऐसे स्थान भी है जहां अग्नि, चन्द्र व सूर्य की किरण, शीत उष्ण, वात और बर्फ का प्रवेश नही हो सकता है, किन्तु ऐसा कोई स्थान(क्षेत्र)नही है, जहाँ काल का प्रवेश नही है। वात, पित्त, कफ शीत, वर्षा, धाम आदि का प्रतिकार किया जा सकता है, किन्तु ससार में मृत्यु का प्रतिकार करना अशक्यहै। रोगो की उत्पत्ति के कारण वात, पित्त, कफ की विषमता तथा प्रकृति विरुद्ध आहार विहारादि है। परन्तु अकाल मृत्यु के तो कारण संसार के सब पदार्थ है। अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ के निमित्त से प्राणियो का मरण हो सकता है। हे साधुवृन्द ! यदि कोई मुनि दुर्भिक्ष के कारण पीड़ा पा रहे हो तो उनको सुभिक्ष देश में ले जाकर उनकी पीड़ा का निवारण करो। अधीर मुनियों को धैर्य बधाओ कि "हे महात्माओ आप किसी बात का भय न करो, हम आपकी हर तरह सेवा टहल करेगे,आपको किसी प्रकार का क्लेश न होने देगे ऐसे कोमल व सान्त्वना

के वचन कहकर उनको धीरज बंधाओ इस प्रकार वैयावृत्य करने से मुनि धर्म की रक्षा होती है। धर्म में उत्साह बढ़ता है, और मुनियों का संरक्षण होता है। जिस संघ में वैयावृत्य करने मेंपरायण व सेवा चतुर साधु होते हैं, उस संघ के मुनियों की संसार में ख्याति होती है: जनता की उनपर स्वाभाविक भक्ति होती है एवं मुनि धर्म के प्रति रुचि बढ़ती है हे साधो ! जो अपने मुनिपद की अवहेलना कर असंयमी जनों की पदचम्पी करता है, उनके हस्त मस्तकादि अंगों और उपांगों का मर्दन करता है या उनकी औषधि आदि का सदोष प्रयत्न करता है, वह जिनेन्द्र के शासन का तिरस्कार करने वाला तथा मुनिधर्म की महिमा का विनाश करने वाला है। साधुओं को भी वैयावृत्य करते समय आगम विधि पर ध्यान रखना चाहिए। दोषपूर्ण वैयावृत्य करने वाला संयमी अपने तथा दूसरे का अकल्याण करता है। इसलिए हे साधुओं ! वैयावृत्य अवश्य करो, यह तुम्हारा प्रधान कर्त्तव्य है, किन्तु उचित व जिनेन्द्र देवकी आज्ञा के अनुकूल करो हे मुनियों ! तुम ब्रह्मचर्य रत्न की रक्षा करने में दत्तचित्त रहो। यद्यपि तुम्हारा आत्मा संवेग वैराग्य से परिपूर्ण है, तथा तुम्हारी दिनचर्या भी ऐसी है, जिसका पूर्णतया पालन करते रहने से उसका पोषण होता है, तथापि बाह्य सम्पर्क बड़ा बलवान् होता है। वह बलात्कार इस कर्म परतन्त्र आत्मा को अपने उत्तम कर्त्तव्य से विमुख कर देता है। इसलिए तुमको ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए तथा रत्नत्रय भावना में लवलीन रहने के लिए आर्यिकाओं का सम्पर्क न होने देना चाहिए। क्योंकि आर्यिका का संसर्ग अग्नि के समान चित्त में सन्ताप उत्पन्न करने वाला है तथा विष के समान संयम जीवन का विघात करने वाला है। वह अपकीर्ति की कालिमा लगाने वाली काजल की कोठरी है। आर्यिका के संसर्ग से संभव होने वाले चित्त-संक्लेश और संयम जीवन का रक्षण तो दुर्धर तपस्वी कर भी सकते हैं किन्तु जनापवाद से उत्पन्न होने वाली अपकीर्ति से बचना असंभव है। मुनियों को जनापवाद के मार्ग पर ही न जाना चाहिए। कहा भी है :— यह विनश्वर शरीर तो अवश्य गिरने वाला है, नष्ट होने वाला है, उसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? इसकी रक्षा का प्रयत्न करना निष्फल है? इसके द्वारा तो स्थायी रहने वाला यश उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि भौतिक शरीर का नाश होने पर भी यह शरीर स्थिर रहता है। इसलिए अपने यश का सदा ध्यान चाहिए। जिसको अपने आत्मीय गुणों की उच्चता

का विचार नहीं है वह कभी आत्मोन्नति करने में कटिबद्ध नही रह सकता। वह अपने आत्मा को पतन से नही बचा सकता है। अत: अपने ब्रह्मचर्य गुण की महत्ता का रक्षण करने के लिए कभी आर्यिका आदि स्त्रियों का सम्पर्क नही करना चाहिए। हे संसार भीरुओं! तुमने संसार से डर कर एकान्त निवास किया है। अत: इस एकान्त में भी भय का कारण आर्यिका का सम्पर्क है। इससे स्थविर (वृद्ध) अनशनादि तपस्या में निरतर उद्यत रहने वाले तपस्वी, बहुश्रुत और जगत् में माननीय प्रभावशाली साधु भी निन्दा के पात्र होते है तो शास्त्र के तत्व ज्ञान से शून्य, साधारण चारित्र का पालन तरुण (जवान) साधु इस अपवाद (निन्दा) से अपने को किस तरह बचा सकता है? उसकी निन्दा होना अनिवार्य है। यदि कोई साधु अपने आत्मा को बलवान् व पूर्ण जितेन्द्रिय समझ कर निरगल आर्यिकाओं से सम्पर्क बढाता रहे तो उसे अपनी आत्मा का घातक ही समझना चाहिए। क्योंकि कितना भी कठिन जमा हुआ घृत क्यों न हो, वह अग्नि का सबध पाकर अवश्य पिघल जाता है। आर्यिका का संसर्ग आत्मा को बांधने वाला दृढबन्धन बन सकता है। यद्यपि तुम ससार के दु खों में भयभीत हो और सयम पालन में रत हो, तथापि तुम को अपने सवेग व सयम गुण की वृद्धि करने के लिए संविग्न और संयमी मुनिराजों के साथ रहना चाहिए। देखो! संघ की शोभा साधु-संख्या से नही होती, किन्तु-सच्चारित्र से होती है। इस-लिए लाखों पाश्वस्थादि चारित्र शून्य साधुओं से एक सुशील मुनि अति श्रेष्ठ है। क्योंकि कुशील, सयम हीन, शिथिलाचारी साधुओं के आश्रय से दर्शन शीलादि का ह्रास होता है और सुशील साधु के निमित्त से सघ में शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अत. उत्तम शील व संयम के धारक मुनि का ही आश्रय करो। देखो, कडुवी तुम्बी में रखा हुआ मिष्ट दुग्ध भी कड़ुवा हो जाता है। और इक्षु की जड में सीचा गया खारा जल भी मिष्ट हो जाता है। क्योंकि वस्तु को जैसा आश्रय मिलता है वह वैसी ही परिणत होती है। अत: तुमभी सत्पुरुषों की ही संगति करो। तुमको सदा हित, मित व प्रिय वचन ही बोलना उचित है। कभी किसी के प्रति अप्रिय तथा अहितकर वचन उच्चारण मत करो। किन्तु ऐसा प्रिय वचन भी न कहो जिससे दूसरे की अवनति या दुर्गुणों की वृद्धि की सम्भा-वना हो। यदि किसी के हित के लिए अप्रिय वचन बोलना आवश्यक हो

तो उसकी उपेक्षा न करो। जीर्णज्वर से पीड़ित रोगी के लिए कटुक औषधि ही पथ्य [हितकर] होती है वैसे ही तुम्हारा कटु भाषण भी उसके दुर्गुण नाश करने वाला होगा। अतः दूसरे के उपकार की ओर भी तुम्हारा ध्यान रहना चाहिए। परम भट्टारक देवाधिदेव तीर्थंकर भी भव्य प्राणियों के कल्याण के लिए धर्मविहार करते है। उन्होंने दूसरो के दुःखोद्धार करने की उत्कट भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है। स्वपर के आध्यात्मिकोत्थान के लिए कमर कसे रहना महान् पुरुषो का परम कर्त्तव्य है और परोपकार ही महत्ता का लक्षण है। किसी ने कहा है ऐसे क्षुद्र संसार मे हजारो है, जो अपने भरण पोषणादि [स्वार्थ सिद्धि] करने मात्र मे तत्पर है। किन्तु जो परार्थ को स्वार्थ मानते है, ऐसे सत्पुरुषो मे अग्रणी (अग्रेसर)पुरुषो मे पुगव एक आध ही होते है। वे ही धन्य है। वडवानल अपने विशाल उदर को भरने के लिए सर्वदा समुद्र का जल पीता है। वह क्षुद्र मानव के समान स्वार्थ परायण है। परन्तु मेघ ग्रीष्म काल के सताप से पीड़ित समस्त ससार के प्राणियों के संताप को मिटाने के लिए ही समुद्र के जल को पीता है। वह जगत् मे महान् माना जाता है और उसकी ओर समस्त ससार की आशा भरी दृष्टि लगी रहती है, तथा उसके दर्शन मात्र मे जगत् के जन्तु आनन्द का अनुभव करते है। इसलिए हे मुनियो! तुम्हे सदा स्वपर कल्याण की ओर ध्यान देना चाहिए। तुम्हारा सब आचरण व कर्त्तव्य ही ऐसा होना चाहिए जिसका निर्दोष पालन करने मे जगत् के प्राणियो का स्वतः उपकार हो जाता हो। परम वीतरागता का उद्योत करने वाले दिगम्बर भेष के दर्शन मात्र मे जीवो के अन्तःकरण में धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। तुम्हारे इन्द्रिय सयम की पराकाष्ठा लोगो को सयम का पाठ सिखाती है। तथा तुम्हारा प्राणी संयम [छह कायके जीवो की रक्षा का व्रत] अखिल विश्व के छोटे बड़े सब जीवो को अभयदान देता है तथा तुम पर अटूट श्रद्धा और भक्ति का सञ्चार करता है। तुम्हारा दिगम्बर शुद्ध स्वरूप ही सब प्राणियों के प्रतीति का कारण है। तुमने जो अहिंसादि व्रत धारण कर रक्खे है उनके कारण तुम्हारे आत्मा मे निरन्तर अतिनिर्मल विचार धारा बहा करती है। दया, क्षमा, निर्लोभता की पराकाष्ठा तुम में ही नजर आती है। इसलिए तुम अपनी पदमर्यादा को कभी मत भूलो। हे साधुवर्ग, तुम आत्म-प्रशंसा कभी मत करो। जो अपने मुंह से अपनी प्रशंसा

करता है, वह अपने यश का नाश करता है। वह सत्पुरुषो की गोष्ठी में तृण के समान लघु [हल्का] माना जाता है। उसका यश नष्ट होता है। जैसे खटाई से दूध फट जाता है, वैसे ही आत्मा, प्रशसा से यश, अपयश का स्थान ग्रहण कर लेता है। हे मुनियो! तुम अपने सङ्घ के अथवा पर सङ्घ के किसी मुनि की निन्दा मत करो। क्योंकि परनिन्दा संसार वृक्ष को विस्तृत करने में जल के समान है। इस प्रकार परनिन्दा परभव मे दु ख उत्पन्न करने वाली है। तथा परनिन्दा से इस भव में अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते है। वैर उत्पन्न होता है। दुःख व शोक होता है। परनिन्दा करने वाले को सदा भय बना रहता है उसकी लोक में लघुता (हलकापन) प्रगट होती है, तथा वह सज्जन पुरुषो का अप्रिय बन जाता है। अतएव हे मुनियों! तुम सदा ऐसा प्रयत्न करो, जिसके कारण ससार के समस्त विवेकी मनुष्य तुम्हे धन्य धन्य कहे और मुक्त कण्ठ से कहने लगे कि ये मुनि अखण्ड ब्रह्मचर्य के धारक हैं। ये प्रकाण्ड विद्वान् अनेक शास्त्रो के वेत्ता है, स्वमत और पर मतों के रहस्य के ज्ञाता है। ये किसी भी प्राणी को लेशमात्र दुःख नही देते हैं। इनका अनुपम चारित्र गङ्गा नदी के जल के समान निर्मल है। ये अपने गुणो का पूर्ण पालन करते है। धन्य है, इन महात्माओ को जो ससारी प्राणियो को अपना आदर्श स्वरूप दिखाकर धर्म में जागृति उत्पन्न कर रहे हैं। इस प्रकार का तुम्हारा धवलयश संसार में फैल कर धर्म प्राण जनता को सन्मार्ग मे प्रवृत्ति कराने वाला सिद्ध होता है। यही जैन धर्म की उत्तम से उत्तम प्रभावना है। तथा तुम्हारे आत्म-कल्याण का मुख्य उपाय है। इस प्रकार पूर्व आचार्य ने संघ के नवीन आचार्य और सम्पूर्ण मुनिजनों को उपदेश दिया। इसके पश्चात् आचार्य समस्त संघ को सान्त्वना देकर आत्महित कारक रत्नत्रय में अतिशय प्रवृत्ति करने मे उद्यत हुए आराधना के लिए परसंघ में गमन करने की अभिलाषा करते हैं। **शंका:—** संघ के आचार्य संन्यास ग्रहण करने के लिए परसघ मे क्यों जाते है अपने संघ मे ही क्यों नही रहते है? **समाधान:—**यदि आचार्य अपने संघ में रहकर ही संन्यास ग्रहण करें तो आज्ञा-भंग, कठोर भाषण, कलह, विषाद, खेद, निर्भयता, स्नेह, करुण और ध्यान-विघ्न आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। वह इस तरह है यदि आचार्य सघ में रहें और वृद्ध साधु अयश जनक कार्य कर बैठे तथा गृहस्थ की ग्यारहवी प्रतिमा के धारक क्षुल्लक कलह

करने मे प्रवृत्त हो जाय तथा समाधि मरण की विधि के अज्ञात शिष्य मुनि तीक्ष्ण स्वभाव वाले हों और आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन करने लग जावे तो आचार्य के चित्त मे अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हो सकता है। शका:—परसंघ में भी शिथिलाचारी वृद्ध मुनि, कलहकारी क्षुल्लक गृहस्थ तथा सन्यास विधि के अज्ञात शिष्य साधु हो सकते हैं। वहां पर भी आचार्य के चित्त में क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है। समाधान :—परसंघ में जाकर सन्यास मरण विधि का आचरण करने वाले आचार्य वहां के साधुओं को आज्ञा नहीं देते हैं। उन साधुओं को आज्ञा देने का कर्तव्य उस संघ के आचार्य को है। इसलिए वहां आज्ञा भंग की सम्भावना नही है। यदि किसी समय आज्ञा करने का प्रसंग उपस्थित हो जावे और साधु या क्षुल्लक आज्ञा न माने तो आचार्य के चित्त में क्षोभ नहीं होना है। आचार्य को उसी समय विचार होने लगता है कि मैंने इनपर कोई उपकार तो किया नहीं मेरे आदेश का पालन ये क्यों करने लगे ? इस प्रकार चित्त में समाधान हो जाता है। समाधिमरण मे तत्पर हुए आचार्य को क्षुधा पिपासा आदि की बाधा को शान्ति से सहन करना चाहिए। किन्तु वे अपने सघ में निर्भय हुए आहार जलादि की याचना करने लगेंगे तथा परित्यक्त भोजन पान के पदार्थों का भी सेवन करने लगेंगे उस समय उनको निवारण करने में कौन समर्थ होगा? अपने सघ में रहने से ऐसे अनेक दोष उत्पन्न होते है। इसलिए आचार्य का अपने सघ में रहकर समाधि मरण का साधन करना आगम में निषेध किया गया है। जिनका आचार्य ने बाल्यावस्था से पालन किया है ऐसे बाल मुनियो को, वृद्ध मुनियो को और अनाथ आर्यिकाओं को देखकर अब इनसे मेरा अत्यन्त वियोग होगा, ऐसा विचार होने से आचार्य के मनमे स्नेह का आविर्भाव हो सकता है। तथा समाधिमरण के लिए उद्यमशील आचार्य को देखकर छोटे २ बाल मुनि, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, आर्यिका आदि वियोग जन्य दु:ख से आर्त्तनाद करने लगते है। उनकी दु:ख भरी रोने की ध्वनि को सुनकर और नेत्रों से बहती हुई अविरल अश्रुधारा को देखकर आचार्य के अन्त:करण में कारुण्य का उदय हो आता है और उसमे उनके धर्मध्यान या शुक्लध्यान के स्थान में आर्त्तध्यान उत्पन्न हो सकता है। उपर्युक्त सब दोष अपने सङ्घ मे रहकर समाधिमरण की साधना करने वाले आचार्य को ही नहीं होते हैं, बल्कि जो आचार्य के समान उपाध्याय और

प्रवर्त्तक मुनि होते है, उनके आत्मा में भी इन दोषो की संभावना रहती है। अतएव इन दोषो से बचने के लिए आचार्यादि समाधिमरण का साधन करने के लिए परसंघ में प्रवेश करते है। समाधिमरण की साधना के लिए आए हुए आचार्यादि को देखकर परसंघ के आचार्य व अन्य साधुवर्ग के मनमे उत्कट आल्हाद उत्पन्न होता है। हमारा अहोभाग्य है जो हम पर प्रेम व अनुग्रह करके अपने सङ्घ का परित्याग कर ये महाभाग हमारे सङ्घ में पधारे है, ऐसे प्रेम से पूरित चित्त, परसङ्घ स्थित मुनिराज, आगन्तुक की सेवा करने के लिए तत्परता दिखाते है। और दत्तचित्त होकर आगन्तुक की परिचर्या करते हैं। जो आगन्तुक आचार्यादि साधु के समाधिमरण की व्यवस्था करने वाला निर्यापकाचार्य होता है वह शास्त्र के वेत्ता और शुद्ध चारित्र का पालन करने वाला होना चाहिए। तथा उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह आगन्तुक क्षपक (साधु) का पूर्ण आदर-सत्कार करे! निर्यापकाचार्य आगम का वेत्ता, संसार से भयभीत, पाप कर्मो से डरने वाला, चरित्र का सुचारुता से पालन करने वाला और सन्यास विधि की व्यवस्था करने में निपुण होता है। ऐसे आचार्य के पाद मूल में समाधि मरण का साधक साधु रहकर अपनी आराधना को सिद्ध करता है। जिसमें उक्त गुण नही है, वह निर्यापकाचार्य होने योग्य नही माना गया है इसलिए समाधिमरण की सिद्धि के अभिलाषी को अपनी अपूर्व आराधना को सफल करने के स्वभाव गुण आदि की परीक्षा करके उसकी शरण ग्रहण करना उचित है। प्रश्न -निर्यापकाचार्य को अन्वेषण करने के लिये विहार करने वाले साधु का क्रम विधान क्या है? किस विधि से वह साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है? उत्तरः-निर्यापकाचार्य के अन्वेपण करने के लिए विहार करने वाले की विधि पाच प्रकार की है। १ एक रात्रि प्रतिमा कुशल, २ स्वाध्याय कुशल, ३ प्रश्न कुशल, ४ स्थंडिलशायी और ५ आसक्ति रहित ये पांच विधिया हैं। प्रश्न.- समाधि मरण करने की अभिलाषा से कोई साधु या आचार्य विहार कर रहे है और अकस्मात् वाणीभङ्ग हो जावे, अर्थात् मूकावस्था प्राप्त होजावे वा मृत्यु को प्राप्त होजावे तो क्या वह आराधक माना जाता है? उत्तर:-उसका उद्देश्य यह था कि गुरु वा आचार्य के निकट जाकर अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करूंगा, इस अभिप्राय से निकले हुए साधु विहार करते हुए गूगे होजावे या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो वे आराधक ही माने गये है।

शंका:-जिन्होंने गुरु के समीप आलोचना नही की है तथा गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त का भी आचरण नही किया है वे साधु या आचार्य आराधक कैसे हो सकते हैं ?समाधान :— अपराध करके जो साधु आलोचना नही करता है, वह मायावी होता है और जिसके हृदय मे माया शल्य रहती है उसके रत्नत्रय की निर्मलता नही होती है । ऐसा सोचकर जिन्होंने अपने अन्त: करण में शल्य का उद्धार करने का निश्चय किया है; जिनके चित्त में दु.ख से परिपूर्ण ससार से भय उत्पन्न हुआ है; यह शरीर अपवित्र विनश्वर नि:सार और सदा दु:ख देने वाला है, तथा इन्द्रिय सुख आपात (प्रारम्भ से) रमणीय अतृप्ति जनक और तृष्णा को वढाने वाला है ऐसा विचार कर जो शरीर और इन्द्रिय सुख विरक्त हुए हैं, जिनके मनमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में अतिउत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हुई है तथा जो अपराध निवेदन करने के लिए गुरु के निकट जा रहे है, ऐसे साधु या आचार्य के, वचन शक्ति का विनाश मार्ग में ही होजावे तो वे आलोचना किए बिना भी, आलोचना करने के निर्मल भाव होने के कारण रत्नत्रय के आराधक माने गये है । अन्वेषणार्थ आए साधु के प्रति परसघ का कर्त्तव्य :—

गाथा:- आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिति सहसा हु दठ्ठूणं ।
आणा संगह वच्छलदाए चरणे.य णादुंच ॥४१०॥ भ.आ.)

अर्थ:— निर्यापकाचार्य संघ के साधु, अतिथि साधु को आते हुए देखकर शीघ्र खडे होजाते है । खड़े होजाने से जिनाज्ञा का पालन होता है । आगत अतिथि का स्वागत व संग्रह होता है । वात्सल्य प्रदर्शन होता है । और आगत अतिथि के आचार व्यवहार का ज्ञान होता है । सघ स्थित मुनि और आगन्तुक मुनि एक दूसरे की प्रतिलेखनादि क्रियाओं की परीक्षा करते हैं । कारण कि आचार्यो के आम्नाय व उपदेश भिन्न २ होते हैं । इसलिए उनके आचार में भेद पाया जाता है । अतएव एक दूसरे की प्रतिलेखनादि आवश्यक क्रियाओं का आचरण देखते हैं । गुप्ति और समिति का पालन सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं । आशय यह है कि अपने संघ को छोड़कर जो साधु अपने चारित्र को उज्ज्वल करने आया है, वह भी संघ के मुनियों के स्वभाव, उनके संयम पालन व आवश्यक क्रियाओ के आचरणादि की परीक्षा करता है तथा सघ के साधु भी आगन्तुक के स्वभाव उनके इन्द्रिय

विजय रूप संयम और प्राणियों की रक्षा रूप संयम का निरीक्षण करते हैं। यह साधु प्रतिलेखनादि क्रियाओ में किस प्रकार जीव रक्षा पर ध्यान देता है तथा इसने इन्द्रियो के विषयों पर कितना विजय प्राप्त किया है। तथा यह सामायिकादि आवश्यक क्रियाओ का यथा समय प्रमाद रहित होकर आचरण करता है या नही ? मन वचन काय की चंचलता को रोकने की शान्ति इसकी कैसी है? इसका गमन, भाषण, भोजनादि आगम के अनुकूल है या नही? इत्यादि बातो की परीक्षा करते हैं। यथा :—

गाथा:— वास्तव्यागन्तुकाः सम्यग्; विविधैः प्रतिलेखनैः।
क्रियाचारित्रबोधाय, परीक्षन्ते परस्परम् ॥४१२॥ (भ आ)

अर्थ:— उस संघ मे निवास करने वाले व आगन्तुक मुनि परस्पर आचरण मे आने वाली क्रिया व चारित्र का पालन कैसा है इसकी परीक्षा करते है। एवं आवास, स्थान, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और भिक्षा ग्रहण की भी जाच की जाती है। प्रश्नः— समाधिमरण की साधना के लिए आए हुए अतिथि मुनि को सघ के आचार्य अपने सघ में शामिल करते है या नहीं ? उत्तर :— आगन्तुक मुनि विनय पूर्वक संघ के आचार्य की वन्दना करके अपने उद्देश्य को प्रकट कर उनसे सघ मे सम्मिलित करने की प्रार्थना करते है। तब आचार्य योग्य आचरण वाले उस साधु को तीन दिन तक ठहरने को स्थान देते है तथा चटाई आदि देकर सहायता करते है। किन्तु उसके साथ साधु योग्य आचरण का संबन्ध नही रखते है। तीन दिन पर्यन्त उसकी पूर्व कथित रीति से परीक्षा करने के लिए योग्य मुनियों को नियत करते हैं। वे मुनि आगत साधु की तीन दिन मे आचरणादि की जांच करके आचार्य महाराज से निवेदन करते हैं। उनका वचन सुनकर यदि मुनि आश्रय देने योग्य नही होता है तो उसको संघाटक दान(सघ में सम्मिलित) नही करते है। और वसतिका और चटाई आदि की सहायता भी नहीं करते है। समाधिमरण को निर्विघ्न सम्पन्न करने के इच्छुक आगन्तुक मुनि को आचार्य के गुणो की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए जिसमे निम्नोक्त आठ गुण विद्यमान हों :—

गाथा:— आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥४१७॥

अपरिस्साई णिव्वावओ णिज्जावओ पहिदकित्ती ।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ॥४१८॥भ.आ.

अर्थः—जो महात्मा आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकर्त्ता, आपायापायदर्शनोद्यत, उत्पीड़क, अपरिस्रावी निर्वापक इनआठ गुणोंसे भूषित होता है वह प्रख्यातकीर्ति आचार्य निर्यापक होता है । अर्थात् आचार्य के यह प्रधान आठ गुण हैं । जिसमें वे पूर्ण रूप से पाये जाते हैं, वह निर्यापकाचार्य आगन्तुक मुनि के समाधिमरण का निर्वाह करने में समर्थ होता है ।

卐 आत्म कीर्तन 卐

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥टेर॥

(१)

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, मैं हूं वह हैं भगवान् ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥

(२)

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुखज्ञान निधान ।
किन्तु आश वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

(३)

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग ही दुख की खान ।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुख का नहि लेश निदान ।

(४)

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिनके नाम ।
राग त्याग पहुंचूं निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥

(५)

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ।
दूर हटो पर कृत परिणाम, ज्ञायक भाव लखूं अभिराम ॥

।। श्री महावीराय नम ।।

श्री धर्मध्यान प्रकाश के व्यय का विवरण :—

२७०६)५०	कागज रीम ६६।। दर ४१)
१५०)००	आर्ट पेपर रीम १।। दर १००)
१००)००	कवर पेपर १००)
१५००)००	बाईंडिग चार्ज १००० प्रति दर १)५०
२९४३)५०	छपाई चार्ज ह० लालचन्दजी पाड्या
८९)५०	ब्लाक ५ का खर्च
२०)००	हरकचन्दजी पाड्या के हस्ते स्टेशनरी खर्च
२५)००	प विद्याकुमार सेठी के फुटकर खर्च
२००)००	पडितजी श्री विद्याकुमारजी को उपहार स्वरूप भेट सोने की अगूठी एक
७७३४)५०	कुल व्यय
५१९)५०	पोते बाकी ह० माणकचन्दजी के पोस्टेज आदि खर्च के लिये
८२५४)००	कुल योग

माणकचन्द पाटोदी
हिसाब निरीक्षक